महर्षिवेदव्यासप्रणीतं

विष्णुमहापुराणम्

श्रीधरस्वामिकृतात्मप्रकाशाख्य-व्याख्यया
टिप्पण्यादिभिश्च संयुतम्

सम्पादक :
पं० थानेशचन्द्र उप्रैति

Vol. 1

HPD

Parimal Sanskrit Series No. 21

VIṢṆUMAHĀPURĀṆAM

OF

MAHARṢI VEDAVYĀSA

WITH SANSKRIT COMMENTARY "ĀTMAPRAKĀŚA" OF
ŚRĪDHARĀCĀRYA

(1 to 3 aṁśas)

VOL. I

EDITED BY

PT, THANESHACHANDRA UPRETI

PARIMAL PUBLICATIONS
DELHI

परिमल संस्कृत ग्रन्थमाला २१

महर्षिवेदव्यासप्रणीतं

विष्णुमहापुराणम्

श्रीधरस्वामिकृतात्मप्रकाशाख्यव्याख्यया भूषितम्

प्रथमत: तृतीयांशसमाप्तिपर्यन्त:

प्रथमो भाग:

सम्पादक

पं० थानेशचन्द्र उप्रैति

सांख्य-योग-पुराणेतिहासाचार्य

परिमल पब्लिकेशन्स

दिल्ली

प्रकाशक :

परिमल पब्लिकेशन्स

२७/२८, शक्ति नगर

दिल्ली - ११०००७

द्वितीय संस्करण २००३

मुद्रक :

हिमांशु प्रिन्टर्स

मेन यमुना विहार रोड़

मौजपुर, दिल्ली-९२

विष्णुपुराणम्

प्रथमोंऽशः

विषयानुक्रमणी

द्वितीयांशः

तृतीयांशः

भूमिका

यस्मादिदं जगद्जायत यत्र तिष्ठत्यन्ते समस्तमिदमस्तमुपैति यत्र।

तस्मै नमः सदसदादिविकल्पशून्यचैतन्यमात्रवपुषे पुरुषोत्तमाय॥ १॥

श्रवणाञ्जलिपुटपेयं विरचितवान् भारताख्यामृतं यः।

तमहमरागमकृष्णं कृष्णद्वैपायनं वन्दे॥ २॥

भारतीय वाङ्मय में पुराणों की प्रतिष्ठा

पुराण भारतीय साहित्य-रत्नाकर के समुज्ज्वल रत्न हैं जिनका प्रचुर प्रकाश भारतीयों के अन्तःकरण को सृष्टि के आदिकाल से आलोकित कर रहा है। विश्व का विशुद्ध व समग्र इतिहास यदि हमें कहीं दृष्टिगोचर होता है तो वह पुराणों में ही उपलब्ध होता है। यह कहना असङ्गत नहीं होगा कि संसार की सृष्टि-स्थिति व लय की विचित्र पहेली का सुन्दरतम समाधान एकमात्र पुराण ही है। यद्यपि वेदों में सूक्ष्मरूप से इस ओर भी संकेत मिलता है। परन्तु पुराणों में उसी विषय को विशद, विस्तृत व ललित क्रम से अङ्कित किया गया है। वेद-उपनिषद् व आरण्यक-धर्मसूत्र आदि ग्रन्थ जिस अर्थ को सूत्ररूप से या प्रतीक रूप से प्रस्तुत करते हैं, उन्हीं दुरूह विषयों को पुराण सरल से सरल भाषा में उदाहरण-प्रत्युदाहरण प्रदर्शन-पुरस्सर मनोरमरूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। यह कहना पड़ेगा कि दुरूह वेदार्थों की सरल-सुगम व विस्तृत व्याख्या ग्रन्थ पुराण हैं। वैदिक धर्म की कठिनता तथा संकीर्णता से मुक्त कर पुराणों ने उसकी सुरक्षा के लिए ही अपना विशद व विशाल परिधान अपनाया है। वैदिक मन्त्रों के व्याख्यानभूत-ब्राह्मण ग्रन्थों ने प्राचीन प्रतीकवाद को स्पष्ट करने की अपेक्षा और धुंधला कर दिया था।

इधर उपनिषदों के ऋषियों ने ध्यान, समाधि और आध्यात्मिक शक्तियों के द्वारा वैदिकज्ञान की क्षीण परम्परा को एक नई दिशा प्रदान की, जो कि नई होते हुए भी पुरातन की अविरोधी थी। यह सब होते हुए भी उपनिषद्-ग्रन्थों की प्रतीकात्मक शैली वेद मन्त्रों की वास्तविक व्याख्या को आगे न बढ़ा सकी। आध्यात्मिक रहस्यों की ओर अवश्य इन ग्रन्थों ने जोर दिया, जो वेदमन्त्रों का विषय प्रतिपादन न होकर केवल वेदान्त की स्थापना करना था, इन उपनिषदों की नवीन विचारधारा ने वेद व वेदान्त-कर्म व ज्ञान में एक मौलिक भेद उत्पन्न कर दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि वेद-कर्मकाण्ड केवल पुरोहितों की वस्तु और वेदान्त केवल सन्तों की वस्तु हो गई। इस नई विचारधारा के कारण कर्म-सम्बन्धिनी प्राचीन वैदिक-परम्परा कुछ क्षीण सी हो गई, इसी प्राचीन

परम्परा के अस्तित्व की सुरक्षा के लिए पुराणों का आविर्भाव हुआ। इस ज्ञान व कर्म के समन्वय के लिए अथवा इस प्राचीन उभयविध परम्परा के व्यापक प्रचार के लिए पुराणों को ललित-प्राञ्जल व लौकिकभाषा को भी अपनाना पड़ा।

नई भाषा व शैली में पुरातन धर्म का पक्ष लेकर पुराणों ने क्रिया-कलापों पर अधिक जोर दिया। यही प्राचीन वैदिक धर्म परिवर्तित होकर पौराणिक रूप में आया, इसीलिए इसका नाम **पुराण**-पुरा-नवम् हुआ। निरुक्तकार के अनुसार यह व्युत्पत्ति उचित ही मालूम पड़ती है अर्थात्-वैदिक धर्म के पुनः संस्कार-स्वरूप पौराणिक धर्म के महत्त्वपूर्ण अभ्युदय का कार्य।

पौराणिक धर्म का विकास

भारतीय साहित्य में पौराणिक युग का आविर्भाव एक नई दिशा का सूचक रहा है। वेद विज्ञान को मनोरञ्जक आख्यान में परिणत करना पुराणों का अभूतपूर्व कौशल रहा है।

सामान्य जनता में धर्म व संस्कृति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना पौराणिकों का प्रमुख कर्त्तव्य रहा है। इसलिए वेद मन्त्रों का कौतूहलपूर्वक उनके माहात्म्य का विस्तृत वर्णन करना, पुराणों का अपना आवश्यक कार्य था। जैसे-ऋग्वेद के **''इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्''** इत्यादि मन्त्र की विस्तृत व्याख्या वामनावतार की कथा वामनादि पुराणों में विस्तृत रूप से वर्णित है। कहा भी है-

विस्ताराय च वेदानां स्वयं नारायण प्रभुः।
व्यासरूपेण कृतवान् पुराणानि महीतले॥

इसीलिए रामायण, महाभारत व पुराणों के अनुशीलनपूर्वक वेदों का अर्थानुसन्धान करना चाहिए, इतिहास पुराणों के बिना ही जो लोग वेदाध्ययन करने का साहस करते हैं, वे उनके वास्तविक रहस्य से वञ्चित रहते हैं। अतः वेद विद्या का परिवृंहण इतिहास पुराणों के अनुशीलनपूर्वक करना चाहिए। जैसा कि कहा भी है-

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत्।
विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

इस प्रकार वैदिक साहित्य के सर्जन-वर्धन व प्रचार-प्रसार में पुराणों का प्रमुख हाथ रहा है। अतः निःसन्देह यह पूछा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति का जो विशाल वट वृक्ष है, वह पुराणों के ही आलबाल में फला-फूला है। देश, काल व परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए महर्षियों ने भारतीय धर्म व संस्कृति का जो संस्कृत व परिवर्तित या परिवर्धित रूप पुराण साहित्य में अंकित किया, वह भी विश्व के इतिहास में एक

अभूतपूर्व घटना है। यह परिवर्तन या विकास न केवल धार्मिक-सामाजिक और परम्परागत प्राचीन मान्यताओं को परिवर्तित करने तक सीमित रहा, अपितु आध्यात्मिक जीवन की मान्यताओं में भी महान् परिवर्तन हुआ।

वेदों में जिन अग्नि, इन्द्र, वरुण, पूषा, सोम, उषा और पर्जन्य प्रभृति देवताओं का प्राधान्य था, पुराणों में उनका स्थान विष्णु, शिव, देवी, कृष्ण आदि देवों ने ले लिया। प्रगतिशील पुराण-प्रथाओं ने केवल देवी-देवताओं की ही स्थापनाओं में प्रयत्न नहीं किया, बल्कि आचार, विचार, धर्म अनुष्ठान व्रत-पूजा आदि कर्म क्षेत्र में भी बहुत सी नई मान्यताओं को जन्म दिया।

पौराणिक युग का यह एक क्रान्तिकारी परिवर्तन था, जो धर्म, कर्म साधना, व आराधना और रीति-रिवाज की दृष्टि से वेदों की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित, परिवर्तित, सरल तशा सुगम पथ मालूम पड़ता है।

इस प्रकार पुराण भारतीय संस्कृति, आचार, विचार व इतिहास को जानने के लिए विश्वकोश है।

पुराणों की वेद मूलकता

इष्ट प्राप्ति व अनिष्ट के निवारण का अलौकिक उपाय जो ग्रन्थ बतलाते हैं वे ही वेद हैं। मानव के अभ्युदय व निःश्रेयससिद्धि के ये उपाय-साधन वेद से ही जाने जाते हैं, इसीलिए ये अलौकिक उपाय हैं। मनुष्य के द्वारा निर्मित उपाय लौकिक उपाय कहे जाते हैं। मनुष्य कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो, पर उसमें भ्रम, प्रमाद, लिप्सा आदि दोषों का रहना स्वाभाविक है। अतः उससे सर्वथा निर्दुष्ट उपायों की परिकल्पना नहीं की जा सकती है और मानवरचित ग्रन्थों में भी उक्त दोषों का रहना कोई आश्चर्य नहीं है। वेद अपौरुषेय हैं, ये किसी मनुष्य की रचना नहीं हैं। परमेश्वर के निश्वास होने से अनादि व अनन्त हैं। प्रलयकाल में परमेश्वर में ही अन्तर्हित हो जाते हैं और सृष्टि के समय परमात्मा के मुखारविन्द से निश्वास की तरह प्रकट होते हैं। लिखा है-

यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥

सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम परमेश्वर से ब्रह्मा वेदों के ज्ञान को प्राप्त करते हैं। इससे ब्रह्मा इस ज्ञान को ऋषियों को प्रदान करते हैं। ये ऋषि अपने-अपने शिष्यों को वेदों का उपदेश करते हैं और वे शिष्य अपने शिष्यों को-इस प्रकार शिष्य-परम्परा से आज तक वेदविद्या का प्रचार, पठन-पाठन समुचितरूप में उपलब्ध है।

प्राचीनकाल में ब्राह्मण बालक उपनयन संस्कार के बाद ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए गुरुकुलों में, ऋषियों के आश्रमों में और आचार्यों की पाठशालाओं में निवास करते थे। गुरुगृह में रहकर ही वेद के यथार्थ को जानने के लिए शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष व छन्द– इन छः शास्त्रों का अध्ययन करते थे जिन्हें वेदाङ्ग कहा जाता है।

इस प्रकार बड़े अध्यवसाय से वेदों का वास्तविक रहस्य प्राप्त करते थे और निष्काम भावना से वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करते थे। महाभाष्यकार ने इस बात को अपने शब्दों में इस प्रकार कहा है–

ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।

निष्काम भावना से विहित कर्मों के अनुष्ठान से ही चित्त निर्मल होता है और निर्मल चित्त में ही ब्रह्मज्ञान प्रतिष्ठित होता है।

जिस प्रकार वेद अनादि, अनन्त, सनातन, सत्य व अपौरुषेय हैं, इसी प्रकार वेदों के व्याख्यानांश होने से पुराण भी वेदमूलक व अति प्राचीन हैं। स्वयं वेद ब्राह्मण, आरण्यक व उपनिषद् वैदिक साहित्य के ये सभी अङ्ग पुराणों की अति प्राचीनता और उनके वेदों के समकक्ष होने का विवरण प्रस्तुत करते हैं। अथर्वसंहिता का कथन है कि पुराण, ऋक्, यजुः, साम, छन्द– ये सभी एक साथ आविर्भूत हुए–

ऋचः सामानि छन्दांसि, पुराणं यजुषा सह॥(७१/७/२४)

पुराणों में इस प्राचीनतम अस्तित्व के कारण ही '**शतपथ ब्राह्मण**' में इनको वेद ही कह डाला। ''**अध्वर्युताक्ष्ये वै पश्यतो राजयेत्वाह पुराणं वेद!**'' बृहदराण्यक में भी इसी प्रकार महाभूत से निश्वासवत् वेद व पुराणों का आविर्भाव लिखा है। भगवान् शंकराचार्य ने इसका भाष्य करते हुए स्पष्ट किया है कि पुरुष से जिस प्रकार बिना प्रयास के ही निश्वास निकलता है, उसी प्रकार अनायास ही इनका आविर्भाव हुआ है। इस प्रकार उपनिषद् और ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रामाणिक विवेचन से पुराणों का वेद सम-सामयिकत्व या वेदमूलकत्व अथवा प्राचीनकत्व सर्वथा समीचीन ही है।

धर्मशास्त्रकार ने भी ''याज्ञवल्क्यस्मृति'' में चतुदर्श विद्याओं में पुराण विद्या को प्रमुख स्थान दिया है–

पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

ब्रह्माण्ड पुराण में तो यहाँ तक लिखा है कि साङ्गोपाङ्ग वेदों का अध्ययन करने पर भी जो पुराण ज्ञान से शून्य है, वह तत्त्वज्ञ नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वेद का वास्तविक स्वरूप पुराणों में ही प्रदर्शित है।

इन सब बातों को देखते हुए पुराणों के विषय में विद्वानों का यह मत है कि वेदों में जो बात संक्षेप में कही गई है, पुराणों में उसी को विशुद्ध एवं व्याख्यानात्मक ढङ्ग से कहा गया है। पुराणों की यह एक अपनी विशेषता है, या निजी असामान्य शैली है जिसमें कुछ स्वतन्त्र बातों को आलंकारिक सारणी से अतिरञ्जनापूर्ण कह देने की क्षमता है। अथवा अर्थवाद-समन्वित भूतार्थवाद को पुष्ट करने की कुशलता है। पुराणों के पुरागाथाओं के चरम सिद्धान्त को देखने से प्रतीत होता है कि ये भी वेदों की तरह ही सनातन व पुरातन होने से इनकी वेदमूलकता तथा वेदानुगामिता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। महामहोपाध्याय पण्डित गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने भी अपने शोधपूर्ण "पुराणों की अनादिता" नामक लेख में लिखा है कि-"पुराण विद्या का अस्तित्व वेदों जितना पुराना होने के कारण उनकी सत्ता भी वेदवत् अनादि है।"

पूर्वोक्त मत-मतान्तरों से यही सिद्ध होता है कि पुराण विद्या का आविर्भाव भी वैदिक युग में ही हो चुका था और जिस प्रकार प्राचीन महर्षियों ने वेद एवं वैदिक साहित्य का व्यवस्थापन-सम्पादन किया, उसी प्रकार उन्होंने ही पुराणों का भी वर्गीकरण एवं सम्पादन किया। अथर्ववेद तो एक ही परमेश्वर से सभी वेद-पुराणों का आविर्भाव मानता है।

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः॥

आपस्तम्ब-धर्मसूत्र में तो पुराणों की श्लोक संख्या का भी स्पष्ट निर्देश किया है- "अथ पुराणे श्लोकानुदाहरन्ति" इत्यादि। परन्तु इस समय पुराणों के श्लोकों की मूल प्रामाणिक श्लोक संख्या मिलना कठिन है।

पुराणों के सम्पादन, व्यवस्थापन, परिवर्तन व परिवर्धन से तथा आक्षेप व प्रक्षेप से भी पुराणों का सम्प्रति विशुद्ध रूप मिलना बड़ा कठिन है।

पुराणों की संख्या

जिस प्रकार पुराणों के निर्माण, आविर्भाव व समय के विषय में विभिन्न इतिहासकारों के विभिन्न मत हैं, उसी प्रकार पुराणों की संख्या के विषय में भी विभिन्न इतिहासकारों का या विद्वानों का एक मत नहीं है।

वेदों के मन्त्रद्रष्टा या वेदार्थ का परिशीलन करने वाले महर्षियों का उपनिषद्-ज्ञान जितना गम्भीर, कठिन व गरिष्ठ है, पुराणों में पहुंच कर वही ज्ञान सहसा सरल-प्राञ्जल व कवित्वपूर्ण हो जाता है। पुराणों का यह बदलता हुआ रूप सर्वत्र उपलब्ध होता है।

इस प्रकार के परिवर्तन को परिलक्षित करते हुए हमें ज्ञात होता है कि वेदों की ही तरह पहिले पुराण भी एक बृहत्संहिता में विद्यमान थे, बाद में जिस प्रकार शिष्यों व पाठकों की सुविधा के लिए वेदव्यास भगवान् ने इनका ऋऋ् यजु, साम, तीन संहिता में तथा इनके परिशिष्ट भाग का संकलन चौथे अथर्ववेद में कर चतुर्धा एक ही बृहत्-वेद संहिता का विभाजन किया, इसी विभाजन के कारण पराशर मुनि के पुत्र कृष्ण द्वैपायन मुनि को वेदव्यास पदवी मिली।

वेदं विव्यास यस्मात्तु वेदव्यासः प्रकीर्तितः।

ठीक इसी प्रकार पुराणों की एक वृहत् संहिता को भी युग सुविधा का विचार करते हुए उन्हीं कृष्ण द्वैपायन व्यास ने अष्टादश-अठारह भागों में विभक्त किया होगा, यह सूक्ति भी इसी ओर संकेत करती है-

अष्टादशपुराणानां कर्त्ता सत्यवती सुतः॥

कृष्णद्वैपायन व्यास जी ने जिस संहिता का अठारह भागों में विभाग किया, वे हीं ''महापुराण'' इस संज्ञा से विभूषित हुए जिनका निर्देश देवी भागवत में इस प्रकार किय है-

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम् ।
अ ना प लिङ्गकूस्कानि पुराणानि विदुर्बुधाः॥

इस श्लोक में अठारह महापुराणों की गणना इस प्रकार की गई है।

मकारादि दो पुराण-१. मत्स्य २. मार्कण्डेय

भकरादि दो पुराण' ३. भविष्य ४. भागवत,

ब्र युक्त तीन पुराण-५. ब्रह्माण्ड ६. ब्रह्मवैवर्त ७. ब्राह्म,

वकारादि चार पुराण-८. वराह ९. वामन १०. वायु (शिव) ११. विष्णु

तदनन्तर अ से-१२. अग्नि, ना से-१३. नारद और प से १४-पाद्म, लि से-१५. लिङ्ग और ग से-१६. गरुड़, कू से-१७. कूर्म, स्क से १८. स्कन्ध पुराण। ये ही अठारह महापुराण हैं।

नारदीय पुराण में इन महापुराणों का परिचय इस प्रकार दिया-

ब्राह्मं पादं वैष्णवं च वायवीयं तथैव च।
भागवतं नारदीयं मार्कण्डेयञ्च कीर्तितम्।
आग्नेयं च भविष्यं च ब्रह्मवैवर्तलिङ्गके।
वाराहं च तथा स्कान्दं वामनं कूर्मसंज्ञकम्॥

मात्स्यं च गारुडं तद्वत् ब्रह्माण्डत्यामिति त्रिषड्॥

श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्ध के सातवें अध्याय में, तथा विष्णु पुराण में भी इन महापुराणों की सूची इसी प्रकार दी है।

इन्हीं महापुराणों के आधार पर बाद में अठारह उप-पुराणों तथा अठारह औप-पुराणों की भी रचना हुई, जिनका निर्देश विद्वानों ने इस प्रकार किया है-

आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहमथा परम्।
तृतीयं स्कन्दमुद्दिष्टं कुमारेण तू भाषितम्।
चतुर्थं शिवधर्माख्यं स्राक्षात् नन्दीशभाषितम्।
दुर्वाससोक्तमाश्चर्यं नारदोक्तमतः परम्।
कपिलं वामनं चैव तथैवोशनससेवित्तम्।
ब्रह्माण्डं वारुणं चाथ कालिकाह्वयमेव च॥
माहेश्वरं तथा साम्बं सौरं सर्वार्थसञ्चयम्।
पराशरोक्तमपरे मारीचं भास्कराह्वयम्॥

औप-पुराणानि च यथा-

आद्यं सनत्कुमारीयं नारदीयं बृहच्च यत्।
आदित्यं मानवं, प्रोक्तं, नन्दिकेश्वरमेव च॥
कौर्मं भागवतं ज्ञेयं वासिष्ठं भार्गवं तथा।
मुद्गलं कल्कि देव्यौ च महाभागवतं ततः।
वृहद्धर्म परानन्दं वह्निं पशुपतिं तथा।
हरिवशं ततो ज्ञेयमिदमौपपुराणकम्॥

इन्हीं विवरणों के द्वारा महापुराण-उपपुराण, तथा औप-पुराणों की संख्या का निर्धारण किया जाता है जिनकी संख्या (१८) अठारह है। इस संख्या के विषय में पुराण ही प्रमाण हैं।

देवीभागवत व श्रीमद्भागवत का महापुराण विषयक विवाद

विद्वानों में बहुत समय से यह विवाद चला आ रहा है कि महापुराण के अन्तर्गत किसको रखा जाय, देवी भागवत या श्रीमद्भागवत को, क्योंकि पूर्वोक्त श्लोक के अनुसार भद्वयं से भविष्य व भागवत का ग्रहण किया जाता है, इनमें भविष्य के विषय में

कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। अब एक ही भकार अवशिष्ट है इसके द्वारा किसका ग्रहण किया जाये देवी भागवत का या श्रीमद्‌भागवत का।

प्रायः लोग श्रीमद्‌भागवत की प्रौढ़ प्रक्रिया से सन्तुष्ट तथा वर्णनीय वैदग्ध्य से मुग्ध होकर अथवा क्रमबद्ध विषयों की सुव्यवस्था से प्रसन्न होकर सहसा महापुराणों की कोटि में प्रविष्ट करने को आतुर हो जाते हैं। इन्हें श्रीमद्भागवत का प्रकृष्ट आकर्षण गम्भीर विमर्श की शायद अनुमति नहीं देता है; अथवा मक्खन चाटें सच्चिदानन्द आनन्दकन्द कृष्णचन्द्र का ही कोई अद्भुत प्रभाव है जो सहृदय पाठकों के पाठानन्तर शीघ्र की पाठकों के चित्त को भी चोर लेता है जिसमें फिर विमर्श या विचार की कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती है। यह एक प्रकार से श्रीकृष्ण-विषयक श्रद्धातिरेक भी समझा जाय तो कोई अनुचित नहीं है। परन्तु विचार-क्षेत्र की परिधि में अनायास थोड़ा भी चक्रमण कर लिया जाय तो कुछ पुराणों के विषय का उपक्रम और श्रीमद्भागवत की गरिमा का यथार्थ चित्रण भी संभवतः हो जाता है। इस विचारोपवन के विहारजन्य श्रम से श्रीमद्भागवत के श्रद्धा समन्वित प्रकृष्ट सौरभ में किसी प्रकार की आंच नहीं आयेगी।

यह तो श्रीमद्भागवत का सामान्य पाठक भी जानता है कि महाभारत की रचना के बाद ही कृष्णद्वैपायन व्यास जी ने असंतुष्ट होकर श्रीमद्भागवत की रचना की है-

जैसा कि श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के चतुर्थ व पञ्चम अध्याय में वर्णित है-

स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुति गोचरा।

कर्म श्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह॥

इति भारतामाख्यानां कृपया मुनिना कृतम्। (१/२१)

एवं प्रवृतस्य सदा भूतानां श्रेयसि द्विजाः।

सर्वात्मकेनाऽपि यदा नातुष्यद् हृदयं ततः॥ २६॥

पुनः इसी स्कन्ध के पांचवे अध्याय में जब वीणापाणि नारद असन्तोष का कारण पूछते हैं-

पाराशर्य महाभाग भवत क्वचिदात्मना।

परितुष्यति शारीर आत्मा मानस एव वा॥

जिज्ञासितं सुसम्पन्नमपि ते महदद्भुतम्।

कृतवान् भारत यस्त्वं सर्वार्थपरिवृंहितम्॥

जिज्ञासितमधीतं च यत्तद् ब्रह्म सनातनम्।

अथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो॥ ४॥

इसके उत्तर में व्यासजी कहते हैं-

अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं तथापि नात्मा परितुष्यते मे।

इस प्रकार सारे पुराण व महाभारत जैसे विशालकाय ग्रन्थ को बनाकर जिसमें धर्मार्थ, काम, मोक्ष, आदि चतुर्विध पुरुषार्थ का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। और जिससे वेदादि अनधिकृत स्त्री शूद्र भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यह सारा कृत्य समाप्त कर लेने पर भी जब उनका हृदय सन्तुष्ट नहीं हुआ तो नारद के उपदेश से अपने हृदयङ्गत भगवद् गुण वर्णन की न्यूनता की पूर्ति हेतु ही तो श्रीमद्भागवत ग्रन्थरूपी कल्प-वृक्ष का उदय हुआ। यह बात क्या किसी से छिपी है?

महापुराणों का वर्णन देवीभागवत में आ चुका है, इसे बाद की कल्पना भी नहीं कह सकते हैं जिसका निर्माण महाभारत के पहले हो चुका है। 'पुराणों का आविर्भाव भारत व श्रीमद्भागवत के बाद माना जाय' यदि ऐसी असत्कल्पना भी कदाचित् कर ली जाये तो यह मानना पड़ेगा कि व्यास जी का हृदय तब तो श्रीमद्भागवत से भी सन्तुष्ट नहीं हुआ। फिर पुराणों में ऐसा कौन सा वैशिष्ट्य है जिसके कारण व्यास जी असन्तुष्ट हुए। भाषा, भाव, गुणवर्णन इनमें से कोई भी विशेषता पुराणों में परिलक्षित नहीं होती।

इस कारण, महापुरुषों की गणना में देवीभागवत को सन्निविष्ट न कर श्रीमद्भागवत को बिना विचारे प्रविष्ट कर देना एक बहुत बड़े औचित्य का परित्याग कर देना है।

ऐसा विचार आपातरमणीय है। हमारी सम्मति में तो श्रीमद्भागवत जैसे कल्पतरु को उसकी अशेष विशेषताओं को न देखते हुए, अन्धानुकरण सरणि से केवल पुराणों की परिधि तक इसे सीमित रख देना बहुमूल्य हीरक मणि को सामान्य कांच की दुकान में रख देना है।

महर्षि वाल्मीकिप्रणीत रामायण किस प्रकार मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी के पावन जीवन चरित का आख्यान होते हुए भी एक अद्भुत असामान्य अपूर्व महाकाव्य है और महर्षि वेदव्यास प्रणीत महाभारत धर्मार्थ, काम, मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय उपपादक होते हुए भी एक अद्वितीय अद्भुत आख्यान है।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत भी पुराणानुसारी उपाख्यानों से परिमण्डित होते हुए भी काव्य की कमनीय छटा से सम्पन्न भगवद्गुण वर्णनपरक भक्तिरस का अनुपम ग्रन्थ हैं जिसमें काव्य-आख्यान-भक्ति समन्वित ज्ञान का एक विलक्षण सङ्गम है।

महापुराणों का त्रिधा विभाग

सत्व, रज व तमो गुणों के विभाग से अठारह पुराणों का पुनः त्रिधा विभाग किया जाता है। इन गुणों के आधार पर कोई पुराण सात्विक है, कुछ राजस और कुछ तामस हैं।

सात्विक पुराण

वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम्।
गारुडञ्च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने।
सात्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै॥

राजस पुराण

ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं तथैव च।
भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निवोधत॥

तामस पुराण

मात्स्यं कौर्मं तथा लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च।
आग्नेयं च षडेतानि तामसानि निबोधत॥

सात्विकादि भेद से जो यह पुराणों का भेद दिखलाया है, इसमें किसी पुराण का उत्तम, मध्यमाधम भाव नहीं है, अपितु सत्व, रज व तम ये तीन गुण समस्त विश्व के उपादान कारण है, अतएव यह सृष्टि त्रिगुणात्मिका है। इन्हीं तीन गुणों के आधार पर परमेश्वर-ब्रह्म, विष्णु, शिव के रूप में प्रकट होता है। अर्थात अवतार ग्रहण करता है। जैसा कि महाकवि बाण ने मङ्गलाचरण के द्वारा कहा है-

रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे।
अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः॥

अर्थात् वेदमय जो भगवान् प्रजाओं की सृष्टि के लिए रजोगुण प्रदान ब्रह्मा का रूप धारण करते हैं और प्रजाओं की स्थिति पालन के लिऐ सत्व गुण प्रधान विष्णु का रूप धारण करते हैं और प्रजाओं के संहार के लिए तमोगुण प्रधान शिव का रूप धारण करते हैं ऐसे त्रिगुणात्मक परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूं।

अष्टादश संख्या की सङ्गति

महापुराणों की संख्या अष्टादश-अठारह ही क्यों है, इस विषय में विद्वानों की सम्मति इस प्रकार है-

महामहोपाध्याय पण्डित गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने अपने ''पुराणों की संख्या'' विषयक लेख में लिखा है कि-४ वेद, ४ उपवेद, ६ वेदाङ्ग, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र– ये सब मिलाकर अठारह होते हैं। ये विद्यायें अठारह हैं।

इन विद्याओं के अठारह होने से पुराण-उपपुराण, स्मृतियों, तथा महाभारत के भी अठारह पर्व और गीता के भी अठारह ही अध्याय हैं। श्रीमद्भागवत में अठारह हजार श्लोक हैं। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए यह प्रतीत होता है कि भारत के प्राचीन विद्वानों ने इस अठारह की संख्या में अवश्य ही किसी महत्त्वपूर्ण रहस्य को खोजा है।

इस अष्टादश संख्या के रहस्य की सङ्गति इस प्रकार भी होती है-

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन, बुद्धि और अहंकार– ये अठारह तत्त्व हैं, जिनके सहयोग से आत्मा अपने क्रिया-कलापों को सम्पन्न करता है। आत्मा अखण्ड और निरवयव तत्त्व होते हुए भी, भूत परिस्थिति, देवपरिस्थिति और ब्रह्मपरिस्थिति के कारण उसके अठारह स्वरूप होते हैं।

धर्मशास्त्र में पापाचरण के अठारह मार्ग बतलाये हैं, इसलिए इनकी निवृत्ति के लिऐ अठारह पुराणों का भी विधान है। पुराणग्रन्थों में भू-मण्डल के अठारह द्वीप भी बतलाये हैं, अतः इन द्वीपों के अनुसार भी पुराणों का अठारह होना उचित है।

पुराणों का आविर्भाव

भारतीय आचार, विचार व पवित्र सांस्कृतिक परम्परा के प्रासादरूप इन पुराणों का आविर्भाव कब हुआ? इस प्रश्न का उत्तर भारतीय परम्परा के अनुसार बहुत कठिन नहीं है। क्योंकि प्रायः सभी प्राच्य पण्डित बिना किसी हिचकिचाहट के पुराणों की वेद-मूलकता को स्वीकार करते हैं। इस बात की पुष्टि गोपथ ब्राह्मण से भी भली-भांति हो जाती है।

''एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः स ब्राह्मणाः सोपनिषत्का सेतिघसाः सान्वयाख्याताः, सपुराणाः सस्वराः''

स्वयं भागवतादि पुराणों में भी वक्तृवोधव्य परम्परा से भी यह अवगत हो जाता है कि नारदादि महर्षियों ने स्वयं ब्रह्मा के मुखारविन्द से इन पुराणों को सुना है।

विष्णुपुराण के छठे अंश के आठवें अध्याय में कहा है कि इस आर्ष पुराण का सर्वप्रथम स्वयं कमलोद्भव ब्रह्मा जी ने ऋभु के लिए उपदेश किया, ऋभु ने प्रियव्रत के लिए। इस प्रकार सम्प्रदाय पूर्वक इस पुराण को पुलस्त्य ने प्राप्त कर मेरे (पराशर) को उपदेश दिया और पराशर जी ने इस पुराण के श्रोता मैत्रेय को इसका उपदेश दिया।

इस प्रकार वेदों की तरह ये पुराण भी स्वयं परम-पिता परमेश्वर के मुखारविन्द से निश्वासस्वरूप आविर्भूत हुए और सम्प्रदायपूर्वक गुरुशिष्य-परम्परा से आज तक सर्वत्र पठन-पाठन व प्रवचन-श्रवण के द्वारा जनमानस में विराजमान हैं।

कुछ आधुनिक विद्वानों का मत है कि पुराणों का आविर्भाव काल लगभग ईशवीय पूर्व ६०० वर्ष से लेकर ईश्वरीय २०० वर्ष तक का है। इन्हीं आठ सौ वर्षों के अन्तराल काल में पुराणों का निर्माण हुआ होगा।

क्योंकि भारत की ये आठ शताब्दियाँ असाधारण बौद्धिक विकास और स्वातन्त्र्य की महत्त्वपूर्ण शताब्दियां रही हैं। यही युग जैन-बौद्ध व हिन्दू दर्शनों के निर्माण का युग था। बौद्धों के 'जातक' और 'अवदान' जैसे लोकप्रिय गाथा-ग्रन्थों का निर्माण इसी युग में हुआ। 'रामायण' और 'महाभारत' के अन्तिम संस्करणों का समय भी यही था। नन्द राजाओं व चन्द्रगुप्त मौर्य के कारण जैनधर्म खूब फला-फूला और उसका प्रभूत साहित्य लिखा गया।

सम्राट् अशोक का आश्रय पाकर बौद्ध धर्म और बौद्ध साहित्य ने अभूत-पूर्व प्रगति की। अनेक लोकप्रिय धर्मग्रन्थों का विचार प्रधान-दर्शन ग्रन्थों का तथा संस्कृत के काव्यनाटकों का यही निर्माण तथा सूत्रपात का युग था।

ईशवीय पूर्व ६०० में ब्राह्मण धर्म की संकीर्णतावादी कर्मकाण्ड-प्रवृत्ति के विरोध में जैन और बौद्धों ने जिस पृथक् धार्मिक-परम्परा की प्रतिष्ठा की, उसके मूल में नास्तिकवाद था। जैन व बौद्धों की निराकार भावना समाज में अधिक दिनों तक नहीं टिक सकी।

जनसामान्य उनके दुरूह पन्थ से किनारा कसी करने लगा। धारणा, ध्यान, समाधि, गृह त्याग, उपासना और दुःखवाद समाज के आकर्षण के लिए लोकप्रिय सिद्ध न होने के कारण समाज ब्राह्मण धर्म की सुगम पद्धति की ओर सहसा ही मुड़ गया। भागवत धर्म और शैवधर्म ने निरीश्वरवाद को निस्तेज बना दिया। यह सब पौराणिक धर्म की प्रतिष्ठा के फलस्वरूप हुआ। यह स्थिति लगभग दूसरी शताब्दी तक अक्षुण्ण बनी रही।

यही पुराणों के निर्माण तथा पुनः संस्करण का समय रहा होगा।

आचार्य शंकर और कुमारिल भट्ट ने अपने ग्रन्थों में पुराणों की पर्याप्त चर्चायें की हैं। कथाकार बाणभट्ट (७०० ई०) ने हर्षचरित में स्पष्ट लिखा है कि उन्होंने अपने जन्मस्थान में 'वायुपुराण' का पारायण सुना था। कादम्बरी में भी उन्होंने इस 'वायुपुराण' का उल्लेख किया है। ''पुराणेषु वायु प्रलपितम्''।

विष्णुपुराण में मौर्य-साम्राज्य का, मत्स्य-पुराण में दाक्षिणात्य राजाओं का और वायुपुराण में गुप्त वंश का जो अविकल उल्लेख मिलता है, उससे इन पुराणों में तत् सामयिक अस्तित्व का सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है।

पुराणों के रचनाकाल के विषय में प्राचीन परम्परा व आधुनिक अनुसन्धान में यह आकाश पाताल की तरह बहुत बड़ा अन्तर प्रतीत होता है। भारतीय परम्परा इस आधुनिक आपात गवेषणा से अत्याधिक सन्तुष्ट नहीं है, न इस कपोल-कल्पित कल्पना का सर्वांश में समर्थन ही करती है और आधुनिक शिक्षालोक से सुशिक्षित एकदम प्राचीन परम्परा को भी स्वीकार नहीं करते हैं। इसके लिए हमारा विनम्र निवेदन पुराण-परिशीलन कर्त्ताओं से कि वे परम्परा तथा तथ्य का ध्यान रखते हुए पुराणों के विशाल साहित्य का मन्दराचल की तरह परिमन्थन कर समन्वय करने का प्रयास करें।

अष्टादश पुराणों के प्रणेता महर्षि वेदव्यास

बृहद् भारत की अति प्राचीन ज्ञान परम्परा का अध्ययन करने के बाद पाश्चात्य विद्वानों ने भारत को पण्डितों का देश कहा है। भारत की इस सुदीर्घकालीन पण्डित परम्परा में एक महामनस्वी भारतादि अष्टादश पुराणों के प्रणेता महर्षि वेदव्यास हुए।

भारतीय साहित्य में वेदव्यास नामक व्यक्ति एक युग निर्माता तथा ऐसे अमर उपदेशक हुए हैं, जिन्होंने सहस्रों वर्षों से बृहद्-ज्ञानसरोवर की जीर्णोन्मुख चहारदीवारी का पुनः उद्धार किया और अपनी पवित्र ज्ञानधाराओं से इस धरती के अनेक वनोपवन वाटिकाओं का सिञ्चन किया जिसके कारण भारतीय ज्ञानोद्यान सदा फलता-फूलता रहा।

भारत के इस विशाल वाङ्मय में तिलों में तेल की तरह सर्वत्र वेदव्यास व्याप्त हैं। संस्कृत वाङ्मय की अनेक शाखाओं में अनुस्यूत इस महापुरुष के विशाल व्यक्तित्व का सहसा इदमित्थं तथा निर्णय कर सकना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

व्यास नाम पर जुड़े हुए अनेक ग्रन्थ हमारे सामने उपस्थित हैं, जिनके रचना काल व वास्तविक रचयिता आदि के विषय में समुचित सामधान के बिना जिज्ञासा शान्त नहीं होती है। पाठकों के सामने एक प्रबल समस्या यह है कि क्या 'व्यास' नाम एक जातीय परम्परा है? या शिष्य परम्परा है? अथवा वंश परम्परा या उपाधि परम्परा है? या कोई अभिधान किंवा संज्ञावाचक शब्द है?

यह सम्भव नहीं कि वैदिककाल से लेकर पौराणिक युग तक व्यास नाम का कोई एक ही व्यक्ति इतना दीर्घजीवी रहा हो और यह भी नहीं कहा जा सकता है कि समस्त साहित्य में जहां-जहां व्यास शब्द प्रयुक्त है व भाववाचक रूप से ही प्रयुक्त हुआ हो, उस

नाम का कोई व्यक्ति ही नहीं हुआ हो इस प्रकार दोनों निर्णय मानना उचित नहीं मालूम पड़ता।

'व्यास' शब्द की इस अनेक नाम-रूपता के कारण साहित्य के अनुसंधित्सु कतिपय विदेशी विद्वानों को ऊब कर यह कहना पड़ा कि 'व्यास' या 'वेदव्यास' किसी का अभिधान न होकर एक प्रतीकात्मक, भावनात्मक, कल्पनात्मक या छद्मधारी नाम है। संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध विदेशी विद्वान् मेक्डोनेल का भी मत लगभग यही है।

'अहिर्बुध्न्यसंहिता' में एक प्राचीनतम महर्षि को वेदव्याख्याता एवं वेदों के व्रिभागकर्त्ता के रूप में स्मरण किया गया है। इस विवरण के अनुसार वाक् या वाच्यायन या अपान्तरतमा नाम का एक वेदज्ञ विद्वान् था, जिसका नाम व्यास भी था। यह कपिल और हिरण्यगर्भ का समकालीन था, इन तीनों व्यक्तियों में विष्णु की आज्ञा से इस अपान्तरतमा नाम के व्यास ने त्रयी-ऋक् यजु, साम, का और कपिल ने सांख्याशास्त्र का, हिरण्यगर्भ ने योगशास्त्र का विभाग किया।

व्यास नाम के इस वैचित्र्य को देखकर विदित होता है कि उसका अस्तित्व भारतीय साहित्य के अस्तित्व जितना पुराना है। व्यास एक कर्तृत्ववाची नाम है, इस अर्थ में यह उपाधि-परम्परा, शिष्य-परम्परा या सम्मान-परम्परा का सूचक नाम है।

महामहोपाध्याय पण्डित गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने 'व्यास' या 'वेदव्यास' के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण किया है कि व्यास या वेदव्यास किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं, अपितु यह एक पदवी है। अथवा अधिकार का नाम है। जब जो ऋषि-मुनि वेद संहिता का विभाजन या पुराणों का सम्पादन कर ले, वही उस समय व्यास या वेदव्यास कहा जाता है।

किसी समय वसिष्ठ और किसी समय पराशर आदि भी व्यास हुए। इस अट्ठाइसवें कलियुग में कृष्ण द्वैपायन व्यास हैं। इन्होंने ही इन पुराणों का प्रणयन, पुनः संस्करण व सम्पादन किया।

आचार्य शंकर भारतीय दर्शन के इतिहास में विशेषरूप से वेदान्त-दर्शन के क्षेत्र में लोकविश्रुत महापुरुष हुए हैं। उनका एक-एक वाक्य वेदवाक्य समान प्रामाणिक और उनकी सैद्धान्तिक स्थापनाएँ दुनिया के दार्शनिकों के प्रेरणा-स्रोत हैं। शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र के भाष्य में व्यास के सम्बन्ध में भी कुछ चर्चा की हैं।

शंकराचार्य के मतानुसार पुराकालीन वेदाचार्य अपान्तारतमा वेदव्यास ऋषि ही कलियुग व द्वापर युग के संधिकाल में भगवान् विष्णु की आज्ञा से कृष्णद्वैपायन के नये रूप में पुनरुद्भुत हुए हैं।

तथा हि अपान्तरतमा नाम वेदव्यासः पुराणर्षिः विष्णुनियोगात् कलिद्वापरयोः सन्धौ कृष्णद्वैपायनः संबभूव, इति स्मरन्ति। (वे० भा० ३/३/३२)

व्यास के सम्बन्ध में कुछ नए रहस्यों का वर्णन अश्वघोष ने भी किया है।

अश्वघोष संस्कृत साहित्य के सुपरिचित एवं सुप्रसिद्ध महाकवियों में से हैं। इन्होंने बुद्धचरित व सौन्दरानन्द दो महाकाव्य लिखे हैं। अश्वघोष का इतिहास सम्मत स्थितिकाल ई० पूर्व प्रथम शताब्दी निश्चित है।

अश्वघोष ने कृष्णद्वैपायन व्यास के सम्बन्ध में तीन नई बातें कही हैं। पहली बात यह है कि कृष्णद्वैपायन ने वेदों का अलग-अलग संहिताओं में विभाजन किया है। दूसरी बात यह है कि वसिष्ठ और शक्ति इनके पूर्वज थे, तीसरी महत्त्वपूर्ण बात उन्होंने यह कही कि वे सारस्वत-वंशीय थे। इन्होंने ही वेद-विभाजन जैसे दुष्कर कार्य को सम्पन्न किया जिसको कि उनके वंशज वसिष्ठ और शक्ति तक न कर सके।

सारस्वतश्चापि जगाद वेदं पुनर्येन ददृशुपूर्वैः।
व्यासस्तथैनं बहुधा चकार न यं वसिष्ठः कृतवान्न शक्तिः॥

व्यासवंश के मूल-पुरुष ब्रह्मा थे। इन्हीं के एक पुत्र का नाम वसिष्ठ था। वसिष्ठ के पुत्र शक्ति और शक्ति के पुत्र पराशर हुए। इस पराशर मुनि का दाशराज की कन्या सत्यवती से विवाह हुआ। सत्यवती का ही दूसरा नाम योजनगन्धा या मत्स्यगन्धा था। कृष्णद्वैपायन व्यास के यही माता-पिता थे।

और यही कृष्णद्वैपायन व्यास द्वापर व कलि की सन्धि में अष्टादश पुराणों के प्रणेता थे। कहा भी है-

अष्टादश पुराणानां कर्ता सत्यवती सुतः॥

महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास की साहित्य-साधना-भूमि उत्तराखण्ड

असामान्य प्रतिभा के महामनस्वी कृष्णद्वैपायन व्यास ने अपने ज्ञान की समग्र उद्भावना, विराट् हिमवन्त की गोद-बदरिकाश्रम के शीतल व शान्तिदायक पवित्रभूमि में बैठकर की थी। इस बदरिकाश्रम का चिरन्तन साथ होने से ही उनका यह बादरायण नाम भी प्रथित है। व्यासप्रणीत वेदान्तसूत्रों का नाम कृष्णद्वैपायन न होकर, इसी चिरन्तन-साथ-या-निवास के कारण बादरायण-सूत्र के नाम से लोकविश्रुत हुआ। इस यशस्वी-युगविधायक विद्वान् ने अपने जीवन का अधिक समय पर्वतराज हिमालय की स्वच्छ व शीतल छाया से व्याप्त इस बदरिकाश्रम में ही बिताया जान पड़ता है।

यही इनकी साहित्य-साधना-भूमि थी, जहां हिमाच्छादित पर्वतराज का दिव्य दर्शन कर, अपूर्व प्रतिभा की प्रेरणा से इन्होंने विपुल वाङ्मय का सृजन किया। इसी दिव्य धाम में उपासना करते हुए इन्होंने 'महाभारत' जैसे विशालकाय ग्रन्थ रत्न का भी प्रणयन किया।

किसी द्वीप में जन्म होने के कारण इनका कृष्णद्वैपायन यह पड़ा। यह कौन सा द्वीप है, जहां इसका जन्म हुआ इसका इदमित्थंतया निर्णय नहीं किया जा सकता। वस्तुतः ऐसी दिव्य प्रतिभाओं का कोई एक सीमित स्थान नहीं होता है। जहां भी ये महापुरुष पदार्पण करते हैं, अपने पावन प्रतिभापूर्ण चरित उसी प्रदेश को अपना बना लेते हैं। ऐसे महामनस्वियों के विषय में देशकाल परिस्थिति कल्पना तो अपने अज्ञान का ही प्रदर्शन करना है।

महापुराणों का संक्षिप्त परिचय

अष्टादश महापुराणों का संक्षिप्त परिचय पाठकों की सुविधा के लिए प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें तत्तत् पुराणों का नाम श्लोक-संख्या, प्रतिपाद्य विषय व उक्त पुराण का श्रवणादि फल का निर्देश किया जायेगा-

१. ब्रह्मपुराण

अष्टादश पुराणों में ब्रह्म पुराण सर्वप्रथम व सबसे प्राचीन है। क्योंकि प्रायः सभी पुराणों में इसका उल्लेख है।

नारद, मार्कण्डेय व देवी भागवत के अनुसार इसकी श्लोक संख्या १०००० बताई गई है। किन्तु दूसरे लिंङ्ग वाराह, कौर्म आदि पुराणों के अनुसार इसकी श्लोक संख्या १३००० है।

इसकी प्राचीनता प्राथमिकता का निर्देष नारद पुराण में इस प्रकार किया है-

ब्राह्मं पुराणं तत्रादौ सर्वलोकहिताय वै।
व्यासेन वेदविदुषा समाख्यातं महात्मना।
तद्वै सर्वपुराणाग्र्यं धर्मकामार्थमोक्षदम्।।
नानाख्यानेतिहासाद्यं दशसाहस्त्रमुच्यते।। (ना० ९२ अ०)

यह पुराण पूर्वोत्तर दो भागों में विभक्त है। इसमें पूर्वभाग के प्रमुख विषय इस प्रकार हैं-दक्षादि प्रजापतियों की उत्पत्ति, देवासुर संग्राम, लोकेश्वर भगवान् भास्कर के वंश का अनुकीर्तन, चतुर्व्यूहावतार भगवान् रामचन्द्र जी का वर्णन, तदनन्तर सोमवंश का वर्णन करते हुए आनन्दकन्द सच्चिदानन्द भगवान् कृष्णचन्द्र का वर्णन, पार्वती का जन्म व विवाह इत्यादि का वर्णन पूर्वभाग में है।

उत्तरभाग में भगवान् राम व कृष्ण के चरित का विस्तारपूर्वक वर्णन, वर्णाश्रम धर्मों का वर्णन विष्णु के द्वारा उपदिष्ट धर्मों का वर्णन तथा साध्य योगादि दर्शनों का प्रतिपादन किया गया है।

ब्रह्म पुराण के श्रवण व मनन का फल

शृणोति यः पुराणस्तु ब्राह्मं सर्वजितेन्द्रियः।
हविष्याशी च नियमात् स लभेद् ब्रह्मणः पदम्॥
किमत्र बहुनोक्तेन यद् यदिच्छति मानवः।
तत्सर्वं लभते वत्स! पुराणस्यास्य कीर्तनात्॥

पुराणज्ञ विद्वान् ही सर्वश्रेष्ठ तथा सत्पात्र है। निम्नांकित श्लोकों में इसका प्रतिपादन किया है।

सर्वेषामेव पात्राणं श्रेष्ठं पात्रं पुराणवित्।
पतनात्त्रायते यस्मात्तस्मात्पात्रमुदाहृतम्॥
ब्राह्मणेषु पुराणेषु गङ्गायां गोषु पिप्पले।
नारायणधिया पुम्भिर्भक्ति कार्या ह्यहेतुकी॥

२. पद्म पुराण

वर्तमान पद्मपुराण में पांच खण्ड हैं–सृष्टिखण्ड, भूमिखण्ड, स्वर्गखण्ड, पातालखण्ड, उत्तरखण्ड। यह पुराण ६४१ अध्यायों में विभक्त है तथा इसकी श्लोक संख्या (५५०००) पचपन हजार हैं।

१. सृष्टिखण्ड के प्रधान विषय

पुलस्त्य के द्वारा भीष्म को सृष्टि आदि क्रम से आख्यान सहित धर्म का वर्णन, पुष्कर का माहात्म्य, ब्रह्मयज्ञ, वेदपाठ, दानादि का कीर्तन, पार्वती का पाणिग्रहण, तारकासुर का आख्यान, गवादिकों का माहात्म्य।

२. भूमिखण्ड के प्रधान विषय

माता पिता की शुश्रूषा, शिवशर्म कथा, सुब्रत कथा, वृत्रासुर वध व पृथु व वेणु का आख्यान, नहुष व ययाति आदि का चरित चित्रण।

३. स्वर्गखण्ड के प्रमुख विषय

ब्रह्माण्डोत्पत्ति वर्णन, सौति के द्वारा ऋषियों को नर्मदा की उत्पत्ति व तीर्थ स्थानों का वर्णन, वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कर्मयोग का निरूपण, समुद्र मन्थनादि का वर्णन करना।

४. पाताल खण्ड के मुख्य विषय

रामराज्यभिषेचन अगस्त्य का आगमन, जगन्नाथ जी का वर्णन, वृन्दावन का माहात्म्य, धरा व वराह का सम्वाद, कल्पान्तरी रामकथा का वर्णनादि।

५. उत्तर खण्ड के प्रधान विषय

शिव के द्वारा पार्वती के लिए कही गई पर्व कथा, जालन्धर कथा, श्री शैल का वर्णन, सागर-गङ्गा प्रयाग व काशी गया आदि पुण्य तीर्थों का महात्म्य, जम्बू द्वीप तथा इन्द्रप्रस्थादि का वर्णन।

पद्म पुराण के श्रवण व मनन का फल

पञ्च खण्डयुतं पाद्मं यः श्रृणोति नरोत्तमः
स लभेत् वैष्णवं धाम भुक्त्वा योगानीहेप्सितान्।
एतत् वै पञ्च पञ्चाशत् सहस्रं पद्मसंज्ञकम्।
पुराणं लेखयित्वा वै ज्येष्ठ्यां स्वर्णाज्यसंयुतम्॥
यः प्रदद्यात् सुमतये पुराणज्ञाय मानद!
स याति वैष्णवं धाम सर्वदेवनमस्कृतः॥

३. विष्णु पुराण

प्रायः सभी पुराण इसको रचना क्रम की दृष्टि से तीसरा स्थान देने में एकमत हैं। केवल देवी-भागवत में इसे गणनाक्रम से दसवें स्थान में रखा है। इन पुराणों के अनुसार इसकी श्लोक संख्या (२३०००) तेईस हजार हैं और अध्यायों की संख्या १२६ है। यह छः अंशों में विभक्त है। सम्प्रति दिल्ली से प्रकाशित विष्णुपुराण में श्लोक संख्या करीब ६४८२ ही उपलब्ध है।

१. प्रथमांश के प्रधान विषय

इसमें पराशर मुनि के द्वारा मैत्रेय को सृष्टि क्रम, देवताओं की उत्पत्ति, समुद्र मन्थन, ध्रुव, प्रह्लाद तथा पृथु आदि राजाओं का चरित्र वर्णन है।

२. द्वितीयांश के विषय

प्रियव्रत का अपने दश पुत्रों का राज्य का दान करना, भरतोत्पत्तिवर्णन, सप्तद्वीप व समुद्रों का वर्णन, भारतादि नौ खण्डों का विभागशः वर्णन, सूर्य-चक्रसंस्थान वर्णन, जड़भरत का रघुगण के प्रति आत्माज्ञानोपदेश, निदाघ ऋभु संवाद।

३. तृतीय अंश के विषय

मन्वन्तरों का आख्यान, सावर्ण्यादि मनूत्पत्ति वर्णन, प्रति द्वापर युग में भिन्न-भिन्न व्यासों का नामाख्यान, महापुराणों के भेदों का वर्णन, वर्णाश्रम धर्म का निरूपण, मायामोहासुर संवाद वर्णनादि।

४. चतुर्थ अंश के विषय

सूर्यवंश व चन्द्रवंश की उत्पत्ति का वर्णन, वेदोत्पत्ति वर्णन, मान्धाता के वंश का वर्णन, सगर की उत्पत्ति, निमियज्ञ वर्णन, जनकोत्पत्ति कथा, पाण्डवों की उत्पत्ति का वर्णन, कालिमाहात्म्य वर्णन।

५. पञ्चम अंश के विषय

वसुदेव व देवकी के विवाह का वर्णन, कृष्णावतार कथा, कृष्ण की बालक्रीड़ा व धेनुकासुरादिकों का वध, भगवान की आज्ञा से मुचकुन्द का बदरिका श्रम को गमन, परीक्षित का राज्याभिषेक का स्वर्गारोहण वर्णन।

६. षष्ठ अंश विषय

कलियुग के धर्मों का वर्णन, चार प्रकार के प्रलय का वर्णन, आध्यात्मिकादि तीनों तापों का वर्णन, नरक-यातना का निरूपण, केशिध्वज शाडिल्य संवाद।

विष्णुपुराण के श्रवण व मनन का फल

वाराहकल्पवृत्तान्तं व्यासेन कथितं त्विह।
यो नरः पठते भक्त्या यः श्रृणोति च सादरम्।
तावुभौ विष्णुलोकं हि ब्रजेताम्भुक्तभोगकौ।
तल्लिखित्वा च यो दद्याताषाढ्यां धृतधेनुना॥
सहितं विष्णुभक्ताय पुराणार्थविदे द्विजः।
स याति वैष्णवं धाम विमानेनार्कवर्चसा॥
यश्च विष्णुपुराणस्य समनुक्रमणीं द्विज।
कथयेच्छृणुयाद्वाऽपि स पुराणफलं लभेत्॥

४. शिव पुराण

शिवपुराण में सात संहितायें हैं। (१) विद्येश्वरसंहिता (२) रुद्रसंहिता (३) शतरुद्रसंहिता (४) कोटिरुद्रसंहिता, (५) उमासंहिता (६) कैलाससंहिता (७) वायवीयसंहिता। इसमें चौबीस हजार श्लोक हैं।

मत्स्यपुराण में इसके बारे में इस प्रकार लिखा है-

श्वेतकल्पप्रसङ्गेन धर्मान् वायुरिहाब्रवीत्।

यत्र यद् वायवीयं स्याद् रुद्रमाहात्म्यसंयुतम्।।

चतुर्विंशत्सहस्त्राणि पुराणं तद्दिहोच्यते।

मत्स्यपुराण के अनुसार वायुपुराण शिवपुराण का ही नामान्तर है, किन्तु भागवतादि पुराणों में केवल शिवपुराण का ही नाम निर्देश है। यदि वायुपुराण की पृथक सत्ता है तो फिर एक विवाद यह भी बढ़ जाता है कि इनमें से महापुराण कौन है।

यथा शिवस्तथा शैवं पुराणं वायुनोदितम्।

शिवभक्तिसमायोगान्नाम द्वयविभूषितम्।।

इस रेवामाहात्म्य के प्रमाण से एक ही पुराण को शिव की महिमा का सूचक होने से शिव पुराण और वायु के द्वारा कथित होने से वायु पुराण कहते हैं। जैसे अथर्ववेद को अथर्व ऋषि द्वारा संगृहीत होने से अथर्ववेद कहते हैं और ब्रह्मा के द्वारा अधिकृत होने से उसे ब्रह्मवेद भी कहते हैं। इसी प्रकार एक ही पुराण का नाम शिव महिमा का वर्णन होने से शिव पुराण और वायु के द्वारा उपदिष्ट होने से वायु पुराण कहते हैं।

(१) विद्येश्वर-संहिता के प्रमुख विषय

कलियुग के पापों के निवारण के उपाय व संहिता भेद का वर्णन।

ईश्वरत्व के अभिमानी विष्णु तथा ब्रह्मा का परस्पर कलह में माहेश्वर पाशुपतास्त्र से भयभीत देवताओं का कैलासगमन, शिवलिङ्ग-स्थापन, पूजन-दान प्रकार वर्णन, वैदिक विधि से पार्थिव पूजन व शिव-माहात्म्य का वर्णन।

(२) रुद्र -संहिता के विषय

निर्गुण शिव का शक्ति के सहयोग से प्रपञ्चनिर्माणादि। महाप्रलयादि का वर्णन, रुद्र व सती का विवाहादि वर्णन, दक्ष के यज्ञ में सती का जाना व योग द्वारा देह त्याग। पुनः सती का हिमालय के घर जन्म, तारक व महेन्द्रादि देवों के युद्ध का वर्णन।

(३) शतरुद्र-संहिता के विषय

पुत्र प्राप्ति के लिए शिलाद मुनि का दुष्कर तपस्या की वर्णन, ब्रह्मा के गर्व के नाश के लिए काल भैरव नामक रुद्रावतार का वर्णन, मोहनीरूप से मुग्ध हुए शंकर का वीर्यपात, शिव को वररूप में प्राप्त करने के लिए तपस्या में रत पार्वती के भाव परीक्षा के लिए शिवजी का ब्रह्मचारी रूप में आगमन, शिव और अर्जुन का मल्लयुद्ध।

(४) कोटिरुद्र -संहिता के विषय

अनसूया के तपस्या से सन्तुष्ट गङ्गा का उसी आश्रम में रहना। गोकर्ण क्षेत्रस्थ महाबलनामक शिवलिङ्ग का वर्णन, अन्धक दमन, मल्लिकार्जुन द्वितीय ज्योतिर्लिङ्ग का वर्णन, शिवरात्रिव्रत-माहात्म्य वर्णन, मुक्तिनिरूपण।

(५) उमा -संहिता के विषय

तपस्या से सन्तुष्ट हुए शिव पार्वती द्वारा कृष्ण के लिए अभीष्ट वरदान, शिव माया प्रभाव वर्णन, ब्रह्माण्ड वर्णन व पाताल लोक का वर्णन, चतुर्दश मन्वन्तरों का निरूपण, व्यास पूजन प्रकार वर्णन।

(६) कैलास -संहिता के विषय

विरजा होमादि विधि वर्णन, यतियों के गौरव का वर्णन, संन्यास पद्धति द्वारा शिष्य विधान का निरुपण, योग पद विधि वर्णन, यतियों के आचारादि का वर्णन।

(७) वायवीय -संहिता के विषय

वेदादि चतुर्दश विद्याओं की उत्पत्ति का वर्णन, शिव ही सर्वोत्तम देव हैं, उन्हीं के प्रसाद से मुक्ति का वर्णन। पशुपति शब्द विषयक विवाद काल और शिव में परस्पर भेदाभेद विवाद, लीला के लिए सृष्टि की रचना करना, युग-युग में शिव के योगावतार का वर्णन, शैवों के लिङ्ग पूजादि का कथन, नैमिषेय ऋषि की यात्रादि का वर्णन।

शिव पुराण के श्रवण-मनन का फल

एवच्छिवपुराणं हि शिवस्यातिप्रियं परम्।
भुक्तिमुक्तिप्रदं ब्रह्म संमितं भक्तिवर्धनम्॥
एतच्छिवपुराणस्य वक्तुः श्रोतुश्च सर्वदा।
सगणः ससुतः साम्वश्शङ्करोतु स शङ्करः॥

(५) देवीभागवत

देवीभागवत में बारह स्कन्ध हैं, लगभग तीन सौ अध्याय हैं और अठाहर हजार श्लोकों की संख्या है।

लिखा भी है-

स्कन्धा द्वादश चैवाऽत्र कृष्णेन विहिता शुभाः।
त्रिशतं पूर्णमध्याया अष्टादशयुताः स्मृताः॥

जिस प्रकार वैष्णव विष्णु के महत्त्व के प्रकाशक श्रीमद्भागवत को मानते हैं, उसी प्रकार शाक्त भी शक्ति के सामर्थ्य-सूचक देवी भागवत को अधिक मानते हैं।

आद्य शक्तिस्वरूपा भगवती से ही ये लोग सृष्टि, स्थिति व प्रलय को भी मानते हैं। प्रथम स्कन्ध के द्वितीय अध्याय में जिसका निर्देश इस प्रकार किया है-

एकार्णवस्य सलिलं रसरूपमेव, पात्रं विना नहि रसस्थितिरस्ति कश्चित्।
या सर्वभूतविषये किल शक्तिरूपा, तां सर्वभूतजननीं शरणं गतोऽस्मि॥

(१) प्रथम स्कन्ध के प्रमुख विषय

देवी के उत्कर्ष का वर्णन, देवी प्रसाद द्वारा मधुकैटभ का वध, शुक की उत्पत्ति तथा इस पुराण का उपदेश, शुक के लिए जनक का उपदेश।

(२) द्वितीय स्कन्ध के विषय

व्यास-जन्म वृत्तान्त वर्णन, शन्तनु का सत्यवती एवं गङ्गा के साथ विवाह, पाण्डवों का कथानक। तक्षक द्वारा राजा का दर्शन। जनमेजय का नाग यज्ञ।

(३) तृतीय स्कन्ध के विषय

विष्णु द्वारा देवी स्तुति, तत्त्वनिरूपण, सत्यव्रतकथा, देवी की महिमा का वर्णन, तथा काशी में दुर्गा का निवास, नवरात्र विधि का वर्णन।

(४) चतुर्थ स्कन्ध के विषय

कृष्णावतार प्रश्न, कर्म से जन्मादि का वर्णन, नारायण कथा देवदानवों के युद्ध की शान्ति, महिषासुर व देवी का संवाद, चण्डमुण्ड का देवी के साथ युद्ध का वर्णन, भगवान् के नाना अवतार, कृष्णकथा।

(५) पञ्चम स्कन्ध के विषय

विष्णु की अपेक्षा रुद्र की श्रेष्ठता का वर्णन, देवदानव युद्ध का वर्णन, परादेवी का देवकार्य के लिए प्रादुर्भावादि।

(६) षष्ठ स्कन्ध के विषय

पिता की आज्ञा से वृत्र का तपस्या के लिए वनगमन, इन्द्र का गुप्तवास, नहुषका इन्द्रपदाभिषेक तथा नहुष का अध:पतन, हैहय-कथा, नारद-विवाह, भगवती-ध्यानादि।

(७) सप्तम स्कन्ध के विषय

सूर्य व चन्द्र वंश की कथा का वर्णन, त्रिशंकु का कथानक, हरिश्चन्द्रकथा, शुन:शेप कथा, ब्रह्मतत्त्व तथा भक्तिमहिमा का कीर्तन।

(८) अष्टम स्कन्ध के विषय

देवी का मनु के लिए वरदान, वराहावतार में धरा का उद्धार, मनुवंश वर्णन, इलावृत वर्णन, ध्रुवमण्डल संस्थान देव्याराधन।

(९) नवम स्कन्ध के विषय

शक्ति का वर्णन, देवतादि सृष्टि, गङ्गा की उत्पत्ति, महालक्ष्मी का राजभवन में जन्म, सावित्री उपाख्यान, नाना दानों का फल, मनसा देवी की कथा, राधा व दुर्गा का चरित्र।

(१०) दशम स्कन्ध के विषय

भगवती का विन्ध्याचल पर्वत पर जाना, सावर्णि मनुका वर्णन, महाकाली चरित्र, नौ मनुओं के चरित का वर्णन।

(११) एकादश स्कन्ध के विषय

प्रात:कृत्य, स्नानादि विधि, यज्ञ-महिमा, सन्ध्योपासन, ब्रह्मयज्ञादि वर्णन, गायत्री पुरश्चरण, काम्यकर्म संग्रह व प्रायश्चित वर्णन।

(१२) द्वादश स्कन्ध के विषय

दीक्षा विधि, केनोपनिषद् कथा, द्वीपवर्णन, चिन्तामणि गृहवर्णन, जनमेजय के द्वारा देवीयाग का सम्पादन, पुराणफल प्रदर्शन।

देवीभागवत के श्रवण व मनन का फल-

वेदसारमिदं पुण्यं पुराणं द्विजसत्तमा,
वेदपाठसमं पाठे श्रवणे च तथैव हि॥
सच्चिदानन्दरूपां तां गायत्रीं प्रतिपादिताम्।
नमामि ह्रीमयीं देवीं धियो यो नः प्रचोदयात्॥

(६) नारदीय पुराण

नारद पुराण दो खण्डों में विभक्त है। पूर्वभाग व उत्तरभाग। पूर्वभाग में चार पाद व १२५ अध्याय हैं। उत्तर भाग में ८२ अध्याय हैं, सब मिलाकर २०७ अध्याय हैं। इसकी श्लोक संख्या (२५०००) पच्चीस हजार है। मत्स्यपुराण में इसका परिचय इस प्रकार दिया है।

यत्राह नारदो धर्मान् बृहत्कल्पाश्रयाणि च।
पञ्चविंशति सहस्राणि नारदीयं तदुच्यते॥

विषय विवेचन

पूर्वभाग के प्रथमपाद में सूत शौनक सम्वाद संक्षेप में सृष्टि का वर्णन, अनेक प्रकार की धार्मिक कथायें हैं। द्वितीयपाद में मोक्षोपयोगी ज्ञान के साधनों का वर्णन व वेदाङ्गों का निरूपण है।

तृतीय पाद में महातन्त्र के अनुसार पशु के पाश का विमोचन, मन्त्रों का शोधन व दीक्षा, मन्त्रों द्वारा गणेश, सूर्य, विष्णु, शिव, शक्ति आदि के स्तोत्र भी हैं।

चतुर्थ पाद में पुराण का लक्षण, चैत्रादि मासों की तिथियों में पृथक् पृथक् व्रतों का विधान है। उत्तर भाग में-एकादशी के व्रत का विधान रुक्माङ्गद की कथा, मोहिनी की उत्पत्ति, काशी, प्रयाग, कुरुक्षेत्र, हरिद्वार, बद्रीनाथ, कामाख्या, प्रभास, नर्मदातीर्थ, अवन्ती, मथुरादि तीर्थों के माहात्म्य का वर्णन है।

नारदीय पुराण के श्रवण व मनन का फल

यः श्रृणोति नरो भक्त्या श्रावयेत् वा समाहितः।
स याति ब्रह्मणो धाम नात्र कार्या विचारणा॥
यश्चानुक्रमणीमेतां नारदीयस्य वर्णयेत्।
श्रृणुयाद्वैकचित्तेन सोऽपि स्वर्गगतिं लभेत्॥

(७) मार्कण्डेय पुराण

बहु संवत्सर जीवी मार्कण्डेय ऋषि को, जो एक ओर निवृत्ति लक्षण यति के धर्म के और दूसरी ओर प्रवृत्ति लक्षण गृहस्थ के ज्ञाता थे, भागवतों ने अपने नए लोक-संग्रहात्मक एवं आचार-मूलक धर्म का प्रतिनिधि मानकर उनके मुख से निर्गत उपदेशों के रूप में इस पुराण का संकलन हुआ है।

मार्कण्डेय पुराण में १३४ अध्याय हैं। इस पुराण की श्लोक संख्या (९०००) नौ हजार है, परन्तु वर्तमान उपलब्ध पुराण में पूरी श्लोक संख्या नहीं है।

इसके विषय में मत्स्यपुराण में लिखा है-

यत्राधिकृत्य शकुनीन् धर्मान् धर्मविचारवान्।
व्याख्याता वै मुने! प्रश्ना मुनिभिः धर्मचारिभिः॥
मार्कण्डेयेन कथितं तत्सर्वं विस्तरेण तु।
पुराणं नवसाहस्त्रं मार्कण्डेयमिहोच्यते॥

मार्कण्डेय पुराण के प्रधान विषय

पथियों की धार्मिक चेतना, उनके जन्म, कर्म व पूर्वजन्म की कथा, बलराम जी की तीर्थ यात्रा, हरिश्चन्द्र दत्तात्रेय व मदालसा की कथाएं, सृष्टि, कल्प व मन्वन्तरों की कथा, दुर्गा महात्म्य वर्णन, इक्ष्वाकुचरित, सोमवंश का वर्णन, सांख्य का उपदेश व मार्कण्डेय मुनि का चरित-वर्णन।

मार्कण्डेय-पुराण के श्रवण व मनन का फल

यः शृणोति नरो भक्त्या पुराणमिदमादरात्।
मार्कण्डेयाभिधं वत्स स लभेत् परमां गतिम्॥
यश्च व्याकुरुते चैतच्छैवं स लभते पदम्।
तत् प्रयच्छेल्लिखित्वा यः सौवर्णकरिसंयुतम्॥
कार्तिक्यां द्विजवर्याय स लभेत् ब्रह्मणः पदम्।
शृणोति श्रावयेद्वापि पश्चादनुक्रमीमिमाम्॥
मार्कण्डेयपुराणस्य स लभेत् वाञ्छितं फलम्।

(८) अग्नि पुराण

अग्निपुराण-विषयक वैचित्र्य के कारण अष्टादश महापुराणों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

इसमें अष्टादश विद्याओं का साररूपेण वर्णन, धनुर्वेद, आयुर्वेद, गान्धर्व-वेद व अर्थशास्त्र का और दर्शन व्याकरण व साहित्यादि शास्त्रों का भी संक्षेप में वर्णन है। यह भारतीय साहित्य व संस्कृति का विश्वकोष है। अग्निपुराण में ३८३ अध्याय हैं। नारदीय-पुराण के अनुसार इसकी श्लोक संख्या (१५०००) पन्द्रह हजार है। परन्तु मत्स्यपुराण के अनुसार इसकी श्लोकसंख्या (१६०००) सोलह हजार है।

मत्स्यपुराण में इसका निर्देश इस प्रकार है-

यत्तदीशानकं कल्पं वृत्तान्तमधिकृत्य च।
वसिष्ठयाग्निना प्रोक्तमाग्नेयं तु प्रचक्षते॥
तच्च षोडशसाहस्रं सर्वक्रतुफलप्रदम्।

अग्निपुराण के प्रधान विषय

सभी अवतारों की कथाओं का वर्णन, सृष्टि-प्रकरण, विष्णुपूजा, अग्नि स्थापनादि, शालिग्राम पूजा विधि, सभी देवताओं की प्रतिष्ठा का वर्णन, गङ्गादि तीर्थों का माहात्म्य,

ज्योतिश्चक्रादि का वर्णन, ब्रह्मचर्यादि धर्मों का वर्णन, राज्याभिषेकादि राजाओं के धर्मकृत्य का वर्णन, रमोक्त नीति का निर्देश, योगशास्त्र का वर्णन, इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषय हैं।

अग्नि-पुराण के श्रवण व मनन का फल

ब्रह्मज्ञानं ततः पश्चात् पुराणश्रवणे फलम्।

एतदाग्नेयकं विप्र? पुराणं परिकीर्तितम्॥

(९) भविष्यपुराण

इसमें शाकद्वीपीय ब्राह्मणों और पारसियों के रीति-रिवाज और उनके सम्बन्ध में प्राचीन साहित्य का वर्णन है। विश्वकोष का कथन है कि इसमें उद्भिज विद्या का ऐसा अद्भुत वर्णन है कि जो आधुनिक वैज्ञानिकों का पथ-प्रदर्शन कर सकता है।

भविष्यपुराण में पाँच पर्व हैं।- (१) ब्रह्म पर्व, (२) वैष्णव पर्व (३) शैव पर्व, (४) सौर पर्व, (५) प्रतिसर्ग पर्व। इसमें ६०५ अध्याय हैं, नारदीयपुराण के अनुसार इसकी श्लोक संख्या (१४०००) चौदह हजार है। पर मत्स्यपुराण के अनुसार इसकी श्लोक संख्या (१४५००) चौदह हजार पांच सौ है।

मत्स्यपुराण में इसका परिचय इस प्रकार दिया है-

यत्राधिकृत्य माहात्म्यमादित्यस्य चतुर्मुखः।

अघोरकल्पवृत्तान्तप्रसङ्गेन जगत्-स्थितिम्॥

मनवे कथयामास भूतग्रामस्य लक्षणम्।

चतुर्दशसहस्राणि तथा पञ्च शतानि च॥

भविष्यचरितप्रायं भविष्यं तदिहोच्यते।

भविष्यपुराण के प्रधान विषय

सृष्टि, स्थिति, लय सहित आदित्यचरित का वर्णन, पुस्तक-लेख-व लेखकों का लक्षण, सभी संस्कार व कल्पों का वर्णन, ब्रह्म-विष्णु व शिव की महिमा का वर्णन, धर्म, अर्थ, काम, ,मोक्ष— पुरुषार्थ चतुष्टय का वर्णन।

भविष्यपुराण के श्रवण व मनन का फल

तल्लिखित्वा तु यो दद्यात् पौष्यां विद्वान् विमत्सरः।

गुडधेनुयुतं हेमवस्त्रमाल्यविभूषणैः॥

वाचकं पुस्तकञ्चापि पूजयित्वा विधानतः।

गन्धाद्यभोज्यभक्ष्यैश्च कृत्वा नीराजनादिकम्॥

यो वै जितेन्द्रियो भूत्वा सोपवासः समाहितः।
अथवा यो नरो भक्त्या कीर्तयेच्छृणुयादपि।
स मुक्तः पातकैर्घोरैः प्रयाति ब्रह्मणः पदम्॥

(१०) ब्रह्मवैवर्तपुराण

ब्रह्मवैवर्तपुराण में चार खण्ड हैं- (१) ब्रह्मखण्ड, (२) प्रकृतिखण्ड (३) गणेशखण्ड (४) श्रीकृष्णजन्म खण्ड। अन्तिम खण्ड के दो भाग हैं— पूर्वभाग व उत्तरभाग। इसमें २६६ अध्याय हैं। इसकी श्लोक संख्या (१८०००) अठारह हजार हैं।

मत्स्यपुराण में इसका परिचय इस प्रकार हैं-

रथन्तरस्य कल्पस्य वृत्तान्तमधिकृत्य तु।
सावर्णिना नारदाय कृष्णमाहात्म्यमुत्तमम्॥
यत्र ब्रह्मवराहस्य चरितं वर्ण्यते मुहुः।
तदष्टादशसाहस्त्रं ब्रह्मवैवर्तमुच्यते॥

ब्रह्मवैवर्तपुराण के प्रधान विषय

सृष्टि प्रकरण, नारद व ब्रह्मा का विवाद व शिवलोकगमन, तत्पश्चात् ज्ञानलाभ, सावर्णि व नारद का कृष्ण-माहात्म्य विषयक सम्वाद, प्रकृति के अंशभूत कलाओं के माहात्म्य का वर्णन, गणेश जन्म कथा, कार्तवीर्य के चरित का वर्णन, जमदग्नि व गणेश का विवाद, श्रीकृष्ण-जन्म, विविध बाल्य व कुमारावस्था की लीलाओं का वर्णन, कंसादिकों का वध व द्वारकागमनादि।

ब्रह्मवैवर्तपुराण के श्रवण व मनन का फल

लिखित्वेदं च यो दद्यात् माध्यां धेनुसमन्वितम्।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति स मुक्तोऽज्ञानबन्धनात्॥

(११) लिङ्गपुराण

लिङ्गपुराण में दो भाग हैं— पूर्वभाग व उत्तरभाग। सब मिलाकार १६३ अध्याय हैं। इसकी श्लोक संख्या (११०००) ग्यारह हजार है।

मत्स्यपुराण में इसका परिचय इस प्रकार है।

यत्राग्निलिङ्गमध्यस्थः प्राह देवो महेश्वरः।
धर्मार्थकाममोक्षार्थमाग्नेयमधिकृत्य च॥

कल्पान्ते लिङ्गमित्युक्तं पुराणं ब्रह्मणा स्वयम्।
तदेकादशसाहस्त्रं हरमाहात्म्यसूचकम्॥

लिङ्ग पुराण के प्रधान विषय

पूर्वभाग में-योगविषयक आख्यान, कल्पों का वर्णन लिङ्ग की उत्पत्ति, लिङ्ग प्रतिष्ठा, वराहचरित का वर्णन, दक्षयज्ञ, का विध्वंस, कामदहन, पार्वती विवाह, शिवनृत्य का वर्णनादि। उत्तरभाग में-विष्णु माहात्म्य व अम्बरीष कथा, सनत्कुमार व नन्दीश्वर की कथा, शिवमाहात्म्य, सूर्यपूजाविधि, ब्रजेश्वरी महाविद्या, गायत्री महिमा, त्र्यम्बक-माहात्म्यादि।

लिङ्ग पुराण के श्रवण व मनन का फल

य: पठेच्छृणुयाद्वापि लैङ्गं पापापहं नत:।
स मुक्तभोगी लोकेस्मिनन्ते शिवपुरं व्रजेत्।
लिङ्गानुकमणीमेतां पठेद् य: श्रृणुयात्तथा।
तावुभौ शिवभक्तौ तु लोकद्वितयभोगिनौ॥
जायेतां गिरिजाभर्त्तु: प्रासादान्नात्र संशय:।

(१२) वाराह पुराण

वाराह पुराण में दो भाग हैं— पूर्वभाग व उत्तरभाग। इसमें ११८ अध्याय हैं। इसकी श्लोक संख्या (२४०००) चौबीस हजार है।

मत्स्यपुराण में इसका परिचय इस प्रकार दिया है-

महावराहस्य पुनर्माहात्म्यमधिकृत्य च।
विष्णुनाभिहितं क्षुण्ण्यै तद्वाराहमिहोच्यते॥
मानवस्य प्रसङ्गेन कल्पस्य मुनिसत्तमा:।
चतुर्विंशत् सहस्राणि तत्पुराणमिहोच्यते॥

वाराह पुराण के प्रधान विषय

पूर्वभाग-गौरी की उत्पत्ति का वर्णन, सत्य व तप का आख्यान, महिषा-सुर वध, श्वेतोपाख्यान, प्राय: सभी तीर्थों का महात्म्य, यमलोक का वर्णन, कर्मों के विपाक का वर्णन, गोकर्णे के माहात्म्य का वर्णन।

उत्तरभाग-पुलत्स्य और कुरु का संवाद, तीर्थों के माहात्म्य का विस्तार-पूर्वक वर्णन, सभी धर्मों का वर्णनादि।

वाराह पुराण के श्रवण व मनन का फल

पठतां श्रृण्वताञ्चैव भगवद्भक्तिवर्धनम्।
काञ्चनं गारुडं कृत्वा तिलधेनुसमन्वितम्॥
लिखित्वैतच्च यो दद्याच्चैत्र्यां विप्राय भक्तितः।
स लभेद् वैष्णवं धाम देवर्षिगणवन्दितः॥
यो वानुक्रमणीमेतां श्रृणोत्यपि पठत्यपि।
सोऽपि भक्तिं लभेद् विष्णौ संसारोच्छेदकारिणीम्॥

(१३) स्कन्द पुराण

स्कन्दपुराण अष्टादश पुराणों में सर्वाधिक बृहत्काय ग्रन्थ है। यद्यपि यह पुराण प्रधानतः शैव पुराण है, किन्तु दूसरे संप्रदाय वालों के लिए भी इसमें पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। भारत के विभिन्न तीर्थ स्थानों का वर्णन होने के कारण भौगोलिक दृष्टि से भी इस पुराण का महत्त्व है। दक्षिणभारत में इसका सर्वाधिकार प्रचार है।

नारदीय पुराणानुसार इसमें सात खण्ड हैं। (१) महेश्वर खण्ड (२) वैष्णव खण्ड (३) ब्रह्म खण्ड (४) काशी खण्ड (५) अवन्ती खण्ड (६) नागर खण्ड (७) प्रभास खण्ड। इसमें भी इन्हीं खण्डों के मध्य छोटे-छोटे अवान्तर खण्ड हैं, जैसे-रेवा खण्ड, सम्भवतः यह द्वितीय खण्ड-वैष्णव खण्ड का अवान्तर भाग हो, सम्प्रति (कलियुग में) इस खण्ड का माहात्म्य अत्यधिक है और सम्पूर्ण भारत में इसका बहुत अच्छा प्रचार जो श्री सत्यनारायण व्रत कथा के नाम से विख्यात है।

मत्स्य पुराण के अनुसार-इसमें सनत्कुमार-सूत-शंकर-वैष्णव-ब्राह्म-सौर के भेद से ६ ही संहिताएं हैं। इसमें (१६७१) सोलह सौ इकहत्तर अध्याय हैं। इसकी श्लोक संख्या (८१०००) एकाशी हजार हैं।

परन्तु वर्तमान सत्यनारायण की कथा नामक रेवाखण्डान्तरगत अंश के अनुसार इसकी श्लोम संख्या (२४०००) चौबीस हजार ही बताई है।

मत्स्य पुराण में इसका परिचय इस प्रकार है-

यत्र महेश्वरान् धर्मानधिकृत्य च षणमुखः।
कल्पे तत्पुरुषे वृत्तं चरितैरुपबृंहितम्॥
स्कान्दं नाम पुराणं तद् वैष्णवं च प्रचक्षते।
एकाशीति साहस्त्रं तु श्लोकसंख्या निगद्यते॥

स्कन्द पुराण के सातों खण्डों के प्रधान विषय

(१) प्रथम खण्ड

इस खण्ड में स्कन्द के माहात्म्य का वर्णन है। केदार माहात्म्य, दक्ष कथा, समुद्र मन्थन, पार्वती-उपाख्यान, कुमारोत्पत्ति, तारक के साथ युद्ध का वर्णन, पृथ्वी का प्रादुर्भाव, महीसागर संयोग, महाकाल कथा, अरुणाचल माहात्म्य, शोणाचल वर्णनादि हैं।

(२) द्वितीय खण्ड

इस खण्ड में कामला की पवित्र कथा, व भारद्वाज मुनि का कथानक, जैमिनि का वृत्तान्त, नीलकण्ठ का वर्णन, व दक्षिणामूर्ति का उपाख्यान, दशावतार कथा, नैवेद्य का माहात्म्य आदि अनेक उपाख्यानों का वर्णन है।

(३) तृतीय खण्ड

इस खण्ड में-गालव की तपश्चर्या का वर्णन, चक्रतीर्थादि अनेक तीर्थों का वर्णन, वर्णाश्रम धर्मों के तत्त्व का निरूपण, तारक के वधोपाय का कथन, भगवान् शंकर के ताण्डव नृत्य का वर्णन, ज्ञानयोगादि महत्त्वपूर्ण विषयों का वर्णन है।

(४) चतुर्थ खण्ड

इस खण्ड में काशीखण्ड का अद्भुत वर्णन है, जहाँ विन्ध्य व नारद का सम्वाद है। पतिव्रता चरित तीर्थचर्य्या सप्तर्षिलोक व ध्रुव के तपोलोक का सुन्दर वर्णन है। दुर्गा-विजय कथा व ओङ्कारेश्वर के माहात्म्य का भी अच्छा वर्णन है।

(५) पञ्चम खण्ड

इस अवन्ती नामक खण्ड में महाकाल भगवान् के माहात्म्य का सुन्दर वर्णन है। उज्ञयिनी, पद्मावती, अमरावती, विशाला आदि पवित्र नगरियों का सुन्दर वर्णन, नीलगङ्गा, वीरेश्वर सर, कालभैरवादि तीर्थस्थलों का भी वर्णन है।

(६) षष्ठ खण्ड

इस छठे खण्ड को नगर खण्ड कहते हैं। इसमें विश्वामित्र की महिमा तथा त्रिशंकु की स्थिति, हाटकेश्वर का माहात्म्य व वृत्रासुर के वध का वर्णन है। महर्षि जाबालि के चरित का कर्णन, वाराणसी, द्वारका व वृन्दावनादि तीर्थस्थलों का तथा गङ्गा नर्मदा सरस्वती आदि नदियों का बड़ा मनोरम वर्णन है।

(७) सप्तम खण्ड

इस खण्ड में सिद्धेश्वरादि पाँच रुद्रों की स्थापना का वर्णन, वरारोध, अजापाला, मङ्गला, ललितेश्वरी आदि देवताओं के माहात्म्य का वर्णन है, दुर्वासा का उपाख्यान, चक्रतीर्थ, नृगतीर्थ, गोपीसर आदि पवित्र तीर्थस्थलों का वर्णन है।

स्कन्द पुराण के श्रवण व मनन का फल

लिखित्वैतत्तु यो दद्याद्हेममूलसमाचितम्।
माध्यं सत्कृत्य विप्राय स शैवे मोदते पदे॥

(१४) वामन पुराण

वामनपुराण के दो भाग हैं—पूर्वभाग व उत्तरभाग। नारदपुराण के अनुसार उत्तरभाग का नाम वृहद्-वामन भी हैं। इसमें चार संहितायें हैं। (१) माहेश्वरी संहिता (२) भागवती संहिता (३) सौरी संहिता (४) गणेश्वरी संहिता।

सब मिलाकर (९५) पचानब्बे अध्याय हैं। इसकी श्लोक संख्या (१००००) दस हजार हैं।

मत्स्यपुराण में इसका परिचय इस प्रकार है-

त्रिविक्रमस्य माहात्म्यमधिकृत्य चतुर्मुखः।
त्रिवर्गमव्रवीतच्च, वामनं परिकीर्तितम्॥
पुराणं दश साहस्त्रं कूर्मकल्यानुगं शिवम्॥

वामन पुराण के प्रमुख विषय

पुराणों के विषय में प्रश्न; दक्ष के यज्ञ का विध्वंस, कुरुक्षेत्र का वर्णन, पार्वती जन्म कथा, अन्धकासुर का वध, प्रह्लाद बलिसम्वाद, माहेश्वर्यादि संहिताओं में विभक्त तत्तद् देवताओं का और उनके भक्तों का संकीर्तन।

वामनपुराण के श्रवण का मनन का फल

ये पठन्ति व श्रृण्वन्ति तेऽपि यान्ति परां गतिम्।
लिखित्वैतत् पुराणं तु य शरद्विषुवेऽर्थयेत्॥
विप्राय वेदविदुषे ध्रुवधेनुसमाचितम्।
स समुद्धत्य नरकान्नयेत्स्वर्गं पितृन्स्वकान्।
देहान्ते भुक्तभोगाऽसौ याति विष्णोः परं पदम्॥

(१५) कूर्मपुराण

कूर्मपुराण में दो भाग हैं पूर्व भाग तथा उत्तर भाग। उत्तर भाग में चार संहितायें हैं- (१) ब्राह्मी संहिता (२) भागवती संहिता (३) सौरी संहिता (४) वैष्णवी संहिता। इसमें द्वितीय-भागवती संहिता के पांच पद हैं। सब मिलाकर (९९) निन्यानबे अध्याय हैं। इसकी श्लोक संख्या नारदीय पुराण के अनुसार (१७०००) सत्रह हजार है। मत्स्य पुराणानुसार इसकी श्लोक संख्या (१८०००) अठारह हजार हैं।

मत्स्य पुराण में इसका परिचय इस प्रकार है-

यत्र धर्मार्थकामानां मोक्षस्य च रसातले।
माहात्म्यं कथयामास कूर्मरूपो जनार्दनः॥
इन्द्रद्युम्नप्रसङ्गेन ऋषिभ्य शुकसन्निधौ।
अष्टादश सहस्राणि लक्ष्मी कल्पानुसङ्गिकम्॥

कूर्मपुराण के प्रधान विषय

पुराणों का उपक्रम, लक्ष्मी-प्रद्युम्न का सम्वाद, कूर्मर्षिगणों की कथा, काल संख्या, भृगु के वंश की कथा, आत्रेय वंश का कथन, युगधर्म का वर्णन, वाराणसी व वेद शाखा का निरूपण, व्यासगीता, नाना तीर्थों का माहात्म्य ब्राह्मणादि वर्णों के समाचार व धर्म-वृत्ति आदि का वर्णन है।

कूर्मपुराण के श्रवण व मनन का फल

एतत् कूर्मपुराणन्तु चतुर्वर्गफलप्रदम्।
पठतां श्रृण्वतां नृणां सर्वोत्कृष्टगतिप्रदम्॥
लिखित्वैतत्तु यो भक्त्या हेमकूर्मसमन्वितम्।
ब्राह्मणाय च यो दद्यात् स याति परमां गतिम्।

(१६) मत्स्यपुराण

मत्स्यपुराण में (२९०) दो सौ नब्बे अध्याय हैं। नारदीय पुराण के अनुसार इसकी श्लोक संख्या (१४०००) चौदह हजार हैं। मौलिकता व प्राचीनता की दृष्टि से इस पुराण का बहुत महत्त्व है।

इसका परिचय इस प्रकार है-

श्रुतीनां यत्र कल्पादौ प्रवृत्यर्थं जनार्दनः।
मत्स्यरूपेण मनवे नरसिंहोपवर्णनम्॥
अधिकृत्याऽब्रवीत् सप्तकल्पवृत्तं मुनीश्वराः।
तन्मात्स्यमिति जानीध्वं सहस्राणि चतुर्दश।

मत्स्य पुराण के प्रधान विषय

सर्वप्रथम मत्स्यरूप भगवान् का मनु के साथ सम्वाद इसके बाद ब्रह्माण्ड का वर्णन, स्वयं ब्रह्माण्ड के मुखारविन्दों से सांख्यशास्त्र का उपदेश, मन्वन्तरों का वर्णन, वैन्यराजा की कथा, सूर्य से वैवस्वत की उत्पत्ति का वर्णन, सोमवंश वर्णन, विविध व्रतों का वर्णन

व प्रयागादि तीर्थों के माहात्म्य का वर्णन, तारकासुर का वर्णन, शंकर द्वारा अनङ्गदहन (कामदेव) व रतिशोक का वर्णनादि।

मत्स्य पुराण के श्रवण व मनन का फल

एतत् पवित्रमायुष्यमेतत् कीर्तिविवर्धनम्।
एतत् पवित्रं कल्याणं महापातहरं शुभम्॥
अस्मात् पुराणादपि पादमेकं पठेत्तु यः सोऽपि विमुक्तपापः।
नारायणाख्यं पदमेति नूनमनङ्गवद्‌दिव्यसुखानि भुंक्ते॥

(१७) गरुड़ पुराण

गरुड़ पुराण के दो खण्ड हैं— पूर्व खण्ड और उत्तर खण्ड। उत्तर-खण्ड में प्रेत कल्प भी हैं जिसमें शरीरत्याग के बाद परलोकगामी जीवों का शुभाशुभ कर्मों के अनुसार नाना प्रकार की यातनाओं का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया है।

इसमें सब मिलाकर ३१८ अध्याय हैं। नारदीय पुराण के अनुसार इसकी श्लोक संख्या (१९०००) उन्नीस हजार है, परन्तु मत्स्य पुराण के अनुसार इसकी श्लोक संख्या (१८०००) अठारह हजार ही है।

मत्स्य पुराण में इसका परिचय इस प्रकार है-

यदा च गरुडे कल्पे विश्वाण्डाद् गरुडोद्भवम्॥
अधिकृत्याब्रवीत् विष्णुं गारुडं तदिहोच्यते॥
तदष्टादशकं चैव सहस्राणीह कथ्यते॥

गरुड पुराण के प्रमुख विषय

पूर्वखण्ड में-पुराणों का उपक्रम, संक्षेप में सृष्टि का वर्णन, सूर्यादि देवताओं की पूजन विधि, योगभ्यास के द्वारा परमात्मा के ध्यान का वर्णन, सामुद्रिक शास्त्र का, स्वर ज्ञान का, आयुर्वेद का, छन्दशास्त्र तथा श्राद्धादि कल्प का भी सुन्दर वर्णन है। वेदान्त सांख्य और गीता के सिद्धान्तों का भी संक्षेप में वर्णन है।

उत्तर खण्ड में-और्ध्वदैहिक क्रिया का वर्णन, यमलोक के मार्ग का वर्णन, धर्मराज के वैभव का वर्णन, प्रेतों के चरितों का वर्णन, प्रेतत्व से उद्धार के उपाय का वर्णन, मृत्यु से पहिले क्रियाओं का कथन, विविध कर्मों के विपाक का निरूपण, कृत्याकृत्य विचार तथा स्वर्ग के सौख्य का वर्णन, इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों का उल्लेख इस पुराण में है।

गरुड़ पुराण के श्रवण व मनन का फल

कीर्तितं पापशमनं पठतां शृण्वतां नृणाम्।
लिखित्वेतत् पुराणं तु विदुषे यः प्रयच्छति।
सौवर्णहंसयुग्माढ्यं विप्राय स दिवं व्रजेत्॥

(१८) ब्रह्माण्ड पुराण

ब्रह्माण्ड पुराण में चार पाद है– (१) प्रक्रियापाद, (२) अनुषङ्गपाद (३) उपाद्घातपाद (४) उपसंहारपाद। इसमें सब मिलाकर १६१ अध्याय हैं। नारदीय पुराण के अनुसार इसकी श्लोक संख्या (१२०००) बारह हजार है, परन्तु मत्स्य पुराण के अनुसार इसकी श्लोक संख्या (१२,२००) बारह हजार दौ सौ है।

जिस प्रकार ब्रह्मपुराण आदि पुराण कहा जाता है, उसी प्रकार यह अन्तिम पुराण कहा जाता है। मध्य में ब्रह्मवैवर्त पुराण है। इसीलिए कहा गया है कि–

''आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥''

मत्स्य पुराण के अनुसार इसका परिचय इस प्रकार है–

ब्रह्मा ब्रह्माण्डमाहात्म्यमधिकृत्याब्रवीत् पुनः।
तच्च द्वादशसाहस्रं ब्रह्माण्डं द्विशताधिकम्॥
भविष्याणाञ्च कल्पानां श्रूयते यत्र विस्तरः।
तद् ब्रह्माण्डपुराणञ्च ब्रह्मणा सुदाहृदतम्॥

ब्रह्माण्ड पुराण के प्रमुख विषय

सर्वप्रथम हिरण्यगर्भोत्पत्ति, इसके बाद लोकों का निर्माण, कल्प व मन्वन्तरों का आख्यान, मानसी-सृष्टि का कथन, जम्बू आदि सप्त द्वीपों का वर्णन, पृथ्वी के दोहन का वर्णन, वैवश्वत की उत्पत्ति, इक्ष्वाकुवंश वर्णन, ययातिचरित चित्रण, कार्तवीर्यादि का वर्णन, भावी मनुओं का वर्णन, चतुर्दश लोकों का वर्णन, यह अष्टादश पुराणों का सारस्वरूप बतलाया है।

ब्रह्माण्ड पुराण के श्रवण व मनन का फल

य इदं कीर्तयेद् वत्स शृणोति च समाहितः।
स विधूयेह पापानि याति लोकमनामयम्॥
लिखित्वैतत् पुराणन्तु स्वर्णसिंहासनास्थितम्।
पात्रेणाच्छादितं यस्तु ब्राह्मणाय प्रयच्छति॥

स याति ब्रह्मणो लोकं नात्र कार्या विचारणा॥

अष्टादशपुराणानां च नामनिर्देशपूर्वकम्।

संक्षिप्ता दिग् विनिर्दिष्टा ग्रन्थेऽस्मिन् विदुषां मुदे॥

जैन-साहित्य में पुराण

हिन्दुओं के वेद-वेदाङ्ग व वैदिक साहित्य-पुराण आदि की तरह जैन धर्मावलम्बियों का भी अन्य धर्म व दर्शन साहित्य की तरह पुराण-साहित्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

भारतीय-दर्शनशास्त्र के इतिहास में मध्ययुगीन न्याय के जन्मदाता जैन और बौद्ध ही थे। वेद में इनका विश्वास न होने के कारण जैन व बौद्ध दर्शन को नास्तिक दर्शन कहा गया है। जैसे आस्तिक दर्शन छ: हैं, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा व वेदान्त, वैसे ही नास्तिक दर्शन भी छ: भागों में विभक्त हैं— चार्वाक दर्शन, जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन, पुन: बौद्धदर्शन सम्प्रदाय भेद से चार भागों में विभक्त हैं— माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक। किसी विद्वान् ने बौद्धदर्शन के इन चारों सम्प्रदायों के मत को संक्षेप में एक श्लोक द्वारा समझा देने का सुन्दर प्रयास किया है-

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्।

योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिल:॥

अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिक:।

प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरञ्च सकलं वैभाषिको भाषते॥ १॥

आस्तिक दर्शनों के छ: सम्प्रदायों ने नास्तिक दर्शनों के ऐतिहासिक महत्त्व को बराबर स्वीकार किया है।

जैन और बौद्ध एक ही वृहद्-हिन्दू जाति के अङ्ग हैं। जिस प्रकार हिन्दुओं के अपने धर्म, दर्शन व पुराणों का महत्त्व है, उसी प्रकार जैनियों का अपना धर्म दर्शन व पुरागाथा-पुराण का आदि महत्त्व है।

ब्राह्मण धर्म में जैसे अष्टादश महापुराणों, उपपुराणों आदि का उल्लेख है, उसी प्रकार जैन धर्म के साहित्य में भी चतुर्विंशति पुराण ग्रन्थों का उल्लेख है।

इन चतर्विंशति पुराण ग्रन्थों में उनके चौबीस तीर्थंकर महात्माओं के महात्म्य का वर्णन है, जैनियों के पुराण ब्राह्मणों के पुराणों की तरह पञ्चलक्षणों से युक्त न होकर-

''पुरातनं पुराणं स्यात्तन्महन्महदाश्रयात्''

अपने महापुरुषों की पुरातन कथा के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। इनके चौबीस पुराणों में क्रमश: २४ तीर्थंकर महात्माओं की माहात्म्यपूर्ण कथायें वर्णित हैं।

जिनके नाम इस प्रकार हैं-

१-आदि पुराण २-अजितनाथ पुराण ३-संभवनाथ पुराण ४-अभिनन्द पुराण ५-सुमितनाथ पुराण ६- पद्मप्रभ पुराण ७-सुपार्श्व पुराण ८-चन्द्रप्रभ पुराण ९-पुष्पदन्त पुराण १०-शीतलनाथ पुराण ११-श्रेयांस पुराण १२-वासुपूज्य पुराण १३-विमलनाथ पुराण १४-अनन्तजीत पुराण १५-धर्मनाथ पुराण १६-शान्तिनाथ पुराण १७-कुन्थुनाथ पुराण १८-अमरनाथ पुराण १९-मल्लिनाथ पुराण २०-मुनिसुव्रत पुराण २१-नेमिनाथ पुराण २२-अरिष्टनेमि पुराण २३-पार्श्वनाथ पुराण २४-सम्मति पुराण।

इन चौबीस जैन पुराणों में भी सुप्रसिद्ध पुराण आदि पुराण, पद्मप्रभ पुराण, अरिष्टनेमि पुराण, (जिसे हरिवंश पुराण भी कहते हैं) और उत्तरपुराण हैं। इनमें भी आदि पुराण व उत्तर पुराण का विशेष महत्व है।

आदि पुराण

इसमें जैनों के आदि तीर्थंकर महात्मा ऋषभदेव की कथाओं का वर्णन है, ऋषभ देव जी के सम्बन्ध में जैन परम्परा है कि उनका जन्म सर्वार्थसिद्धि योग, उत्तराषाढ नक्षत्र, धनु राशि और चैत्र मास की कृष्णाष्टमी को इक्ष्वाकुवंशीय राजा नाभि और रानी मरुदेवी के गर्भ से विनीता नामक नगरी में हुआ था। यह भी परम्परागत विश्वास है कि वे चतुर्युगी अर्थात् चौरासी लाख वर्ष जीवित रहकर मोक्ष को प्राप्त हुए। भागवत में इनकी महिमा का सुन्दर वर्णन है। भागवत में भी इनके माता-पिता के वे ही नाम बताये गए हैं और इन्हें भगवत् गुण सम्पन्न कहा गया है। इनकी पत्नी का नाम इन्द्र कन्या जयन्ती बतलाया गया है जिससे कि इनके धर्मात्मा, वेदज्ञ और भागवतधर्मानुयायी भरत, कुशावर्त आदि सौ पुत्र हुए। भागवत में कहे गह चौबीस अवतारों में इन्हें आठवां अवतार कहा गया है।

इस पुराण में ४७ पर्व हैं। इसके रचयिता जिनसेन हुए हैं। इन्होंने नवकेशरी सिद्धसेन, वादिचूड़ामणि, समन्त भद्र, देवमुनि इत्यादि गुरुजनों का नाम स्मरण किया है, जिससे ग्रन्थ के रचनाकाल में पर्याप्त सहायता मिलती है।

इस पुराण ग्रन्थ में सृष्टितत्त्व के सम्बन्ध में जो विचार किया गया है, इसको देखकर ऐसा विदित होता है कि जैसे उन्होंने अपने उत्तर भावी आचार्य शंकर के अद्वैत ब्रह्म सम्बन्धी विचारों का खण्डन किया हो।

उत्तर पुराण

यह आदि पुराण का उत्तर भाग है। आचार्य जिनसेन आदि पुराण के ४४ सर्ग लिखने के बाद ही निर्वाण को प्राप्त हो गये। तदनन्तर ४५ सर्ग से सैंतालीस सर्ग तक और अन्त

में जिन चरित्र को साथ में जोड़कर उनके शिष्य गुणभद्र ने आदि पुराण के उत्तर भाग को समाप्त किया।

ग्रन्थ की अन्तिम पुष्पिका में लिखा हुआ है कि समस्त शास्त्रों का सारस्वरूप यह पुराणग्रन्थ धर्मवित् श्रेष्ठ व्यक्तिगण द्वारा ८२० शक पिंगल सम्वत्सर ५ अश्विन्य शुक्लपक्ष बृहस्पतिवार को पूजित हुआ। यह समय विश्वविख्यात कीर्ति सर्व शत्रु पराजयकारी अकालवर्स भूपति के राज्याधिरोहण का था।

उत्तर पुराण वस्तुतः जैनों के चतुर्विंशति पुराणों का विश्वकोष है। इसमें सभी पुराणों का सार संकलित है। इसका आरम्भ ४८ वें पर्व से होता है। दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी तक का इसमें सम्पूर्ण आख्यान है।

आदि पुराण और उत्तर पुराण में प्रत्येक तीर्थंकर से पहिले चक्रवर्ती राजाओं की कथा वर्णित है। जैन पुराणों के मतानुसार ये तीर्थंकर ही पूर्वजन्म में राजा थे। इन दोनों पुराणों में चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ शुक्लबल, नौ विष्णु द्विस आदि ६३ महात्माओं के चरित्र वर्णित हैं। इसलिए इन्हें 'त्रिषष्ट्यवयवी' पुराण भी कहा जाता है।

बौद्ध साहित्य में पुराण

(त्रिपिटक साहित्य)

हिन्दू धर्म में जो महत्त्व पुराण ग्रन्थों का है, बौद्धधर्म में ठीक वही महत्त्व उनके त्रिपिटक-साहित्य का है, भगवान् के बुद्धत्व प्राप्त करने से लेकर परि-निर्वाण प्राप्त करने के बीच उन्होंने जो कुछ भी कहा उसी का संग्रह-संकलन त्रिपिटक में है। त्रिपिटक-अर्थात् तीन पिटारियां, जिनमें महाबोधि-भगवान् बुद्ध के उपदेश सुरक्षित हैं।

इन पिटकों के नाम इस प्रकार हैं-

(१) सुत्त पिटक (२) विनय पिटक (३) अभिधर्म पिटक हैं।

(१) सुत्त पिटक-या सूत्रसमूह-में अनुशासनात्मक उपदेशों का सूत्ररूप में संग्रह किया गया है।

(२) विनयपिटक-में कल्याण कारक उपदेशों का संकलन है।

(३) अभिधर्म पिटक-में मनोवैज्ञानिक व नैतिक मूल्यों का विश्लेषण है, जो दार्शनिक आधार शिला पर अवलम्बित होने के कारण दुरूह है। इन त्रिपिटकों का संपादन-संकलन तथागत बुद्ध के अनुयायी विद्वानों ने किया।

बुद्ध की आचार-मीमांसा

सरल स्वच्छ सदाचार के द्वारा इस नाना क्लेशों से पीड़ित प्राणिवर्ग को मुक्त करना ही भगवान् बुद्ध के उपदेशों का उद्देश्य है।

भगवान् बुद्ध का मत था कि अध्यात्म के विषय में किसी प्रकार का तर्क न करके, बल्कि सरलता, आचार निष्टमेधा व वैराग्य व शान्ति से ही उक्त विषय का परिशीलन या समाधान कर लेना उचित है।

ऐसा अवसर उन्हें बहुत बार-सङ्गीति-सभा व बिहारों में प्राप्त हुआ, जहां उनके शिष्यों ने आत्मा के शाश्वत व अशाश्वत विषयक तथा जीवात्मा के ऐक्य या पार्थक्य के विषय में प्रश्न किये-

इसके समाधानस्वरूप एक दृष्टान्त उन्होंने प्रस्तुत किया-

कोई व्यक्ति विषैले बाण से घायल होकर तड़प रहा हो और उसके बान्धव जन उसकी चिकित्सा कर रहे हों, इस समय इस पीड़ित-व्यक्ति के आत्मीयजन जोर-जोर से किसी अच्छे वैद्य के नाम का उच्चारण कर रहे हों, तो क्या उस पीड़ित व्यक्ति की पीड़ा किसे ऐसे पीयूषपाणि-वैद्य के नामोच्चारण और उसके जाति व गोत्र आदि के कथन से दूर हो जायेगी ? नहीं, अपितु यह सब उपहास के लिए ही है।

इसी प्रकार अध्यात्म पथ के पथिक के लिए भी अध्यात्म के विषय में क्लिष्टतर प्रश्न केवल उसके अज्ञान के लिए ही है। यह भव-व्याधि तो कर्त्तव्य-मार्ग के निर्मल उपदेशों से ही दूर होगी।

बौद्ध साहित्य के अनुशीलन से मालूम पड़ता है कि उपनिषद् सिद्धान्त की तरह बौद्ध सिद्धान्त भी ''ऋते ज्ञानान् न मुक्तिः'' इसी सिद्धान्त का अनुयायी है।

परन्तु यह विशुद्ध ज्ञानोदय तब तक नहीं होता है जब तक मनसा वाचा कर्मणा सर्वात्मना शरीर व मन की शुद्धि नहीं हो जाती है। इस प्रकार अन्तकरण की शुद्धि के लिए बौद्ध धर्म में शील-समाधि-प्रज्ञा इन तीन रत्नों की सर्वाधिक मान्यता है।

शील-समस्त सात्विक कर्मों का अभिधान करता है। यह-अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-मादकद्रव्य-निषेध से पांच प्रकार का है। यह पञ्चाङ्ग सहित शीलव्रत भिक्षु व गृहस्थ सभी के लिए समानरूप से सेवनीय है।

समाधि—यह चित्तवृत्ति निरोध विशेष है।

इसका फल है पूर्वजन्म स्मृति लाभ, व जन्म मृत्यु का ज्ञान निर्वाण और विरोधी वृत्तियों का दमन करना।

प्रज्ञा—यह एक प्रकार की ज्ञानोपलब्धि है।

यह तीन प्रकार की होती है—श्रुतमयी, चिन्तामयी, भावनामयी। प्रमाणजन्य प्रज्ञा श्रुतमयी है और युक्ति जन्य प्रज्ञा चिन्तामयी है तथा समाधि जन्य प्रज्ञा भावनामयी है।

शील, समाधि, प्रज्ञा से सम्पन्न व्यक्ति ही इस भवसागर के बन्धनों से मुक्त हो सकता है, यही भगवान् बुद्ध के उपदेशों का सार है।

संस्कृत साहित्य के अमूल रत्न

काव्य-आख्यान व कथा के क्षेत्र में रामायण, महाभारत व श्रीमद्भागवत ये तीन ग्रन्थ-रत्न इस साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

संस्कृत वाङ्मय के इतिहास में वैदिकसाहित्य के बाद फिर इन्हीं ग्रन्थ-रत्नों की गणना है। वेदान्त दर्शन में जो स्थान ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, व गीता का है, जिसे प्रस्थानत्रयी कहा जाता है। लौकिक साहित्य में भी ठीक वही स्थान इन तीन ग्रन्थ रत्नों का है, जिन्हें प्रस्थानत्रयी से अभिहित किया जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। वेदों की तरह ये ग्रन्थ भी परवर्ती साहित्य के उपजीव्य रहे हैं जहां से अजस्र ज्ञानधारा प्रस्फुटित होकर विशाल संस्कृत साहित्योद्यान को आप्लावित कर रही है।

वैदिक-ज्ञान-विज्ञान धर्म व संस्कृति की यदि सरल-सुगम व विस्तृत व्याख्या कही है तो यह इन्हीं ग्रन्थ रत्नों मे विद्यमान है। इसके साथ प्राचीन भारत के इतिहास के साथ-साथ आचार-विचार, व्यवहार व उस समय की समग्र धर्म और राजनीति की झलक इन्हीं ग्रन्थों में हमें दृष्टिगोचर होती है।

संस्कृत साहित्य की सेवा जिन महामनीषियों ने की है, उनमें से महामुनि वाल्मीकि, महर्षि व्यास तथा महाकवि कालिदास का व्यक्तित्व महान् आश्चर्य-जनक अद्भुत तथा अलौकिक है जिनकी अमर कृतियां-वाल्मीकि रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, रघुवंश महाकाव्य व मेघदूतादि हमें अनमोल विरासत के रूप में मिले हैं।

यदि संस्कृत साहित्य में इन अनमोल रत्नों को अलग कर दिया जाये तो कहना न होगा कि यह साहित्य अपनी दिव्य आभा से शून्य हैं। निःसन्देह ये ग्रन्थ गुण व परिमाण में भी अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा महान् है।

इन उज्ज्वल रत्नों के प्रकाश से यह साहित्य विश्व में अपने गुरुत्व के गौरव की सुरक्षा कर रहा है। और मनु भगवान की इस सूक्ति को सार्थन कर रहा है-

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।

स्वं स्वं चरित्रं शिरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ १॥

(१) रामायण

कवीन्दुं नौमि वाल्मीकिं यस्य रामायणीं कथाम्।
चन्द्रिकामिव चिन्वन्ति चकोरा इव साधवः॥।

महामहिमशाली महर्षि वाल्मीकि प्रणीत रामायण महाकाव्य आदिकाव्य और लौकिक छन्दोबद्धरचना में महर्षि वाल्मीकि आदि कवि हैं। क्रान्तदर्शी इस महर्षि के इस आदि काव्य के अवतरण का प्रक्रम एक विषाद पूर्ण घटना से हुआ। मध्याह्न-समय के स्नान के लिए जब यह महर्षि पुण्यसलिला तमसा नदी के पावन पुलिन में पहुंचे तो वहां व्याध के द्वारा मारे गये एक क्रौञ्च पक्षी को देखा और उस जोड़े में से एक को विलखते विलाप करते हुए देखा। इस घटना ने महर्षि के कोमल सहृदय-हृदय को द्रवित कर दिया।

महर्षि का द्रवीभूत यह शोक-श्लोक रूप में परिणत हो गया और सहसा छन्दोमयी वाणी का आविर्भाव इस प्रकार हुआ-

मा निषाद! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

हे निषाद-व्याध! तुम बहुत वर्षों तक प्रतिष्ठा को प्राप्त मत करो, क्योंकि तुमने कोञ्च-युगल में से काममोहित एक का वध किया है।

बस, रामायण-मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्रजी के पावन जीवन चरित्र के प्रारम्भ की यही प्रारम्भिक घटना या पूर्वाभास है।

वृक्ष जैसे फलरूप में परिणत होता है, उसी प्रकार महामुनि का यह शोक श्लोकरूप में परिणत हुआ, जो हमारे सामने आज आदि काव्य रामायण के रूप में उपस्थित है। इसीलिए इस महाकाव्य का प्रधान रस करुण है।

भवभूति के करुण को महारस मानने का रहस्य भी यही है, कि यदि आदिकाव्य का निर्माण शोक स्थायीभाव करुण से हुआ है तो आदि रस भी करुण ही है इतर रस तो सब उसकी विकृति हैं।

इस आदि काव्य में चौबीस हजार श्लोक हैं, क्योंकि गायत्री में भी चौबीस ही अक्षर हैं। इन्हीं चौबीस अक्षरों की यहां विशाल-व्याख्या की गयी है। यह पांच सौ सर्गों में, तथा सात काण्डों में विभक्त है।

रामायण-मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्रजी के दिव्य व पवित्र चरित्र का एक अनुपम महाकाव्य है जिसमें भारतीय संस्कृति की पुनीत परम्परा के साथ-साथ आदर्श राजा व राज्य के भी महान् दायित्वों पर प्रचुर प्रकाश डाला है।

भारतीय आचार-विचार के अतिरिक्त उस पवित्र व्यवहार का भी यहाँ वर्णन है, जिसका प्रतिदिन हम अपने दैनिक जीवन में उपयोग करते हैं। यह व्यवहार ह माता-पिता और पिता-पुत्र पत्नी व पति भाई का परस्पर सेवक-स्वामी आदि का भाव। यह रामायण में आदर्शरूप से अंकित है।

काव्यमय सौन्दर्य की दृष्टि से भी रामायण का महत्त्व कम नहीं हैं।

मन्त्रद्रष्टा यह महाकवि प्रकृति के सूक्ष्म-सुषमा का भी पारदृश्वा था। सरल व ललित भाषा में वर्षाकाल का यह वर्णन यथासंख्य अलंकार से अलंकृत कितना सुन्दर है-

वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति।
ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति॥
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ता:।
प्रियाविहीना शिखिन: प्लवङ्गमा:॥ १॥

महर्षि वाल्मीकि की काव्य-सुषमा की समृद्धता का बहुत कुछ रहस्य उनकी स्वाभाविक-अतर्कितोपनत-ललित उपमाओं पर निर्भर है-

अशोक-वाटिका में रहती हुई भगवती अखिललोक जननी सीताजी का वर्णन इक्कीस उपमा माला से किया है-

अभूतेनापवादेन कीर्तिर्निपतितामिव।
आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव॥
सभामिव महाकीर्ति: श्रद्धामिव विमानिताम्।
पूजामिव परिक्षीणामाशां प्रतिहतामिव॥ इत्यादि

निश्चित ही यह काव्यरत्न महाकाव्यों के महनीय गुणगणों से विभूषित संस्कृत साहित्य मन्दिर के कलश के समान है। काव्यसंसार में वाल्मीकि समान वाणी की तुलना में कोई समर्थ न है ओर न ही हो सकता है। स्वभाव के कथन में, चरित्र चित्रण में तथा मानव-मनोगत-भाव-विलासों के प्रदर्शन में वन-पर्वत-नदी-तपोवन उपवनादि के वर्णन में नि:सन्देह वाल्मीकि अद्वितीय हैं।

भारतीय साहित्य में वैदिक युग से लेकर पौराणिक और कल्प-नाटक-काव्य युग तक सर्वत्र रामकथा की व्यापकता को देखते हुए सहज ही में विश्वास करना पड़ता है कि वाल्मीकि ने अपने ग्रन्थ के लिए जिस कथानक को चुना, उसका अस्तित्व उससे पूर्व भी था और उसके बाद में भी वर्तमान रहा। अष्टादश महापुराणों में रामकथा की सबल चर्चायें और उन चर्चाओं के अति प्राचीन होने का इतिहास मिलता है। इन चर्चाओं में वाल्मीकि रामायण के पूर्वापर अनेक रामायण ग्रन्थों की रचना का निर्देश भी मिलता है।

एक पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार वाल्मीकि रामायण से पूर्व स्वंयभुव मन्वन्तर से भी पहिले सतयुग में भगवान् शंकर ने पहिले पहिल महासती पार्वतीजी को एक रामकथा सुनायी थी। इसका विवरण शिव-पार्वती सम्वाद द्वारा सन्त कवि तुलसीदास जी ने भी अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ रामचरित मानस में किया है। यह पवित्र रामचरित्र परम्परया प्राप्त हो, या प्रत्यक्ष परीक्षित हो परन्तु महर्षि वाल्मीकि के मुखारविन्द में आते आते अमृत बन गया। अतएव यह सूक्ति भी सत्य है-

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले॥
तावत् रामायण कथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥ १॥

(२) महाभारत

उर्ध्व बाहु विरोम्येष नैव कश्चिच्छ्रणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥ १॥

महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यासप्रणीत कौरव व पाण्डवों के युद्ध वर्णन परक अनेक आख्यानोपाख्यान व गाथाओं से परिपूर्ण 'धर्मार्थकाममोक्ष' का विशद विवरणात्मक यह आख्यानात्मक इतिहास ग्रन्थ परम रमणीय है।

इस अद्भुत वृहदाख्यान स्वरूप महाभारत ग्रन्थ रत्न को महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास ने लगातार अथक परिश्रम करके तीन वर्ष से पूर्ण किया कहा भी है कि-

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थाय कृष्णा द्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यान कृतवानिदमद्भुतम्॥ १॥

भारत के इस वृहत-आख्यान को सर्वप्रथम व्यासजी ने अपने शिष्य वैशम्पायन के लिए उपदेश किया। वैशम्पायन ने इसे जनमेजय के लिए, उसके नागयज्ञ के अवसर पर उपदेश दिया। इसके बाद लोमहर्षण के पुत्र शौनकादि महर्षियों को यह उपदेश प्राप्त हुआ। इस प्रकार इस आख्यान को तीन वक्ताओं ने अनेक श्रोताओं को सुनाया।

महाभारत भारत की ज्ञान-विरासत का विश्वकोष है। भारतीय मनीषियों के सुचिन्तित विचारधाराओं का यदि कहीं अपूर्व सङ्गम देखना हो तो वह महाभारत में ही मिल सकता है। लगभग दो तीन हजार वर्ष पूर्व से ही यह ग्रन्थरत्न संसार के पण्डित वर्ग की विचारणा का विषय बना हुआ है। यह एक ऐसा महासागर है, जिसमें असंख्य ज्ञान-सरितायें मिलकर इस प्रकार एकाकार हो चुकी हैं, जिससे सचमुच ही यह मानना पड़ता है कि-

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥ १॥

महाभारत के इस सार्वभौमिक महत्त्व को देखकर इनको न तो हम वैदिक ग्रन्थ ही कह सकते हैं, न पुराण ही, न इतिहास ही, न महाकाव्य ही, न एक धर्मग्रन्थ ही और न केवल सामाजिक सांस्कृतिक चेतना का प्रतिनिधि ग्रन्थ ही।

वस्तुतः यह एक बृहद् राष्ट्र का ज्ञान सर्वस्व होने के कारण आर्ष-ग्रन्थ है। जिसमें इतिहास पुराण काव्य व धर्मशास्त्र का अपूर्व समन्वय विराजमान है।

एक लक्ष परिमिति श्लोकों से संबद्ध यह ग्रन्थ आदि-सभा-वन-विराट-उद्योग-भीष्म-द्रोण-कर्ण-शल्य-सौप्तिक-स्त्री-शान्ति-अनुशासन-अश्वमेध-आश्रमवासिक-मौसल-महाप्रस्थानिक-स्वर्गारोहण नामक अठारह पर्वों में विभक्त है। अनेक वृहदाख्यानों के साथ-साथ उपाख्यानों का भी सुन्दर सन्निवेश यहां हुआ है, जिनमें-शकुन्तलोपाख्यान, सावित्री उपाख्यान, रामोपाख्यान व नलोपाख्यान आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

महाभारत का अन्तिम भाग 'हरिवंश' नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें करीब करीब बारह हजार श्लोक हैं। इसमें आनन्दकन्द सच्चिदानन्द भगवान् कृष्णचन्द्र की बाल लीलाओं का ललित वर्णन है।

पाण्डवों के विजय वर्णन के कारण इस ग्रन्थ को पहिले जय काव्य भी कहते थे, परन्तु बाद में भारतायोद्धारो अस्मिन् संग्रामे इस यौगिक व्युत्पत्ति के कारण भारतम् यह पढ़ा, धीरे धीरे वृहद् उपख्यानों से संवलित होकर एक विशाल कलेवर धारण करने के कारण यह महाभारत इस नाम से प्रसिद्ध हुआ।

विशाल काय महाभारत का उदय उस वैदिक व लौकिक साहित्य के संक्रमण की संध्या में हुआ, जिस समय वैदिक मतों के विरोधियों का झञ्झावात भी उनकी मान्यताओं को सन्देह दोला में हिला रहा था। ऐसे समय में महाभारत का यह कर्त्तव्य सा हो गया था कि इन अवैदिक मतों की अप्रामाणिकता सिद्ध कर वैदिक मतों की पुनः प्रतिष्ठा की जाय। यह कार्य महाभारत जैसे व्यापक व उदार ग्रन्थ को थोड़े से पण्डितों की चहारदीवारी में न करके, विश्व के विशाल प्राङ्गण में प्रतिनगर, प्रति नर व प्रति नारी के मानस मन्दिर में पुनः वह वैदिक ज्ञान गरिमा का आवाहन कर देना था-इसी बात की ओर व्यासजी का श्रीमद्भागवत में यह संकेत है-

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुति गोचरा।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥ १॥

गीता

महाभारत के इस शतसाहस्री संहिता में गीता सबसे महत्त्वपूर्ण व अमूल्य उपदेशों की मञ्जूषा मानी जाती है। श्रीमद्भगवद्गीता के सात सौ श्लोकों के अन्तर्गत निःश्रेयस प्राप्ति के

उपाय इनकी सुबोध तथा सरल भाषा में अभिव्यक्त कर दिये हैं कि सर्वसाधारण उन्हें आसानी से समझ सकता है और बिना किसी ननु नच के राजमार्ग का अनुसरण कर अपने गन्तव्य मार्ग पर पहुँच सकता है।

जिस परिस्थिति में गीता का उपदेश दिया गया था। वह परिस्थिति बड़ी विलक्षण थी। महाभारत का प्रलयंकारी संग्राम होने जा रहा था, जिसमें भाई के सामने भाई उसके खून पीने के लिए तैयार खड़ा था ऐसी विचित्र दशा में अर्जुन का विषाद युक्त होना नितान्त स्वाभाविक था। अर्जुन महाभारतकालीन योद्धाओं में परम प्रसिद्ध, नितान्त वीर्यशाली था।

इस प्रकार सांसारिक परिस्थितियों के बीच पड़कर कर्म के विषय में संशय रखने वाले मानव मात्र का प्रतिनिधित्व हमें अर्जुन में दृष्टिगोचर होता है। गीता ज्ञान के वक्ता श्रीकृष्ण थे, जो उस युग के एक परम मेधावी विद्वान् तथा कर्तव्यपरायण पुरुष थे। अर्जुन के सामने समस्या थी कि युद्ध करूं या न करूं ? इस विकट प्रश्न के उत्तर की मीमांसा करने में ही गीता का उदय हुआ। इसलिए गीता के उपदेशों की दिशा स्पष्ट है-

वह आचार-मीमांसा का प्रतिपादन करती है। इसलिए गीता 'योग शास्त्र' है। योग के अनेक अर्थों में एक अर्थव्यवहार भी है। सांख्य का अर्थ है तत्त्व ज्ञान और योग का अर्थ है व्यवहार या कर्म मार्ग। इसीलिए प्रत्येक अध्याय के पुष्पिका में ''ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे'' कहने का यही तात्पर्य है।

गीता का मुख्य विषय ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित तत्त्वज्ञान है और इसी तत्त्वज्ञान के प्राप्ति की उपायों-साधनों का सरल व सुगम भाषा में वर्णन करना गीता का अपना प्रमुख कर्तव्य है।

ये उपाय या साधन चार हैं— कर्म मार्ग, ज्ञान मार्ग, ध्यान मार्ग और भक्ति मार्ग। जिस प्रकार प्रयाग में गङ्गा-यमुना-सरस्वती का अपूर्व सङ्गम है। उसी प्रकार गीता में भी इन चारों साधन मार्गों का विचित्र समन्वय है। यही कर्म ज्ञान व भक्ति की धारायें गीता में मिलकर तत्त्व जिज्ञासुओं की ज्ञान पिपासा को शान्त करती हुई परमात्मा की ओर अग्रसर करती हैं। यह विचित्र समय ही गीता का अपना अपूर्व महत्त्व है। इसीलिए ठीक ही कहा है-

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिसृता:॥

श्रीमद्भगवद्गीता, मनुस्मृति, गजेन्द्र मोक्ष, भीष्म स्तवराज, विष्णु सहस्र नाम, महाभारतान्तर्गत ये पांच अंश गीता पञ्चरत्न के नाम से प्रसिद्ध हैं।

महाभारत के राज्यव्यवस्था-सम्बद्ध विचार

संस्कृत साहित्य में राजनीति सम्बन्धी सन्दर्भों में महाभारत व कौटलीय अर्थशास्त्र ये दो ग्रन्थ प्रमुख हैं। इसमें भी महाभारत अतिमहत्त्वपूर्ण, विस्तृत व सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। इसके अनेक अध्यायों में राज्य व राजा से सम्बन्धित कर्तव्यों का वर्णन पाया जाता है।

महाभारत के अनुसार आदर्श राजा का स्वरूप

धर्माय राजा भवति न कर्मकरणाय तु।
मान्धातारिति जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता॥
राजा चरित चेद्धर्मं देवत्वायैव कल्पते।
सचेद धर्मं चरति नरकायैव कल्पते॥
यस्मिन् धर्मो विराजते तं राजानं प्रचक्षते॥ १॥

महाभारत के कुछ आदर्श उपदेश

सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते।
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते॥ १॥
य एव यत्नः क्रियते परराष्ट्रविमर्दने।
स एव यत्नः कर्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने॥ २॥
वृत्तं यत्नेन संरक्षेत् वित्तमायाति याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतोहतः॥ ३॥
तृणानिभूमिरूदकं वाक् चतुर्थी च सुनृता।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ ४॥

महाभारतीय कथा वस्तु

संक्षेप में महाभारत की कथावस्तु इस प्रकार है।

उत्तर भारत के राजा दुष्यन्त के पुत्र भरत वंश में उत्पन्न शन्तनु के प्रपौत्र धृतराष्ट्र और पाण्डु थे। यद्यपि धृतराष्ट्र बड़े थे परन्तु अन्धे होने के कारण सारा राजकार्य पाण्डु ही करते थे, कलान्तर में जब पाण्डु स्वर्ग पधारे, तब राज्य-व्यवस्था का भार पाण्डुपुत्रों—युधिष्ठर-भीम-अर्जुन-नकुल-सहदेव पर आया। इधर धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव भी युवक हो चुके थे, जिनमें सबसे बड़ा पुत्र दुर्योधन था।

छल कपट द्वारा अनेक उपाय करने पर भी जब दुर्योधन सफल नहीं हुआ तब राज्य हरण के लिए शकुनि की सहायता से द्यूतक्रीड़ा मे पाण्डवों को पराजित कर धरोहर के

रूप में सारा राज्य छीन लिया और द्यूत की शर्त के अनुसार बारह वर्ष का वनवास व एक वर्ष का अज्ञातवास पाण्डवों को दे दिया, मजबूर होकर पांडवों को यह शर्त निभानी पड़ी। इस कठोर यातना का उपभोग कर जब पाण्डव वन से लौटे और दुर्योधन से फिर उन्होंने अपने राज्य के वापिस देने की प्रार्थना की इस अवसर पर पाण्डवों की तरफ से भगवान् श्री कृष्ण स्वयं दूत बने और पाण्डवों की प्रार्थना लेकर दुर्योधन तक पहुंचे, इन्होंने दुर्योधन के समक्ष पाण्डवों की मांग को प्रस्तुत किया, परन्तु स्वार्थी दुर्योधन बिना विचारे कहने लगा-''सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशवः'' अपने इस दुरध्यवसाय से तिल मात्र भी विचलित नहीं हुआ।

इधर पाण्डव भी युद्ध के लिए तैयार हो गये। बस कुरुक्षेत्र की पवित्र भूमि में बड़ी साज-सज्जा के साथ युद्ध अठारह दिन तक चला। इस बीच में अनेक महारथियों के साथ दुर्योधन भी यमराज के भवन का अतिथि बना। भगवान् श्रीकृष्ण की सहायता से पाण्डव विजयी हुए जैसा कि गीता के अन्तिम श्लोक में कहा भी है-

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

क्रान्तदर्शी कुशल कलाकार महर्षि व्यास जी ने इसी संग्राम का मनोहर वर्णन इस महाभारत नामक ग्रन्थ में किया। बीच-बीच में सुन्दर आख्यानोपाख्यान व उपदेशों से इस ग्रन्थ रत्न को सुसज्जित किया। चतुर्विध पुरुषार्थ के उपायों का सुललित मनोरम वर्णन इसमें करके वस्तुतः व्यास महाराज ने संस्कृत साहित्य के सदन में प्रवेश करने वाले के लिए एक ज्ञानमय प्रदीप ही प्रज्वलित कर दिया।

अब कविवर गोवर्धनाचार्य जी की सूक्ति से ही भगवान् वेद व्यास जी की इस गौरवगाथा का उपसंहार करते हैं।

व्यास गिरां निर्यासं सारं विश्वस्य भारतं वन्दे।
भूषणतागतैव संज्ञा यदाङ्किता भारती भाति॥

(३) श्रीमद्भागवत

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥ १॥

श्रीमद्भागवत निगम-वेद रूपी कल्पतरु का परिपक्व फल है, यह ऐसा फल है जिसे शुकदेव जी के मुखारविन्द के सम्पर्क होने से अमृतमय रस से परिपूर्ण है। अतः भावुक-रसिकों का यह परमास्वादनीय है। भू-मण्डल में तो इससे अधिक स्वादिष्ट-सुधा की

उपलब्धि होना सम्भव नहीं है, साथ ही साथ स्वर्ग-वैकुण्ठ या मुक्तावस्था में भी कहीं इससे अधिक आनन्द की मात्रा उपलब्ध हो सकेगी यह कहना केवल साहस मात्र है।

अतः ऐसे कल्पतरु के सुधा-सहोदर रसास्वाद से ओतप्रोत इस श्रीमद्भागवत उपदेशामृत फल से वञ्चित रह जाना सहृदय-रसिकों के लिए तो अपने जीवन के सर्वस्व से वञ्चित रहना है, ऐसे ही भावुकों की भावना की अभिव्यक्ति हेतु हम थोड़ी-सी चर्चा श्रीमद्भागवत के विषय में भी कर दें तो कोई अनुचित न होगा।

अभी अभी महाभारत के परिचय के प्रसङ्ग में जिन महामना महर्षि वेद-व्यास की चर्चा की थी, जिन्होंने एक लाख श्लोकों वाले महाभारत जैसे विशालकाय ग्रन्थ का निर्माण किया, जिस ग्रन्थ के प्रणयन का उद्देष्य था कि कौरव पाण्डवों के युद्ध वर्णन के प्रसङ्ग के सिलसिले में उन सारी-ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी बातों का वर्णन कर दिया जाय जिनकी प्रतिदिन इन जागतिक जनों को आवश्यकता रहती है। साथ ही साथ वेदों के उस निगूढ़ रहस्य की भी सरल व्याख्या हो जाय जो जनसाधारण को सुलभ नहीं है। और इससे पहले वे अष्टादश महापुराणों की रचना कर चुके थे, यह सब कुछ होते हुए भी वे स्वंय अपने में सन्तुष्ट नहीं थे, यह बात श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के पांचवें छठे अध्याय के अनुशीलन से सुतरां ज्ञात हो जाती है।

एक दिन जब वे खिन्नमन होकर उदासीन से एकान्त में बैठे हुए थे तो देवर्षि वीणापाणि नारद जी का उनसे मिलन हुआ। नारद जी ने उनसे उदासीनता का कारण पूछा तो, व्यास जी ने बताया कि भगवन् आप तो सभी के अन्तरात्मा के रहस्य को जानते ही हैं, न जाने क्यों इतना सब कार्य करने पर भी मेरी आत्मा सन्तुष्ट नहीं है? नारद जी ने कहा आप चिन्ता मत कीजिए, मैं सब समझ गया, बात यह है कि पुरुषार्थ चतुष्टय के विषय में आपने जो कुछ इतिहास पुराण द्वारा कार्य किया-कर्म-ध्यान-ज्ञान व भक्ति के विषय में जितना भी विवेचन हुआ वह सब नीरस व शुष्क है। इस प्रकार के निरञ्जन ज्ञानोपदेश से न तो भक्तों का भक्तिप्रवण-कोमल हृदय प्रसन्न होता है और न विद्वानों की वह विराट्-ज्ञान पिपासा ही शान्त होती है और जिस रचना में आनन्दकन्द सच्चिदानन्द व्रजनन्द की निराली नरलीला समन्वित भाव छटा है अंकित न हो, ऐसी भगवद् गुण विरहित रचना ही किस काम की।

अतः किसी ऐसे ग्रन्थ रत्न का प्रणयन कीजिए जिससे ज्ञान-वैराग्य-भक्ति समन्वित-भागवत-हृदय सदा के लिए आनन्द निमग्न हो जाय।

बस, नारद जी के इस अमोघ आशीर्वाद स्वरूप उपदेश से प्रेरणा प्राप्त कर, व्यास जी ने अपनी प्रौढ़-ऋतम्भरा प्रजा का सदुपयोग भगवद् गुण वर्णन में किया, जिसका सुमधुर परिणाम है-श्रीमद्भागवत। यह ग्रन्थ रत्न संस्कृत साहित्य की एक अमूल्य निधि है। प्रौढ-परिष्कृत भाषा के द्वारा आख्यात-आख्यानों से सुसज्ञित, ज्ञान-वैराग्य-निष्ठ भक्ति का जहां विलक्षण संगम है। वैष्णव-दर्शन-विशेषकर वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त का तो यह सर्वस्व है। इनके मत में ब्रह्म माया से अलिप्त है, अतः नितान्त शुद्ध है, यह माया रहित ब्रह्म ही एक अद्वैत तत्त्व है, अतः इस मत का शुद्धाद्वैत नाम यथार्थ ही है।

यहाँ ब्रह्म सर्वधर्मविशिष्ट माना गया है। जैसे अद्वैत वेदान्त में निर्गुण ब्रह्म माया के सम्पर्क से सगुण हो जाता है-यह कथन इन्हें मान्य नहीं है-इनका मत है कि "अहि कुण्डल की तरह ब्रह्म का उभयरूपता का होना श्रुति सिद्ध हैं।" उभय व्यपदेशात् स्वहिकुण्डलवत् (ब्र०सू० ३/२/२७)

भगवान की महिमा अनवगाह्य है, वे अनेक रूप होकर भी एक है, स्वतन्त्र होने पर भी भक्त के पराधीन हैं। यह संसार लीला निकेतन ब्रह्म का ललित लीलाओं का विकास मात्र है। अखिल रसामृतमूर्ति निखिल लीला धाम श्री कृष्ण ही परब्रह्म हैं।

वल्लभाचार्य श्रीमद्भागवत को महर्षि वेदव्यास जी की समाधि भाषा कहते हैं। अर्थात्-भागवत तत्त्वों का वर्णन व्यास ने समाधि-दशा में अनुभव करके किया है। श्रीमद्भागवत का प्रभाव वल्लभ सम्प्रदाय तथा चैतन्य सम्प्रदाय पर बहुत अधिक पड़ा है।

श्रीमद्भागवत शुद्धाद्वैत तत्त्व का ही प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में करता है। भगवान्, निर्गुण-सगुण जीव जगत् सब वहीं हैं। उसी एक अद्वितीय परमार्थ को ज्ञानी लोग ब्रह्म, योगीजन परमात्मा और भक्तजन भगवान् के नाम से पुकारते हैं। वही भगवान् शुद्ध सत्त्व गुण की उपाधि से अवच्छिन्न होने पर विष्णु और सत्त्व मिश्रित रजो गुण की उपाधि से अपच्छिन्न होने पर ब्रह्म और तमो मिश्रित सत्त्व से अवच्छिन्न होने पर रुद्र, सगुण रूप धारण कर लेते हैं। जगत् के स्थिति-सृष्टि संहार में विष्णु-ब्रह्मा और रुद्र निमित्त कारण होते हैं, पुरुष उपादान कारण होता है। यह सब ब्रह्म का ही सगुण रूप है।

भागवत के मत में ब्रह्म ही अभिन्न निमित्तोपादान कारण है।

भगवान् अरूपी होकर भी रूपवान् हैं। जैसा कि तृतीय स्कन्ध के चौबीसवें अध्याय में कहा है-

तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव॥

यानि यानि च रोचन्ते स्वजानानामरुद्धिषः॥ ३१॥

भगवान् की शक्ति का नाम माया है, जिसका स्वरूप भगवान् ने इस प्रकार बतलाया है—

वास्तविक वस्तु के बिना भी जिसके द्वारा आत्मा में किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है, वही माया है-

ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत आत्मनि।

तद् विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः॥ १॥

भगवान् की उपलब्धि का सरल सुगम उपाय बतलाना भागवत की अपनी विशेषता है। इसी भक्ति तत्त्व का निरूपण करना इसका प्रयोजन है, अन्य ज्ञान-वैराग्य आदि मार्ग भगवत्प्राप्ति में शुष्क, नीरस तथा निष्प्राण हैं, जैसाकि कहा भी है-

श्रेयः श्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो?

क्लिश्यन्ति ये केवल बोध लब्धये॥

तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते।

नान्यद् यथा स्थूलतुष्यवघातिनाम्॥ १०.१४.४

भगवत् प्राप्ति में एक मात्र उपाय भक्ति ही है। यही भक्ति श्रेयः प्रेयः सम्पादिका है, ज्ञान की कर्कश धारा में विचरण करना कोई बुद्धिमानी नहीं है। यह तो एक प्रकार से चावल के लिए धान के स्थूल तुषा-भुस का अवघात करना है।

परम भक्त प्रह्लाद जी ने भागवत के सातवें स्कन्ध में भक्ति की उपादेयता का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया है-कि भगवान् उस तरह से धन तप बहुलता आदि से प्रसन्न नहीं होते जैसे कि भक्ति से प्रसन्न होते हैं-

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुन्नता।

न दानं न तपो नेत्या न शौचं न व्रतानि च॥

प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्। (७/७/५१)

भागवत के अनुसार भक्ति ही मुक्ति प्राप्ति में प्रधान साधन है। ज्ञान कर्म भी भक्ति के उदय होने से सार्थक हैं। अतः वे परम्परया साधक हैं। भक्ति दो प्रकार की होती है, साधन रूपा भक्ति व साध्यरूपा भक्ति। साधन रूपा भक्ति नवधा-भक्ति है-स्मरण कीर्तन इत्यादि।

साधरूपा भक्ति या फलरूपा भक्ति-प्रेममयी भक्ति होती है जिसके सामने भगवद्भक्त अनन्य भगवत्पादाश्रित होता हुआ इन्द्रादि पदों को भी तुच्छ समझता है जैसे एकादश स्कन्ध के दशवें अध्याय में कहा है-

न पारमेष्ट्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं।

न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्॥

न योगिसिद्धिरपुनर्भवं वा।

मय्यर्पितात्येच्छति मद्विनान्यत्॥ ११-१०॥

भक्त का हृदय भगवान् के लिए उसी तरह छटपटाता रहता है जिस प्रकार पंख रहित पक्षियों के बच्चे अपनी माता के लिए छटपटाते हैं-

अजातपक्षा इव मातरं खगा, स्तन्यं यथा वत्सरा क्षुधार्ता:।

प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्षदिक्षते त्वम्॥

इसी फलस्वरूप प्रेमा भक्ति की प्रतिनिध थी ब्रज की गोपिकायें, जिनके परम-विमल-प्रेम का रहस्यमय प्रतिपादन व्यास जी ने रासपञ्चाध्यायी में किया है।

इस प्रकार भक्तिशास्त्र के सर्वस्वभूत भागवत से भक्ति का रसमय प्रवाह भक्तजनों के मानस को आप्लावित कर रहा है। श्रीमद्भागवत के श्लोकों में भक्तों को आकृष्ट करने वाला विचित्र अलौकिक माधुर्य है। सचमुच धार्मिक साहित्य में यह एक अनुपम कृति है। जैसा कि किसी भक्त का कथन है-

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां परम्।

यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते॥

यत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतम।

तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नर:॥

पुराणों का-प्रतिपाद्य-विषय

सृष्टि के आरम्भ से लेकर प्रलय पर्यन्त समस्त भूमण्डल के क्रमबद्ध इतिहास के निर्देशक तथा भारतीय संस्कृति के प्रतीक स्वरूप, वैदिक धर्म के परिपोषण, भारतीय ज्ञान-विज्ञान के वैभवस्वरूप इन अष्टादश पुराणों की संस्कृत साहित्य में तथा भारतीय जनता के मानस मन्दिर में गौरवपूर्ण प्रतिष्ठा है।

पुराण शब्द-**पुरा भवमिति** इस विग्रह में ''साञ्चिर प्राह्लेप्रगेऽव्ययेभ्यस्ट्युटयुलौ तुट् च'' इस पाणिनीय सूत्र के द्वारा ट्यु प्रत्यय करने पर तुड्भाव का निपातन कर ''युवोरनाकौ'' इस सूत्र से 'अन्' आदेश कर णत्व करने से पुराण शब्द सम्पन्न होता है। अथवा-**पुरा नीयते** इस अर्थ में पुरा इस अव्यय पूर्वक णीञ्-प्रापणे, इस धातु से ड प्रत्यय करने पर पुराण यह शब्द सिद्ध होता है। निरुक्तकार श्री यास्क मुनि का कहना है कि-**पुराणं**

कस्मात्, पुरा नवं भवतीति (निरुक्ते)। इस प्रकार यद्यपि यह पुराण शब्द पुरातन-प्राचीन आदि अर्थों का वाचक है, परन्तु विशेषरूप से यह अष्टादश पुराण ग्रन्थों में ही रूढ़ है।

अर्थात्-पुरातन आख्यानों के अभिधायक ग्रन्थ विशेष। कुछ पाश्चात्य विद्वान् पुराणों की प्राचीनता को बड़ी सन्देहपूर्ण दृष्टि से देखते हैं। उनका कहना है कि पुराणों में आधुनिक इतिहास दिखाई देता है, अतः पुराण पुरायुग के आख्यान या प्राचीन न होकर आधुनिक हैं, किन्हीं आधुनिक विद्वानों की ही रचनायें हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत के विषय में एक प्रवाद प्रचलित है कि यह ग्रन्थ किसी आधुनिक विद्वान्-बोपदेव शास्त्री के द्वारा निर्मित है।

परन्तु भारतीय विद्वानों को यह मत मान्य नहीं है। भारतीय विद्वानों की दृष्टि में पुराण भी उतने ही प्राचीन व प्रामाणिक हैं, जितने कि वेद-वेदाङ्ग। क्योंकि अथर्ववेद-शतपथ ब्राह्मण-उपनिषद-भाष्य-गृह्य सूत्र-रामायण-महाभारतादि ग्रन्थों में यत्र तत्र प्रचुरमात्रा में पुराणों का उल्लेख पाया जाता है।

अथर्ववेद—

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिता:॥

शतपथ ब्राह्मण—

ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः इत्यादि॥

छान्दोग्यपनिषद्—

ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाणं।
चतुर्थमितिहासं पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्॥

आश्वलायन गृह्यसूत्र—

''इतिहास पुराणे अमृतस्य कुल्याः''

याज्ञवल्क्य स्मृति—

पुराण न्याय मीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

वाल्मीकि रामायण—

''इत्युक्त्वान्तः पुराद्वारयात्रगाम पुराणवित्''

महाभारत—

अष्टादश पुराणआनि कृत्वा सत्यवती सुतः।

पश्चात् भारतमाख्यानं चक्रे तदुपबृंहितम्।।

इन सब प्रमाणों से विदित होता है कि ये पुराण भी वेदों की हो तरह प्राचीन, नित्य, अपौरुषेय हैं और भारतीय संस्कृति में इनका भी समादर वेदों की ही तरह है।

मत्स्य व पद्म पुराण में तो पुराणों को वेदों से भी प्राचीन बतलाया है। जिस प्रकार ब्रह्मा के मुखारविन्द द्वारा महर्षियों के हृदय में वेदों का आविर्भाव हुआ, उसी प्रकार उन्हीं ब्रह्मा के मुखारविन्द द्वारा महर्षियों के हृदय में पुराणों का भी आविर्भाव हुआ।

वेद की तरह पुराण भी पहले एक ही संहिता में थे। द्वापर युग में जिस प्रकार कृष्ण द्वैपायन व्यास ने वेदों को चार संहिताओं में विभक्त किया उसी प्रकार इन पुराणों को भी अष्टादश संहिताओं में विभक्त किया है। जैसा कि शिव पुराण में भी कहा है—

पुराणमेकमेवासीदस्मिन् कल्पान्तरे नृप!
त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटि प्रविस्तरम्।।
कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृप।
व्यासरूपो विभुर्भूत्वा संहरेत् स युगे युगे।।
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा।
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रभाषते।।

इस प्रकार ये पुराण पुरातन भारतीय संस्कृति के वाहनभूत होते हुए भी युगानुरूप मानव कल्याण के प्रशस्त-पथ का प्रदर्शन करते आ रहे हैं।

पुराणों के अनुसार विभिन्न नाम रूप व सम्प्रदायों में विभक्त मानव-वर्ग एक ही विश्वात्मा उपासना करता हुआ अपना जीवन कृतार्थ करता है।

पुराण हमारे लिए वाङ्मनसातीत-ब्रह्म; जो कि चैतन्य स्वरूप है, उसको जड़-जगत के मानव के मध्य में (सगुण) साकाररूप से ला देने में सुन्दरतम साधन हैं। परमात्मा के नानाविध-लीला-ललाम-अवतार की मनोरम व्याख्या प्रस्तुत करके— जनमानस-की राग-द्वश-कषायादि चित्त मलों से कलुषित वासना को परिभाषित कर शुद्ध-स्वच्छ दर्पण की तरह निर्मल अन्तःकरण में जीव-जगत् व ब्रह्म के व्यरधानभूत दूरी को निरस्त कर देवत्व-मार्ग से मानव को वेकुण्ठ लोक में विराजमान ब्रह्म के समीप पहुँचा देते हैं।

यह जो जड़ जगत् हमारे सामने दिखाई दे रहा है, जिसमें हम वर्तमान अपने केवल दैनिक व्यवहारमात्र तक की ही सुविधा समझ बैठे हैं। पुराणों की दृष्टि में यह जड़ जगत् न होकर सच्चिदानन्दधन आनन्दकन्द भगवान् का लीला निकेतन है और प्राणी के लिए यह केवल भोग भूमि न होकर सत्कर्मानुष्ठान की आधार भूमि है। यह स्नेहमयी दयामयी

वात्सल्यमयी आनन्दमयी जननी की तरह पूज्या तथा रक्षणीया भी है—इसीलिए तो कहा है—

''जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादिपि गरीयसी॥''

यद्यपि पुराणों में मानव जाति सृष्टि-स्थिति-प्रलय के विवरण के साथ साथ इस धराधाम में अवतीर्ण महामहिमशाली-शासकवर्ग सामन्त चक्र चूड़ा-मणियां न जाने कितने उत्थान-पतन का विशद वर्णन पुरातन गाथा के रूप में परिलक्षित होता है पर केवल पुरातनगाथा के गाने या मानव-सुलभ-दोष-या गुण के कारण उनके उत्कर्षोंपकर्ष मात्र के परिगणन से पुराण अपने को कृतार्थ नहीं समझते हैं। अपितु पुराणों का महान् उद्देश्य है— मानव मात्र को संसार की इस सृष्टि-स्थिति व संहार की विचित्र क्रिया से अपनी विलक्षण लीलाओं से उनमें प्रेम-करुणा-न्याय-दया-दाक्षिण्यादि सद्गुणों का आविर्भाव कर सृष्टि के इस पुरातन गाथा के श्रवण-मनन-निदिध्यासन द्वारा भगवल्लीला का आस्वादन करते हुए उनको देवत्व कोटि में प्रतिष्ठापित करना।

पुराण सरल से सरल भाषा में आध्यात्मिक—आधिदैविक व आधिभौतिक तत्त्वों के रहस्यों को मित्रवत् मानव को समझाने में सर्वथा समर्थ हैं। देश-काल परिस्थिति के अनुसार तत्तत् रहस्यों को समझने के लिए पुराणों में प्रचुरमात्रा में सामग्री उपलब्ध है।

वर्तमान युग भौतिक युग है, आज भौतिक उन्नति अपने चरम सीमा पर है। प्रकृति के विकृतिभूत इन पञ्चमहाभूतों की उपादान-सामग्री को लेकर विज्ञान की दीक्षा से मनुष्य ने न जाने क्या क्या आविष्कार कर लिया है। विज्ञान की इस महिमामयी महामन्त्रीवली से दुनिया की असीम दूरी संकुचित सी हो गयी है। इतिहास-पुराणों में जो लोक केवल कथा के विषय थे, वे आज के विश्व के पड़ोसी हो गये। यह सब कुछ विज्ञान की सफलता का ही सुपरिणाम है। अभी भी प्रकृति के तत्त्वों का सूक्ष्म-अनुशीलन-अध्ययन-अनुसन्धान चल रहा है। भारतीय दर्शनों में न्याय-वैशेषिक की जितनी चर्चा हम ग्रन्थों में पढ़ते हैं करीब करीब विज्ञान वहां तक पहुँच चुका है। पर अभी भी विज्ञान की पूर्ण सफलता नहीं कही जाएगी, जब तक कि वह सांख्य-योग या वेदान्त के सिद्धान्तों के अनुसन्धान की ओर अग्रसर न हो जाय।

जिन अणु व परिमाणु पर आजकल अनुसन्धान चल रहा है, अथवा जिनके सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद-प्रभेद आजकल के वैज्ञानिकों के चर्चा के विषय बने हुए हैं। इन्हीं मानव कल्याणकारी भौतिक शक्तियों की अपेक्षा रखते हुए, पुराणों में भी इनका वर्णन यत्र-तत्र किया है।

सौन्दर्य लहरी में महाशक्ति से ही परमाणु की उत्पत्ति की कल्पना की गई है और इन परमाणुओं की प्रजनन-पालन-संहरण-कारिका-अभिमानी देवता हैं— ब्राह्मी-वैष्णवी-रौद्री।

इन अणुओं से उनकी शक्तियां और उन शक्तियों से तदभिमानिनी देवताओं का अनुमान स्वतः हो जाता है। सौन्दर्यलहरी में भगवान् शंकराचार्य ने इस बात को इन शब्दों में कहा—

तनीयांसं पातुं तव चरणपङ्केरुहयवम्॥
विरञ्चिः संचिन्वन् विरचयति लोकानविकलम्॥
वहत्येनं शौरि कथमपि सहस्रेण शिरसा।
हरः संक्षुभ्येनं भवति भषितोछूलनविधिम्॥ १॥

इस पद्य से यह ध्वनित होता है कि आकाशात्मिका अव्यक्त शक्ति से अणुओं की वर्षा हुई। तदनन्तर सृजनात्मक अणुओं का संचालन करके लोक विधाता ब्रह्मा सम्पूर्ण भूमण्डल की रचना करता है। पालनात्मक अणुओं का संचय करके भगवान् विष्णु का पालन करते हैं। संहारात्मक अणुओं का संचय कर भूतभावन भगवान् सदाशिव संहार करते हैं।

संस्कृत साहित्य के प्राणभूत इन पुराणों से ही अणु शक्ति का ज्ञान प्राप्त कर अलौकिक ज्ञान सम्पन्न भगवान् अक्षपाद और कणाद मुनियों ने न्याय व वैशेषिक दर्शनों का निर्माण किया।

इनके मन में ये परमाणु नित्य व अतिसूक्ष्म हैं। ईश्वरेच्छा से परमाणुओं में स्पन्दन क्रिया होती है। तदनन्तर परमाणु द्वय के संयोग से द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है, तदनन्तर तीन द्व्यणुक से एक त्र्यसरेणु उत्पन्न होता है, इसी क्रम से स्थूल सृष्टि होती है।

इस प्रकार पुराणों में सृष्टि के उपादान-समवायिकारण से लेकर समस्त ब्रह्माण्ड तक का वर्णन है। ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत चतुर्दश भुवनों को और उन भुवनों में भी अनेक द्वीपों का पुनः द्वीपों में भी अनेक खण्डों का वर्णन है, जिनमें से यह भारत खण्ड सर्वाधिक सुन्दर पवित्र और देवताओं की कर्मभूमि है।

इसी पवित्र धरा धाम में अखिल ब्रह्माण्ड नामक भगवान् चौबीस बार अवतीर्ण हुए। हिमालय, विन्ध्याचल, सह्यादि प्रभृति पर्वत शिरोमणि गंगा यमुना कावेरी सरयू नर्मदा प्रभृति पुण्य सलिला नदियां इसी भूभाग को अपने निर्मल प्रवाह से पवित्र करती हैं। इन पवित्र नदी-तीर्थ व सिद्धपीठों का, आश्रमों व तपोवनों का पुराणों में यत्र-तत्र प्रचुर मात्रा में वर्णन है।

इन्हीं पुराणों से पवित्र-प्रेरणा को प्राप्त कर हजारों कविवरों ने अपने-अपने काव्य-कलेवरों को सुसज्जित किया जिससे भारतीय-साहित्य व जनता का महान उपकार हो रहा है।

यह कहने में कोई अत्युक्ति न होगी कि पुराण भारतीय संस्कृति-सर्वाङ्गीण समुत्कर्ष के सबल अंग है और भारत की गौरव गाथा के गीतों के सुमधुर स्वर हैं।

पुराणों का लक्षण

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्च लक्षणम्॥ १॥

सर्ग का तात्पर्य सृष्टि-उत्पत्ति से है, प्रतिसर्ग का अर्थ है पुनः रचना या पुनः सृष्टि। वंश का अर्थ राजकुलों का वर्णन या महापुरुषों के वंशपरम्परा का वर्णन, मन्वन्तर का अभिप्राय मनु के समय की अवधि का निर्देश, वंशानुचरित का तात्पर्य है—राजकुलों का या महापुरुषों के परम्परागत इतिहास का निरूपण।

इन पांच लक्षणों से लक्षित ग्रन्थ का नाम पुराण है। प्रायः सभी पुराणों में ये पांच लक्षण समन्यूनाधिक रूप में उपलब्ध होते हैं। किसी पुराण में किसी लक्षण का आधिक्य तो किसी लक्षण का संक्षेप दिखाई देता है। कहीं-कहीं तो किसी एक ही विषय के वर्णन की प्रचुरता दिखाई देती है। जैसे मार्कण्डेय पुराण में केवल मन्वन्तर वर्णन की ही प्रधानता है और श्रीमद्‌भागवत में वंशानुचरित की ही प्रधानता है। विष्णु पुराण में सर्ग-सृष्टि की ही मुख्यता मालूम पड़ती है। इस प्रकार किसी पुराण में किसी विषय की अधिकता और किसी विषय की न्यूनता परिलक्षित होती है। अतः पुराणों के परम रहस्य के ज्ञान के लिए प्रायः सभी पुराण ग्रन्थों का अनुशीलन आवश्यक है तभी पुराणों के रहस्य का यथार्थ ज्ञान हो सकता है।

परिदृश्यमान यह जगत् किन-किन भौतिक तत्त्वों से बना है? इन तत्त्वों का पूर्वापर क्रम क्या था? कब सृष्टि की उत्पत्ति हुई? कब प्रलय होगा? इस प्रकार के रहस्यात्मक प्रश्नों का यथार्थ-समाधान विश्व की किसी भी धार्मिक पुस्तक में नहीं है।

आज से एक लाख वर्ष पहिले क्या था? या आज से एक करोड़ वर्ष पहिले क्या था? इत्यादि प्रश्नों के सन्तोषजनक समाधान के लिए हमें अवश्य ही पुराणों का परिशीलन या पारायण करना चाहिए।

(१) सर्ग

पुराणों में—सर्ग-प्रतिसर्ग-वंश-मन्वन्तर व वंशानुचरित इन पांचों लक्षणों का मुख्यतया वर्णन मिलता है। सर्ग के विषय में श्रीमद्भागवत में इस प्रकार कहा है—

अव्याकृतगुणक्षोभान् महतस्त्रिवृत्तोऽहम्ः।
भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते॥

साम्यावस्थापन्न त्रिगुणात्मक प्रधान-प्रकृति के गुण-परिणाम-क्षोभ से यह तत्त्व उत्पन्न होता है महान्-बुद्धितत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है। सात्विक-अहंकार से एकादश इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं और तामस अहंकार से पञ्चतन्मात्रायें उत्पन्न हुईं, और पञ्चतन्मात्राओं से पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति हुई, इसी का नाम सर्ग या सृष्टि का आरम्भ है।

सांख्य दर्शन में भी सृष्टि क्रम का वर्णन इसी प्रकार है। समस्त जगत् के कार्यसङ्घात का मूलभूत तत्त्व प्रधान माना है। जैसा कि सांख्यसूत्र के प्रथमाध्याय के ग्यारहवें सूत्र में कहा है— "सत्वरजतमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेः महान्, महतोऽहंकारः" इत्यादि।

ईश्वरकृष्ण ने अपनी सांख्यकारिका में भी ठीक इसी क्रम से सृष्टि का वर्णन किया है—

प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥२२॥

इस चराचर जगत् को उत्पन्न हुए कितने वर्ष हो चुके हैं, इस प्रश्न का समुचित उत्तर पुराणों के आधार पर ही दिया जा सकता है। क्योंकि प्रत्येक हिन्दू सृष्टि के आरम्भ से लेकर वर्तमान समय तक अपने प्रतिदिन के नित्यनैमित्तिक और काम्य कर्मों के अनुष्ठान के समय-संकल्प में "ब्रह्मणो द्वितीये परार्द्धे श्रीश्वेत-वाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे.......अमुकोऽहं अमुक कर्म करिष्ये" इत्यादि पढ़ता है। संकल्प के इस पदावली में कर्मनिष्ठ उपासक प्रतिदिन सृष्टि की गणना और उसका युगकल्प मन्वन्तरों में विभाग करता हुआ अपने समय का सदुपयोग करता है।

इस संकल्प का यह आशय है कि उपासक इस समय ब्रह्मा के आयु के पचास वर्ष बाद द्वितीय परार्द्ध के श्रीश्वेतवाराह कल्प में वैवस्वत नामक सप्तम मनु के समय में अठाईस सौ वर्ष बीते हुए कलि के प्रथम भाग में अमुक कर्म कर रहा है।

पुराणों के अनुसार ब्रह्मा के देवताओं के तथा मनुष्यों के दिन-रात, पक्ष-मास-वर्षादि के काल-परिणाम भिन्न-भिन्न हैं और इनकी गणना भी कोई सरल नहीं है, इसलिए संक्षेप में प्रत्येक युग मन्वन्तर व कल्प का तथा मनुष्य-देव-व ब्रह्मा का दिन-मास-वर्ष का काल परिमाण दिया जाता है—

१५ निमेष = १ काष्ठा	३० काष्ठा = १ कला
३० कला = १ घटी	२ घटी = १ मुहूर्त्त
३० मुहूर्त्त = १ अहोरात्र (रात दिन)	३० अ० रा० = २ पक्ष

२ पक्ष = १ मास ६ मास = १ अयन

२ अयन = १ वर्ष (मानव वर्ष)

यह मानवों का वर्ष जिसमें दो अयन—उत्तरायण तथा दक्षिणायण रहते हैं। यह छै महीने का उत्तरायण देवताओं की रात होती है फलतः मनुष्य का एक वर्ष का एक दिन (जिसमें रात भी सम्मिलित है)। इस प्रकार दिव्य—(देव सम्बन्धी) बारह हजार वर्षों तक का चतुर्युग होता है। और हजार-महायुगों का ब्रह्मा का एक दिन होता है, जिसमें चौदह मन्वन्तर होते हैं। बस ब्रह्मा के इस दिन के बीतने पर जब रात आती है तभी महा-प्रलय भी होता है। इस प्रकार सौ वर्ष की ब्रह्मा की आयु होती है। इसी का आधा अर्थात् ब्रह्मा के पचास वर्ष परार्द्ध कहे जाते हैं।

पुराणों के अनुसार युगों का काल निर्णय इस प्रकार है—

१.	सत्ययुग का मान—	१७२८०००	वर्षात्मक
२.	त्रेतायुग का मान—	१२९६०००	,,
३.	द्वापरयुग का मान—	८६४०००	,,
४.	कलियुग का मान—	४३२०००	,,

चारों युगों को एक महायुग कहते हैं। इस प्रकार ७१ इकहत्तर महायुगों का एक मन्वन्तर होता है और चौदह मन्वन्तरों का एक कल्प होता है। यही एक कल्प होता है। यही एक कल्प ब्रह्मा का एक दिन है।

एक कल्प में ४२९४०८०००० वर्ष होते हैं।

इनकी तालिका इस प्रकार है—

१.	सत्ययुगमान—		१७२८०००
२.	त्रेतायुग मान—		१२९६०००
३.	द्वापरयुग मान		८६४०००
४.	कलियुग मान—		४३२०००
५.	चतुर्युग मान—	४३२०००	,,
		७१	,,
६.	मन्वन्तर मान—	३०६७२००००	
			१४
७.	कल्प मान—	४२९४०००००	

—मुक्त कल्प मान— २०००८५३०५६

—भोग्य कल्पमान— २२९३२२६९४४

इसके अतिरिक्त प्रत्येक युग की संध्या संध्यांश भी होते हैं जिन्हें आगे दिखाया जायेगा।

विष्णु पुराण में काल का परिणाम इस प्रकार है—

काष्ठाः पञ्चादशाख्याता निमेषा मुनिसत्तम।
काष्ठाः त्रिंशत् कला त्रिंशत् कला मौहूर्त्तिको विधिः।
तावत् संख्यैरहोरात्रं मुहूर्त्तैर्मानुषं स्मृतम्।
अहोरात्राणि तावन्ति मासः पक्ष द्वयात्मकः।
तैः षड्भिरयनं वर्षं द्वेऽयने दक्षिणोत्तरे।
अयनं दक्षिणं रात्रिर्देवानामुत्तरं दिनम्।
चतुर्युगं द्वादशभिस्तद्विभागं निबोध मे।
दिव्यैर्वर्षसहस्त्रैस्तु कृतत्रेतादिसंज्ञितम्।
प्रोच्यते तत् सहस्त्रं च ब्रह्मणो दिवसं मुने।
ब्रह्मणो दिवसे ब्रह्मन् मनवस्तु चतुर्दश।
ब्राह्मो नैमित्तिको नाम तस्यान्ते प्रतिसंचरः॥ १/३॥

सृष्टि के आरम्भ के विषय में आजकल के वैज्ञानिकों का मत है कि करीब पांच हजार से लेकर तीस करोड़ वर्षों के अन्तराल काल में इस संसार की रचना हुई होगी, परन्तु पुराण के अनुसार सृष्टि का आरम्भ काल करीब दो अरब वर्ष पूर्व मालूम पड़ता है। यदि विज्ञान इस ओर सूक्ष्म अनुसन्धान करे तो संभवतः पौराणिक सिद्धान्त की तुलना में आ सकेगा।

(२) प्रतिसर्ग

पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः।
विसर्गोऽयं समाहारो बीजात् बीजं चराचरम्॥

प्रलयकाल में परमपिता परमात्मा में सूक्ष्म वासनारूप से सभी जीवों का समाहार होता है, पुनः सृष्टिकाल में चराचर जगत् का एक बीज से दूसरे बीज की तरह पुनः प्रादुर्भाव होना ही प्रतिसर्ग है।

जैसे वर्षाकाल में पृथिवी में अज्ञात-अव्यक्त-रूप से स्थित बीज-वृष्टि-जलादि के सहयोग से अनेक प्रकार के लता वृक्ष-तृणादि रूप से प्रकट होते हैं। उसी प्रकार पूर्वसृष्टि में उत्पन्न जीवों के अवशिष्ट वासनामय संस्कारों के द्वारा पुनः सृष्टि रचना के समय में

अनेक भोग्य पदार्थ तथा उन पदार्थों के भोक्ता जीवों की भी उत्पत्ति होती है यही प्रतिसर्ग है।

श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में सृष्टि के प्राकृत-वैकृतादिभेद से नौ भेद बतलाये हैं और उनका पूर्वापर क्रम भी दिखलाया है:—

गुणों से परे निर्विशेष-अवाङ्मनस गोचर परमात्मा की जब सिसृक्षा सर्जनेच्छा हुई तो अपनी अचिन्त्य शक्ति माया के विलास से प्रभु स्वयं ही इस विश्व के उत्पादन सामग्री में समा गये, अव्यक्तरूप वह अपरिच्छिन्न चैतन्य मायोपहित होकर जीवों के सूक्ष्म शरीरों के समष्टिरूप ईश्वर का रूप धारण कर लिया और हिरण्यगर्भादि रूप से नौ प्रकार का प्राकृत-सर्ग हुआ, अव्यक्त प्रधान से गुणक्षोभ के कारण जो परिभास हुआ वह महत्-सर्ग (बुद्धि) है तदनन्तर अहंकार—उस से तन्मात्रायें और एकादश इन्द्रियाँ, पुनः पञ्च-तन्मात्राओं से पञ्च महाभूत उत्पन्न हुए, यह छः प्रकार की सृष्टि कहलाती है। इसके बाद की सृष्टि वैकारिक सृष्टि है— सत्त्वरज के लोभ मात्र अत्यन्त तमोगुण प्रधान-वृक्ष-लेश-मुज्य इत्यादि—किञ्चित् सत्त्व व रजो मात्रा से युक्त तमो गुण प्रधान-सृष्टि-गो-महिष अश्व-गजादि सृष्टि है।

सत्व-रज व तमो गुण की सम न्यूनाधिक भाव से स्थिति वाली मानव-सृष्टि एक प्रकार की ही है।

श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध स्कन्ध में इनका वर्णन इस प्रकार है—

> गुणव्यक्तिकराकरोऽनिर्विशेषोऽति प्रतिष्ठितः।
> पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयासृजत्॥
> विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया।
> ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्तिना॥
> यथेदानीं तथाग्रे च पाश्चादप्येतदीदृशम्।
> सर्गो नवविधस्तस्य प्राकृतो वैकृतस्तु यः॥
> आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः।
> द्वितीयस्त्वहमो यत्रद्रव्यज्ञानक्रियोदयः॥
> भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान्।
> चतुर्थः ऐन्द्रियः सर्गो वस्तुज्ञानक्रियात्मकः॥
> वैकारिको देवसर्गः पञ्चमो यन्मयं मनः।
> षष्ठस्तु तमसो सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतः प्रभो॥

षडिमे प्राकृताः सर्गाः वैकृतानपि मे श्रृणु।
सप्तमो मुख्य सर्गास्तु षड्विधस्तस्थुषां चयः।।
वनस्वत्यौषधिलतात्वक्सार वीरूधो द्रुमः।
उत्स्त्रोततसस्तमः प्राया अन्तः स्पर्शा विशेषिणः।।
तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशतिधो मतः।
अविदो भूरितमसो घ्राणजा दृद्यवेदिनः।।
गौरजो महिषः कृष्णः सूकरो गवयो रूसः।
द्विशफाः पशवश्चेमे अविंरूष्टश्च सत्तम।।
खरोऽश्वोऽश्वतरो गौरः शरभश्चमरी तथा।
एते चैकशफा क्षत्तः श्रृणु पञ्चनखान् पशून्।।
श्वा श्रृगालो वृको व्याधो मार्जार शश शल्लकौ।
सिंहः कपिर्गजः कूर्मी गोधा च मकरादयः।।
कङ्कगृद्धवटश्येन भास-भल्लूक-वर्हिष्यः।
हंस-सारस-चक्राह्व-काकोलूकादयः खगाः।।
अर्वाक् स्त्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो नृणाम्।
रजोऽधिका कर्मपरा दुःखे च सुखमानिनः।।

वहीं श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में आकाश से पृथ्वी पर्यन्त स्थूलभूतों की उत्पति इस प्रकार कही है—

नमसोऽनुसृतं स्पर्शो विकुर्वत्रिर्ममेऽनिलम्।
अनिलौ हि विकुर्वाणो नमसोरूबलान्वितः।
ससर्जरूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनम्।।
अनिलेनान्वितं ज्योति विकुर्वत् परवीक्षितम्।
आधत्ताम्भो रसमयं कालमायांश योगतः।।
ज्योतिषाम्भेऽनुसंसृष्टं विकुर्वत् ब्रह्मवीक्षितम्।
महीं गन्धगुणामाधात् कालमायांशयोगतः।। ३/५/

आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी एक स्वर से स्वीकार किया है कि इस सृष्टि के निर्माण में कम से कम एक करोड़ वर्ष लगे होंगे। क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में केवल दाहक-अग्निपिण्ड ही था। तदन्तर तरु-गल्म-लताओं का प्रादुर्भाव हुआ, तत्पश्चात् बहुत वर्षों तक यह सृष्टि केवल जंगल के ही रूप में थी, तदनन्तर धीरे-धीरे जीवों की उत्पत्ति हुई।

प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान्–"लिचाफ" महोदय ने अपने "सेक्रेट् आफ डाक्ट्रिन्" नामक ग्रन्थ में लिखा है कि पृथ्वी के दो हजार डिग्री तापमान से दो सौ डिग्री तापमान में आने तक कम से कम पैंतीस करोड़ वर्ष लग सकते हैं।

उक्त वैज्ञानिक का यह कथन देवीभागवत के इस श्लोक से मिलता–जुलता है।

शतं मन्वन्तरं यावज्ज्वलन्ती ब्रह्मतेजसा।
सुषाव डिम्भं-स्वर्णाभं विश्वाधारालयं पदम्॥

इसी प्रकार का सृष्टिक्रम मनुस्मृति में भी मिलता है। अतः यह पौराणिक सृष्टि–क्रम– सर्वथा संस्कृत भारतीय परम्परा से परिष्कृत वं आधुनिक विज्ञान से भी सम्मत है।

सृष्टि का रहस्य

पुराण प्रतिपादित यह सृष्टि–प्रकरण अतीव गहन है। सृष्टि के आविर्भाव के रहस्य के जाने बिना इस दृश्य प्रपञ्च का ज्ञान होना असम्भव सा है।

सृष्टि चार प्रकार की होती है—१. प्राकृतिकी २. ब्राह्मी ३. मानसी और ४. मैथुनी।

(१) प्राकृती सृष्टि—सर्वप्रथम परमात्मा के सान्निध्य में प्रकृति का गुण क्षोभ–जन्य जो परिणाम है—अर्थात् अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था को प्राप्त होना (यह सृष्टि–अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड–व्यापक ईश्वर के ईक्षणरूप–संकल्प से हुई।) प्रकृति का परिणाम होने से इसे प्राकृति सृष्टि कहते हैं।

(२) ब्राह्मी सृष्टि—प्राकृती–सृष्टि के बाद ब्रह्म विष्णु–महेश्वर के तीन प्रकार की मूर्तियों का आविर्भाव होता है, ये तीन प्रत्येक ब्रह्माण्ड के सगुण–ब्रह्मा के प्रतिनिधिभूत ईश्वर कहे जाते हैं। यह ब्रह्मा से होने के कारण ब्राह्मी–सृष्टि कही जाती है।

(३) मानसी–सृष्टि—तदनन्तर ब्रह्मा के मानस पुत्र–प्रजापतियों देव–दानवादि की जो विस्तृत–सृष्टि होती है वह मानसी सृष्टि कही जाती है।

(४) मैथुनी–सृष्टि—उद्‌भिज–स्वेदज–अण्डंज, जरायुज इन चारों प्रकार के प्राणियों में स्त्री–पुरुष के मैथुन से होने वाली सृष्टि को मैथुनीं सृष्टि कहते हैं।

ब्राह्मी और मानसी सृष्टि के रहस्य को केवल अन्तर्दृष्टि वाले योगीजन ही जान सकते हैं, सामान्य जन इस सृष्टि के रहस्य को नहीं जान सकते हैं। इसी ब्राह्मी व मानसी सृष्टि के समय में वेदों का तथा पुराणों का अविर्भाव हुआ। इसीलिए वेद व पुराणों के रहस्य को सर्वसाधारण नहीं जान सकते हैं।

सत्त्व–गुण प्रधान भगवान् विष्णु जब योगनिद्रा में लीन रहते हैं, तब रजोगुण प्रधान ब्रह्मा जो कि उन्हीं की नाभिकमल में विराजमान रहते हैं, सजग रहते हैं। तमोगुण प्रधान

भगवान् भवानीपति शंकर इन्हीं के देह में आलक्षित रहते हैं। पूर्वकल्प के अनुसार नवीन कल्प में समाधिनिष्ठ अन्तःकरण के द्वारा ब्रह्मा सृष्टि-चक्र का संचालन करते हैं। "धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" ऋग्वेद के अनुसार मानसी सृष्टि होती है। ब्रह्मा के अन्तःकरण से ऋषियों के अन्तःकरण में योग द्वारा वेदों का आविर्भाव होता है। विचारानुगत-समाधि से पुनः पूर्व कल्पीय गाथाओं के यावजा से पुराणों का भी आविर्भाव होता है। इस प्रकार वेदों का शब्द के द्वारा और पुराणों का भाव के द्वारा अविर्भाव होना स्वाभाविक ही है।

यद्यपि देवलोक में दैवी सृष्टि की अधिकता और असुर लोक में आसुरी सृष्टि की अधिकता रहती है। परन्तु मानव पिण्ड में सत्व, रज व तमो गुणों की अतिविषमता के कारण देवीय-मानवीय व आसुरी तीनों प्रकार की सृष्टियां दिखाई देती हैं। पूर्वजन्म के कर्मानुसार मनुष्य तत्तत् सृष्टि को प्राप्त करता है अतः उत्तम लोक की अभिलाषा से मनुष्य दुष्कर तप करता है। तपस्या के द्वारा जीवों में एक अलौकिक शक्ति का सञ्चार होता है। ऐसा कोई कार्य नहीं है जो तपस्या से सिद्ध न हो—भगवान् मनु का कहना है कि कितना ही कठिन कार्य क्यों न हो वह तपस्या से अवश्य सिद्ध हो जाता है—

यद् दुष्करं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥ १॥

ज्यादा क्या कहा जाय तप से ही ब्रह्मा-विष्णु-महेश, सृष्टि-पालन तथा संहार करने में समर्थ होते हैं। मानव मात्र के कल्याण कारक इस तपस्या के लिए सुन्दर सिद्ध पीठ व पवित्र स्थान यह भारत भूमिं ही है। इसलिए इसको कर्मभूमि कहते हैं। मनुष्य तो क्या देवता लोग भी इस पवित्र तपोभूमि भारत के लिए लालायित रहते हैं। किसी विद्वान् का यह कथन सर्वथा सत्य ही है—

गायन्ति देवा किल गीतकांनि धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषा सुरत्वात्॥ १॥

ब्रह्मा के समान अनेक महर्षि हुए हैं, जो मानसी सृष्टि की रचना में समर्थ थे, जैसे महर्षि कश्यप और मनु से भी मानसी सृष्टि में पशु-पक्षी स्थावर जंगम आदि की उत्पत्ति हुई। श्रीमद्भागवत में ब्रह्मा के मानसी सृष्टि के विषय में इस प्रकार कहा है—

भगवद् ध्यानपूर्वेन मनसाऽन्यांस्तदाऽसृजत्।
सनकञ्च सनन्दञ्च सनातनयथात्मभूः॥
सनत्कुमारञ्च मुनीन् निष्क्रियानुर्ध्वरेतसः।
तान् बभासे स्वभूः पुत्रान् प्रजा सृजत पुत्रमाः॥ १॥
तेनैच्छत् मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः।

विष्णु पुराण के प्रथम-अंश के तृतीय अध्याय में भी मानसी सृष्टि का वर्णन है—

ततोऽभिध्यामतस्तस्य जज्ञिरे मनसा प्रजाः।

तच्छरीरसमुत्पन्नैः कार्यैस्तैः करणैः सह॥

यदास्य ताः प्रजाः सर्वा न व्यवर्धन्त धीमतः।

अथास्य मानसान् पुत्रान् सदृशानात्मनोऽसृजत्॥

भृगुं पुलस्त्यपुलहं क्रतुमाङ्गिरसं तथा।

मरीचिं दक्षमत्रि च वसिष्ठं चैव मानसान्॥

पुराणों में ही नहीं बल्कि वेदों में भी मानसी सृष्टि का वर्णन है—

''मनसा साधु पश्यति मनसा प्रजा असृजन्त''

सर्व प्रथम भगवान् ब्रह्मदेव से अमल आत्मा परमहंस सनकादिकों की सृष्टि हुई। परन्तु ये महात्मा इच्छाशक्ति शून्य, वीतराग, सृष्टि-प्रवृत्ति में पराङ्मुख हुए। इसके बाद ब्रह्मदेव ने प्रजापतियों को उत्पन्न किया, ये प्रजापति मानसी सृष्टि में सर्वथा-समर्थ हुए। तदनन्तर मानव पिण्डों की रचना हुई। अब सभी मनुष्य शरीरधारी जीव समान-सौन्दर्यशाली व मानसी तथा मैथुनी— उभय प्रकार की सृष्टि करने में समर्थ थे। धीरे-धीरे मानसिक-बल के ह्रास हो जाने के कारण मानसी-सृष्टि का लोप हो गया, केवल मैथुन-सृष्टि ही अवशिष्ट रह गयी। इस प्रकार धर्म, बल व ऐश्वर्य का ह्रास देखकर भगवान मनु ने मनुष्य-सृष्टि के उद्धार के लिए वर्णाश्रम धर्म का उपदेश किया जिससे कि मानवों की सामाजिक शृंखला अपने-अपने आचार-विचार में नियमित रहे।

पुराणों में तो योगाभ्यास द्वारा गर्भाधान पूर्वक सन्तानोत्पत्ति का भी वर्णन मिलता है। जैसे भगवान् व्यास जी के दृष्टिपात मात्र से धृतराष्ट्र, पाण्डु व विदुर की उत्पत्ति हुई। स्त्री-पुरुष के संयोग के बिना ही मानसिक शक्ति बल से मनुष्योत्पत्ति भी होती थी, जैसे धर्मराज-वायु आदि की मानसिक प्रेरणा से युधिष्ठिर-भीम-अर्जुन आदि की उत्पत्ति हुई।

कालक्रम से शनैः शनैः कलियुग में तपः शक्ति के क्षीण हो जाने से मानसिक शक्ति द्वारा सृष्टि का प्रवाह अवरुद्ध हो गया। केवल मैथुनी सृष्टि ही शेष रह गयी जिसका विकराल रूप आज हमारे सामने समुपस्थित है। इसके असीमित विस्तार को सीमित करने के लिए न जाने परिवार नियोजन जैसे कितने उपाय किये जा रहे हैं, फिर भी यह विकराल दावानल की तरह कामानल शान्त नहीं हो रहा है। उत्तरोत्तर प्रचण्ड अग्नि की अनन्त चिनगारियों की तरह उत्तरोत्तर कामनाओं असंख्य-कुत्सित प्रवृतियों को जन्म दे रहा है। भूतभावन भगवान् मदनान्तक शिव से यही प्रार्थना करते हैं कि मदनानल के इस असाध्य ताप को अपने शशिशेखर की आभा से शान्त करें।

(३) वंश

सृष्टि के आदि में ब्रह्मा से उत्पन्न हुए राजाओं के भूत-भविष्यत्-वर्तमान समय की कुल-परम्परा का जहाँ वर्णन किया जाय, वह वंश है।

जैसा कि श्रीमद्भागवत के द्वादशस्कन्ध के सातवें अध्याय में कहा है—

राजा ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः।

पुराणों में हिन्दुओं के आचार-विचार के वर्णन के साथ-साथ प्राचीन गौरव पूर्ण राजघरानों की गाथायें गाई गयी हैं। पुरा-इतिवृत्त की दृष्टि से भी पुराण इतिहास के मूल स्रोत हैं।

यद्यपि प्राधान्येन इतिहास विषयक ग्रन्थ रामायण तथा महाभारत को ही माना गया है और इसको भी परिक्रिया—पुराकल्प के भेद से दो प्रकार का बताया है। जिसमें एक ही नायक का प्राधान्येन वर्णन हो वह परिक्रिया है और जिसमें अनेक नायकों का वर्णन हो उसे पुराकल्प कहते हैं। राजशेखर के शब्दों से यह इस प्रकार है—

परिक्रिया पुराकल्प इतिहासगति द्विधा।
स्यादेकनायकापूर्वा द्वितीया बहुनायका॥

तथापि पुराणों में भी इतिहास का विवेचन सरलतया उपलब्ध है और वह आख्यान-उपाख्यान-कथा के रूप में होने से सभी के लिए सुगम तथा मनोरम है।

पुराणों के परिशीलन से यह प्रतीत होता है कि संसार में हिन्दूजाति ही प्राचीनतम है और सृष्टिकाल से लेकर आज तक अपने शुद्ध-स्वरूप की सुरक्षा कर रही है। यद्यपि समय-समय पर बहुत सी विघ्न-बाधायें उपस्थित हुईं, इस लम्बे समय के अरसे में बहुत से उत्थान-पतन व परिवर्तन हुए, तथापि अपने मूल सत्त्व का अस्तित्व अभी तक बनाये हुए है। सृष्टि के आरम्भ से आज तक इस विश्व में हिन्दु जाति के साथ-साथ ही अन्य जातियों का भी अस्तित्व आधुनिक इतिहास के अनुसार मिलता है, परन्तु ज़ितना क्रमबद्ध इतिहास आदि काल से हिन्दुओं का उपलब्ध है ऐसा क्रमबद्ध और प्रामाणिक इतिहास अन्य जातियों में नहीं मिलता है।

पुराण-ग्रन्थों में—सूर्य वंश-चन्द्रवंश-भृगुवंश, वशिष्ठ वंश-गौतमवंश कश्यपादिवंशों का सृष्टि के प्रारम्भ से ही कुल-क्रमों की सुव्यवस्थित परम्परा का वर्णन मिलता है। यदि पवित्र परम्परा के प्रचारक-पुरा-गाथा के निदर्शक पुराण ग्रन्थ न होते तो हम भारतीय प्राचीन परम्परा के इतिहास से भी अनभिज्ञ होते।

कुछ समालोचकों का कथन है कि पुराणों की वंशावली क्रमबद्ध न होकर परस्पर विरुद्ध है—क्योंकि एक पुराण में यदि मनु से लेकर महाराजा राम तक राजवंशों का वर्णन है तो अन्य पुराण में ठीक इसके विपरीत वर्णन है। इसलिए पुराणों में ही परस्पर विरुद्ध वर्णन होने से, उनके द्वारा निर्दिष्ट राजपरम्परा या वंशावली क्रमबद्ध तथा प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती है।

इसके सामाधान में यही कहा जा सकता है कि सृष्टि से लेकर प्रलय पर्यन्त क्रमबद्ध वशं वर्णन करना कोई सरल कार्य नहीं है। यदि एक-एक राजा-महाराजा की क्रमशः वंशावली का वर्णन किया जाय तो यह कार्य कभी भी समाप्त होने का नहीं। अतः पुराणों में कहीं वंशावली क्रम से गणना की है और कही वंश साधारण राजा या पुरुषों का वर्णन न करके उस वंश के प्रमुख महापुरुषों का ही उल्लेख किया है। इनमें भी जिस प्रसङ्ग में जिन महापुरुषों की आवश्यकता जिन पुराणों ने समझी उन्हीं का प्रमुखरूप से वर्णन कर दिया। अतः पुराणोक्त-वंश-परम्परा सर्वत्र पिता-पुत्र-क्रम से न होकर कहीं पुत्रक्रम से और कहीं उस वंश के प्रमुख-पुरुष के क्रम से की गई है।

(४) मन्वन्तर

मनु तथा मनु के पुत्रों का, देवताओं का, ऋषियों का, अंशावतारों का और प्रसिद्ध घटनाओं का जहाँ उल्लेख किया जाय उसे मन्वन्तर कहते हैं। जैसा कि—श्रीमद्भागवत में कहा है—

मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्रा सुरेश्वर।
ऋषयोऽशावताराश्च हरेः षड्विधमुच्यते॥ १॥

मन्वन्तर व्यवस्था इतिहास क्रम की एक हमत्त्वपूर्ण शृंखला है। यदि यह मन्वन्तर क्रम न हो तो सृष्टि से प्रलय तक के इस आकाश की तरह विशाल अन्तराल की मध्य इतिहास क्रम की गणना अत्यन्त दुष्कर है।

स्वयम्भु मनु के समय में कौन-कौन ऋषि-महर्षि व राजा हुए थे, या स्वारोचिष मनु के समय में उनके सहायक-महापुरुष कौन से थे, उत्तम-मनु के काल में किन पुराणों का प्राधान्य था, अथवा रैवतक मनु के समय में कैसी व्यवस्था थी, इन सब बातों का ज्ञान पुराणों के बिना कहाँ हो सकता है। और मन्वन्तर ज्ञान के बिना किसी राजा के कुल का अथवा किसी महर्षि के वंश का यथार्थ ज्ञान कैसे हो सकता है।

एक कल्प में चौदह मनु होते हैं, इन चौदह मनुओं में से किस मनु ने कौन सी स्मृति का प्रणयन किया, उस मनु की स्त्री का क्या नाम था, उसके पुत्र कितने थे, इत्यादि बातों का ज्ञान मन्वन्तर के ज्ञान के बिना कैसे हो सकता है। पुराणों के अनुसार—सृष्टि काल से

लेकर प्रलयपर्यन्त लगभग चार अरब से भी अधिक समय लगता है। इतने लम्बे समय में विश्व के किस कोने में कौन सी घटनायें घटीं, किन-किन महापुरुषों का आविर्भाव हुआ, इत्यादि रहस्यों के ज्ञान के लिए भगवान् वेदव्यास ने मन्वन्तर पद्धति का आविष्कार किया।

कुछ आधुनिक शिक्षा-दीक्षितों का आरोप है कि भारतीयों का इतिहास अनुपयुक्त तथा अन्धकारमय है, क्योंकि इसमें न तो कहीं जन्म संवत् का—किसी महापुरुष या महाराज के जन्म से प्रचलित संवत् का उल्लेख है और न विशेष घटनाओं का ही कोई इतिहास मिलता है। परन्तु यह सब प्राचीन इतिहास न पढ़ने का परिणाम है, जिस प्रकार आज से करीब दो हजार वर्ष पूर्व ईसा जैसे महापुरुषों के जन्म-संवत् वर्तमान समय में प्रचलित है, इसी प्रकार चार अरब वर्षों के इतिहास में भी ईसा के समान अनेक महापुरुष हुए हैं, जिनके कल्प-मन्वन्तर या समय में उनके नाम के संवत्सर चले हैं, कुछ विक्रम और शक सम्वत् आज भी ईसा के अतिरिक्त प्रचलित हैं। ईसा से पहले भी अनेक संवत्सर प्रचलित रहे हैं और भविष्य में भी प्रलय-पर्यन्त यह ईसा संवत्सर ही प्रचलित रहेगा इसकी कोई गारन्टी नहीं है। सम्भव है स्वतन्त्र भारत के विधान की तरह इस ईसा संवत्सर में भी आगे कोई परिवर्तन हो जाय।

इसलिए केवल सम्प्रति प्रचलित ईसा सम्वत्सर को ही सर्वथा उपयुक्त कहना और भूत भविष्य के इतिहास की ओर ध्यान न देना सर्वथा उचित नहीं है।

त्रिकालदर्शी भगवान् वेदव्यास ने अपने समाहितचित्त से सृष्टिकाल से प्रलय पर्यन्त—एक निमेष से लेकर कल्प-महाकल्प-यावत् काल-गणना का उल्लेख पुराणों में किया है। सृष्टि के आरम्भ से प्रलय पर्यन्त इन्हीं घटनाओं के ज्ञान की सुगम प्रणाली के परिष्कार के लिए मन्वन्तर पद्धति की आवश्यकता है।

मन्वन्तर एक प्रकार से दैवराज्य के नाना प्रकार के परिवर्तनों का एक विशेष काल है। जिसमें प्रतिमन्वन्तर में देवलोक व मृत्युलोक में सभ्यता संस्कृति व शासन पद्धतियों की श्रृंखलाओं का परिवर्तन होता है। जैसा कि विष्णु पुराण के प्रथम अंश के तृतीय अध्याय में भी कहा है—

सप्तर्षयः सुरा शक्रो मनुस्तत्सूनवो नृपाः।
एक काले हि सृज्यन्ते संह्रियन्ते च पूर्ववत्॥

प्रत्येक मन्वन्तर में प्राणियों के शक्ति-ज्ञान तथा दैविक व जागतिक श्रृंखला में बहुत परिवर्तन हो जाता है। प्रति मन्वन्तर में देवता कर्मचालक होते हैं, ऋषि ज्ञान-संचालक होते हैं, पितर स्थूल-भूतों के संचालक होते हैं। इनके नीचे बहुत से छोटे-छोटे

पदाधिकारी होते हैं। जैसे साम्राज्य में सम्राट् मण्डलाधिकारी कार्यकारी आदि पृथक्-पृथक् होते हैं, उसी प्रकार दैवराज्य में भी इन्द्र के साथ अनेक देव-पदाधिकारियों का सम्बन्ध होता है। जब इस दैवी-शृंखला में परिवर्तन आता है तो सृष्टि के अनेक अंशों में तथा दैवराज्य की व्यवस्था में भी परिवर्तन आ जाता है।

दैवराज्य के प्रधानतया तीन कार्य होते हैं—

(१) काल-व्यस्था (२) कर्मशृंखला (३) पदाधिकारियों की सुव्यवस्था। इसमें राजा मनु काल-व्यवस्थापक कहा जाता है, तत्तत् शुभाशुभ कर्मों के फलों को देने वाला और प्राणियों का नियामक धर्मराज होता है।

अनेक प्रकार के देवपदाधिकारियों का प्रतिष्ठापक देवताओं के सत्त्व का रक्षक, देवराज इन्द्र होता है। प्राणियों के गमनागमन-जीवन-मरणादि चक्र के नियामक और भी अनेक देव हैं। जैसे इस मृत्युलोक में राजा-प्रजा, राज्यशक्ति-देशकालादि पात्रों का स्वरूप पृथक्-पृथक् दिखाई देता है, वैसे ही प्रति मन्वन्तर में विभिन्न प्रकार के देवर्षि पितृ समुदाय होता है। मन्वन्तर के परिवर्तन में मनु के पद में अन्य मनु की प्रतिष्ठा होती है और अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं। आधुनिक पदार्थविदों का तो यहां तक कहना है कि मन्वन्तर परिवर्तन के दो हजार वर्ष तक वन-वृक्ष-नदी-पत्थर-मकान आदि की भी सत्ता नहीं रहती है।

ब्रह्मा का एक दिन कल्प है और एक कल्प में चौदह मन्वन्तर तथा एक हजार महायुग होते हैं। सत्य-त्रेता-द्वापर-कलि युगों का एक महायुग होता है। देवताओं के बारह हजार वर्षों का एक महायुग होता है। चार हजार दिव्य वर्षों का सत्य युग होता है।

एक दिन में जिस प्रकार प्रातः-सन्ध्याकाल और सायं-सन्ध्याकाल होता है इसी तरह प्रत्येक युग की संध्या तथा संध्यांश भी होते हैं, इसमें जितने हजार का युग होगा उतने ही सौ का संध्या तथा संध्यांश काल होगा।

जैसे—यदि चार हजार वर्षों का सतयुग है तो चार सौ की संध्या और चार ही सौ का संध्यांश काल भी होगा।

फलतः कुल सतयुग का समय चार हजार आठ सौ वर्षों का होगा। इस प्रकार त्रेता युग, तीन हजार दिव्य वर्षों का है, तीन सौ वर्षों का संध्या तथा संध्यांश भी होगा। दो हजार दिव्य वर्षों का द्वापर युग है दो सौ का संध्या तथा संध्यांश काल है—एक हजार दिव्य वर्षों का कलियुग है एक सौ का संध्या व संध्यांश।

दिव्य-वर्षों का विवरण

		काल	संध्या	संध्यांश	योग
१.	सत्ययुग	४०००	४००	४००	४८००
२.	त्रेतायुग	३०००	३००	३००	३६००
३.	द्वापरयुग	२०००	२००	२००	२४००
४.	कलियुग	१०००	१००	१००	१२००
					संकलन १२०००

मनुष्यों का एक वर्ष देवताओं का एक दिन होता है। इस प्रकार मानवीय तीन सौ साठ वर्षों का देवताओं का एक वर्ष होता है। यही दिव्य वर्ष कहा जाता है। बारह हजार दिव्य वर्षात्मक काल को दस हजार से गुणा करके फिर तीन सौ साठ से गुणा करने पर मानवीय वर्षों की गणना होती है। इस प्रकार एक कल्प में ४३२००००००० मनुष्यों के वर्ष होते हैं।

चौदह मनुओं के नाम

मन्वन्तर वर्णन प्रायः सभी पुराणों में पाया जाता है, विष्णु पुराण के अनुसार मनुओं का नाम निर्देश इस प्रकार है—(१) स्वायम्भुव मनु (२) स्वारोचिष मनु (३) उत्तम मनु (४) तामस मनु (५) रैवत मनु (६) चाक्षुष मनु (७) वैवस्वत मनु (८) सावर्णिक मनु (९) दक्षसावर्णिक मनु (१०) ब्रह्म सावर्णिक मनु (११) धर्म सावर्णिक मनु (१२) रुद्र सावर्णिक मनु (१३) रुचिरमनु (१४) भौम मनु।

यह मृत्युलोक सात लोकों में से अन्यतम भू-लोक का चतुर्थांश है। यहाँ सभी-प्राणी मातृगर्भ से उत्पन्न होते है और मृत्यु को प्राप्त होते है। इसीलिए इसे मृत्यु लोक कहते हैं। इस मृत्युलोक के प्राणी सभी अपने-अपने कर्मों के परवश होकर मृत्यु के बाद अतिवाहिक शरीर के द्वारा देवताओं की सहायता से देव लोक को प्राप्त करते हैं। वहां अपने-अपने पूर्वकृत सुकृत के अनुसार अनेक प्रकार के सुखों का उपभोग करते हैं। कुछ प्राणी अपने पाप कर्मों के द्वारा नरक-लोक को प्राप्त करते हैं और वहां अनेक प्रकार की यातनाओं को भोगते हैं।

मृत्यु लोक से ऊपर लोक हैं जिन्हें देव लोक कहते है। इनमें देवपिण्ड धारी देवता रहते हैं। मानव-पिण्डधारी मनुष्य उन्हें नहीं देख सकते हैं। ये देवलोक मानवलोक से परे और सूक्ष्म हैं। इन लोकों में जैसे देवता देव पिण्ड धारण करते हैं, उसी प्रकार असुर भी देव प्रिय को ही धारण करते हैं। इनमें अन्तर इतना ही है कि देवता-आध्यात्मिक-वृत्ति-

प्रधान होते हैं और असुर इन्द्रियोन्मुख-प्रवृत्ति प्रधान होते हैं, इसीलिए समय-समय में उनमें आपस में देवासुर संग्राम होता रहता है।

इस भूलोक के भी चार भाग हैं। इनमें से एक पितृ-लोक है, जहाँ धर्मराज-पदभूषित यम की राजधानी है, दूसरा नरक लोक है जहां पाप-कर्म करने वाले नारकीय जीव-पाप भोगने के लिये जाते हैं, तीसरा प्रेत लोक है—जहां मृत्यु के बाद प्रेत योनि को प्राप्त हुए जीव कुछ समय के लिए ठहरते हैं, चौथा यह मृत्यु लोक है जिसमें हम लोग रहते हैं।

यह मृत्यु लोक सभी लोकों को प्राप्त करने का साधन स्वरूप एक जंकशन के सुन्दर प्लेट फार्म की तरह है, जहां से आप अपने शुभाशुभ कर्म द्वारा तत्तत् लोकों का यात्रा पत्र प्राप्त करते हैं। सभी लोकों के आवागमन के केन्द्रभूत इस मृत्यु लोक से ही प्राणी अपने कर्मानुसार प्रेत-पितृ-नरक-लोकों की यात्रा कर पुनः इसी मृत्यु लोक में जन्म लेता है।

(५) वंशानुचरित

''वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च यै''॥

(श्रीम० भा० १२/७)

विशिष्ट वंश में समुत्पन्न विशिष्ट महापुरुषों के चरित का वर्णन वंशानुचरित हैं। मृत्युलोक में समुत्पन्न पुण्यात्मा महर्षियों के धर्मरक्षक के कर्त्तव्य-परायण राजाओं के वंशजों का वर्णन भी वंशानुचरित में आता है। सृष्टि परम्परा के आचार-विचारों की श्रृंखला का भी इसमें उल्लेख मिलता है।

त्रिगुणात्मक इस भौतिक प्रपञ्च में मनुष्य के सामने अनेक प्रकार की परिस्थितियाँ आती हैं, कभी-कभी तो इतनी भयानक परिस्थिति उपस्थित हो जाती है कि उत्तम से उत्तम धर्मवेत्ता भी अपना संन्तुलन खोने को विवश हो जाता है, ऐसे समय में लोग किंकर्तव्यविमूढ हो जाते हैं, यही समय कर्त्तव्य पथ से च्युत होने का समय है, चित में अनेक प्रकार के विचार आ जाते हैं, संकट की इस विषम परिस्थिति में पूर्वजों के सच्चरित स्मरण दिलाने वाला यह पुराणों में उपवर्णित वंशानुचरित है, जिसके सहारे से मनुष्य अधोपतन से अपने को बचाता है।

पुराणों के ही अनुशीलन से हम वंशानुचरित का ज्ञान कर सकते हैं यदि पुराणों की सत्ता इस संसार में न हो तो हमें यह भी मालूम नहीं होता कि—महाराजा युधिष्ठिर और राजा हरिश्चन्द्र महान् सत्यवादी थे, जनक ब्रह्मज्ञानी थे और राजा दिलीप गोभक्त था, अर्जुन अद्वितीय धनुर्धारी था, ध्रुव-प्रह्लाद बाल्यावस्था से ही परम भागवत थे। ऐसे महापुरुषों का या दिव्य विभूतियों का पवित्र वर्णन हम पुराणों से ही प्राप्त कर सकते हैं

और आर्य संस्कृति के सुन्दर सदाचार-विचार व व्यवहार पद्धति का सम्यक् ज्ञान, पुराणों में उपवर्णित इस वंशानुचरित से कर सकते हैं।

महाभारत के संग्राम के समय देश-देशान्तर से आए हुए अनेक राजाओं का वर्णन पाण्डवों के दिग्विजय के वर्णन प्रसंग में मिलता है, परन्तु यह वंशानुचरित विशेषत: भारतीय राजाओं का ही है।

त्रिकालदर्शी महर्षि वेदव्यासजी की दिव्य दृष्टि से कोई चीज ओझल नहीं थी, वंशानुचरित के प्रसंग में उन्होंने स्थूल मृत्युलोक के साथ-साथ सूक्ष्म देवलोक का भी वर्णन किया है। जैसे—सूर्यादि दैवी सृष्टि से सूर्यवंश का वर्णन किया तो उसी सूर्य वंश में उत्पन्न होने वाले दिलीपादि का लौकिक वर्णन भी कर दिया।

राष्ट्र की रक्षा के लिए जिस प्रकार अनेक विभागों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार इस विशाल ब्रह्माण्ड के संचालन के लिए भी अनेक विभागों की आवश्यकता होती है। मुख्यरूप से ये विभाग तीन है—

आध्यात्मिक-आधिदैविक और आधिभौतिक। प्रथम ज्ञानरूप आध्यात्मिक विभाग के सञ्चालक-व्यास-वशिष्ठादि महर्षिगण हैं। द्वितीय कर्म रूप-आधिदैविक विभाग के सञ्चालक वसु रुद्रादि-देवगण हैं। तृतीय-स्थूल-शरीर रूप इस आधिभौतिक विभाग के सञ्चालक-अर्यमा-अग्निष्वात्तादि पितृगण हैं।

आध्यात्मज्ञान के संचालक कृष्ण द्वैपायन भगवान् वेदव्यास सत्यवती-सुत-द्वापर के अन्तिम भाग में अवतीर्ण हुए। इन्होंने लोगों की सुविधा के लिए वेद-संहिता को चार भागों में विभक्त किया। तत्पश्चात् इन्हीं वेदों के व्याख्यानभूत-पुराणों का भी प्रणयन किया। ये पुराण भगवान् वेदव्यास जी की समाधि-भाषा में लिखे गये हैं। अन्यथा यदि लौकिक इतिहास की तरह ये भी लिखे गये होते तो एक महापुरुष का चरित पुराणान्तरों से भी एक ही प्रकार का होता, परन्तु पुराणों में महापुरुषों का चरित्र भेद भी पाया जाता है, जैसे—देवी भागवत में वर्णित शुकदेव जी के चरित्र से अन्य पुराणों में वर्णित चरित्र कुछ भिन्न है। अत: पुराणों की इस प्राक्तन-गाथा की तुलना लौकिक इतिहास से नहीं करनी चाहिए। अलौकिक-भोग शक्ति के द्वारा कल्प-कल्पान्तरों के जीवन-वृत्त का स्मरण कर लोक कल्याण के लिए लौकिक संस्कृत में इनका संकलन किया। इसी दिव्य-स्मरण के कारण पुराणों को भी "स्मृति" कहा गया है—पुराणं हि स्मृति:"

इस प्रकार भारतीय-पुरा संस्कृति के वाहनभूत इन पुराणों में सर्ग-प्रतिसर्ग-वंश-मन्वन्तर व वंशानुचरित की पवित्र-परम्परा द्वारा एतद्देशीय संस्कृति व सदाचार का सुन्दर संकलन हुआ है।

मत्स्य-कूर्म-भविष्य-गरुडादि पुराणों के पूर्वोक्त पाँच लक्षण ही दिये गये हैं। परन्तु श्रीमद्भागवत व ब्रह्मवैवर्त पुराण में पुराणों के दश प्रकार के लक्षण दिये गये हैं। जो इस प्रकार हैं—

सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्तिरक्षान्तराणि च।
वंशो वंशानुचरितं संस्थाहेतुरपाश्रयः॥
दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः।
केचिद् पञ्चविधं प्राहुर्महदल्पव्यवस्थया॥
दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नव्यनामिह लक्षणम्।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा॥

यह सब होते हुए भी, पञ्चविध लक्षण ही सर्वत्र प्रथित है। कुछ लोगों का कहना है कि—दशलक्षण वाले पुराण हैं और पाँच लक्षणवाले उपपुराण हैं—

एवं लक्षणलक्ष्यानि पुराणानि पुराविदः।
मुनयोऽष्टादश प्राहुः क्षुल्लकानि महान्ति च॥ १॥

(१) सूक्ष्म तत्त्वों के विकास व तिरोभावादि को सर्ग कहते हैं। (२) स्थूल जगत् के सृष्टि, स्थिति संहार को प्रतिसर्ग कहते हैं। (३) ऐतिहासिक महापुरुषों की वंशपरम्परा को वंश कहते हैं। (४) उन-उन प्रसिद्ध घटना-चक्र के महाविधान को मन्वन्तर कहते हैं। (५) धर्म-संकट-काल में न्याय-पथ के पथिक-महापुरुषों के अनुकरणीय जीवन चरित-चित्र के वर्णन को वंशानुचरित कहते हैं। इस प्रकार के पञ्च लक्षणों से संयुक्त पुराणों का अनुमोदन करते हुए सायणाचार्य की यह युक्ति भी उचित ही है—

''जगतः प्रागवस्थामुपक्रम्य सर्गादिप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणमिति''॥
सर्गादिपञ्चकैरेभिलक्षणैर्लक्षितानि वै।
पुराणानीह संक्षेपात् निर्दिष्टानि प्रयत्नतः॥ १॥

प्रलय

''यज्ञन्यं तद्विनाशि'' अर्थात् जो चीज उत्पन्न होती है, वह एक दिन अवश्य विनष्ट होती है। इस नियम के अनुसार इस सृष्टि की उत्पत्ति के बाद प्रलय का आना भी स्वाभाविक ही है। वर्तमान की इस सृष्टि का प्रलय कब होगा, इस प्रश्न का उत्तर पुराणों में बड़े वैज्ञानिक तरीके से दिया है। पुराणों के अनुसार सृष्टि से लेकर प्रलय तक के समय को कल्प कहते हैं। एक कल्प में चौदह मनु होते हैं। वर्तमान कल्प का नाम श्रीश्वेत वाराह कल्प है। इस कल्प में छः मनु व्यतीत हो चुके हैं, सातवें वैवस्वत मनु का समय चल

रहा है। इसके बाद सात मनु अवशिष्ट है। एक मन्वन्तर का समय एकहत्तर महायुगों का होता है। अर्थात्—एक मन्वन्तर में सत्य-त्रेता-द्वापर-कलियुग ये चारों युग एकहत्तर बार आते हैं। वर्तमान युग कलियुग है, इस युग के भोग्य वर्ष ४३२०००० हैं। इस मन्वन्तर में यह कलियुग अठाईसवाँ कलियुग बीत रहा है, अत: इस कल्प में तैंतालीस महायुग चतुर्युग सात मन्वन्तर, आठ अन्धियाँ अवशिष्ट हैं—विवरण इस प्रकार है—

१.	वर्तमान समय में भोग्य वर्ष	४२६९६८
२.	शेष तैंतालीस चतुर्युगों के भोग्य वर्ष	१८५७६००००
३.	भोग्य संध्या व संध्यांश वर्ष	१३८२४०००
४.	भोग्य सातवें मनु के वर्ष	२१४७०४००००
	संकलन	२३४७०५०९६८

इस प्रकार २०१२ सम्वत्सर से २३४७०५०९६८ वर्षों के बाद इस ब्रह्माण्ड का प्रलय हो जायेगा।

विष्णु पुराण के प्रथम अंश के सातवें अध्याय में नित्य-नैमित्तिक-प्राकृत व आत्यन्तिक चार प्रकार का प्रलय दिखलाया है—

''नैमित्तिक: प्राकृतिकस्तथैवात्यन्तिको द्विज:।
नित्यश्च सर्वभूतानां प्रलयोऽयं चतुर्विध:॥
ब्राह्मो नैमित्तिकस्तत्र शेतेऽयं जगतीपति:।
प्रयाति प्राकृते चैव ब्रह्माण्डं प्रकृतौ लयम्॥
ज्ञानादात्यन्तिक: प्रोक्तो योगिन: परमात्मनि।
नित्य: सदैव भूतानां यो विनाशो दिवानिशम्॥

पुन: वही छठे अंशे के तीसरे अध्याय में केवल तीन ही प्रकार के प्रलय का वर्णन किया है।

सर्वेषामेव भूतानां त्रिविध: प्रतिसञ्चर:।
नैमित्तिकप्राकृतिकस्तथैवात्यन्तिको लय:॥
ब्राह्मो नैमित्तिकस्तेषां कल्पान्ते प्रतिसञ्चर:।
आत्यन्तिकस्तु मोक्षाख्य: प्राकृतो द्विपरार्धक:॥

श्रीमद्भागवत के बारहवें स्कन्ध में चौथे अध्याय में प्राकृत-प्रलय का वर्णन इस प्रकार है—

द्विपरार्धेत्वतिक्रान्ते ब्रह्मण: परमेष्ठिन:।

तदा प्रकृतयः सप्त कल्पान्ते प्रलयाय वै॥

एष प्राकृतिको राजन्! प्रलयो यत्र लीयते।

अण्डकोशस्तु संघातो विघात उपसाधिते॥ इत्यादि

ब्रह्मा के आयु के समाप्ति के बाद प्राकृत प्रलय होता है। इसमें लगातार सौ वर्ष तक वृष्टि नहीं होगी। प्रलयकालिक प्रखर सूर्य की किरणों से सारा जल सूख जायेगा जिससे सारे प्राणी काल कवलित हो जायेंगे। तब संकर्षण-के-मुख से निकले हुए प्रलय-कालिक संवर्तक वह्नि से सारा संसार भस्मसात् हो जायेगा। जला हुआ यह सारा ब्रह्माण्ड गोमय-पिण्ड की तरह दिखाई देगा। तदनन्तर लगातार सौा वर्ष तक धारा-प्रवाह रूप से जल वर्षेगा, जिससे सारा संसार जलमय हो जायेगा। सृष्टि-उत्पत्ति के समय में जो तत्त्व अनुलोम क्रम से जिस तत्त्व से उत्पन्न हुऐ थे प्रलय के समय में विलोम क्रम से वह तत्त्व उसी में लीन हो जायेंगे। उस समय कोई चीज दिखाई नहीं देगी—जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा है—

न यत्र वाचो न मनो न सत्त्वं तमो रजो वा महदादयोऽमी।

न प्राण बुद्धीन्द्रिय देवता वा न सन्निवेशः खलु लोककल्पः॥

विष्णु पुराण के छठे अंश के तीसरे अध्याय में प्रलय के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है—

नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत्तमो ज्योतिरभूच्च नान्यत्।

श्रोत्रादिबुद्ध्यानुपलभ्यमेकं प्राधानिकं ब्रह्मपुमांस्तदासीत्॥

वर्णाश्रम-व्यवस्था का महत्त्व

पवित्रतम इस भारतवर्ष में वर्णाश्रम-व्यवस्था के सम्यक् परिपालन के लिए, पुराणों का सुन्दर प्रयास प्रतीत होता है। पुराणों के सिद्धांत से किसी देश या जाति-समाज की सुप्रतिष्ठा की सर्वांगीण उन्नति तभी हो सकती है, जब उस देश या समांज की प्राचीन संस्कृति सदाचार व पवित्र परम्परा का सम्यक् परिपालन हो। इस सिद्धांत के अनुसार वर्णाश्रम-व्यवस्था हिन्दू जाति या आर्य जाति की पवित्रपरम्परा की मूल भित्ति है। यही वह आधार शिला है—जिसके संरक्षण व अनुष्ठान से हिन्दू जाति ने अपने चरम उत्कर्ष का पद प्राप्त किया था और इसी वर्णाश्रम शृंखला के विशृंखलित हो जाने से आज भौतिक व वैज्ञानिक उपकरणों से सम्पन्न होने पर भी उत्तरोत्तर आध्यात्म दिशा में ह्रासोन्मुख है।

पुराणों का इस ओर बड़ा आग्रह है। हिन्दु जाति की उन्नति में इस व्यवस्था का प्रमुख योग है। मार्कण्डेय पुराण के २७वें अध्याय में कहा है कि—

''वर्णधर्मा न सीदन्ति यस्य राज्ये तथाऽश्रमा:।
वत्स! तस्य सुखं प्रेत्य परत्रेह च शाश्वतम्॥
उत्पथग्राहिणो मूढान् स्वधर्माचलतो नरान्।
य: करोति निजे धर्मे स राजा स्वर्गमृच्छति॥
वर्णाश्रमविरुद्धं च कर्म कुर्वन्ति ये नरा:।
कर्मणा मनसा वाचा निरयेषु पतन्ति हि॥

वस्तुत: सनातन धर्म परायण धार्मिकों का सम्पूर्ण कार्य-कलाप वर्णाश्रम धर्म मूलक ही है। वर्णाश्रम-धर्म में रज व वीर्य की पवित्रता का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए इस व्यवस्था में सवर्ण-विवाह ही प्रशस्त माना गया है। असवर्ण-विवाह तो कामज व धर्म विरुद्ध माना गया है। वर्णाश्रम-व्यवस्था की उपेक्षा से क्षत्रिय-राजकुमार नाभाग भी वैश्यत्व को प्राप्त हुआ। नहुष-आदि कई उत्पथगामी इस प्रकार हुए हैं, जिन्होंने वर्णाश्रम धर्म की उपक्षा की और उसके परिणामस्वरूप दर्गति को प्राप्त किया।

वर्णाश्रम धर्म के मौलिक रहस्य का अवलम्बन कर आज भी भारत में हिन्दू जाति अपने कर्तव्य व निष्ठा में तत्पर है और भविष्य में भी इसकी पवित्रता के संरक्षण में सावधान है।

महर्षि वेद व्यास का भी अष्टादश महापुराण महाभारत व श्रीमद्भागवत के निर्माण का यही महान् लक्ष्य था कि भारतीय संस्कृति की प्राणभूत यह पवित्र सुदीर्घ परम्परा अनुकूल व प्रतिकूल किसी परिस्थिति में भी पल्लवित तथा पूर्ण रहे और वे निरन्तर हाथ उठाकर कहते रहे—

उर्ध्वबाहु विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्म किं न सेव्यते॥ १॥

पुराणों की मुक्ति प्रयोजकता

मानव मात्र के प्राप्तव्य चतुष्टय की प्रयोजकता पुराणों के अन्यत्र और कहीं सरल तथा सुगम नहीं है। धर्म-अर्थ-व काम त्रिविध पुरुषार्थ के विषय में तो किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। क्योंकि पुराण-प्रतिनिधि ग्रन्थ महाभारत में यह स्पष्ट ही लिखा है—

''यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

लौकिक पुरुषार्थों के विषय में तो जितना विस्तार से वर्णन हमें पुराणों में मिलेगा उतना शायद ही कहीं अन्यत्र हो।

अब यह विचार करना है कि अलौकिक परम-पुरुषार्थ मोक्ष के विषय की भी यहाँ कोई सामग्री है या नहीं? पुराणों के परिशीलन से यह बात भी विदित हो जाती है कि वह सब सामग्री जो उक्त परपुरुषार्थ के लिए अपेक्षित है, वह सब पुराणों में विद्यमान है अत: अन्य पुरुषार्थों की तरह परम पुरुषार्थ की प्रयोजकता पुराणों की सुतरां सिद्ध है—

क्योंकि अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा अखिल-भूमण्डल के समस्त पदार्थों को करमलकवत् प्रत्यक्ष करने वाले भारतीय-समाज के नियमों के निर्धारक व्यास-वाल्मीकि सदृश महामुनियों की इन दिव्य कृतियों में मानव के परमलक्ष्यभूत परमपुरुषार्थ को साधन सम्भार का न होना तो महान् आश्चर्य की बात है। मानव के सामान्य से सामान्य हित से लेकर महान् से महान् साहित्य की ओर इन महात्माओं का प्रयास रहा है। जिस विधि से भी मनुष्य का कल्याण हो सके वह पाप से बच सके वह सब विधि उदाहरण-प्रत्युदाहरणों से सज्ञित इन महानुभावों की कृतियों में परिलक्षित होती है।

असत्-कर्मों-का भयंकर परिणाम तथा सत्कर्मों का सुन्दर परिपाक सामने रखकर, प्रमाणस्वरूप तत्तत्-पुरातन-इतिहास के द्वारा उनकी नरकादि विभीषिकाओं के द्वारा मानव-मनोराज्य से उस असत् कल्पना के बहिष्कार करने का जो सुगम व सुन्दर प्रयास हमें पुराणों में दृष्टिगोचर होता है, वह दुनिया के शायद ही किसी साहित्य में उपलब्ध हो।

''रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्''

''राम की तरह आचरण करना चाहिए न कि रावण की तरह'' इस पवित्र आदर्श को लेकर महर्षि वाल्मीकि ने लोक कल्याणार्थ ज़िसे ग्रन्थ रत्न का निर्माण किया उसका नाम ''रामायण'' या ''वाल्मीकि रामायण'' है। इस लोकोत्तर चरित्र के वर्णनात्मक-अद्भुत आदिकाव्य में संग्रहणीय गुणों का निर्देश-मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम के पावन-चरित के द्वारा किया और सर्वथा-वर्जनीय-गुणों का निर्देश राक्षसराज-रावण-के निन्दित-चरित्र से किया।

इस प्रकार पुराण व इतिहासों में सत्कर्मियों की शुभ गति व असत्कर्मियों की अशुभ गति का प्रदर्शन कर लोगों की शुभ कर्मों की ओर रुचि-बढ़ाकर और अशुभ कर्मों से रुचि हटाकर शुभ में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति द्वारा पुरुषार्थानुकूल-सामग्री के सम्पादक होने से पुराणों की पुरुषार्थ-परम्परा से परम पुरुषार्थ की प्रयोजकता सुतरां सिद्ध है। पुराणों में यत्र-तत्र सर्वत्र ही पुण्यप्रकर्ष के सम्पादक वृत्तों का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसी के साथ लोकव्यवहार व वर्णाश्रम-धर्म, उपासना विधि, पञ्चदेवोपासना का विचार और तत्तत् अवतारों की विशिष्टता के भक्ति-ज्ञान-वैराग्य द्वारा भक्तजनों के मनो मालिन्य के निवारण-पूर्वक भगवच्चरणारविन्द में परा अनुरक्ति का विधान भी पुराणों में

बड़ी सरल और सुगम भाषा में मिलता है जिससे कि पुराणों के विषय में भी यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।।

अवतार तत्त्व-मीमांसा

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। १।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।। २।। (भ. गी०)
''अनुभव विषयत्वयोग्यता-आविर्भावः''
''तदविषयत्व-योग्यता तिरोभावः''।।–(विद्वन्मण्डन)

अवतारवाद हिन्दू धर्म का एक प्रमुख अङ्ग है। कर्मकाण्ड व उपासना पद्धति का इसके साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। उद्दिष्ट देवता अथवा उपास्य-देव का निश्चय किये बिना तदुद्देश्येन द्रव्यत्याग व निरन्तर ध्यान धारा का केन्द्रीकरण असम्भव है। अत: धर्म संस्थापना या लोक कल्याण के बाद भी वैदिक धर्म की मर्यादा को सुरक्षित रखने के लिए हमें अवतार वाद के रहस्य को भलीभांति जान लेना चाहिए।

इस अवतारवाद के रहस्य-ज्ञान के साधन एकमात्र पुराण ही हैं। पुराणों में बड़े विस्तार से अवतार सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में आनन्दकन्द सच्चिदानन्द ब्रजनन्द भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति अपने अनेक अवतारों की चर्चा करते हुए कहा है—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणी न त्वं वेत्थ परन्तप।।

यद्यपि विश्व की विभिन्न जातियों में और विभिन्न धर्मों में प्रकारान्तर से अवतारवाद सिद्धान्त उपलब्ध होता है। तथापि हिन्दुओं के वैदिक सिद्धान्त की यह विशेषता है कि इसमें अवतार तत्त्व का विमर्श वैज्ञानिक पद्धति से व पुराणादि ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक किया गया है। वेद-पुराण व दर्शन शास्त्रों के अनुसार ईश्वर मणिमाला में सूत्र की तरह सर्वत्र ओतप्रोत है। सर्वत्र व्यापक है। ईश्वर की चित्-कला उद्‌भिज-स्वदेश-अण्डज-जरायुज मानव-दानव देवादि सभी पिण्डों में व्याप्त है।

इसीलिए इसको सर्वान्तर्योगी-सर्वव्यापक कहा जाता है। सर्वव्यापक होते हुए भी ईश्वर की इस चित्-कला के संकोच-विकास का अपना कुछ नियम है।

उद्भिज-वनस्पति-इत्यादियों में यह चित्-कला केवल एक अंश रहती है और स्वदेजों में चित्कला केवल दो अंश रहती है, अण्डजों में तीन अंश और जरायुजों में चार अंश, मनुष्यों में पाँच से आठ अंश तक रहती है। मनुष्य शरीर इस चित् कला के आठ अंश से अधिक अंश धारण नहीं कर सकता है। चित् कला के आठ से अधिक अंशों का विकास जिन शरीरों में होता है वे शरीर दिव्य-उपादानों से उत्पन्न होते हैं और यही अवतार कहे जाते हैं।

इस चित् की आठ कला से अधिक कला-अंश जहाँ रहते हैं वे अवतार कला कहे जाते हैं। आठ से पन्द्रह कला पर्यन्त जिन दिव्य शरीरों में इस चिदंश का विकास होता है, उसे अंशावतार कहते हैं। पूर्णावतार में सोलह कलाओं का विकास होता है—जैसे कृष्णावतार-षोडश कला-सम्पन्न होने से पूर्णावतार माना जाता है—

''अन्ये चांश कला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्''

स्वल्प-कला-सम्पन्न होने के कारण जीव सर्वज्ञ नहीं हो सकता है, किन्तु समग्र कला समन्वित सर्वव्यापक ईश्वर सर्वज्ञ हो सकता है। इसी सर्वज्ञत्व के कारण ईश्वर अवतार रूप में प्रकट होता है। अखिल ब्रह्माण्डाधिनायक अनन्यकोटि ब्रह्माण्ड के शासक सर्वव्यापक ईश्वर के जो अवतार हैं, वे ही भगवद् अवतार कहे जाते हैं। समस्त ब्रह्माण्ड के रक्षक भगवान् विष्णु ही हैं। अतः प्रायः विष्णु के ही अवतारों की गणना की गई है।

जब संसार में अधर्म की प्रबलता के कारण धर्म का ह्रास होने लगता है आसुरी-भावना-भावित-दुष्ट धार्मिक सज्जनों को अनेक प्रकार का कष्ट देते हैं, तब भक्त वत्सल भगवान् को यह सहन नहीं होता वे धर्म की रक्षा हेतु और अधर्म के विनाश के लिए, दुष्टों के भय से सज्जनों की रक्षा के लिए प्रत्येक युग में इस धरा धाम में अवतीर्ण होते हैं—जैसाकि ''यदा यदा हि धर्मस्य'' इत्यादि द्वारा गीता में कहा है। अवतार के प्रयोजन को दर्शाते हुए भगवान् वेदव्यास ने श्रीमद्भागवत में स्पष्ट कहा है—

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।

जिस प्रकार वायु-अग्नि इत्यादि पदार्थ सर्वव्यापक होते हुए भी लोक कल्याण के लिए काष्ठादि आधार में अभिव्यक्त होकर लोगों का उपकार करते हैं, इसी प्रकार सर्वव्यापक निराकार ईश्वर भी माया-समन्वित होकर भक्तों की प्रार्थना के अनुसार धर्म-गो-द्विज-देव-सज्जनों की रक्षा हेतु मानवादि शरीरों में अवतीर्ण होते हैं। गीता में भी कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।।''

विष्णु पुराण में इस प्रकार कहा है—

गोविप्रद्विजसाधूनां छन्दसामपि चेश्वरः।

रक्षामिच्छन् तनुर्धत्ते धर्मस्यार्थस्य चैव हि॥

श्रीमद्भा त के प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय में भगवान् के चौबीस अवतारों का वर्णन किया है।

स एव प्रथमं देव कौमारं सर्गमास्थितः।

चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम्॥ ६॥

द्वितीयं तु भवायास्य रसातलगतां महीम्।

उद्धरिष्यन्नुपादत्त यज्ञेशः सौकरं वपुः॥ ७॥

तृतीयमृषिसर्गं वै देवर्षित्वमुपेत्य सः।

तन्त्रं सात्वतमाचष्टे नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः॥ ८॥

तुर्ये धर्मकला सर्गे नरनारायणावृषी॥

भूत्वाऽऽत्मोपशमोपेतमकरोद्दुष्करं तपः॥ ९॥

पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्॥

प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वद्ग्रामविनिर्णयम्॥ १०॥

षष्ठेरत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया॥

आन्वक्षिकीमलर्काय प्राह्लादादिभ्य ऊचिवान्॥ ११॥

ततः सप्तम आकूत्यां रुचेर्यज्ञोऽभ्यजायत॥

स यामाद्यैः सुरगणैरपात् स्वायं भुवान्तरम्॥ १२॥

अष्टमे मरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः॥

दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम्॥ १३॥

ऋषिभिर्याचितो भेजे नवमं पार्थिवं वपुः॥

दुग्धेमामौषधीर्विप्रास्तेनायं स उशत्तमः॥ १४॥

रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषोदधि संप्लवे॥

नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद् वैवस्वतं मुनिम्॥ १५॥

सुरासुराणामुदधिं मथ्नतां मन्दराचलम्॥

दध्रे कमठरूपेण पृष्ठ एकादशे विभुः॥ १६॥

धान्वन्तरं द्वादशमं त्रयोदशममेव च॥

अपाययत् सुरानन्यान् मोहिन्या मोहयन् स्त्रिया॥ १७॥

चातुर्दशं नारसिंह बिभ्रद्दैत्येन्द्रमूर्जितम्॥
ददार करजैर्वक्षस्येरकां कटकृद्यथा॥ १८॥
पञ्चदशं वामनकं कृत्वाऽयादध्वरं बले॥
पदत्रयं याचमानः प्रत्यादित्सु त्रिविष्टपम्॥ १९॥
अवतारे षोडशमे पश्यन् ब्रह्मद्रुहो नृपान्॥
त्रिःसप्त कृत्वः कुपितो निःक्षत्रामकरोन्महीम्॥ २०॥
ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात्॥
चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः॥ २१॥
नर देवत्वमापन्नः सुरकार्यचिकीर्षया॥
समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम्॥ २२॥
एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी॥
रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद् भरम्॥ २३॥
ततः कलौ सम्प्रवृते संमोहाय सुरद्विषाम्॥
बुद्धो नाम्ना जिनसुतः कीकटेषु भविष्यति॥ २४॥
अथासौ युगसन्धायां दस्युप्रायेषु राजसु॥
जनिता विष्णु यशसो नाम्ना कल्कि जगत्पतिः॥ २५॥
अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधे द्विजाः॥
यथाऽविदासिनः कुल्या सरस स्युः सहस्रशः॥ २६॥

इसके बाद ''एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'' यह कहा है। पूर्वोक्त भागवत के श्लोकों के अनुसार गणना करने पर केवल बाईस अवतार ही गणनाक्रम में आते हैं, चौबीस नहीं, परन्तु प्रसिद्धि चौबीस अवतारों की ही है, फिर दो अवतारों की पूर्ति किस प्रकार की जाए, इस पर टीकाकारों का कहना है कि इन अवतारों की गणना के आखिर वाले श्लोकों में 'असंख्येयाः' की जगह 'असंख्याताः' यह भी पाठ है। इससे हयग्रीव और हंसावतार— इन दो अवतारों का ग्रहण हो जाता है। अथवा—भगवान् कृष्ण तो अंशी हैं न कि अंशावतार, इसलिए इस अंशावतार की गणना में भगवान् कृष्ण की गणना न करके उनके अंशभूत पद्मनाभ, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध— ये तीन भी अंशावतार ही हैं। इस प्रकार संकलन करने से भी चौबीस अवतारों की पूर्ति हो जाती है।

इन चौबीस अवतारों में भी दश अवतार तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, जो इस प्रकार हैं—

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नृसिंहो वामनस्तथा।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्किर्दश स्मृत;॥ १॥

भक्तों के भय निवारण के लिए भगवान् कभी-कभी अपनी विभूति से भी सामञ्जस्य करते हैं, जब इन विभूतियों से भी काम नहीं चलता तब कभी अंशावतारों से या पूर्णावतार से संसार की मर्यादा की रक्षा हेतु अवतार लेते हैं।

शास्त्रों में कहीं-कहीं पाँच ही प्रकार के अवतार का वर्णन मिलता है—

(१) पूर्णावतार, (२) अंशावतार, (३) विशेषावतार, (४) अविशेषावतार (५) नित्यावतार।

(१) पूर्णावतार—भगवान् श्रीकृष्ण थे, ये सोलह कला सम्पन्न थे लिखा भी है ''षोडश कलो वै पुमान्''।

(२) अंशावतार—वामनादि अवतार हैं, जो आठ से अधिक कलाओं का अवलम्बन लेकर अवतीर्ण हुए।

(३) विशेषावतार—दीक्षा के समय गुरू शिष्यों के अन्त:करण में विशेष रूप से आविष्ट हो जाता है, अतएव उस समय गुरू ब्रह्मादिरूप माना जाता है, जैसे कहा भी है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वर:।
गुरु: साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नम:॥ १॥

(४) अविशेषावतार—यह कादचित्क होता है। जब भगवद्भाव का आवेश होता है, तब वह भगवद्स्वरूप के समान होता है, अन्यथा साधारण जन की तरह प्रतीत होता है। सनकादि-नारद-पृथु आदि महापुरुष इसी अविशेष अवतार में आते हैं। कहा भी है—

आविष्टोऽभूत् कुमारेषु नारदे व हरिर्विभु:।
अविशेष: पृथुर्देव शंखी चक्री चतुर्भुज:॥ १॥

(५) नित्यावतार—मनुष्यों के अन्त:करण में नित्यावतार होता है। सर्वशक्तिमान्-सर्वव्यापक, ज्ञानमय, परमात्मा की सर्वत्र चराचर में सत्ता है, अत: वह सभी जीवों के हृदयों में विराजमान है और सबका साथी है, जिससे जीव पाप कर्म से निवृत होकर शुभ की ओर अग्रसर होता है।

सृष्टि-प्रपञ्च की आवश्यकता के अनुसार जिस-जिस अवतार के नाम से जिन-जिन पुराणों का निर्माण हुआ है उन-उन पुराणों में उन अवतारों का विशेष वर्णन है। उसी अवतार द्वारा लोक कल्याण-कारक उपदेश भी दिया गया है। ''ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्चित् जगत्यां जगत्'' इति यजुर्वेद के अनुसार इस संसार में जहाँ भी जो कुछ है, वह सब परमपिता परमात्मा का ही स्वरूप है। भगवान् विष्णु इस जगत् की रक्षा के अभिप्राय से अपनी चिन्मय कला के या शक्ति के प्रकाश को किसी जीव-विशेष के आश्रय से

अभिव्यक्त करते हैं। तब वही लीला विग्रहरूपा शक्तिविशेष ही प्रकट होकर अवतार शब्द से कही जाती है। इसीलिए यह व्यक्त होते हुए भी अव्यक्त है और प्रकट होते हुए भी गुप्त है।

अवतारों का यह पवित्र-प्रसङ्ग न केवल पुराणों में ही उपलब्ध होता है, अपितु वेद-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद्-रामायण-महाभारतादि ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र अवतारों की चर्चा का सुन्दर विश्लेषण है।

१—ऋग्वेद में विष्णु के अवतार का वर्णन इस प्रकार है—

''इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्''

२—शतपथ ब्राह्मण में वामनावतार का संकेत इन पदों द्वारा किया है—

''वामनो ह विष्णुरासनम्''

३—तैत्तिरीय आरण्यक में वराहावतार का वर्णन इस प्रकार किया है—

''आपो ह वा इदमग्रे सलिलमासीत् तस्मिन्, प्रजापित वायुर्भूत्वा चरत् सह मामपश्यत, तं वराहो भूत्वा हरत्, स वराहो रूपं कृत्वा अप्सु न्यमज्ञत्, स पृथ्वीं मध्ये आर्च्छत्।'' उद्धृताऽसि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना।

४—शतपथ ब्राह्मण में मत्स्यावतार का रमणीय प्रसङ्ग उपलब्ध होता है—

''मनवे ह वै प्रातः मत्स्यः सहापाणी आपेदे, सहास्मै वाचमुवाच, विभृहि माम्, पारयिष्यासि त्वेति, कस्मान्माम् पारयिष्यसीति, औद्य इमा सर्वाः प्रजा निर्वोढा ततस्त्वा पारयिताऽस्मि।''

५—तैत्तिरीय-आरण्यक में कूर्मावतार का प्रसङ्ग इस प्रकार है—

''अन्तस्तः कूर्मभूतः तमब्रवीत् मम वै त्वङ्मासात् समभूव नेत्यब्रवीत्, पूर्वमेवाहमिहासम् इति तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम् सः सहस्त्रशीर्षाः पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपाद् भूत्वोदतिष्ठत्।''

''वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णीदंष्ट्राय धीमहि तन्नो नरसिंहः प्रचोदयात्'', इत्यादि मन्त्रों से वही नरसिंहवराह का भी वर्णन मिलता है।

इस प्रकार वैदिक ग्रन्थों में जिन अवतारों का आभास-मात्र मिलता है, पुराणों में उन्हीं अवतारों की विस्तृत चर्चा की गई है। इसलिए ये पुराण प्रतिपादित अवतार भी वेदमूलक ही हैं। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं करना चाहिए।

भूत-भावन-भगवान् का अवतार का भव-सागर से समुद्धार के लिए है, इसी बात को श्रीमद्भागवत में इस प्रकार कहा है—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।१०/२९/१४॥

भक्ति-तत्त्व-विवेचन

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥१॥

महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास का इस पुराण-साहित्य के सृजन का लक्ष्य केवल जगत् की सृष्टि, स्थिति, लय की प्रक्रियाओं को दिखाकर, सांसारिक-सुख-शान्ति के लिए वर्णाश्रमधर्मादि का ही विस्तृत विवेचन नहीं है, अपितु प्राणिमात्र के अभ्युदय तथा निःश्रेयस की पराकाष्ठा तक के मार्ग का सरल रीति से दिग्दर्शन करा देना था और करूणा वरूणालय भगवान् का भी सज्जनों के परित्राण और दुष्टों के दमन के व्याज से इस पवित्र भूमि भारत में अवतार लेने का महान् उद्देश्य, भगवद् भक्तों के ऐहिक अभ्युदय पूर्वक पर्यन्त में अव्यभिचरित भक्ति द्वारा परम निःश्रेयस् या परमपद-भगवत्-सायुज्य की प्राप्ति कराना था। इसीलिए गीता व महाभारत में उभयविध धर्मों का-प्रवृत्ति लक्षण-तथा निवृत्ति-लक्षण धर्मों का विवेचन किया गया है। महाभारत के शान्ति पर्व में इसका निर्देश इस प्रकार है—

नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः।
प्रवृत्तिं लक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः॥

पुराणों में भी करीब-करीब यही क्रम है, प्रवृति-लक्षण-वर्णाश्रम धर्म का युक्तिपुरस्सर वर्णन करके विस्तृत तथा मनोरम उपाख्यानों द्वारा धर्म की श्रेष्ठता का समाधान देकर अनुष्ठीयमान निष्काम धर्म ही ब्रह्मभूयाय-ब्रह्मीभाव-या मोक्ष के लिए समर्थ है, ऐसा कहकर उपासकों या भक्तों को प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर एक सुन्दर भक्तितत्त्व के आलोक आलोकित-प्रकाशित-मोक्ष-भवन के पथिकों के लिए राजमार्ग का निर्माण किया गया है—जिसके विषय में यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि—

''इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः''।
''ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'' (गीता)
''ईश्वर अंश जीव अविनाशी'' (राम.च.मा.)

गीता व रामचरित मानस के अनुसार जीव ईश्वर का ही अंश है, यह भी अंशी की तरह शुद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा स्वच्छ स्वभाव वाला है। इस अंश को अपने स्वअंशी में मिल जाना ही मोक्ष है। यही इसकी अपनी स्वरूपापत्ति है, या ब्रह्मभावापत्ति है।

इसी बात को महर्षि शाण्डिल्य ने अपने भक्तिमीमांसा में भी कहा है— ''जीवानां ब्रह्मभावापत्तिर्मुक्तिरिति''। वस्तुतः जीव-ब्रह्म-परमात्मा से अत्यन्त-अभिन्न है। अनादिकाल की वासना के वासित त्रिगुणात्मक—अन्तःकरणोपाधि से सम्बलित होने के कारण-तद्गत-रागादि वासना से मलिनता आ जाने के कारण जीव अपने को अल्पज्ञ—सुखी-दुःखी समझ बैठा है। जैसे—स्फटिक मणि की लालिमा स्वतः नहीं है, वह तो जपा कुसुम-सान्निध्य-उपाधि-से आगन्तुक है, स्फटिक का तो अपना स्वतः स्वच्छ स्वरूप है। ठीक यही बात जीव की भी है। इन्हीं अनादि काल से आने वाली आगन्तुक वासनाओं के क्षय के लिए ही सभी शास्त्रों व शास्त्रकारों का पुराण इतिहास आदि सभी का प्रयास है।

''रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषाम्'' के अनुसार इस वासना दानव के निधन हेतु नाना प्रकार के पन्थों का शास्त्रों में प्रचलन हुआ। वेदादि शास्त्रों के मनन से किसी रहस्य को निकाल लेना बड़ा दुष्कर कार्य है। यह स्थिति आज की ही नहीं है, यह स्थिति तो उस द्वापर युग की सन्धि के समय तक आ चुकी थी जिस समय महाभारत व श्रीमद्भागवत व्याख्यान-ग्रन्थों का निर्माण हो चुका था। क्योंकि महाभारत के निर्माण के प्रयोजन की चर्चा करते हुए, आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ध्वन्यालोक में बतलाया है कि आखिर में मोक्षोपदेश देना ही मुनि का परम प्रयोजन है, क्योंकि भयंकर युद्धादि का वर्णन होते हुए भी महाभारत का पर्यवसान-शान्त रस में ही होता है। यही बात पुराणों के विषय में भी कही जा सकती है, जगत् के सारे प्रपञ्च का शुभाशुभ परिपाक दिखाकर, अन्त में मानव-जीवन का लक्ष्य इन जागतिक क्षुद्र-अशुभ वासनाओं को विकसित करने में नहीं है। अपितु इनकी उपेक्षा कर चित्त को भगवद्-भक्ति की ओर अभिमुख करने में है। यह भगवद्-चरणारविन्दों-असीम-अनुरक्ति ही भक्ति है, जैसा कि भक्ति मीमांसा में महर्षि शाण्डिल्य ने भी कहा है—''सा परानुरक्तिरीश्वरे''॥२॥

इसी परानुरक्ति की पूर्ति के लिए नाना-पुराण-शास्त्र व निगमागमादि का निर्माण हुआ है।

खास कर पुराणों में इस ईश्वरानुरक्ति रूप पराभक्ति के ही अङ्ग रूप में वर्णाश्रम धर्म-कर्म-उपासना-ध्यानादि का विस्तृत व साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। यह पराभक्ति-मोक्ष महल को प्राप्त करने का वह सरल-सुगम-व प्रशस्त राजमार्ग है, जिसमें संचरण करता हुआ मोक्ष पथ का पथिक थोड़ा भी क्लेश के लेश का अनुभव नहीं करता है। इसी सुशीतल सुस्पष्ट प्रकाशपूर्ण मनोरम पन्था की ओर संकेत करते हुए श्रीमद्भागवत में व्यास जी का कथन है—

''श्रेय: स्तुतिं भक्तिमुदस्य ते विभोक्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद् यथा स्थूल तुषावघातिनाम्''

तात्पर्य यह है कि ज्ञान-गंगा में गोता लगाना तो एक ठेढ़ी खीर है, यह तो ''क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' के अनुसार तलवार की धार से संचरण करना है, इसके लिए जो लोग माथापच्ची कर रहे हैं, वे लोग तो एक प्रकार से धान के निस्तत्त्व-भुस-से-कूट-कूट कर चावल निकालने की कोशिश कर रहे हैं, भला क्या निस्तत्त्व भुसों से कभी चावल मिल सकेंगे, इन्हें तो केवल ज्ञान-मार्ग में परिश्रम ही मोल लेना है, अभ्युदय-नि:श्रेयसादि अनेक प्रकार के अमृत-निर्झरों के उत्स इस मधुर भक्ति-सरोवर को छोड़कर और मिलना उन्हें क्या है। अत: कण्टकाकीर्ण इस कठिन मार्ग का परिहार कर पुराण मुनि ने सुन्दर सौरभ से सुवासित इस घनी छाया से शीतल-सुखद भक्ति मार्ग की भावना की।

सत्यादि युगों में भले ही ज्ञान-वैराग्य-उपासना द्वारा मोक्ष प्राप्ति या निरतिशय सुख लाभ सम्भव हो सके, किन्तु कलियुग में तो भक्त को निरतिशय-शान्दि-प्रदान करती हुई भक्ति ही भगवत्-सायुज्य-कारिणी है, जैसा कि पद्म-पुराण में कहा है—

''सत्यादि त्रियुगे बोधवैराग्यौ मुक्तिसाधकौ।
कलौ तु केवलं भक्तिर्ब्रह्मसायुज्यकारिणी॥ १॥
न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा।
हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिका:॥ २॥

वस्तुत: परा-फलरूपाा भक्ति में ये कर्म-ज्ञान-उपासना आदि सब साधन रूप में समन्वित होते हैं। कर्म-ज्ञान व उपासना से उद्दप्ति तथा परिष्कृत-पवित्रचित्त में ही कही सत्वोद्रेक से संशोचित पराभक्ति का उदय हो सकता है। इस प्रकार की भक्ति के लिए उपासक-साधक के लिए ये कर्मादि सब अपरिहार्य अंग हैं। अत:संक्षेप में इनका वर्णन करना भी यहां अनुचित नहीं होगा।

कर्म

कर्म-शब्द कृ धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है— कार्य या व्यापार, शरीर-प्राण-मन-इन्द्रियादियों की जो स्पन्दनात्मक चेष्टा विशेष व्यापार है, वही कर्म से कहा जाता है। साधारण रूप से कर्म शब्द का यही अर्थ है, परन्तु शास्त्रीय भाषा में इसे हम इस प्रकार कहेंगे— अभ्युदय और नि:श्रेयस् का विधान करने वाले शास्त्रों के द्वारा निर्दिष्ट विधि—यजनादि— याग करना इत्यादि या देवतोद्देश्येन द्रव्य-त्याग विशेष ही कर्म हैं और निषिद्ध— ब्रह्महननादि निषिद्ध कर्म हैं या सज्जनों के द्वारा अनुमोदित विशुद्ध मन के द्वारा समर्पित शरीर वाणी मन का जो स्पन्दन-व्यापार-विशेष है, वही कर्म है, अथवा शुभाशुभ

व्यापारविशेषजन्य जो पुण्य पाप हैं, वह भी कर्म शब्द से कहा जाता है, इसी कर्म को धर्म शब्द से भी कहते हैं। और अशुभ कर्म को अधर्म शब्द से कहते हैं। वेद का मुख्य प्रयोजन भी इसी यमादि कर्म के सम्पादन में है। गीता में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया है— द्रव्ययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, तपोयज्ञ इत्यादि। चाहे शुभ या अशुभ बिना कर्म मनुष्य एक क्षण भी नहीं रह सकता है। इसलिए भगवान् ने गीता में शुभ कर्मों की ओर संकेत किया है कि शास्त्रविहित-सन्तों से अनुमोदित शुभ कर्म ही मनुष्य को करना चाहिए—

परन्तु इस कर्म के बीच में एक दुर्गुण छिपा हुआ है वह है—आसक्ति-फलाकांक्षा या वासना, इसका परिहार करना परमावश्यक है, तभी कुशल व कर्मठ-योगी कहा जा सकता है— जैसा कि कहा भी है "योग: कर्मसु कौशलम्" इत्यादि कुशल कर्मयोगी के लिए ये तीन चीज आवश्यक है—

(१) फलाकांक्षा का वर्जन (२) कर्तृत्व के अभिमान का परित्याग (३) ईश्वरार्पण बुद्धि। जैसा कि गीता का निर्देश हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

संक्षेप में कर्मयोग का यही महामन्त्र है कि कोई भी कर्तव्य-कर्म वासना या फलाकांक्षा से लिप्त न हो अपितु निष्काम भावना से ईश्वरार्पण होना चाहिए।

ज्ञान

इस निष्काम कर्मयोग की पूर्णता के लिए ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। कर्म से कर्तृत्वाभिमान को छोड़ना ज्ञानी पुरुष का ही काम है और ज्ञान-पूर्वक ईश्वर में सर्व कर्म समर्पण करके चित्त को भक्ति-प्रवण करना यह महत्त्व-पूर्ण कार्य बिना ज्ञान के सम्पन्न नहीं हो सकता। जब तक आत्मा की एकता का अनुभव नहीं हो सकता, तब तक परमेश्वर के उस अचिन्त्य महत्त्व ज्ञान ही कैसे हो सकता है। इसीलिए गीता में भी ज्ञान-समन्वित भक्ति का सिद्धान्त का वर्णन है। इस ज्ञान की दो दिशायें हैं—एक "सर्वभूतस्थमात्मानम्" सर्वभूतों में आत्मा का दर्शन करना, जिसमें सर्वभूत आधार और आत्मा आधेय है। दूसरी दिशा है— "सर्वभूतानि चात्मनि" आत्मा में सर्वभूतों को देखना। इसमें आधारभूत-आत्मा में आधेयभूत सर्वभूतों का अनुभव करना है। गीताज्ञान की ये दोनों दिशायें परस्पर पूरक हैं। ऐसा पुरुष ही समदर्शन-समदर्शी कहा जाता है। "सर्वभूतस्थमात्मानम्" का दृष्टान्त इस चराचर में जगत् सर्वत्र उपलब्ध होता है, परन्तु "सर्वभूतानि चात्मनि" के दृष्टान्त को भगवान् ने अपने भक्त अर्जुन को अपने देवदुर्लभ-विराट रूप में दिखलाया था। एक विराट् आत्मा में एक ही जगह समस्त ब्रह्माण्ड को अर्जुन ने दिव्यचक्षु से देखा। ऐसा महात्मा होना दुर्लभ है कि जो सब किसी में समानरूप से अनुस्यूत वासुदेव ही

समझे, ऐसा ज्ञान होना एकाएक कठिन है, ''वासुदेव सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।'' ऐसे समदर्शी या समदर्शन पुरुष के लिए ही गीता पण्डित पद का प्रयोग करती है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके व पण्डिता समदर्शिनः॥

यहाँ यह विवेक थोड़ा अवश्य कर लेना चाहिए कि सभी प्राणियों में एक आत्मा को देखने वाले पण्डित समदृष्टि होते हैं, न कि समवर्ती-समान व्यवहार करने वाले।

ध्यान योग और उपासना

सर्वेश-सर्वशक्तिमान् परमाराध्य परमात्मा के चरणारविन्द में जब तक आराधक की समान-प्रत्यय-प्रवण अर्थात् अविच्छिन्न प्रवाह से संलग्न चित्तवृत्ति न हो जाय तब तक भक्ति-भावना की स्फूर्ति ही कहां मिल सकती है? अतः अन्तःकरण की अनादि वासनाओं से वासित उन अनन्त वृत्तियों के केवल भगवच्चरणारविन्दों को केन्द्रित करने के लिए ध्यान योग या उपासना की महती आवश्यकता है। चञ्चल-चित्तवृत्तियों के निरोध व बिना उपासक की भगवद्भावापत्ति ही असम्भव है। योगाभ्यास के द्वारा निवास-प्रदीप कल्प-चित्त योगाभ्यास से ही उपास्य देव की ओर प्रवण हो सकता है। गीता में भी इस बात को इस प्रकार कहा है—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ ६/२०॥

योगाभ्यास द्वारा निरुद्ध चित्त जब विषय प्रदेश से हटकर केवल उपास्य देव की ओर अभिमुख होता है तो स्वच्छ अन्तःकरण से चैतन्य ज्योतिर्मय भगवद्स्वरूप का साक्षात्कार करता हुआ कुछ अनिर्वचनीय सन्तोष को प्राप्त करता है—इसीलिए योगी का पद तपस्वी-कर्मी-ज्ञानी से भी बढ़कर बतलाया है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः,

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन॥ ६/४६॥

यही ''कर्मसु कौशलम्'' वाला योग है; यही योग दुःख वियोग तथा सुख संयोग कराकर जीव व परमात्मा के मधुर-सम्बन्ध के योग-जोड़ के कारण भी, या नर से नारायण तक सम्बन्धों को सुन्दरता से सजा देने के कारण भी योग को ध्यान-चित्तवृत्ति-निरोध-उपासना आदि शब्दों से कहा जाता है। संक्षेप में सीधे शब्दों में अपने उपास्यदेव तक पहुंचा देने का सरल-सोपान भी इसे कह सकते हैं।

चित्तवृत्ति के अभिमत-स्थान-प्रतिष्ठा स्वरूप-या ध्येय मात्र चित्र नियत रहने की इस स्थिति को प्राचीन काल में उपासना शब्द से कहते थे वैदिक युग के अनुसार उपास्य और उपासक के बीच एक भावात्मक सम्बन्ध की जोड़ने वाली जञ्जीर का नाम ही उपासना है।

उपासना शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—उप उपसर्ग पूर्वक अस् (उप-वेशने) धातु से भाव-अर्थ में युच्-प्रत्यय करके-पुन: यू-को अन-आदेश कर स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् करके-उपासना-शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—शास्त्र विधि के अनुसार अपने उपास्य देव में निरन्तर-अविचलित रूप से चित्त-वृत्ति-का अवलम्बन कर, स्थिर रहना ही उपासना है—जैसा कि भगवान् शंकराचार्य ने अपने भाष्य में लिखा है—

''उपासनं नाम यथा शास्त्रं उपासस्यार्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यमुपगम्य तैलधारावत् समानप्रत्यय-प्रवाहेण दीर्घकालं यदासनं तदुपासनमाचक्षते।''

कुछ लोग इसे अभिमत-देवता विशेष के चिन्तन स्वरूप मानसिक व्यापार मानते हैं।

''चिन्तना परपर्यायो मननात्मको मानसो व्यापार:''

कुछ विद्वानों ने उपासना को निकृष्ट-वस्तु में उत्कृष्ट बुद्धि का रखना माना है। अर्थात् निकृष्ट-शिला-शकलादि में उत्कृष्ट-शालिग्राम-शिव-विष्णु-देवी आदि की मान्यता-प्रतिष्ठा-बुद्धि रखना ही उपासना है।

''निकृष्टेषु-उत्कृष्ट-बुद्धिरुपासनम्''

कुलार्णवतन्त्र में सरल शब्दों में उपासना का स्वरूप इस प्रकार दिखाया है—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
समीप सेवा विधिना उपास्तिरिति कथ्यते॥ १॥

सभी आचार्यों का तात्पर्य यही है कि एकाग्रचित्त से उपास्य देवता का गुण चिन्तन कर तल्लीन रहना। वैदिक साहित्य में इस उपासना के अंगावबद्ध, प्रतीकोपासना, अहंग्रहोपासनादि भेदों से बहुत विस्तार से वर्णन किया है। प्रकृत ग्रन्थ के विस्तार के भय से यहां उन सब भेदों का वर्णन करना असम्भव सा है, यथावसर कभी इसकी चर्चा की जायेगी।

इन मतमतान्तरों के मनन करने से यही प्रतीत होता है कि उपासक का अपने अन्त:करण में उपास्य देव की प्रतिमा का प्रतिबिम्ब रखना ही उपासना है और पूर्ण श्रद्धा व निष्ठा के साथ अपने अभीष्ट का भजन करना। गीता भी यही कहती है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मत:॥

ध्यान योग या उपासना का यही रहस्य है कि बिना श्रद्धापूर्वक भगवान का भजन किये, उपासना केवल व्यायाम मात्र है, कायाकष्ट है। अतः यह ध्यान-योग या उपासना प्रभु की भक्ति में सर्वतोभावेन साधिका है। जिसके निष्ठापूर्वक अनुष्ठान से भक्ति में आनेवाली अनेक बाधायें शान्त हो जाती हैं। इसी उपासना का परिवर्धित-परिष्कृत-पल्लवित या प्रकृष्ट स्वरूप ही भक्ति है।

कहने का तात्पर्य यह है कि परमपिता परमात्मा के प्राप्ति के लिए जो साधन वैदिक युग में शुष्क कर्म काण्ड की प्रक्रिया में अंकुरित हुआ, वही साधन पुनः उपनिषद् व आरण्यक काल में उपासना का रूप धारण कर पल्लवित हुआ तदनन्तर वही उपासना पुराण युग में आते-आते भगवान् वेदव्यास के मन्द सुगन्ध-शीतल-मलयानिल-सदृश-पदावलियों का आश्रय प्राप्त कर पुराणों में भक्ति के रूप में पुष्पित व फलित हुआ। जिसका सौरभ आज दिग्दिगन्त व्याप्त होकर समस्त मानवों के चतुर्दिक् कल्याण की कामना कर रहा है।

निःसन्देह भक्ति शास्त्रों का या पुरुषार्थों का परिपक्व अमृत फल है। समस्त शास्त्रों का निर्यास व सभी विद्याओं में राजविद्या है। निगमागमों का रहस्यमय हृदय है। अतः एव जिज्ञासुओं को इसके स्वरूप जानने की इच्छा होती है—

''अथातो भक्तिजिज्ञासा''

इसी के द्वारा जीव परमात्मा को अच्छी तरह जान सकता है। इसलिए इसके अधिकारियों के लक्षण-स्वरूप-स्वभाव की चर्चा करना ही उचित है—

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भक्तशिरोमणि पूज्यपाद मधुसूदन-सरस्वती जी ने अपने भक्तिरसायन-ग्रन्थ में भक्ति का स्वरूप इस प्रकार दर्शाया है—

द्रुतस्य भगवद्धावाद् धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिः, भक्तिरित्यभिधीयते।। १।।

उपासना में जहां उपास्य देवता-का एकाग्रभाव से गुणचिन्तन मात्र किया जाता है वहां भक्ति में निरन्तर उपास्य के गुणचिन्तन पूर्वक उसमें सर्वतोभावेन चित्त की प्रवणता, हार्दिक-परम-प्रेम, स्वभावतः स्वसमर्पणरूपा-प्रपत्तिनिष्ठ शरणागति परिलक्षित होती है। भक्ति में स्वच्छ मनोवृत्ति का तच्चिन्तन ही पर्याप्त नहीं है, अपितु यहां चित्त-वृत्ति की द्रुति अधिक आवश्यक है। बिना चित्त-द्रव के ध्येयकार से तन्मय होना असम्भव सा है। इसलिए भगवद्भाव से निरन्तर भगवद्ध्यान से मनोवृत्ति पिघल जाने से अर्थात् द्रवी भावापन्न-वृत्ति का तन्मयीभाव विशेष ही भक्ति है। थोड़े से शब्दों में—कर्म-वाणी मन व

मनोवृत्तियों के द्वारा निश्छल-निर्मल सेवा भाव से अपने को भगवद्चरणारविन्दों में समर्पण कर देना ही भक्ति है—

इसी अभिप्राय से नारद पञ्चरात्र में भी कहा गया है—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।

हृषीकेष हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते॥ १॥

भज्-सेवायाम् इस धातु से भाव में क्तिन् प्रत्यय करके भक्ति शब्द सम्पन्न होता है। जिसका अर्थ है—ईश्वर की परानुरक्ति रूप-सेवा अर्थात् भगवद् विषयक अनन्य प्रेम। इसी को फलरूपा भक्ति या पराभक्ति भी कहते हैं।

यद्यपि भगवद् भक्ति में जीवमात्र का अधिकार है, क्योंकि हनुमान्, जाम्बवान्, गरुड़, गजेन्द्र, काकभुशुण्डि, जटायु प्रभृति भगवद्भक्त परम पद को प्राप्त हुए, तथापि सामान्य पशु-पक्षियों में चित्तकला की कमी के कारण-ज्ञान ध्यान का उनमें समुचितमात्रा में उन्मीलन न होने के कारण वे भगवद्भक्ति के अनुष्ठान में असमर्थ हैं। इसलिए शास्त्रकारों ने प्रधानतया मनुष्य को ईश्वरभक्ति करने का अधिकारी बताया है। ब्रह्मसूत्र में व्यास जी ने लिखा है—''शास्त्राधिकारत्वान्-मनुष्यस्य'' भगवद्भक्ति में रूप-गुण-आयु-जाति-विद्या-धनादिकी उतनी अपेक्षा नहीं, जितनी कि मनुष्य के सरलता, स्वच्छता, सदाचार-विनय व शील की आवश्यकता है। भगवान् अपने भक्त से धन-जन-विद्यादि के आडम्बर की उतनी आशा नहीं रखते, जितना कि निश्छल-निर्व्याज-निर्मल-अनन्य प्रेम की आशा रखते हैं—इस प्रसंग में जीवगोस्वामी जी का यह पद्य कितना सुन्दर तथा उचित है—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का।

का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्॥

कुब्ज़ाया: कमनीयरूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनम्।

भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधव:॥

भक्तवत्सल भगवान को भक्त से अधिक प्रिय कोई भी चीज नहीं है, भक्त के साथ वे मृत्युलोक, किं नरकलोक में भी रहने को तत्पर हैं। यदि साथ में भक्त न हो तो वह वैकुण्ठ लोक भी उनके लिए रुचिकर नहीं है, इस बात को स्वयं उन्होंने नारद को स्पष्ट कहा—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।

मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥ १॥

प्रभु को भक्ति प्राण से भी अधिक प्रिय है। भक्तिपूर्वक यदि भक्त कहीं भी भगवान् को आमंत्रित करता है, तो वे बिना किसी विचार के—अर्थात् ऊंच-नीच का विचार न करते हुए करते हुए तुरंत वहां विराजमान होंगे। पद्मपुराण में इस बात को इस प्रकार कहा है—

त्वं तु भक्ते! प्रिया तस्य सततं प्राणतोऽधिका।

त्वयाऽऽहूतस्तु भगवान् याति नीच गृहेष्वपि॥ १॥

भक्त के अनन्या-भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् अपने हजारों कार्यों को छोड़कर भी भक्त-वश्य होते हुए अलौकिक और असम्भव कार्य भी कर देते हैं।

जिस समय महाभारत का प्रलयंकारी संग्राम होने जां रहा था, उस समय आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र जी ने धर्मराज युधिष्ठिर के तथा अर्जुन के भक्ति-गुण गरिमा से आकृष्ट होकर कौरव-कुल के पक्ष का परित्याग कर, पाण्डव कुल की कल्याण कामना से अर्जुन के रथ हांकने का निम्न से निम्न सारथि पद को स्वीकार किया और उन्हों विजय दिलायी।

पांच वर्ष के नन्हे से बालक ध्रुव की अटल प्रतिज्ञा तथा परम भक्ति से सन्तुष्ट होकर, उस भयंकर-हिंसक जन्तुओं से व्याप्त घनघोर जंगल में तपस्या करने वाले बालक ध्रुव की रक्षा की और अपने वैकुण्ठ लोक से भी ऊपर अभिनव-ध्रुव लोक का निर्माण कर अपनी भक्तवत्सलता प्रदर्शित करते हुए उसको प्रदान किया। इसी प्रकार भक्त प्रवर प्रह्लाद की भी अनेक बार बड़ी विषम परिस्थिति में उसकी रक्षा की। राक्षसराज हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को विष व्याल-कराल-भाल-अग्नि-दैत्य-दानवों के द्वारा अनेक यातनायें दीं उस समय सर्वान्तरयामी रूप से अपने भक्त की रक्षा हेतु भगवान् ही तत्तत् वस्तुओं में प्रवेश कर विषादि विषय पदार्थों का भी अमृतादि योग से शुभ परिणाम दिखलाते रहे।

यह सब होते हुए भी हिरण्यकशिपु के भयंकर से भयंकर आदेश से भी जब प्रह्लाद भगवान् की अनन्या भक्ति से विरत नहीं हुआ, तब उसके पिता हिरण्यकशिपु ने उसे रस्सों से खम्भे में बांध दिया और पूछा—तुम हमेशां नारायण, नारायण ही चिल्लाते हो बताओ कहां है वह नारायण? प्रह्लाद ने उत्तर दिया—नारायण सर्वत्र विद्यमान है। राक्षसराज ने कहा—तो इस खम्भे में भी तुम्हारा नारायण है? विनयावनत होकर प्रह्लाद ने उत्तर दिया—हां, नारायण सर्वत्र है वह इस खम्भे में भी है। यह कहते कहते, प्रभु ने अपने भक्त प्रह्लाद के वचन को सत्य करने के लिए नरसिंहरूप धारण कर खम्भे से प्रकट होकर हिरण्यकशिपु के कराल कलेवर को अपने तीक्ष्ण नखों का कलेवा बना दिया और अपने भक्त प्रह्लाद का राज्याभिषेक किया। इसी बात को श्रीमद्भागवत में व्यास जी ने कितने सुन्दर शब्दों में कहा है—

सत्यं विनातुं निजभृत्यभाषितं

व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।

अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्

मध्ये सभायां न मृगं न मानुषम्॥

द्वापर युग में कौरवों व पाण्डवों की भरी सभा में दुष्ट दुश्शासन के द्वारा जब द्रौपदी का अपमान किया जा रहा था तो उस समय आर्त-स्वर में द्रौपदी ने भगवान् का आह्वान किया—

गोविन्द! द्वारिकावासिन्! कृष्ण! गोपीजनप्रिय!

कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव!॥

ऐसा क्रन्दन करते ही भगवान् ने स्वयं वस्त्ररूप में परिणत होकर द्रौपदी की लज्ञा व भक्ति की मर्यादा की रक्षा की। आज भी वृन्दावन के पवित्र-धाम में हमें भक्ति कल्पद्रुम पल्लवित-पुष्पित तथा फलित दिखाई देता है—इसीलिए तो किसी विद्वान् का यह कितना रमणीय यह परिताप है—

नाराधि राधिकानाथो न च दृष्टा सुबोधिनी।

न च वृन्दावने वासो वृथा तज्जन्म भूतले॥ १॥

आनन्दकन्द सच्चिदानन्द वृजचन्द्र की लीला-ललाम इस पवित्र-धाम-वृन्दावन का कुछ अवर्णनीय लोकोत्तर समुत्कर्ष देखा जाता है। जहाँ भक्त का पुनीत प्रणय या हृदयानुराग की मधुर-भावना सदैव भगवच्चरणारविन्दों से अनुरञ्जित रहती है। मोरमुकुट-मुरलीवाले-पीताम्बर-वैजयन्ती-विभूषित-वंशीविभूषित-वेणु-वादन करते हुए दिव्य-गोपगणों के साथ जब अपने कोमल-किशलय-कला कल्पद्रुम-कल्प-पाद-पद्मों के द्वारा इस पावन-धाम वृन्दावन को पवित्र करते हैं तो उस समय अलौकिक आह्लाद से परिपूर्ण भक्त शिरोमणि निश्चित ही इस भागवत-पद्य को गाते होंगे—

वर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं

विभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।

रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैः।

वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशत् गीतकीर्तिः॥

भगवच्चरणारविन्द में जब रागात्मिका भक्ति का उदय होता है, तब भक्त आनन्दातिरेक में मस्त होता हुआ प्रभु-पाद-पद्म के मकरन्द के लिए मधुप बन कर सञ्चरण करता हुआ अनिर्वचनीय-अमन्द-आनन्द-से उल्लसित होता है। वृन्दावन धाम में रासलीला के समय व्रजबालाओं की भी यही दशा थी—

चित्तं सुखे न भवतापहतं गृहेषु।
यन्निर्विशत्यपि करावपि गृह्य कृत्ये।।
पादौ पदं न चलतस्तपाद्मूतलात्।
यामः कथं वृजमथो करवाम किं वा।।

कहीं कहीं तो इसी रागात्मिका भक्ति के परवश हुआ भक्त आनन्दातिरेक से झूमता हुआ, उन्मत्तवत्-कभी रोने लगता है तो कभी हंसता है और कभी गाता भी है—

वाग्गद्गदा भवति स्यन्दति तस्य चित्तम्
वाग् गद्गदा द्रवते तस्य चित्तम्।
सदत्यमीक्ष्णं वसति क्वचिच्च।
निर्जन्न उद्गायति नृत्यते च।
मद्भक्ति युक्तो भुवनं पुनाति।।

गुरु या शास्त्रानुसार वैधी भक्ति का अभ्यास करते-करते भक्त के हृदय में रागात्मिका भक्ति का उदय होता है जिसमें भक्त का हृदय सांसारिक-विषयों से उपरत होकर प्रभु के चरणारविन्दों में लीन रहता है। इसी रागात्मिका भक्ति के परिपाक दशा का सुपरिणाम पराभक्ति है। गीता जिसको 'मामेकं शरणं व्रज' कहती है। वैष्णवाचार्य श्री रामानुज मतानुयायी जिसको शरणागति शब्द से कहते हैं। इन्हीं वैष्णव सम्प्रदाय के अन्यतम आचार्य माध्व जिसे मुक्ति शब्द से कहते हैं। यह मुक्ति-सालोक्य-सामीप्य-सारूप्यँ व सायुज्य भेद से चार प्राकर की होती है। निम्बार्काचार्य इसे भगवद् भावापत्ति या विदेह मुक्ति कहते हैं।

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्तक वैष्णव वरिष्ठ श्री वल्लभाचार्य जी इसे भगवद् अनुग्रहरूपा पुष्टि कहते हैं। गीता की सम्मति में कर्म, ज्ञान, ध्यान तथा भक्ति के सब साधन समुदाय भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र न होकर गन्तव्य स्थान तक पहुंचाने वाला, मिलाजुला एक ही रथ है। आध्यात्मिक पथ के पथिक को जिसका आश्रय लेना परमावश्यक है अठारहवें अध्याय में इन विभिन्न साधनों का मञ्जुल समन्वय दिखलाया है। निष्काम-कर्म करने से तथा नियमपूर्वक ध्यान करने से साधक ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है। इस दशा में यह प्रसन्नचित्त होकर समस्त प्राणियों में समता का भाव रखता है। इसी ब्राह्मी-स्थिति के उदय होने पर साधकपरा-भक्ति को प्राप्त करता है। सर्वतोभावेन ईश्वर की शरण में अपने को समर्पण कर लेता है। इसी समर्पण-बुद्धि का निष्पादन करने वाली-"प्रपत्ति" में अन्य सभी साधनों व मार्गों का नैसर्गिक पर्यवसान हो जाता है। गीता के अनुसार संक्षेप में यही भक्तिशास्त्र का निष्कर्ष है।

भगवत्-स्वरूपापत्ति अर्थात् ईश्वर साक्षात्कार या मोक्ष के लिए भक्ति ही एक उत्कृष्ट साधन है, निर्मल मार्ग है जिसमें मनुष्य आँख मूंदकर भी चल सकता है। इसीलिए पूज्यपाद भगवान् शंकराचार्य ने कहा है– ''मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।'' सभी विद्वान् यद्यपि इस विषय में एक मत हैं, परन्तु भक्ति के वर्गीकरण के विषय में विद्वानों के अनेक मत हैं–

श्रीरूप गोस्वामी जी ने भक्तिरसामृतसिन्धु में भक्ति के सर्वप्रथम तीन भेद किये हैं–

(१) साधन-भक्ति (२) भाव-भक्ति (३) प्रेमा-भक्ति। यह प्रथम-साधन भक्ति भी वैधी व रागात्मिकंा के योग से पुन: दो प्रकार की होती है। कहा भी है–

सा भक्तिः साधनं भावः प्रेमा चेति त्रिधोदिता।
वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाधिभा॥ १॥

वैधी भक्ति का स्वरूप इस प्रकार है–

यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरूपजायते।
शासनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते॥

जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा भी है–

तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च सर्वतश्चेच्छताऽभयम्॥

यह फिर एकांगा व अनेकांगा के भेद से दो प्रकार की कही गई है–

सा भक्तिरेकमुख्याङ्गाश्रितानैकाङ्गिकाथवा।
स्ववासनानुसारेण निष्ठातः सिद्धिकृत् भवेत्॥ १॥

एकांगा भक्ति का उदाहरण–

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद् वैयासकिः कीर्तने।
प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने॥
अक्रूरस्त्वभिवादने कपिपति दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः।
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेषां परम्॥

अनेकांगा भक्ति का उदाहरण–

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः
वचांसि वैकुण्ठ गुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिञ्चकाराच्युत सत्कथोदये॥

रागात्मिका भक्ति का लक्षण—

विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिजनादिषु।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागात्मिकोच्यते॥

यह रागात्मिका भक्ति काम-द्वेष-क्रोध-स्नेहादि सम्बन्ध से अनेक प्रकार की होती है; जैसा कि श्रीमद्भागवत में भी कहा है—

कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहात् सम्बन्धादीश्वरे मनः।
आवेश्य तदहं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥
गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभोः॥

भावभक्ति का लक्षण—

प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते।
सात्विका स्वल्पमात्रः स्युरत्राश्रुपुलकादयः॥

जैसा कि पद्मपुराण में निर्देश किया है—

ध्यायं ध्याय भगवतः पादाम्बुजयुगं तदा।
ईषद् विक्रियमाणात्मां सार्द्रदृष्टिरभूदसौ॥

प्रेमा भक्ति का लक्षण—

सम्यक् मसृणस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

जैसा कि देवर्षि वीणापाणि नारद जी ने अपने नारद पञ्चरात्र ग्रन्थ में लिखा है—

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसङ्गता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्म प्रह्लादोद्धवनारदैः॥

उदाहरण—जैसे श्रीमद्भागवत में—

क्वचिद्रुदन्त्यच्युत चिन्तया क्वचित्।
हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः॥
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं।
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥

प्रेमाभक्ति के उदय का क्रम इस प्रकार है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृतिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥

अथासक्तिस्ततो भावः ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।

साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रयः॥

भक्ति के गुणों के विषय में भगवान् वेदव्यास का कथन इस प्रकार है—

क्लेशघ्नीं शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।

सान्दानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा॥

अन्य विद्वानों के मत में भक्ति का वर्गीकरण इस प्रकार है—भक्ति दो प्रकार की होती है— गौणी—अपरा और परा।

यह गौणी-अपरा भक्ति पुनः वैधी और रागात्मिका के भेद से दो प्रकार की होती है और यह रागात्मिका भक्ति ही जब परम-भाव अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त होती है, तब वह अपने परिपक्व दशा में परारूप में परिणत हो जाती है जैसा कि पहिले निर्देश किया जा चुका है। भक्तिशास्त्र के विधान से अनुमोदित यह वैधी-भक्ति श्रवण-कीर्तनादि भेद से नौ प्रकार की होती है।

नवधा-भक्ति

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(१) श्रवण (२) कीर्तन (३) स्मरण (४) पादसेवन (५) अर्चन (६) वन्दन (७) दास्य (८) सख्य (९) आत्मनिवेदन।

(१) **श्रवण-भक्ति**— भगवद् गुण गाथा के सुनने को श्रवण भक्ति कहते हैं। यह सभी धर्मों से श्रेष्ठ बतलाई है क्योंकि भगवद् गुण श्रवण के द्वारा भक्त का चित्त तन्मय हो जाता है और उसे भगवद् प्राप्ति भी सुलभ हो जाती है। श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध के सतहत्तरवें अध्याय में कहा है—

श्रवणं सर्वधर्मेभ्यो वरम्मन्ये तपोधनाः।

वैकुण्ठस्थो यतः कृष्णः श्रवणाद् यस्य लभ्यते॥

केवल श्रवण भक्ति से भी भगवत् प्राप्ति होती है इस विषय को लेकर पुराणों में बहुत से प्रमाण मिलतें हैं। जैसे कि महाराज परीक्षित केवल श्रीमद्भागवत के श्रवण की महिमा से ही परम पद को प्राप्त हुये—

असारे संसारे विषयविषसङ्गाकुलधियः।

क्षणार्धं क्षेमार्थं पिबत शुकगाथाऽतुलसुधाम्॥

किमर्थं व्यर्थं भो व्रजत कुपथे कुत्सितकथे।

परीक्षित् साक्षी यच्छ्रवणगतयुक्त्युक्तिकथने॥

इसी प्रकार महापापी-धुन्धुकारी व अजामिल आदि केवल भगवद् गुणानुवाद के श्रवणमात्र से ही संसार-सागर से पार हुए।

(२) **कीर्तन-भक्ति**— भगवान् के नाम व चरित्र का कीर्तन, कीर्तन-भक्ति के नाम से कहा जाता है। भगवान के अनन्त नाम व चरितों का कीर्तन करता हुआ भक्त अपने चित्त की सभी वासनाओं का विलय कर देता है। जैसे भगवान् शुक केवल कीर्तन से ही परम-धाम को प्राप्त हुए। कहा भी है—

इत्थं हरे भगवतो रुचिरावतार-
वीर्याणि बालचरितानि च शन्तयानि।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन् मनुष्यो।
भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत॥

(३) **स्मरण-भक्ति**— भगवान् के चरणारविन्दों के स्मरण को स्मरणात्मिका भक्ति कहते हैं। जैसे भक्त-शिरोमणि प्रह्लाद ने भगवान् के स्मरण के प्रभाव से भगवत् साक्षात्कार किया। कहा भी है—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः।
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च॥
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं।
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥

(४) **पादसेवन-भक्ति**— भगवान् के चरण कमलों की सेवा-रूपा भक्ति पाद सेवन-भक्ति कही जाती है। महामाया-स्वरूपा-आदिशक्ति महालक्ष्मी स्वयं भगवान् का पादसेवन करती है। श्रीमद्भागवत में कहा भी है—

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना-
मशेषजन्मोपचितं मलं धियः॥
सद्यः क्षिणोत्यन्वह मेधती सती
यथा पादाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित्॥

(५) **अर्चन-भक्ति**— पाषाणादि प्रतीकों में प्रतिष्ठित भगवान् की प्रतिमा का पूजन ही अर्चन भक्ति है। भगवदर्चन से भक्त के हृदय में एक अपूर्व-आनन्द आता है, जिससे शनैः शनैः भगवद्भाव-प्रीति का उदय होता है। महाराज पृथु पूजन के प्रतीक हैं। कहा भी है—

श्रीविष्णोरर्चन ये तु प्रकुर्बन्ति नरा भुवि।

ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम्॥५॥

(६) **वन्दन-भक्ति—** भगवच्चरणारविन्दों की वन्दना। नमस्कारादि ही वन्दनभक्ति है। वन्दना द्वारा भक्तों के अहंकार का परिहार होता है। तदनन्तर परम्परया भगवद् भावोदय होता है। अक्रूर जी इसके उत्तम उदाहरण हैं—

श्रीमद्भागवत में भी कहा है—

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरञ्चिनुतं शरण्यम्।
भूत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥

(७) **दास्य-भक्ति—** अपने को भगवान् का दास-सेवक समझ कर जहां भक्ति की जाती है, वह दास्य-भक्ति है। वानरराज हनुमान जी अपने को दास समझकर भगवान् की सेवा किया करते थे। कहा भी है—

न वासुदेवात्परमास्ति मङ्गलं
न वासुदेवात्परमास्ति पावनम्
न वासुदेवात्परमास्ति दैवतं
तं वासुदेवं प्रणमत्र सीदति॥

(८) **सख्य भक्ति—** सखी रूप या सखा रूप-मित्र रूप में भगवान् की आराधना करना सख्य भक्ति है। सखा रूप में अर्जुन की भक्ति तो प्रसिद्ध ही है।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण, हे यादव, हे सखेति,
अजानता महियानं तवैवं मया प्रमादात् प्रणयेन वाऽपि॥
अहोभाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपवृजौकसाम्।
यन् मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

(९) **आत्मनिवेदन् भक्ति—** कर्म से, वचन से, मन से सर्वात्मता जब भक्त अपने को भगवच्चरणारविन्द में समर्पित कर देता है तो वह भगवद्भाव से परिपूर्ण हो जाता है यही आत्मनिवेदन भक्ति है। आत्मनिवेदन द्वारा भक्त के हृदय में भगवद् विषयक एक अपूर्व-दिव्य राग का विकास होता है। राजा बलि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। श्रीमद्भागवत में बड़ी अच्छी तरह इसे दर्शाया है—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेः मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युत सत्कथोदये॥

मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्र स्पर्शेऽङ्गसङ्गम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्यां रसना तदर्पिते।।
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृशीकेश पदाभिवन्दने।
मामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तम श्लोक जनाश्रयारतिः।।

पुराण साहित्य में यत्र तत्र सर्वत्र समुपवर्णित नवधा भक्ति में से यदि मनुष्य एक प्रकार की भी भक्ति का आश्रय ले तो इस संसार-सागर को पार करने में समर्थ हो सकता है।

मानव जीवन पाकर भगवद्भक्ति अवश्य करनी चाहिए। श्रीमद्भागवत माहात्म्य में भी इसी का निर्देश किया है—

निखिलभुवनमध्ये निर्धनास्तेऽपि धन्याः
निवसति हृदि येषां श्रीहरेर्भक्तिरेका।
हरिरपि निजलोकं सर्वथातो विहाय
प्रविशति हृदि तेषां भक्तिसूत्रोपनद्धः।।

भुवन कोष विवरण

प्रत्येक ब्रह्माण्ड में चौदह भुवन होते हैं। वे हैं—भूः भुवः स्वः महः जनः तपः, सत्य-लोक, ये लोक ऊपर हैं, नीचे की तरफ अतल-वितल-सुतल-तलातल-रसातल-महातल-पाताल लोक। उर्ध्व-लोक देवताओं के लोक हैं—अधोलोक असुरों के लोक हैं। देवराज-इन्द्र की राजधानी स्वर्गलोक में है और असुरराज की राजधानी पाताल लोक में है। इस प्रकार चतुर्दश लोकों के अनेक अन्तर्विभाग भी हैं। जैसे भुवलोक के अन्तर्विभाग गन्धर्व लोकादि हैं। उसी प्रकार भू लोक के अन्तर्विभाग मृत्यु-पितृ-प्रेत-नरक नामक चार लोक हैं। यह मृत्यु-लोक चतुर्दश लोकों के मध्य में स्थित केन्द्र है। इसी लोक में जीव मातृ-गर्भ से जन्म प्राप्त करते हैं। इसी लोक को कर्म-भूमि भी कहते हैं—इसी भूमि में मनुष्य स्वतन्त्रतया अनेक प्रकार के शुभाशुभ कर्मों के अनुष्ठान की सुविधा रखता है।

देवता और असुर अपने-अपने लोकों से आगे बढ़ने में समर्थ नहीं होते अतः वे भी सत्कर्मानुष्ठान के लिए पुनः मृत्युलोक में आने की इच्छा करते हैं। इसी लिए ब्रह्माण्ड में मृत्युलोक की प्रधानता है—

कहा भी है—

गायन्ति देवा किल गीतकानि धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्यपहेतुभूते भवन्ति भूयः पूरुषाः सुरत्वात्।।

भारतवर्ष

भारतवर्ष मृत्युलोक का उत्तम अङ्ग है। उत्तम अङ्ग होने के कारण भारत की भाषा, शरीर सौन्दर्य, आचार-विचारों तथा आहार-व्यवहारादि की उत्तमता व पूर्णता को प्रदान करने वाली यहाँ की प्रकृति की कुछ विशेषता है। जिस प्रकार भारत की प्रकृति की विचित्रता से विश्व मुग्ध है, उसी प्रकार यहाँ की विशाल-संस्कृति से संसार प्रभावित है। उत्तर दिशा में देवतात्मा-हिमाच्छादित-भारतमाता के मुकुट के समान-हिमालय अपनी अनन्य सुषमा के लिए प्रसिद्ध है, जिसके विषय में महाकवि कालिदास के ये सुन्दर शब्द हैं—**अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नागाधिराजः**। दक्षिण में भारत माता-का पाद-प्रक्षालन करता हुआ नीलाभ-अनन्त तरङ्गों से सुशोभित-सागर अपनी अलौकिक आभा से भारतवासियों के मन को आनन्दित कर रहा है। गंगा-यमुना-सरयू-कावेरी आदि सरितायें अपने निर्मल जल से कहीं सस्य श्यामला भूमि को, तो कहीं-अग-नगादि के मेखला को अंगीकृत एवं पवित्र करती हुई इसी भारत भूमि की शोभा बढ़ा रही है।

यही भूमि राम-कृष्ण जैसे पवित्र अवतारों की लीलानिकेतन-स्थली है। समय-समय में जिन्होंने नाना रूप धारण कर दुष्टों का दमन तथा शिष्टों की सहायता की है।

सीता सावित्री-दमयन्ती जैसी धर्मपरायणा आदर्श नारियों की जन्मस्थली यही भारत-भूमि है। ध्रुव व प्रह्लाद जैसे बालक, नल-हरिश्चन्द्र युधिष्ठिर जैसे राजा और शिवि-दधीचि-बलि-कर्ण प्रभृति वदान्य दाता, वशिष्ठ-विश्वामित्र जैसे तपस्वी, वाल्मीकि-व्यास जैसे महर्षि, याज्ञवल्क्य-पतञ्जलि जैसे योगी, कपिल जैमिनि-गौतम-कणाद-शंकराचार्य जैसे दार्शनिक, कालिदास-भूवभूति जैसे महाकवि अपने जन्म से इसी पवित्र भूमि को अलंकृत किये हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक भी भारतीय प्रकृति की परिपूर्णता को सर्वतोभावेन स्वीकार करते हैं। समय-स्थान व भोग्य पदार्थों की दृष्टि से भी भारत-विश्व-में सर्वोत्तम है। एक वर्ष में छः ऋतुयें— वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरद-हेमन्त-शिशर, इसी भव्य-भूमि में अपनी अलौकिक छटा से परिव्याप्त होकर यहाँ के निवासियों के तत्तत् ऋतुओं के उपभोग्य-पदार्थों को प्रदान करती हैं। मानव-मात्र के कल्याण-साधक धर्मशास्त्रानुमोदित कर्मानुष्ठान भी इसी कर्म-भूमि में सम्पन्न किया जा सकता है; इसीलिए तो देवता लोग भी इस भूमि में जन्म लेने के लिए लालायित रहते थे, न मालूम जन्मान्तरार्जित कितने पुण्यों के परिपाक से जीव इस कर्मभूमि में जन्म लेता है—

इसलिए तो पुराणों में कहा है—

अत्र जन्म सहस्त्राणां सहस्त्रैरपि सत्तम!

कदाचिल्लभते जन्तुः मानुष्यं पुण्यसञ्चयात्॥
अत्रापि भारतं श्रेष्ठ जम्बूद्वीपे महामुने!
यतो हि कर्म भूरेषा ततोऽन्या भोगभूमयः॥

पुनः परिष्कार-पूर्वक-पुराणों के अनुशीलन की आवश्यकता

पुराण-साहित्य जितना चिरन्तन प्रतीत होता है, उतना ही नूतन भी है, सम्भवतः इसी अर्थ को ध्यान देकर निरुक्तकार-यास्क ने अन्य सब व्युत्पत्तियों को प्राथमिकता न देकर पुराण के लिए केवल 'पुरा-नवम्' इन दो शब्दों को ही पर्याप्त समझा।

यह पुरागाथा या पुरातन होते हुए भी अभिनव-व्याख्या के कारण नवीन है। अथवा प्राक्तन-सिद्धान्तों की पनः परिष्कारपूर्ण कोई अभिनव व्याख्या हो या उन सिद्धान्तों का परिष्कारपूर्ण पुनः सम्पादन हो, इस प्रकार पुराण-साहित्य वर्तमान युग में भी उतना ही उपयुक्त, सबल तथा शिक्षाप्रद है जितना कि अपने उस प्राचीन युग में रहा होगा।

भारतीय विद्वानों की तरह ही पाश्चात्य-विद्वानों ने भी अन्य वेद व्याकरण-काव्यादि की तरह इस पुराण साहित्य का भी बहुत अनुशीलन किया जिनमें विलसन, स्मिथ और पार्जिटर प्रभृति प्रमुख विद्वान हैं जिन्होंने इस पुराण-वाङ्मय का गम्भीर आलोडन कर पुराण जिज्ञासुओं के सामने कुछ तथ्यों का प्रकाश किया। इस प्रवृत्ति के लिए वे निश्चित ही सराहनीय हैं, परन्तु भारतीय परम्परा का सम्यक् ज्ञान न होने से या अनवधानतावश कहीं-कहीं इन्होंने कुछ भ्रमात्मक निष्कर्षों को भी निकाला है, जैसे पुराणों का काल-कलन और पुराणों का पूर्वापर क्रम, जो केवल भाषा को या परिमाण को देखकर कह दिया गया है। पुराणों के वक्ता या लेखक अथवा लेखकों का निर्देश बिना किसी छानबीन किए देना, अधिकतर प्रक्षिप्तांश के द्वारा पुराणों की पूर्ति का रहस्य बतला देना, इत्यादि बातें पुराणों के विषय में भारतीय व पाश्चात्य विद्वानों के लिए आज भी एक समस्या किंवा संदेह का विषय बनी हुई है जिन पर गम्भीर अनुशीलन आवश्यक है। पुराणों के विषय में आपातरमणीय-अध्ययन आज के युग में श्लाघनीय नहीं माना जायेगा, 'अन्येनैव नीयमाना यथान्धा' के इस कुपरिणाम से आज पुराण-का-गम्भीर-अनुशीलन तो दूर रहा सामान्यतः पठन-पाठन में भी उलझनें आ रही हैं, उदाहरणस्वरूप जैसे-विस्तारपूर्वक पहिले—जिन बातों का हम खण्डन कर चुके हैं, वे हैं श्रीमद्भागवत के विषय में। सामान्य-पण्डितों की तो बात ही नहीं, पुराण के अधिकारी-विद्वानों ने भी इसको अपनी गजनिमीलिका चाल से महापुराणों के बीच में रख डाला। इसी प्रकार कई विषय ऐसे हैं, जिनको लोगों ने स्पर्श तक नहीं किया है। अतः केवल पाश्चात्य विद्वानों को इस विषय में

दोष देना उचित नहीं है जब कि भारतीय विद्वान् भी इसी संकुचित मार्ग से गुजर रहे हैं और पुराण के विषय में अन्धाधुन्ध कल्पना करते जा रहे हैं।

आधुनिक युग में पुराणों का धार्मिक-महत्त्व के साथ-साथ उनका भौतिक महत्त्व भी कम सराहनीय नहीं है। पुरातत्त्व-विज्ञान या भौतिक-विज्ञान अथवा इतिहास और भूगोल विद्या के लिए आधुनिक-पदार्थ-विद्या के साथ-साथ पुराण का अध्ययन उनका पूरक अध्ययन कहा जायेगा। इतना ही नहीं पुराणों में अनेक बातें ऐसी हैं जिन पर विज्ञान ने अभी तक कुछ नहीं कहा है। अतीत और भविष्य के सम्बन्ध में जो बातें पुराणों में दी गई हैं, युग-संक्रान्ति या परिवर्तन के हिसाब से आज वे सब हमारे सामने आ रही हैं। इस प्रकार अनेक रहस्य व तथ्यों के उद्घाटन में पुराण हमारे मित्रवत् सहायक हैं। यह दूसरी बात है कि पुराणों की अपनी कथन-शैली अतिरञ्जित या आलंकारिक हो, वे किसी तथ्य को समझाने के लिए अथवा किसी हितोपदेश के निर्देश में रमणीय कथोपकथन का अवलम्बन लेकर सुगमतापूर्वक श्रोताओं तक उसको पहुँचा देते हैं। इस प्रकार पुराण समस्त विद्याओं के आश्रय हैं। आर्य संस्कृति के मूलाधार हैं।

पुराणों में जो विराट्-संस्कृति पुरातन ज्ञान, विज्ञान और इतिहास है, उसकी क्रमवद्ध गम्भीर गवेषणा आवश्यक है।

श्रुतिस्मृतीतिहासानां सारभूतः सनातनः।
पुराणतत्त्वसन्दर्भो भूयात् भव्याय सर्वदा॥ १॥

विष्णु पुराण

पुराण-साहित्य में विष्णु पुराण का अपना विशिष्ट स्थान है। यह पुराण अष्टादश महापुराणों की महामाला का अन्यतम विशिष्ट पुष्प है। वैष्णव पञ्चरात्र के सिद्धान्तों पर आधारित होने पर भी यह पुराण अन्य पुराणों की तरह श्रुति-स्मृत्यादि स्मार्त सिद्धान्तों का भी प्रतिपादक है।

पञ्चरात्र सिद्धान्त वैष्णवागमों का प्रतिनिधि-सिद्धान्त माना जाता है। यह तन्त्र उपनिषत् काल में भी प्राप्य था। छान्दोग्य उपनिषद् में ''एकायन'' विद्या का नामोल्लेख है, यहाँ भी एक़ायन विद्या का सम्बन्ध नारद से ही हैं जिन्होंने समस्त वेदों के साथ-साथ एकायन विद्या का भी अध्ययन किया था।

महाभारत के नारायणोपाख्यान में पहिले पहल इस तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

महर्षि नारद को जब पञ्चरात्र के सिद्धान्त के तत्त्वों की जिज्ञासा हुई तो वे भारतवर्ष के उत्तर में श्वेत द्वीप में गये और नारायण ऋषि से इसके सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त किया। वहाँ से लौटकर इस देश में सर्वप्रथम पञ्चरात्र सिद्धान्तों का प्रचार किया।

पञ्चरात्र सिद्धान्त के अनुसार भक्तों के लिए भगवान् ही उपेय (प्राप्य) हैं तथा वे ही उपाय-साधन भी हैं। बिना भगवान् के अनुग्रह हुए जीव भगवान् को प्राप्त नहीं कर सकता है। भगवान् की शरणागति ही केवल उपाय है। एकमात्र शरणगति तत्त्व पर आग्रह दिखलाने के कारण इस तन्त्र का एकायन यह नाम भी अन्वर्थ ही है।

पञ्चरात्र का ही दूसरा नाम भागवत धर्म और सात्त्वत धर्म भी है। महाभारत में सात्त्वतविधि का उल्लेख किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में भी सात्त्वत शब्द आता है। अत: इसमें सन्देह नहीं है कि पञ्चरात्र सिद्धांत श्रुतिमूलक है। शतपथ ब्राह्मण में पञ्चरात्र-सत्र का वर्णन मिलता है जिसे नारायण ने समस्त प्राणियों के ऊपर आधिपत्य प्राप्त करने के लिए पाँच दिनों तक किया था।

पञ्चरात्र के तत्त्वों की वैष्णव आचार्यों ने बड़ी सूक्ष्म मीमांसा की है, पञ्चरात्रागम के ''चतुर्व्यूह'' सिद्धान्त के अनुसार वासुदेव से संकर्षण (जीव) की उत्पत्ति होती है और संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) की और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार) की।

आचार्य शङ्कर ने अपने शारीरक भाष्य में इस सिद्धान्त को अवैदिक घोषित किया है, परन्तु रामानुजाचार्य ने महाभारत तथा अनेक पुराणों के प्रामाणिक वाक्यों को उद्धृत कर पञ्चरात्र को भी वेदों के ही समान प्रमाणभूत माना है।

पुराणों के प्रणयन क्रम का विचार करते हुए विद्वानों ने विष्णु पुराण को तीसरे नम्बर में रखा है, सर्वप्रथम ब्रह्मपुराण तदनन्तर पद्मपुराण इसके बाद तीसरे क्रम में विष्णु पुराण की गणना की है, देवीभागवत को छोड़कर दूसरे सभी पुराण इसको रचना क्रम की दृष्टि से तीसरा स्थान देते हैं परन्तु देवीभागवत ने इसको रचना क्रम के अनुसार दशवाँ स्थान दिया है।

अन्य पुराणों के अनुसार देवी भागवत भी विष्णु पुराण की श्लोक संख्या तेईस हजार ही मानता है। अन्य सभी सम्पादकों व लेखकों ने भी इसी का अन्धानुकरण किया है। उन्होंने इनकी श्लोक संख्या व अध्याय संख्या को गिनने का कष्ट नहीं किया।

सम्प्रति नाग पब्लीशर्स दिल्ली से दो संस्कृत टीकाओं सहित प्रकाशित विष्णु पुराण की जब हमने श्लोक संख्या व अध्याय संख्या की गणना की तो उसमें केवल छ: हजार चार सौ बयासी ही श्लोक मिले और यह पुराण एक सौ छब्बीस अध्यायों में विभक्त है।

सम्प्रति इसकी दो टीकायें 'विष्णुचिति' और 'आत्मप्रकाश' उपलब्ध हैं। कुछ विद्वानों ने अन्य एक ''रत्नगर्भा'' नामक टीका का भी निर्देश किया है, पर सम्प्रति वह उपलब्ध नहीं है।

विष्णु पुराण अन्य पुराणों की अपेक्षा आकार में जितना छोटा है, प्रतिपाद्य विषय की विविधता की दृष्टि से उतना ही महत्त्वपूर्ण भी है। प्रायः पुराणों के सभी उपयुक्त विषयों का इसमें बड़े संयमपूर्वक परिमार्जित व प्राञ्जल भाषा में वर्णन किया गया है। सृष्टि-स्थिति-प्रलय से लेकर जो कि पुराणों का सामान्य विषय है। वंश मन्वन्तर वंशानुचरितों का जो मुख्य पुराण के विषय हैं, उन सबका संक्षेप में सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। साथ ही साथ भारतीय-संस्कृति के उन सभी प्रधान अङ्ग तथा उपाङ्गों का भी स्पष्ट वर्णन है, जिनकी एक पुराण के विद्यार्थी के लिए नितान्त आवश्यकता होती है। ज्ञान व उपासना से लेकर वर्णाश्रम धर्म और कर्मकाण्ड के विविध क्रिया-कलापों का सुन्दर विवेचन इस पुराण में उपलब्ध है।

दार्शनिक दृष्टि से विचार किया जाय तो श्रीमद्भागवत के पश्चात् इसी का स्थान है। जिस प्रकार श्रीमद्भागवत वल्लभ सम्प्रदाय तथा चैतन्य सम्प्रदाय का उपजीव्य ग्रन्थ रहा है, उसी प्रकार यह पुराण भी वैष्णवों में रामानुज सम्प्रदाय व माध्व सम्प्रदाय का प्रधान रूपेण अवलम्बन रहा है। विशेषकर रामानुजाचार्य इस पुराण से अत्यन्त प्रभावित हैं। इन्होंने अपने श्रीभाष्य में अनेकत्र प्रमाणरूप से विष्णु पुराण के श्लोकों को समुद्धृत किया है।

इस पुराण का तत्त्व विवेचन व सृष्टिक्रम लगभग सांख्य-दर्शन से मिलता जुलता है। तीनों गुणों के क्षोभ से प्रधान में विकृति आती है, जिसका परिणाम यह सारा प्रपञ्च है। इस सिद्धान्त को आधार मानकर उक्त पुराण के भी सृष्टिक्रम का वर्णन है। अतएव यह द्वैतमतावलम्बी वैष्णव दर्शनों का उपजीव्य रहा है।

वस्तुतः सांख्य-दर्शन के परिनिष्ठित-तत्त्ववाद की कड़ी पर ही परवर्ती-द्वैतवादियों के दर्शनों का उदय हुआ है, इसका निर्देश हमने अपनी सांख्यकारिका की भूमिका में भी कर दिया है।

विष्णु-पुराण के अनुसार विष्णु एक साधारण देवता न होकर पूर्ण अवतार हैं। यही सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। इन्हीं से सृष्टि-स्थिति-लय कार्य भी होता है।

प्रथम अंश में सृष्टि का वर्णन तदनन्तर कल्पादि समय का वर्णन करते हुए छठे और सातवें अध्याय में सृष्टि प्रवर्तन के लिए स्वयम्भू स्वयं अपने को दो भागों में विभक्त कर लेते हैं। इसमें से एक भाग का नाम मनु और दूसरे भाग का नाम शतरूपा है। इनका

आपस में विवाह होता है। तदनन्तर प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्रों की उत्पत्ति होती है और दो कन्याओं की भी उत्पत्ति होती है, जिनका नाम प्रसूति और आकूति है।

प्रसूति का विवाह दक्ष प्रजापति से और आकूति का विवाह ऋषि प्रजापति से होता है।

द्वितीय अंश में प्रथम मन्वन्तर के राजा का नाम भरत था, जिसके नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। इसमें पौराणिक दृष्टि से सभी तत्त्वों का वर्णन है।

तीसरे अंश में भगवान् वेदव्यास के सम्बन्ध में कुछ वर्णन है। ये वेदों के व्यवस्थापक माने गये हैं।

चौथे अंश में राजवंशों का वर्णन है, विशेषकर सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश से समुत्पन्न राजाओं का वर्णन किया गया है।

पाँचवें अंश में भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी की बाल-लीलाओं से लेकर कंसादि-दुष्टों के वध का सुन्दर वर्णन किया गया है।

यहाँ भगवान् कृष्ण को विष्णु के ही अंशावतार के रूप में दिखलाया है।

छठे अंश में संसार की विषम परिस्थिति को दिखलाते हुए कलियुग के धर्म के वर्णन के साथ-साथ चारों प्रकार के प्रलयों का वर्णन, शिष्य परम्परा व विष्णु पुराण के माहात्म्य का वर्णन करते हुए उक्त पुराण का उपसंहार करते हैं।

बड़े हर्ष की बात है कि यह पुराण सम्प्रति परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली से 'आत्मप्रकाश' नामक श्रीधर स्वामी विरचित 'श्रीधरी' नाम से प्रसिद्ध टीका के साथ प्रकाशित होने जा रहा है। पुराण के प्रमुख तत्त्वों के प्रधान रूप से प्रतिपादन करने वाले इन पुराण के प्रकाशन से अवश्यमेव पुराणज्ञ पण्डित वर्ग व पुराण प्रिय जनता भी अवश्य प्रसन्न होगी ऐसा हमारा विश्वास है और साथ ही साथ भारतीय संस्कृति का भी एक प्रकार से प्रसार होगा।

अन्त में विद्वज्जनों से प्रार्थना है कि—

गच्छतस्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः॥

विनयावनत

थानेशचन्द्र उप्रेती

पुराणेतिहासाचार्यः

विष्णुपुराणम्

प्रथमोंऽशः

॥प्रथमोऽध्यायः॥

(मङ्गलाचरणम्, पराशरं प्रति मैत्रेयस्य प्रश्नः, पराशरस्योत्तरदानञ्च)

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुष पूर्वज॥ १॥

श्रीबिन्दुमाधवं वन्दे परमानन्दविग्रहम्।
वाचं विश्वेश्वरं गङ्गां पराशरमुखान् मुनीन्॥ १॥
श्रीमच्चित्सुखयोगिमुख्यरचितव्याख्यां निरीक्ष्य स्फुटं
तन्मार्गेण सुबोधसंग्रहवतीमात्मप्रकाशाभिधाम्।
श्रीमद्विष्णुपुराणसारविवृतिं कर्ता यतिः श्रीधर-
स्वामी सद्गुरुपादपद्ममधुपः साधु स्वधीशुद्धये॥ २॥
श्रीमद्विष्णुपुराणस्य व्याख्यां स्तल्पाधिविस्तराम्।
प्राचामालोक्य तद्व्याख्या मध्यमेयं विधीयते॥ ३॥
अस्मिन् विवक्षितं यत्तु वस्तु तन्नमनात्मकम्।
मुनिर्मन्त्रोपनिषदा कृतं बध्नाति मङ्गलम्॥ ४॥

जितं त इति।— तंत्राशे प्रथमेऽध्याये मैत्रेयेण पराशरे।
प्रवृत्त्यर्थं पुराणस्य प्रश्ना द्वाविंशतिः कृताः॥

इह खलु पुराणनामीश्वरनिश्वसितस्वरूपत्वेन वेदमूलत्वेन इदानीन्तनानां व्यासवशिष्ठपराशरादीनां स्मृतिरूपत्वेन च प्रमाणत्वं प्रयोजनवत्त्वञ्च दुरपह्नतमेव।

तद्व्याख्यानानाञ्च तत्तदर्थाभासनिरासतत्तदर्थप्रकाशकत्वपरत्वेन प्रयोजनवत्त्वम् पुराणत्वाविशेषेऽपि उपाख्यानलघुत्वेन जगज्जीवात्मपरमात्मनामैकात्म्य-प्रतिपादनाभ्यासवशादत्रैव पुराणे मुमुक्षूणां प्रवृत्तिरुचिततमेत्येतदेव व्याख्यायते। तत्र च सर्ग-प्रतिसर्गवंश मन्वन्तरवंशानुचरितानां तदपवादेन मुक्तेश्च प्रतिपादनम्। सदाचार-भूगोल-भरतोपाख्यानादिनिरूपणस्य साक्षात् परम्पराया वा मुक्तावेवोपयोगो द्रष्टव्यः। पुण्डरीकाक्षेति। हृदयाख्यं पुण्डरीकम् अश्नुते व्याप्नोतीति तथा। यद्वा पुण्डरीके इव

सदक्षरं ब्रह्म य ईश्वरः पुमान्
गुणोर्म्मिसृष्टि-स्थिति-काल-संलयः।
प्रधान-बुद्ध्यादि-जगत्-प्रपञ्च सूः
स नोऽस्तु विष्णुर्मति-भूति-मुक्तिदः॥ २॥

अक्षिणी यस्येति। अत्र श्वेतत्वमविवक्षितम्, लोहितत्वेनैव नयनोत्कर्षात्। शिवाराधनार्थं पुण्डरीकीकृतमक्षि येनेति वा, ''पुण्डरीकं परं धाम अक्षमव्ययमुच्यते'' इत्यादि श्लोकोक्तव्युत्पत्त्या पुण्डरीकीक्षेति सम्बोधनमिति वा। ते इति सम्बन्धे षष्ठी। तव जितं जयोऽस्त्वित्यर्थः। यद्वा, ते त्वया जितं सर्वोत्कर्षेण स्थितमिति। एतेन नमस्कार आक्षिप्तः। विश्वभावन विश्वोत्पादक। हृषीकाणामिन्द्रियाणामीश तत्प्रवृत्तिहेतुत्वात् ''प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदु'' रिति श्रुतेः। महापुरुषेति जीवव्यवच्छेदाय महत्त्वञ्च ''द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'' इत्यादि श्रुतेः, नित्यमुक्तस्वभावत्वाच्च। पुरि शरीरे शयनात्तु पुरुषत्वम्। विश्वोत्पादकत्वे हेतुः पूर्वजेति, सृष्टेः पूर्वमेव स्वतः प्रादुर्भूतत्वेनानन्यथासिद्धत्वेन वान्येषां तदधीनत्वात्।

नन्वेकस्मादेव नमस्कारान्मङ्गलसिद्धौ कृतं बहुभिर्नमस्कारैरिति चेन्न, अस्य शास्त्रस्यातिश्रेयः साधनत्वेन बहुविघ्नसम्भावनया मङ्गलबाहुलस्यावश्यकत्वात्। अथवा पुण्डरीकाक्षेत्यादि-पञ्चविशेषणैः ''भूतात्मा चेन्द्रियात्मा च प्रधानात्मा तथा भवान्। आत्मा च परमात्मा च त्वमेकः पञ्चधा स्थितः''॥ इति पञ्चमांशोक्तः। पञ्चात्मा हरिरीरितः इति। तत्र पुण्डरीकाक्षेति भूतात्मा, विश्वभावनेति प्रधानात्मा, हृषीकेशेति इन्द्रियात्मा, महापुरुषेति परमात्मा, पूर्वजेत्यात्माभिहितः॥ १॥

श्रोतृप्रवृत्त्यङ्गं सम्बन्ध प्रयोजनञ्च प्रतिपादयितुमाह-**सदक्षर**मिति। सोऽतिप्रसिद्धो विष्णुर्व्यापिनशीलो देशकालस्वरूपतो व्यवच्छेदाभावात्।

विशतेर्वा विष्णुः प्रवेशनशीलः, ''तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशद्'' इति श्रुतेः। मतिभूति-मुक्तिदोऽस्तु-मतिभूत्या तत्त्वज्ञानोद्रेकेण मुक्तिदः। यद्वा अधिकारिभेदात् मतिम् उत्तमां बुद्धिं भूतिम् ऐश्वर्यं मुक्तिञ्च ददातीति तथा। विष्णुपदस्य प्रवेशनशीलार्थत्वे मूर्त्तत्वं प्राप्तं निराकरोति ब्रह्मेति पूर्णमित्यर्थः। तदपि कुत इत्यत आह-सत्, सर्वानुस्यूतम्। इदं सदिदं सदिति सर्वत्र प्रतीयमानत्वाद् अनष्टमिति यावत्। अक्षरमिति विकारं निराकरोति। पुमान्ः, कूटस्थः कुतस्तर्हि मर्त्त्यादिप्रदत्तमत आह ईश्वरः कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुं समर्थः। कदपि कुत इत्यत आह-गुणेति, गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि तेषामूर्मयः क्षोभजनिताः सृष्टिस्थितिकालाः, कालः, संहारः, तेषां संलयः संश्लेषोऽध्यासो यस्मिन् स तथा,

प्रणम्य विष्णुं विश्वेशं ब्रह्मादीन् प्रणिपत्य च।
गुरुं प्रणम्य वक्ष्यामि पुराणं वेदसम्मितम्॥ ३॥
इतिहासपुराणज्ञं वेदवेदाङ्गपारगम्।
धर्मशास्त्रादितत्त्वज्ञं वसिष्ठतनयात्मजम्॥ ४॥

सर्वाधिष्ठानत्वेनेश्वरत्वमव्याहतमित्यर्थः। ननु प्रधानादेव सृष्ट्यादि इति चेदत आह-प्रधानबुद्ध्यादीनां जगत्प्रपञ्चानां सूः सविता। प्रधानस्यानादितया कथं तज्जनकत्वमिति चेन्न, प्रलये तस्याकिञ्चिप्करत्वेन शक्त्यर्पणद्वारा जननोपचारात्। यद्वा प्रधानद्वारा बुद्ध्यादिसूरित्यर्थः। यद्वा यो विष्णुर्वेदान्तिनां सदक्षरं ब्रह्म पातञ्जलानां क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट ईश्वरः। सांख्यानां पुमान् पुरुषः। तदुक्तं कापिलैः "न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष" इति। स मतिभूतिमुक्तिदोऽस्त्वित्यन्वयः। शेषं समानम्॥ २॥

अथ पराशरो मुनिः गुर्वादिभक्तिं पुरुषार्थसाधनं दर्शयन् मैत्रेयं निमित्तीकृत्य विष्णुतत्त्वप्रतिपादकं विष्णुपुराणमारभते-प्रणम्येति प्रशब्देन भक्तिश्रद्धातिशयो द्योत्यते। विश्वेषां ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्तानाम् ईशं प्रवृत्तिनिवृत्तिकारणम्। प्रकृतशास्त्रे सम्प्रदायप्रवर्त्तकान् प्रणमति-ब्रह्मादीनिति। ब्रह्म-ऋभु-दक्ष-पुरु-कुत्स-सारस्वतप्रतीन्, गुरुं कपिलं सारस्वतं वा। पुराणं सर्ग-प्रतिसर्ग-वंश-मन्वन्तर-वंशानुचरितमिति पञ्चाङ्गम्। तत्र यथायथं प्रथमेऽंशे सर्ग-प्रतिसर्गौ। द्वितीये प्रसङ्गागतं भूगोल-ज्योतिश्चक्रम्। तृतीये मन्वन्तरम्। चतुर्थे वंशः। पञ्चमे वंशानुचरितम्। षष्ठे वैराग्योपयोगि-प्रलयादिकमभिधाय आत्यन्तिकप्रलयरूपमोक्षः कथ्यते। स्तौति-वेदेन सम्मितं तुल्यमिति॥ ३॥

इतिहासेत्यत्र शिष्यप्रश्न एव पुराणप्रवृत्तिहेतुरिति भावः। इतिहेत्यव्ययम् पारम्पर्योपदेशाभिधायि, तस्यासनम् आसः अवस्थानमेतेष्विति। इतिहासाः पुरावृत्तानि "धर्म्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्"। पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते" इति स्मृतेः वेदवेदाङ्गपारगम्-वेदस्य तदङ्गानां शिक्षा-कल्प-व्याकरण- निरुक्त-च्छन्दो-ज्योतिषाञ्च पारगम्। धर्मशास्त्रम् स्मृतिः, आदिशब्दो न्यायमीमांसादिसङ्ग्रहार्थः। धर्मशास्त्रार्थेति वा पाठः। वशिष्ठतनयः शक्तिः तस्यात्मजं पुत्रम्॥ ४॥

पराशरमिति स्वस्मिन्नेव परोक्षनिर्देशो लोकोक्तया देहादावनहङ्कारद्योतनार्थः। प्रणिपत्य दण्डवत् प्रणम्य पादग्रहणादिविधिना च॥ ५॥

बुभूत्सितमर्थं प्रष्टुं तत्कृतमनुग्रहमनुवदति-त्वत्त इति द्वाभ्याम्। त्वत्तो वेदाध्ययनमधीतं कृतमित्यर्थः। ओदनपाकं पचतीतिवत्। अन्ये विद्वांसो मां सर्वशास्त्रेषु अकृतश्रमं न वक्ष्यन्ति, अपि तु विद्विषोऽपि कृताभ्यासमेव वक्ष्यन्तीत्यर्थ॥ ६-७॥

पराशरं मुनिवरं कृतपूर्वाह्निकक्रियम्।
मैत्रेयः परिपप्रच्छ प्रणिपत्याभिवाद्य च॥५॥

मैत्रेय उवाच

त्वत्तो हि वेदाध्ययनमधीतमखिलं गुरो।
धर्मशास्त्राणि सर्वाणि वेदाङ्गानि यथाक्रमम्॥६॥
त्वत्प्रसादान्मुनिश्रेष्ठ मामन्ये नाकृतश्रमम्।
वक्ष्यन्ते सर्वशास्त्रेषु प्रायशो येऽपि विद्विषः॥७॥
सोऽहमिच्छामि धर्मज्ञः श्रोतुं त्वत्तो यथा जगत्।
बभूव भूयश्च यथा महाभाग भविष्यति॥८॥
यन्मयञ्च जगद् ब्रह्मन् यतश्चैतच्चराचरम्।
लीनमासीद् यथा यत्र लयमेष्यति यत्र च॥९॥
यत्प्रमाणानि भूतानि देवादीनाञ्च सम्भवम्।
समुद्र-पर्वतानां च संस्थानञ्च तथा भुवः॥१०॥
सूर्यादीनाञ्च संस्थानं प्रमाणं मुनिसत्तम।
देवादीनां तथा वंशान् मनून् मन्वन्तराणि च॥११॥
कल्पान् कल्पविकल्पांश्च चतुर्युगविकल्पितान्।
कल्पान्तस्य स्वरूपञ्च युगधर्मांश्च कृत्स्नशः॥१२॥
देवर्षिपार्थिवानाञ्च चरितं यन्महामुने।

पूर्वं यथा जगद् बभूव, पुनश्च यथा भविष्यतीति जगतो जन्मप्रकारप्रश्नः॥८॥ यन्मयमित्युपादानप्रश्नः। यतश्चेति निमित्तप्रश्नः। लीनमासीद् यत्रेति लयाधारप्रश्नः॥९॥

प्रमाणमियत्ताप्रकाशकं वा। यत्प्रमाणानि महाभूतानि यत्प्रकाश्यानि चेत्यर्थ। देवादीनाञ्च सम्भवमित्यनुसर्गप्रश्नः॥१०॥ कल्पान् ब्रह्मायुःपरिमितान्, महाकल्पान् ब्रह्माहःसंज्ञान्। विभागानिति पाठेऽपि स एवार्थः। चतुर्युगैराऽवर्त्तमानैर्विकल्पितान् विभक्तान्॥११-१२॥

वाशिष्ठः शक्तिः तस्य नन्दन सुत हे पराशर॥१३-१४॥

प्रसादप्रवणं प्रसादाभिमुखम् येन प्रसादप्रवणेन चित्तेन जातात् त्वत्प्रसादादहमेतत् सर्वंजानीयाम्॥१५॥

वेदशाखाप्रणयनं यथावद् व्यासकर्त्तृकम्॥ १३॥
धर्म्मांश्च ब्राह्मणादीनां तथा चाश्रमवासिनाम्।
श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्व्वं त्वत्तो वाशिष्ठनन्दन॥ १४॥
ब्रह्मन् प्रसादप्रवणं कुरुष्व मयि मानसम्।
येनाहमेतज्जानीयां त्वत्प्रसादान्महामुने॥ १५॥

पराशर उवाच

साधु मैत्रेय धर्मज्ञ स्मारितोऽस्मि पुरातनम्।
पितुः पिता मे भगवान् वसिष्ठो यदुवाच ह॥ १६॥
विश्वामित्रप्रयुक्तेन रक्षता भक्षितो मया।
श्रुतस्तातस्ततः क्रोधो मैत्रेयासीन्ममातुलः॥ १७॥
ततोऽहं रक्षसां सत्रं विनाशाय समारभम्।
भस्मीकृताश्च शतशस्तस्मिन् सत्रे निशाचराः॥ १८॥
ततः संक्षीयमाणेषु तेषु रक्षः स्वशेषतः।
मामुवाच महाभागो वसिष्ठो मत्पितामहः॥ १९॥
अलमत्यन्तकोपेन तात मन्युमिमं जहि।
राक्षसा नापराध्यन्ते पितुस्ते विहितं तया॥ २०॥
मूढानामेष भवति क्रोधो ज्ञानवतां कुतः।
हन्यते तात कः केन यतः स्वकृतभुक् पुमान्॥ २१॥
संचितस्यापि महतो वत्स क्लेशेन मानवैः।
यशसस्तपसश्चैव क्रोधो नाशकरः परः॥ २२॥
स्वर्गापवर्गव्यासेधकारणं परमर्षयः।
वर्जयन्ति सदा क्रोधं तात मा तद्वशो भव॥ २३॥

वसिष्ठस्तव कदा किमुवाचेत्यपेक्षायां तदुक्तेरूपोद्घातकथामाह— विश्वामित्र-प्रत्युक्तेनेत्यादिना॥ १६-२१॥

यशस्तपसोर्नाशकत्वादेव स्वर्गापवर्गयोर्व्यासेधस्य प्रतिबन्धस्य कारणं क्रोधः। हे तात! तद्वशो मा भव॥ २२-२३॥ गुर्वाज्ञाकारिणां शत्रुपक्षीया अपि अनुकूला भवन्तीति दर्शयन्नाह—सम्प्राप्तश्चेत्यादिना॥ २४-२६॥

अलं निशाचरैर्दग्धैर्दीनैरनपकारिभिः।
सत्रं ते विरमत्वेतत् क्षमासारा हि साधवः॥२४॥
एवं तातेन तेनाहमनुनीतो महात्मना।
उपसंहृतवान् सत्रं सद्यस्तद्वाक्यगौरवात्॥२५॥
ततः प्रीतः स भगवान् वसिष्ठो मुनिसत्तमः।
सम्प्राप्तश्च तदा पुत्र पुलस्त्यो ब्रह्मणः सुतः॥२६॥
पितामहेन दत्तार्घ्यः कृतासनपरिग्रहः।
मामुवाच महाभागो मैत्रेय पुलहाग्रजः॥२७॥
वैरे महति यद्वाक्याद् गुरोरस्याश्रिता क्षमा।
त्वया तस्मात्समस्तानि भवान् शास्त्राणि वेत्स्यति॥२८॥
सन्ततेर्न ममोच्छेदः क्रुद्धेनापि यतः कृतः।
त्वया तस्मान्महाभाग ददाम्यन्यं महावरम्॥२९॥
पुराणसंहिताकर्त्ता भवान् वत्स भविष्यति।
देवतापारमार्थञ्च यथावद् वेत्स्यते भवान्॥३०॥
प्रवृत्ते च निवृत्ते च कर्मण्यस्तमला मतिः।
मत्प्रसादादसन्दिग्धा तव वत्स भविष्यति॥३१॥

यद् यस्मात् अस्य गुरोर्वाक्यात् क्षमा आश्रिता तस्मात्॥२७॥

प्रवृत्ते च निवृत्ते च कर्म्मणि अस्तमला अज्ञानविपर्य्ययशून्या मतिर्भविष्यति। ते च कर्म्मणी स्मृतिप्रसिद्धे। ''इह वामुत्र काम्यश्च प्रवृत्तमभिधीयते। वैराग्यज्ञान पूर्वन्तु निवृत्तमुपदिश्यते इति॥३१॥ यथायथं यथार्थम्॥३४॥

श्रोतुः सुखप्रतिपत्तये संक्षेपतस्तावत् सर्वप्रश्नोत्तरतया पुराणार्थमाह–विष्णोरिति श्लोकेन। सकाशात्–काशः प्रकाशः ईक्षणमिति यावत्, तत्सहिताद् विष्णोर्जगदुद्भूतम्। ''स ऐक्षत लोकान् उत्सृजा'' इति ''सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय'' इत्यादिश्रुतिसिद्धमिच्छादिशब्दपरपर्य्यायं यदीक्षणमालोचनात्मकं तेन प्रकारेण जगदुद्भूतम्। अनेन यथा वभूवेत्यस्य जन्मप्रकारप्रश्नस्योत्तरं तत्रैव स्थितम्। प्रलयकाल इति लयाधारप्रश्नस्योत्तरम्। चशब्दाज्जगतः स्थितिरपि तत्रैवेत्युक्तम्। अस्य जगतः स्थितिसंयमयोरसावेव कर्त्ता। जन्मनोऽप्युपलक्षणम्। अनेन यतश्चैतच्चराचरात्मकं

ततश्च भगवान् प्राह वसिष्ठो मत्पितामहः।
पुलस्त्येन यदुक्तं ते सर्वमेतद् भविष्यति॥ ३२॥
इति पूर्वं वसिष्ठेन पुलस्त्येन च धीमता।
यदुक्तं तत् स्मृतिं यातं त्वत्तत्प्रश्नाखिलं मम॥ ३३॥
सोऽहं वदाम्यशेषं ते मैत्रेय परिपृच्छते।
पुराणसंहितां सम्यक् तां निबोध यथायथम्॥ ३४॥
विष्णोः सकाशात् सम्भूतं जगत् तत्रैव संस्थितम्।
स्थिति-संयमकर्त्ताऽसौ जगतोऽस्य जगच्च सः॥ ३५॥

इति श्रीविष्णुपुराणे प्रथमांशे प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

जगदित्यस्य निमित्तप्रश्नस्योत्तरम्। जगच्च स इत्युपादानप्रश्नस्योत्तरम्। उपादानकारणरूपत्वात्। कार्य्यस्य। अनेनैव विष्णोर्जगदुपादानरूपकर्त्तुत्वादिकथनेन विष्णोरेवोद्भविष्यति तत्रैव स्थास्यतीत्यादि-सर्व्वप्रश्नस्योत्तरमर्थाद् द्रष्टव्यम्। तत्र च यथा जगद् बभूव, यथा च पुनर्भविष्यति, यन्मयं च जगत् यतश्च यत्र पूंलीनम्, पुनश्च यत्र लयमेष्यति। यत्प्रमाणिनि भूतानि देवादीनाञ्च सम्भवमित्यष्टमप्रश्नत्योत्तरं प्रथमांशे। समुद्रपर्वतानाञ्च संस्थानं, भुवः संस्थानम्, सूर्यादीनाञ्च संस्थानम्, तेषां परिमाणञ्चेति चतुःप्रश्नोत्तरं द्वितीयांशे। ''देवादीनां तथा वशान् मनून् मन्वन्तराणि च। वेदशाखाप्रणयनं यथावद् व्यासकर्त्तृकम्। धर्माश्च ब्रह्माणादीनां तथा चाश्रमवासिनाम्''। इतिषट् प्रश्नोत्तरं तृतीयांशे।

देवर्षिपार्थिवानाञ्च चरितमिति प्रश्नस्योत्तरं तद्वंशविस्तारोक्तिपूर्वकं चतुर्थांशे। तत्र च यदुवंशे भूभारहरणार्थमवतीर्णस्य हरेश्चरितं विस्तारेण पञ्चमांशे। कल्पान् कल्पविकल्पांश्च कल्पान्तस्य स्वरूपञ्चेति प्रश्नत्रस्य प्रथमांशेन संक्षेपेण दत्तोत्तरस्य युगधर्म्मांश्च कृत्स्नश इत्यस्य चोत्तरं षष्ठांशे इति विवेकः॥ ३५॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाभिधायां विष्णुपुराणटीकायां प्रथमांशे प्रथमोऽध्यायः।

द्वितीयोऽध्यायः

(विष्णुस्तुतिः, सृष्टिप्रक्रिया च)

पराशर उवाच

अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने।
सदैकरूपरूपाय विष्णवे सर्वजिष्णवे॥ १॥
नमो हिरण्यगर्भाय हरये शङ्कराय च।
वासुदेवाय ताराय सर्गस्थित्यन्तकारिणे॥ २॥
एकानेकस्वरूपाय स्थूलसूक्ष्मात्मने नमः।
अव्यक्तव्यक्तरूपाय विष्णवे मुक्तिहेतवे॥ ३॥
सर्गस्थितिविनाशानां जगतोऽस्य जगन्मयः।

अथैतत् पुराणप्रतिपाद्यं विष्णोः स्वरूपं परापररूपेण प्रणमन् विस्तरेण पुराणार्थं वक्तुमाह-अविकारायेति नवभिः। श्लोकः तत्र तावत् पूर्वाध्यायान्ते पुराणार्थं संक्षेपश्लोकेन जगदुपादानकर्त्तृत्वद्युक्तवा प्राप्तं विकारादिप्रसङ्गं वारयन् प्रणमति। लोके हि क्रियाश्रयत्वात् कर्ता विकारी दृष्टः। रागादिमांश्चानित्यश्च, साहङ्कारश्च, एतद् व्यावर्त्तयति-अविकारायेति चतुर्भिः पदैः। उपादानकारणमपि मृतसुवर्णादि-घटकटकादिनानापरिणामैरनेकरूपं दृष्टं, तद् व्यावर्त्तयति-एकरूपमेव रूपं यस्य तस्मै। सदेति सर्वत्रान्वयः। तत्र हेतुः, सर्वजिष्णवे-अचिन्त्यैश्वर्य्येण सर्वान् कर्त्तृकारणादीन् जेतुं अतिशयितुं शीलं यस्य तस्मै, एवम्भूताय विष्णवे नम इत्युत्तरेणान्वयः॥ १॥

ब्रह्मादित्रिर्त्तिरूपेण प्रणमति, हिरण्यगर्भादिरूपाय, तैः रूपैः सर्गस्थित्यन्तकारिणे वासुदेवायः नमः। तदेवं संसारप्रवर्त्तकत्वमुक्त्वा तन्निवर्तकत्वेन प्रणमति। ताराय भक्तानां तारकाय च॥ २॥

किञ्च एकमनेकं स्वरूपं यस्य, स्थूलः सूक्ष्मश्चात्मा स्वरूपं यस्य। विरूद्धस्व-रूपद्वयं कथमित्यत्राह-अव्यक्तव्यक्तरूपाय। अव्यक्तं कारणम्, व्यक्तं कार्यं तदुभयरूपाय। अतोऽव्यक्तरूपत्वादेकरूपाय च। व्यक्तरूपत्वादनेकरूपाय स्थूलात्मने चेत्यर्थः। एवं सर्वात्मत्वेनोपासकानां मुक्तिहेतवे नमः॥ ३॥

मूलभूतो नमस्तस्मै विष्णवे परमात्मने॥४॥

आधारभूतं विश्वस्याप्यणीयांसमणीयसाम्।

प्रणम्य सर्वभूतस्थमच्युतं पुरुषोत्तमम्॥५॥

ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्म्मलं परमार्थतः।

तमेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम्॥६॥

विष्णुं ग्रसिष्णुं विश्वस्य स्थितौ सर्गे तथा प्रभुम्।

प्रणम्य जगतामीशमजमक्षरमव्ययम्॥७॥

कथयामि यथा पूर्वं दक्षाद्यैर्मुनिसत्तमैः।

पृष्टः प्रोवाच भगवानब्जयोनिः पितामहः॥८॥

तैश्चोक्तं पुरुकुत्साय भूभुजे नर्मदातटे।

सारस्वताय तेनापि मह्यं सारस्वतेन च॥९॥

परः पराणां परमः परमात्मात्मसंस्थितः।

रूपवर्णादिनिर्देशविशेषणविवर्जितः॥१०॥

कार्य्यकारणत्वमभिनयन् प्रणमति-सर्गेति। जगतः सर्गादीनां यो मूलभूतो जगन्मयश्च अतो विष्णवे सर्वव्यापिने तथा परमात्मने कार्यकारणाभ्यां परम उत्कृष्ट आत्मा स्वरूपं यस्य तत्सङ्गरहितायेत्यर्थः॥४॥

आधारभूतमित्यादीनां प्रणम्य कथयामीति चतुर्थेनान्वयः। अणीयसामपि अणीयांसमतिसूक्ष्मतमं सर्वभूतेषु नियन्तृत्वेन स्थितम्। भूतान्तःस्थत्वेऽप्यच्युतं तैरपरिच्छिन्नम्॥५॥

अर्थस्वरूपेण दृश्यरूपेण द्रष्ट्रजीवभ्रान्तिज्ञानेन स्थितं प्रतीतम्॥६॥

विष्णुं ग्रसिष्णुमित्यनेन कालरूपेण प्रणामः। अतः सर्गस्थित्यन्तकारिणे इत्यनेनापौनरुक्तम् अत एव नमस्यस्वरूपभेदद्योतनार्थं प्रणम्यैतस्यावृत्तिः। अक्षरम् अचलम्॥७-८॥

पितामहेन दक्षादिभ्यः प्रोक्तं त्वया कथं कथ्यते? तत्राह— **तैश्चोक्त**मिति॥९॥

अव्यक्तादिस्वरूपात् परमात्मनो जगत्सृष्ट्यादि वक्तुं ततः प्राचीनं तत्स्वरूपमाह-पर इति चतुर्भिः। ''इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था ह्यर्थेभ्यश्च परं मनः'' इत्यादि-श्रुतिस्मृतिभ्यः परत्वेन प्रतिपादितानामिन्द्रियादीनां परः प्राक्तनः, अत एव परम उत्कृष्टः परमात्मा आत्मसंस्थितः

अपक्षयविनाशाभ्यां परिणामर्द्धिजन्मभिः।
वर्जितः शक्यते वक्तुं यः सदास्तीति केवलम्॥ ११॥
सर्वत्रासौ समस्तञ्च वसत्यत्रेति वै यतः।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते॥ १२॥
तद्ब्रह्म परमं नित्यमजमक्षयमव्ययम्।
एकस्वरूपं च सदा हेयाभावाच्च निर्मलम्॥ १३॥
तदेतत् सर्वमेवासीद् व्यक्ताव्यक्तस्वरूपवत्।
तथा पुरुषरूपेण कालरूपेण च स्थितम्॥ १४॥

अनन्याधारः। रूपवर्णादिभिः यो निर्देशः तदेव विशेषणं तेन विवर्जितः। रूप शुक्लादि, वर्णो ब्राह्मणादिः। आदिशब्दाज्जातिक्रिये। शुक्लः ब्राह्मणः गौः पाचक इत्यादिनिर्देशेन विशेष्टुमशक्यः। यद्वा रूपादिनिर्देशविवर्जितः, रूपाद्यभावात्, अत एव विशेषणैरपि विवर्जित इत्यर्थः॥ १०॥

सद्भावविकारवर्जितश्चेत्याह-**अपक्षये**ति। ननु च ''असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः'' इति। अस्तीत्येवोपलब्धव्य इत्यादिश्रुतेरस्तित्वं तावदङ्गीकर्त्तव्यम्। तथा च द्वितीयो भाव-विकारः प्राप्त इत्यांशक्याह-शक्यते वक्तुं यः सदास्तीति। सर्वदा अस्तित्वं च न भावविकारः, किन्तु जन्मान्तरास्तित्वमेव, कादाचित्कत्वात्, अतो नायं दोष इत्यर्थः॥ ११॥

परमात्मैव च सात्वततन्त्रविद्भिर्वासुदेव इत्युच्यते इत्याह-सर्वत्रेति, सर्वत्रासौ वसति, समस्तञ्चास्मिन् वसति इति, वै प्रसिद्धौ, ततः स वासुदेव इति विद्वद्भिरुच्यते इत्यर्थः। वासनात् वासनाच्च वासुः, द्योतनाद् देवः, वासुश्चासौ देवश्चेति वासुदेवः। ''वासनाद् द्योतनाच्चैव वासुदेवं ततो विदु'' रिति मोक्षधर्मेषु निरुक्तेः॥ १२॥

स एवौपनिषदैर्ब्रह्मेत्युच्यते इत्याह-तद्ब्रह्मेति। यः परमात्मा रूपवर्णादिराहित्येन जन्मादिराहित्येन च लक्षितः स एव वासुदेव इति ब्रह्मेति चोच्यते। न वस्त्वन्तरं लक्षणभेदाभावादित्याशयेन तदेव लक्षणमनुवदति-परमं नित्यमित्यादि। हेयम् अविद्या तत्कार्य्यञ्च, तदभावान्निर्मलम्। तदुक्तं भागवते ''वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दतः''॥ १३॥

तदेवं शुद्धं ब्रह्मस्वरूपं निरूप्य इदानीं तस्यैव स्वमायाविष्कृतव्यक्तादिचतूरूपस्य सर्वप्रपञ्चोपादाननिमित्ततामाह। तदेवेति। तदेव ब्रह्म एतत् सर्वं ब्रह्म प्रपञ्चजातम्।

परस्य ब्रह्मणो रूपं पुरुषः प्रथमं द्विज।

व्यक्ताव्यक्ते तथैवान्ये रूपे कालस्तथा परम्॥ १५॥

प्रधानपुरुषव्यक्तकालानां परमं हि यत्।

पश्यन्ति सूरयः शुद्धं तद्विष्णोः परमं पदम्॥ १६॥

प्रधानपुरुषव्यक्तकालास्तु प्रविभागशः।

रूपाणि स्थितिसर्गान्तव्यक्तिसद्भावहेतवः॥ १७॥

व्यक्तं विष्णुस्तथाव्यक्तं पुरुषः काल एव च।

कथम्भूतम्? व्यक्ताव्यक्तस्वरूपवत्, व्यक्तं महदादि, अव्यक्तं प्रधानं, तत्स्वरूपेवत्', तेन रूपेण स्थितं सत्। तथा पुरुषरूपेण कालरूपेण च स्थितं सत्॥ १४॥

चतुरूपोद्भवप्रकारमाह-**परस्येति**। ''स ऐक्षत'' ''सोऽकामयत'' इत्यादिश्रुत्युक्तेक्षणादिकर्त्ता पुरुषः परस्य ब्रह्मणः प्रथमं रूपम्। तथा च पुराणान्तरे वक्ष्यते।

''तस्यैव योऽनुगुणभुग् बहुधैक एव शुद्धोऽप्यशुद्ध इव मूर्तिविभागभेदैः। ज्ञानान्वितः सकलसत्त्वविभूतिवर्त्ता तस्मै नमोऽस्तु पुरुषाय सदाव्ययाय'' इति। तस्यैव शुद्धस्य ब्रह्मणो योऽनु समन्वन्तरः पुरुष इति हि तस्यार्थः। तथा च नारदीयतन्त्रे—''**विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः। प्रथमं महतः सृष्ट्व द्वितीयन्त्वण्ड-संस्थितम्। तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते**'' इति। भागवते च, ''कालवृत्त्या तु मायायां गुणामय्यामधोमधोक्षजः। पुरुषेणात्मभूतेन वीर्य्यमाधत्त वीर्य्यवान्। ततोऽभवन्महत्तत्त्वम्'' इत्यादि।

व्यक्ताव्यक्ते तथैवान्ये रूपे, पुरुषेक्षणीयमव्यक्तं-ततो जातं व्यक्तं चेति द्वे अन्ये विलक्षणे रूपे। जडत्वात् कालस्तथा परं रूपं, सर्वेषां क्षोभकत्वादन्ते निर्देशः॥ १५॥

परस्य ब्रह्मणो रूपाणीत्युक्तया प्राप्तं तेषामुषादेयत्वं वारयन्नाह-**प्रधानेति**। सूरयो यत् पश्यन्ति तदेव विष्णोः परमं रूपमित्यर्थः॥ १६॥

तर्हि प्रधानादिरूपैः किं कार्य्यमत आह-**प्रधानेति**। प्रधानादिरूपाणि तु जगतः स्थितिसर्गनाशानां व्यक्तिसद्भावहेतवः। व्यक्तिरभिव्यक्तिः प्रकाशः, सद्भाव उत्पत्तिः, तत्र हेतवः कारणानि। कथं? प्रविभागशः। ''चतुर्विभागः संसृष्टौ चतुर्धा संस्थितः स्थितौ। प्रलयञ्च करोत्यन्ते चतुर्भेदो जनार्दनः। ब्रह्मा दक्षादयः कालस्तथैवाखिलजन्तवः। विष्णुर्मन्वादयः कालः''। इत्यादिना वक्ष्यमाणविभागप्रकारेण॥ १७॥

क्रीडतो बालकस्येव चेष्टां तस्य निशामय॥ १८॥

अव्यक्तं कारणं यत् तत् प्रधानमृषिसत्तमैः।

प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मकम्॥ १९॥

अक्षय्यं नान्यदाधारममेयमजरं ध्रुवम्।

शब्दस्पर्शविहीनं तद् रूपादिभिरसंहितम्॥ २०॥

त्रिगुणं तज्जगद्योनिरनादिप्रभवाप्ययम्।

तेनाग्रे सर्वमेवासीद् व्याप्तं वै प्रलयादनु॥ २१॥

वेदवादविदो विद्वन्नियता ब्रह्मवादिनः।

पठन्ति वै तमेवार्थं प्रधानप्रतिपादकम्॥ २२॥

नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमि-

र्नासीत्तमो ज्योतिरभून्न चान्यत्।

नन्वेवं चतुरूपो भूत्वा विष्णुः सर्गादौ किमर्थं प्रवर्त्तते, तत्राह-**व्यक्तं विष्णु**रिति। विष्णुर्व्यक्तादिरूपो भवतीति यत् तत् क्रीडतो बालकस्य चेष्टामिव जानीहि। तदुक्तं "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" इति॥ १८॥

अथेदानीं तदेव रूपचतुष्टयं प्रपञ्चयिष्यन् प्रथमं प्रधानं प्रपञ्चयति-**अव्यक्त**मिति पञ्चभिः। यदव्यक्तं तद् ऋषिसत्तमैः कारणं प्रधानं प्रकृतिरिति च प्रोच्यते। नित्यं सैदकरूपं वृद्ध्यादिहीनमित्यर्थः। सदसदात्मकं कार्य्यकारणशक्तियुक्तम्॥ १९॥

अक्षयम् अविनाशि। पाठान्तरे क्षयानर्हम् नान्यदाधारं अनन्याश्रयम् मूलकारणत्वात्। नान्याधारमिति वक्तव्ये अन्यशब्दे षष्ठत्वविभक्तलोपावार्षौ। अमेयम् इयत्ताशून्यम् ध्रुवं निश्चलम्॥ २०॥

गुणत्रयसाम्यरूपम् अनादि जन्मशून्यं प्रधानं प्रभवाप्ययम् प्रभवन्तीति प्रभवाः कार्याणि, अपियन्ति लीयन्तेऽस्मिन् इति अप्ययं कार्याणां लयस्थानमित्यर्थः। अग्रेसृष्टेः पूर्वम् अतीत-प्रलयानन्तरम्। सर्वमेव कार्यजातं तेन प्याप्तमन्तर्निहितमासीदित्यर्थः। "तम आसीत् तमसा गूढ़मग्रे प्रकेतम्" इति श्रुतेः॥ २१॥

अत्रार्थे विद्वत्सम्मतिमाहा-वेदवादाः सिद्धार्थपराणि वाक्यानि, तद्विदः नियतास्तदर्थनिष्ठाः, ब्रह्मवादिनः वेदे प्रवचनशीलाः। एतमेवार्थमुद्दिश्य श्रुत्यर्थसूचनपरं प्रधानप्रतिपादकं 'नाह'रित्यादिश्लोकं पठन्ति॥ २२॥

श्रोतादिबुद्ध्यानुपलभ्यमेकं
प्रधानिकं ब्रह्म पुमांस्तदासीत्॥२३॥
विष्णोः स्वरूपात् परतो हि तेऽन्ये
रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र।
तस्यैव तेऽन्येन धृते वियुक्ते
रूपान्तरं यत् तद् द्विज कालसंज्ञम्॥२४॥
प्रकृतौ संस्थितं व्यक्तमतीतप्रलये तु यत्।
तस्मात् प्राकृतसंज्ञोऽयमुच्यते प्रतिसंचरः॥२५॥
अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते।
अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः॥२६॥
गुणसाम्ये ततस्तस्मिन् पृथक् पुंसि व्यवस्थिते।

तदा नाहो न रात्रिरासीत् सूर्य्याद्यभावाद् रात्रेरभात्र तमः, अह्नोऽभावात्र ज्योतिः। न चान्यत् किञ्चिदभूत् शब्दाद्यभावात्। श्रोत्रादिजन्यज्ञानेनानुपलभ्यं प्राधानिकं प्रधानमेव प्राधानिकं ब्रह्म च पुमांश्चेति त्रयमेव तदा प्रलये आसीत्। तथा च श्रुतिः ''नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्'' इत्यादि॥२३॥

कालस्वरूपं विवृणोति विष्णोरिति चतुर्भिः। परतो निरूपाधेः विष्णोः स्वरूपात् ते प्रागुक्ते प्रधानं पुरुषश्चेति द्वे रूप अन्ये विलक्षणे मायाकृते। 'तेऽन्ये' इत्यार्षः सन्धिः। तस्य विष्णोरेवान्येन रूपेण ते द्वे रूपे धृते सर्गकाले संयोजिते, वियुक्ते प्रलयकाले। यद्वा वियुक्ते यथा तिष्ठतस्तथा प्रलयकाले धृते स्थापिते, तयोरवियोगे प्रलयाभावप्रसङ्गात्। तदेतत् कालसंज्ञं रूपान्तरम्॥२४॥

कालस्वरूपेण प्रकृतिपुरुषयोर्वियोजनं प्रतिसञ्चरसमाख्ययोपपादयन्ति-'प्रकृता'विति। अतीतग्रहणं सर्वप्रलयोपलक्षणार्थम्। अतीतप्रलये यद् यस्मात् प्रकृतौ संस्थितं लीनं विश्वमासीत्, तस्माद् विश्वस्य प्रकृतौ सञ्चरणात् प्राकृतोऽयं महाप्रलय उच्यते। एतच्च प्रकृतिपुरुषयोरवियोगे घटत इति भावः॥२५॥

कालश्च प्रलये अस्तीति व्यक्तं तस्यानादिनिधनत्वमाह-'अनादि'रिति। अत्र कार्य्यान्यथानुपपत्तिं प्रमाणयति-'अव्युच्छिन्ना' इति। ततः कारणात्' एते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः-सर्गः स्थितिश्च तदन्ते संयमश्च, अव्युच्छिन्नाः प्रवाहरूपेणविरताः॥२६॥

कालस्वरूपरूपं तद् विष्णोर्मैत्रेय वर्त्तते।
कालस्वरूपं तद्विष्णोर्मैत्रेय परिवर्त्तते॥२७॥
ततस्तत्परमं ब्रह्म परमात्मा जगन्मयः।
सर्वगः सर्वभूतेशः सर्वात्मा परमेश्वरः॥२८॥
प्रधानं पुरुषञ्चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ॥२९॥
यथा सन्निधिमात्रेण गन्धः क्षोभाय जायते।
मनसो नोपकर्त्तृत्वात् तथासौ परमेश्वरः॥३०॥
स एव क्षोभको ब्रह्मन् क्षोभश्च पुरुषोत्तमः।
स सङ्कोचविकाशाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितिः॥३१॥

---

१५ ततः कारणात् तस्मिन् प्रलये गुणसाम्ये प्रधाने पुरुषे च पृथक् वियुक्ततया व्यवस्थिते सति। तथैव तयोर्धारणार्थं कालाख्यं रूपं वर्त्तते। अन्यथा प्रलयानिर्वाहादिति भावः। नाहो न रात्रिरित्यत्र सूर्य्यादिगत्युपलक्षितः स्थूलः कालो नास्तीत्युक्तम्। अत्र तु यावत्प्रलयं प्रकृतिपुरुषवियोगधारको विष्णोः स्वरूपभूतः कालो वर्त्तते इत्युच्यते इत्यविरोधः।

अनेनैव प्रलये प्रकृत्या वियुक्तस्तूष्णीं लीन इव तिष्ठन् सर्गकाले च प्रकृतिमधिष्ठाय सृष्ट्यादिकर्ता पुरुष इति पुरुषस्वरूपमपि विवृतं द्रष्टव्यम्॥२७॥

इदानीं व्यक्तस्वरूपं प्रपञ्चयिष्यन् परमेश्वरात् प्रकृतिपुरुषयोः क्षोभप्रकारमाह-'**तत्**' इति पञ्चभिः। ततः सर्गकाले सम्प्राप्ते परमेश्वरो हरिः स्वेच्छया प्रधानं पुरुषञ्च प्रविश्य क्षोभयामासेति द्वयोरन्वयः। कथम्भूतो हरिः तत्राह-'**तद्ब्रह्मे**'त्यादि। अव्यक्तादिवत्। रूपविलक्षणः॥२८॥

कथम्भूतौ प्रधानपुरुषौ व्ययाव्यौ परिणाम्यपरिणामिनौ उपादाननिमित्तभूताविति यावत्। प्रलयकाले वियुक्ततयात्मनि तूष्णीं स्थितौ स्वांशभूतौ प्रधानपुरुषौ स्वकालशक्तयोर्द्बुद्धेच्छाशक्त्या संयोज्य सृष्ट्युन्मुखौ चकारेत्यर्थः॥२९॥

प्रविश्य क्षोभयामासेत्युक्त्वा प्राप्तं सक्रियत्वं वारयति-यथे'ति। सन्निधिमात्रेण गन्धो मनसः क्षोभाय जायते, न तु उपकर्त्तृत्वान्न तदनुकूलक्रियाकारित्वात्॥३०॥

ननु प्रधानादीनामपि स्वरूपाव्यतिरेकात् क्षोभ्यस्यान्यस्य तत्कार्यस्य चाभावात् कथं क्षोभकत्वं? तत्राह-'**स एवे**'ति द्वाभ्याम्। सङ्कोचः साम्यं, विकाशो गुणक्षोभः,

विकाराणुस्वरूपैश्च ब्रह्मरूपादिभिस्तथा।
व्यक्तस्वरूपश्च तथा विष्णुः सर्वेश्वरेश्वरः॥ ३२॥
गुणसाम्यात् ततस्तस्मात् क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने।
गुणव्यञ्जनसम्भूतिः सर्गकाले द्विजोत्तम॥ ३३॥
प्रधानतत्त्वमुद्भूतं महान्तं तत् समावृणोत्।
सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महान्।
प्रधानतत्त्वेन समं त्वचा बीजमिवावृतम्॥ ३४॥
वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामसः।
त्रिविधोऽयमहङ्कारो महत्तत्त्वादजायत॥ ३५॥
भूतेन्द्रियाणां हेतुः स त्रिगुणत्वान्महामुने।
यथा प्रधानेन महान् महता स तथावृतः॥ ३६॥

ताभ्यामुपलक्षितः। प्रधानत्वेऽपि स एव स्थितः, तदवस्थाद्वयोपेतं प्रधानमपि विष्णुरेवेत्यर्थः॥ ३१॥

विकाराणुस्वरूपैर्महाभूतमहदादिरूपैर्ब्रह्मरूपादिभिर्जीव-भेदैरप्युपलक्षितः। व्यक्तस्वरूपश्च समष्टिव्यष्टिदेहात्मकश्च विष्णुरेवेत्यर्थः॥ ३२॥

इदानीं महदादिक्रमेण व्यक्ताख्यप्रपञ्चसृष्टिमाह-'**गुणसाम्या**'दित्यादि-'बीजं बाह्यदलैरिवे' त्यन्तेन। ततः क्षोभानन्तरम्। तस्माद् गुणसाम्यात्, क्षेत्रज्ञेनपुरुषेणाधिष्ठितात्। गुणानां व्यञ्जनं महत्तत्त्वम्। व्यज्यतेऽनेनेति व्यञ्जनं तस्य सम्भूतिः उद्भवोऽभूत्॥ ३३॥

अत्र च यथा मृदेव पिण्डाद्यवान्तरकार्यावस्थामापद्यमाना घटादेरुपादानं, दण्डादिकन्तु निमित्तमात्रम्, घटादावनुगमात् विनापि दण्डमनाशित्वाद्वा, तथैवेश्वराधिष्ठितं प्रधानमेव महदाद्यवान्तरकार्य्याण्युपादानतया व्याप्नुवत् चरमकार्य्यस्याप्युपादानमिति दर्शयितुं पूर्वकार्य्याणोत्तरोत्तरकार्य्यस्य व्याप्तिमाह-'**प्रधानतत्त्व**'मित्यादिना। उद्भूतं महान्तं कर्मभूतं तदुपादानभूतं प्रधानतत्त्वं कर्त्तृभूतं समावृणोत् व्याप्नोत्। एतदेव विवृणोति 'सात्विक' इति। सममन्यूनानतिरेकं यथा भवत्येवं त्वचा बीजं यथा आवृतं तथा सात्विकादित्रिधोद्भूतो महान् प्रधानतत्त्वेन समन्तादावृत इत्यर्थः॥ ३४॥

वैकारिकः सात्विकः, तैजसो राजसः, भूतादिस्तामस इति स्वयमेव व्याख्यातम्॥ ३५॥

स च भूतानामिन्द्रियाणाञ्च हेतुः। देवानामप्युपलक्षणम्॥ ३६॥

भूतादिस्तु विकुर्वाणः शब्दतन्मात्रिकं ततः।
ससर्ज शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दलक्षणम्।
शब्दमात्रं तथाकाशं भूतादिः स समावृणोत्॥ ३७॥
आकाशस्तु विकुर्वाणः स्पर्शमात्रं ससर्ज ह।
बलवानभवद् वायुस्तस्य स्पर्शो गुणो मतः॥ ३८॥
आकाशं शब्दमात्रन्तु स्पर्शमात्रं समावृणोत्।
ततो वायुर्विकुर्वाणो रूपमात्रं ससर्ज ह॥ ३९॥
ज्योतिरुत्पद्यते वायोस्तद्रूपगुणमुच्यते।
स्पर्शमात्रन्तु वै वायु रूपमात्रं समावृणोत्॥ ४०॥
ज्योतिश्चापि विकुर्व्वाणं रसमात्रं ससर्ज ह।
सम्भवन्ति ततोऽम्भांसि रसाधाराणि तानि च॥ ४१॥
रसमात्राणि चाम्भांसि रूपमात्रं समावृणोत्।
विकुर्वाणानि चाम्भांसि गन्धमात्रं ससर्जिरे॥ ४२॥
संघातो जायते तस्मात् तस्य गन्धो गुणो मतः।
तस्मिंस्तस्मिंस्तु तन्मात्रा तेन तन्मात्रता स्मृता॥ ४३॥
तन्मात्राण्यविशेषाणि अविशेषास्ततो हि ते।
न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषणा॥ ४४॥
भूततन्मात्रसर्गोऽयमहङ्कारात् तु तामसात्।
तैजसानीन्द्रियाण्याहुर्देवा वैकारिका दश॥ ४५॥
एकादश मनश्चात्र देवा वैकारिकाः स्मृताः।
त्वक् चक्षुर्नासिका जिह्वा श्रोत्रमत्र च पञ्चमम्॥ ४६॥
शब्दादीनामवाप्त्यर्थं बुद्धियुक्तानि वै द्विज।
पायूपस्थौ करौ पादौ वाक् च मैत्रेय पञ्चमी॥ ४७॥
विसर्गशिल्पगत्युक्तिः कर्म तेषाञ्च कथ्यते।

तामसाहङ्कारकार्य्यं प्रपञ्चयति 'भूतादि'रिति नवभिः। विकुर्वाणः क्षुभ्यन्नित्यर्थः॥ ३७॥

अभवत् साद्रयो द्वीपाः समुद्राश्च अभवन्नित्यर्थः॥ ३८॥

आकाशवायुतेजांसि सलिलं पृथिवी तथा॥४८॥
शब्दादिभिर्गुणैर्ब्रह्मन्! संयुक्तान्युत्तरोत्तरैः।
शान्ता घोराश्च मूढाश्च विशेषास्तेन ते स्मृताः॥४९॥
नानावीर्य्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना।
नाशक्नुवन् प्रजाः स्त्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः॥५०॥
समेत्यान्योऽन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः।
एकसंघातलक्ष्याश्च सम्प्राप्यैक्यमशेषतः॥५१॥
पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च प्रधानानुग्रहेण च।
महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते॥५२॥
तत्क्रमेण विवृद्धन्तु जलवुद्बुदवत्समम्।
भूतेभ्योऽण्डं महाबुद्धे! बृहत् तदुदकेशयम्।
प्राकृतं ब्रह्मरूपस्य विष्णोः संस्थानमुत्तमम्॥५३॥
तत्राव्यक्तस्वरूपोऽसौ व्यक्तरूपी जगत्पतिः।
विष्णुर्ब्रह्मस्वरूपेण स्वयमेव व्यवस्थितः॥५४॥
मेरुरुन्नमभूत् तस्य जरायुश्च महीधराः।
गर्भोदकं समुद्राश्च तस्यासन् सुमहात्मनः॥५५॥
साद्रिद्वीपसमुद्रास्तु सज्योतिर्लोकसङ्ग्रहः।
तस्मिन्नण्डेऽभवद् विप्र! सदेवासुरमानुषः॥५६॥
वारिवह्न्यनिलाकाशैस्ततो भूतादिना बहिः।
वृतं दशगुणैरण्डं भूतादिर्महता तथा॥५७॥
अव्यक्तेनावृतो ब्रह्मंस्तैः सर्वैः सहितो महान्।
एभिरावरणैरण्डं सप्तभिः प्राकृतैर्वृतम्।
नारिकेलफलस्यान्तर्बीजं बाह्यदलैरिव॥५८॥

अण्डस्यान्तः स्थितिमुक्त्वा तद्बाह्यस्थितिमाह-''वारी'ति। ततः कटाहरूपपृथिव्यावरणानन्तरं तद्बहिः प्रत्येकं वारिवह् न्यादिभिर्दशगुणमुत्तरैरधिकैरावृतम्। पृथिव्यावरणात् कोटियोजनप्रमाणाद्दशगुणं तोयावरणं, ततो दशगुणं वह् न्यावराणमित्येवं दयागुणोत्तराणि पृथिव्याद्यावरणानि सप्त। प्रकृत्यावरणं त्वष्टममपरिमितम्।

जुषन् रजोगुणं तत्र स्वयं विश्वेश्वरो हरिः।
ब्रह्मा भूत्वास्य जगतो विसृष्टौ सम्प्रवर्त्तते॥५९॥
सृष्टञ्च पात्यनुयुगं यावत् कल्पविकल्पना।
सत्त्वभुग् भगवान् विष्णुरप्रमेयपराक्रमः॥६०॥
तमोद्रेकी च कल्पान्ते रूद्ररूपी जनार्दनः।
मैत्रेयाखिलभूतानि भक्षयत्यतिभीषणः॥६१॥
स भक्षयित्वा भूतानि जगत्येकार्णवीकृते।
नागपर्य्यङ्कशयने शेते च परमेश्वरः॥६२॥
प्रबुद्धश्च पुनः सृष्टिं करोति ब्रह्मरूपधृक्॥६३॥
सृष्टिस्थित्यन्तकरणाद् ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥६४॥
स्त्रष्टा सृजति चात्मानं विष्णुः पाल्यञ्च पाति च।
उपसंह्रियते चान्ते संहर्त्ता च स्वयं प्रभुः॥६५॥
पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च।

''मह्यादिभिश्चावरणैरष्टभिर्बहिरावृतम्'' इति शुकोक्तेः। अत एव प्रकृतिं पृथक्कृत्य प्राकृतैः सप्तभिरित्युक्तम्॥५७-५८॥

तदेवं ब्रह्मण्डं सृष्ट्वा तस्मिन् लीलया प्रविष्टस्य परमेश्वरस्य गुणावतारैरवान्तरसृष्ट्यादिलीलामाह-**जुषन्निति** यावदध्यायसमाप्तिः। विसृष्टो विविध-चराचरादिसृष्टौ सम्प्रवर्त्तते॥५९॥

यावत् कल्पविकल्पना ब्रह्मदिनावसानं यावत्। सत्त्वभुक् सत्त्वगुणाधिष्ठितः॥६०॥

तमोद्रेकीत्यार्षः सन्धिः। तम उद्रेकवानित्यर्थः॥६१॥

परमेश्वरः शेते ब्रह्माद्यवतारमूलस्वरूपेण॥६२॥

ब्रह्मादिरूपाणि च तद्व्यतिरिक्तानि न भवन्तीत्याह-''**सृष्टिस्थित्यन्तकरण**' दिति। करणामिति पाठे सृष्ट्यादि करणं निमित्तं यस्याः सा तां यातीत्यर्थः॥६४॥

स्त्रष्ट्र-सृज्यादिभेदश्च न तात्त्विक इत्याह-'**स्त्रष्टे**'ति। विष्णुरेव स्त्रष्टा आत्मानमेव सृजति। पाल्यश्च पालकश्च उपसंहार्य्यश्च संहर्त्ता च स्वयमेव॥६५॥

कुत इत्याह-'**पृथिवी**'ति। यद् यस्मात् पृथिव्यापइत्यादि सर्वं जगत् पुरुषाख्यं हि पुरुषसंज्ञमेव। ''पुरुष एवेदं सर्वम्'' इति श्रुतेः॥६६॥

सर्वेन्द्रियान्तःकरणं पुरुषाख्यं हि यज्जगत्॥६६॥
स एव सर्वभूतेशो विश्वरूपो यतोऽव्ययः।
सर्गादिकं ततोऽस्यैव भूतस्थमुपकारकम्॥६७॥
स एव सृज्यः स च सर्गकर्त्ता
स एव पात्यत्ति च पाल्यते च।
ब्रह्माद्यवस्थाभिरशेषमूर्ति-
र्विष्णुर्वरिष्ठो वरदो वरेण्यः॥६८॥

इति श्रीविष्णुपुराणे प्रथमांशे द्वितीयोऽध्यायः।

ननु कथं स एव सर्गादिकर्त्तेत्युच्यते, पित्रादीनां कर्तृपालकादीनां प्रतीयमानत्वात्? तत्राह-'**स एवे**'ति। यतः स हरिरेव सर्वभूतानामीशः प्रवर्तको विश्वरूपश्च, ततो हेतोर्भूतस्थं पितृपुत्रादिषु स्थितं सर्गादिकं यस्य हरेरेवोपकारकम्, तत्प्रयुक्तैस्तद्विभूतेरेव विस्तारात्। यथा ऋत्विग्भिः कृतं यजमानस्यैवोपकारकं तत्प्रत्युक्तैस्तद्विभूतेरेव विस्तारात् तद्वदित्यर्थः॥६७॥

उक्तं स्रष्टृसृज्याद्यैक्यमुपसंहरन् विवक्षितमर्थमाह-**स एवेति**। अत्ति चेति चकारादद्यते च। ब्रह्माद्यवस्थाभिः सर्गादिकर्त्ता अशेषमूर्तिः सृष्ट्यादिरूपः। अतो विष्णुरेव वरिष्ठः महत्तमः श्रेष्ठः परमार्थ इति यावत् वरदश्च, वरेण्यो वरणीयः, परमानन्दरूपत्वात्॥६८॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्राकाशाभिधायां विष्णुपुराणटीकायां प्रथमांशे द्वितीयोऽध्यायः।

तृतीयोऽध्याय:

(ब्रह्मण: सर्गजनिकाया: शक्तेर्विवरणम्, तस्यायुर्निरूपणञ्च)

मैत्रेय उवाच

निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मन:।
कथं सर्गादिकर्त्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते॥ १॥

पराशर उवाच

शक्तय: सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचरा:।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तय:॥ २॥

तदेवं ब्रह्मण: सृष्ट्यादिकर्तृत्वमुक्तम्, तत्र शङ्कते-'निर्गुणस्ये'ति-सत्त्वादिगुणरहितस्य। अप्रमेयस्य-देशकालाद्यनवच्छिन्नस्य। शुद्धस्य अदेहस्य सहकारशून्यस्येति वा। एवं अमलात्मन: पुण्यपापसंस्कारशून्यस्य रागादिशून्यस्येति वा। एवम्भूतस्य ब्रह्मण: कथं सर्गादिकर्त्तृत्वमिष्यते, एतद्विलक्षणस्यैव लोके घटादिषु कर्त्तृत्वादिदर्शनादित्यर्थ:॥ १॥

परिहरति-'शक्तय' इति सार्द्धेन। लोके हि सर्वेषां भावानां मणिमन्त्रादीनां शक्तय: अचिन्त्यज्ञानगोचरा:,-अचिन्त्यं तर्कासहं यज्ज्ञानं कार्य्यान्यथानुपपत्तिप्रमाणकं, तस्य गोचरा: सन्ति। यद्वा-अचिन्त्या-भिन्नाभिन्नत्वादिविकल्पैश्चिन्तयितुमशक्या:, केवलमर्थापत्तिज्ञानगोचरा: सन्ति। यत एवम्, अतो ब्रह्मणोऽपि तास्तथाविधा: सर्गाद्या: सर्गादिहेतुभूता भावशक्तय: स्वभावसिद्धा: शक्तय: सन्त्येव, पावकस्य दाहकत्वादिशक्तिवत्। अतो गुणादिहीनस्याप्यचिन्त्यशक्तिमत्त्वाद् ब्रह्मण: सर्गादिकर्त्तृत्वं घटत इत्यर्थ:। श्रुतिश्च ''न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'॥ ''मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्'' इत्यादि:। यद्वा एवं योजना,-सर्वेषां भावानां पावकस्योष्णताशक्तिवदचिन्त्यज्ञानगोचरा: शक्तय: सन्त्येव। ब्रह्मण: पुनस्ता: स्वभावभूता: स्वरूपादभिन्ना: शक्तय:, ''परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'' इत्यादिश्रुते:। अतो मणिमन्त्रादिभिरग्न्यौष्ण्यवन्न केनचिद् विहन्तुं शक्यते, अत एव तस्य निरङ्कुशमैश्वर्य्यम्। तथा च श्रुति:-''च वा अयमात्मा सर्वस्य वशी सर्वस्येशान: सर्वस्याधिपति'' रित्यादि:। तपतां श्रेष्ठ' इति सम्बोधयन् या कापि तप:शक्ति: स्वयं वेद्येति सूचयति। यत एवम्, अतो ब्रह्मणो हेतो: सर्गाद्या भवन्ति, नात्र काचिदनुपपत्तिरित्यर्थ:॥ २॥

भवन्ति तपतां श्रेष्ठ! पावकस्य यथोष्णता।
तन्निबोध यथा सर्गे भगवान् सम्प्रवर्त्तते॥३॥
नारायणाख्यो भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः।
उत्पन्नः प्रोच्यते विद्वान् नित्य एवोपचारतः॥४॥
निजेन तस्य मानेन ह्यायुर्वर्षशतं स्मृतम्।
तत्पराख्यं तदर्द्धञ्च परार्द्धमभिधीयते॥५॥
कालस्वरूपं विष्णोश्च यन्मयोक्तं तवानघ।
तेन तस्य निबोध त्वं परिमाणोपपादनम्॥६॥
अन्येषाञ्चैव जन्तूनां चराणामचराश्च ये।
भू-भूभृत्सागरादीनामशेषाणाञ्च सत्तम॥७॥
काष्ठा पञ्चदशख्याता निमेषा मुनिसत्तम।
काष्ठस्त्रिंशत्कला तास्तु त्रिंशन्मौहूर्तिको विधिः॥८॥

तदेवं ब्रह्मणः सर्गादिकर्त्तृत्वमुपपाद्य प्रस्तुतं ब्राह्मं सर्गमनुवर्त्तयितुमाह-'**तन्निबोधे**'ति॥३॥

ननु नारायणाख्य एव चेद् ब्रह्मा कथं, तर्हि ''हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'' इत्यादिश्रुतिभिस्तस्योत्पत्तिरुच्यते? तत्राह– उत्पन्न' इति। उपचारतः-स्वेच्छयाविर्भावस्याप्युत्पत्तिसादृश्यात्॥४॥

औपचारिकमेव तस्यायुर्मानमाह,-निजेन स्वकीयेन वक्ष्यमाणेन वर्षशतं तस्यायुः स्मृतम्। तदायु पराख्यं सर्वातिशायित्वात्॥५॥

तेन-कालेन, तस्य-ब्रह्मणः, अन्येषाञ्च परिमाणस्य जीवनकालस्य उपपादनं सम्पादनं निबोध। पाठान्तरे परिणामस्य अवसानस्य उपपादनमित्यर्थः। अचराश्च ये तेषामपीति शेषः॥६॥

तदेव निमेषादिक्रमेण निरूपयति-काष्ठेत्यादिना। अक्षिपक्षनिक्षेपोपलक्षितः कालो निमेषः। पञ्चदश निमेषाः एका काष्ठोक्ता, त्रिंशत् काष्ठा एका कला। त्रिंशत कलाः एका घटिका। ते द्वे मौहूर्तिको विधिः मुहूर्त्तमानप्रकारः॥७॥

तावत्संख्यैः त्रिंशत्संख्यकैर्मूहूर्त्तैस्तावन्ति त्रिंशदहोरात्राणीति लौकिकः सावनो मास उक्तः। पक्षद्वयात्मक इति-चान्द्रो मासः, दशविधं ''मासमुशन्ति चान्द्रम्'' इति स्मृतेः॥८॥

तावत्संख्यैरहोरात्रं मुहूर्त्तैर्मानुषं स्मृतम्।
अहोरात्राणि तावन्ति मासः पक्षद्वयात्मकः॥ ९॥
तैः षड्भिरयनं वर्षं द्वेऽयने दक्षिणोत्तरे।
अयनं दक्षिणं रात्रिर्देवानामुत्तरं दिनम्॥ १०॥
दिव्यैर्वर्षसहस्रैस्तु कृतत्रेतादिसंज्ञितम्।
चतुर्युगं द्वादशभिस्तद्विभागं निवोध मे॥ ११॥
चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम्।
दिव्याब्दानां सहस्राणि युगेष्वाहुः पुराविदः॥ १२॥
तत्प्रमाणैः शतैः सन्ध्या पूर्वा तत्राभिधीयते।
सन्ध्यांशकश्च तत् तुल्यो युगस्यानन्तरो हि सः॥ १३॥
सन्ध्यासन्ध्यांशयोरन्तर्यः कालो मुनिसत्तम।
युगाख्यः स तु विज्ञेयः कृतत्रेतादिसंज्ञितः॥ १४॥
कृतं त्रेता द्वापरञ्च कलिश्चैव चतुर्युगम्।

सौरैर्मासैरयनप्रकारमाह-तैरिति। तच्छब्देन चान्द्रैरदूरविप्रकर्षात् सौरा मासा लक्ष्यन्ते। सूर्य्यस्य मेषाद्येकैकराशियोगः सौरो मासः। तैः षड्भिरयनम्। द्वेऽयने इत्यार्षः सन्धिः। अतः परं दिव्यमानमाह-अयनमित्यादिना। दक्षिणमयनं देवानां रात्रिः, उत्तरमयनं दिनम्। एवम्भूतैः षष्ट्युत्तरत्रिंशताहोरात्रैर्देवानां वर्षमिति द्रष्टव्यम्॥ ९-१०॥

तैर्वर्षैश्चतुर्युगमानमाह-दिव्यैरिति। 'दिव्यै'र्द्वादशभिर्वर्षसहस्रैश्चतुर्युगमित्यन्वयः॥ ११॥

यथाक्रमं कृतयुगे चत्वारि सहस्राणि, त्रेतायां त्रीणि, द्वापरे द्वे सहस्रे, कलावेकसहस्रमिति॥ १२॥

तत्प्रमाणैः-तेषां सहस्राणां यत् प्रमाणं चत्वारि त्रीणि द्वे चैकमित्युक्तम्। तत्प्रमाणैस्तत्संख्यैः शतैः परिमिता युगस्य पूर्व्वभोगिनी सन्ध्योच्यते। तावानेव युगानन्तरवाची सन्ध्यांशः। एतच्च युगधर्मव्यवस्थायामुक्तम्। तथा च शुष्कः- "सन्ध्यांशयोरन्तरेण यः कालः शतसंख्यकः। तमेवाहुर्युगं तज्ज्ञा यत्र धर्म्मो विधीयते" इति॥ १३॥

तदेवं युगानां दशसहस्राणि वर्षाणि तत्पूर्वोत्तरभाविनाञ्च सन्ध्या-सन्ध्यांशकानां शतैः द्वे सहस्रे, एवं द्वादशभिर्वर्षसहस्रैश्चतुर्युगमिति सिद्धम्॥ १४॥

प्रोच्यते तत् सहस्रञ्च ब्रह्मणो दिवसं मुने॥ १५॥
ब्रह्मणो दिवसे ब्रह्मन्! मनवश्च चतुर्दश।
भवन्ति परिमाणञ्च तेषां कालकृतं शृणु॥ १६॥
सप्तर्षयः सुराः शक्रो मनुस्तत्सूनवो नृपाः।
एककाले हि सृज्यन्ते संह्रियन्ते च पूर्ववत्॥ १७॥
चतुर्युगानां संख्याता साधिका ह्येकसप्ततिः।
मन्वन्तरं मनोः कालः सुरादीनाञ्च सत्तम॥ १८॥
अष्टौ शतसहस्राणि दिव्यया संख्यया गतिः।
द्वापञ्चाशत् तथान्यानि सहस्राण्यधिकानि च॥ १९॥
त्रिंशत्कोट्यस्तु सम्पूर्णाः संख्याताः संख्यया द्विज।
सप्तषष्टिस्तथान्यानि नियुतानि महामुने॥ २०॥
विंशतिश्च सहस्राणि कालोऽयमधिकं विना।

मन्वन्तरमानं वक्तुमाह-'**ब्रह्मण**' इति॥ १६॥

ततसूनव एव नृपाः। एककाले हि सृज्यन्ते-अधिकारिणः क्रियन्ते, संह्रियन्ते निरधिकाराः क्रियन्ते इत्यर्थः॥ १७॥

साधिकेत्यत्र श्लोकाः-''द्विचत्वारिंशता युक्तशतेनाभ्यधिकास्तथा। दिव्याब्दाः पञ्चसाहस्रा मासा दशदिनाष्टकम्। चतुर्यामा मुहूर्तौ द्वाष्टावपि कलास्तथा। काष्ठा सप्तदश द्वौ च निमेषौ तदनन्तरम्। देवस्यैकनिमेषस्य सप्तमो भाग इष्यते। मानुषाब्दास्तु लक्षाणि सार्द्धाष्टादश तत्परम्। सहस्रमष्टाविंशत्या युता चाब्दचतुःशती। चतुविंशत्यहोरात्रयुता मासाश्च षट् तथा। नाड्यो द्वादश तावत्यः कालाश्च तदनन्तरम्। पञ्चशिंतिकाष्ठाश्च निमेषा दश साधिकाः'' इति चतुर्युगसहस्रप्रमाणस्य ब्रह्मदिनस्य चतुर्दशधा विभागे प्रतिभागमेकसप्ततिश्चतुर्युगानि भवन्ति। अवशिष्यते चतुर्युगषट्कान्तरस्य चतुर्दशांशो यथागणितः प्रतिमन्वन्तरमेकसप्ततेरधिक इत्यर्थः सुरादीनाञ्च सप्तर्षयः सुराः शक्र इति पूर्वोक्तानाम् मन्वन्तराधिकारिणाम्॥ १८॥

तमेव मन्वन्तरकालं दिव्यावर्दैर्गणयति- ''**अष्टा**'विति॥ १९॥

तमेव मानुषाब्दैर्गणयति- ''**त्रिंशत् कोट्य**' इति द्वाभ्याम्। नियुतानि लक्षाणि पूर्वोक्तमधिकं कालं विना॥ २०-२१॥

मन्वन्तरस्य संख्येयं मानुषैर्वत्सरैर्द्विज॥ २१॥
चतुर्दशगुणो ह्येष कालो ब्राह्ममहः स्मृतम्।
ब्राह्मो नैमित्तिको नाम तस्यान्ते प्रतिसञ्चरः॥ २२॥
तदा हि दह्यते सर्वं त्रैलोक्यं भूर्भुवादिकम्।
जनं प्रयान्ति तापार्त्ता महर्लोकनिवासिनः॥ २३॥
एकार्णवे तु त्रैलोक्ये ब्रह्मा नारायणात्मकः।
भोगिशय्यागतः शेते त्रैलोक्यग्रासबृंहितः॥ २४॥
जनस्थैर्योगिभिर्देवश्चिन्त्यमानोऽब्जसम्भवः।
तत्प्रमाणां हि तां रात्रिं तदन्ते सृज्यते पुनः॥ २५॥
एवन्तु ब्रह्मणो वर्षमेवं वर्षशतं च यत्।
शतं हि तस्य वर्षाणां परमायुर्महात्मनः॥ २६॥
एकमस्य व्यतीतन्तु परार्द्धं ब्रह्मणोऽनघ।
तस्यान्तेऽभून्महाकल्पः पाद्म इत्यभिधीयते॥ २७॥
द्वितीयस्य परार्द्धस्य वर्त्तमानस्य वै द्विज।
वाराह इति कल्पोऽयं प्रथमः परिकीर्त्तितः॥ २८॥

इति श्रीविष्णुपुराणे प्रथमांशे तृतीयः अध्यायः।

ब्राह्म्यो नैमित्तिकः ब्रह्मनिद्रानिमित्तः, प्रतिसञ्चरः प्रलयः॥ २२॥ भूर्भुवादिकमित्यार्षः सन्धिः॥ २३॥

भोगी शेषः, 'स' एव 'शय्या, तद्गतः सन् शेते। त्रैलोक्यज्ञानबृंहित इति पाठे त्रैलोक्यज्ञानमयैर्जीवटरुपबृंहितः। त्रैलोक्यग्रासबृंहित इति पाठे प्रपञ्चग्रासेन समृद्ध-ब्रह्मानन्द इत्यर्थः॥ २४॥

जनस्थैश्चिन्त्यमानः। महर्लोकस्थानामपि तदा तत्रैव गतत्वात्। तत्प्रमाणां ब्रह्माहः परिमितां तां रात्रिं नैरन्तर्य्येण शेते॥ २५॥

एवं त्विति। एवम्भूतैरहोरात्रैः पक्षमासादिकल्पनया वर्षम्॥ २६॥

महाकल्प इति-अवान्तरकल्प एव पुष्करप्रादुर्भावादिगुणैर्महत्त्वान्महाकल्प इत्युच्यते॥ २७॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाभिधायां विष्णुपुराणटीकायां प्रथमांशे
तृतीयोऽध्यायः

चतुर्थोऽध्यायः

(कल्पान्ते सर्गवर्णनम्)

मैत्रेय उवाच

ब्रह्मा नारायणाख्योऽसौ कल्पादौ भगवान् यथा।
ससर्ज सर्वभूतानि तदाचक्ष्व महामुने॥ १॥

पराशर उवाच

प्रजाः ससर्ज्ज भगवान् ब्रह्मा नारायणात्मकः।
प्रजापतिपतिर्देवो यथा तन्मे निशामय॥ २॥
अतीतकल्पावसाने निशासुप्तोत्थितः प्रभुः।
सत्त्वोद्रिक्तस्तथा ब्रह्मा शून्यं लोकमवैक्षत॥ ३॥
नारायणः परोऽचिन्त्यः परेषामपि स प्रभुः।
ब्रह्मस्वरूपी भगवाननादिः सर्वसम्भवः॥ ४॥
इमं चोदाहरन्त्यत्र श्लोकं नारायणं प्रति।
ब्रह्मस्वरूपिणं देवं जगतः प्रभवाप्ययम्॥ ५॥
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ ६॥

पूर्वोपक्षिप्तमेव ब्राह्मसर्गं प्रसङ्गान्तरितं श्रोतुकामो मैत्रयः पृच्छति-'**ब्रह्मे**'ति॥ १-२॥

प्रतिज्ञातं प्रजासर्गं निरूपयिष्यन् प्रथमं तदाधारभूताया भूमेरुद्धारं वक्तुमाह-'**अतीतकल्पे**'त्यादिना। निशायां सुप्तं प्रस्वापः, तस्मादुत्थितः। अत एव तदा सत्त्वोद्रिक्तः। दृश्यते हि निद्रावसाने प्रबुद्धानाम् प्रसन्नकरणत्वलक्षणः सत्त्वातिशयः॥ ३॥

सर्वसम्भवः विश्वस्रष्टा॥ ४॥

ब्रह्मणो नारायणसंज्ञां व्युत्पादयति-'**इमञ्चे**'ति। ब्रह्मस्वरूपिणं नारायणं प्रति ब्रह्मस्वरूपो नारायण एवेत्यस्मिन्नर्थे॥ ५॥

''नरतीति नरः प्रोक्तः परमात्मा सनातनः।'' इति वचनात् नरः पुरुषोत्तमस्तस्माज्जाता नाराः। तदुक्तम्-''तास्ववात्सीत् स्वसृष्टासु सहस्रपरिवत्सरान्। तेन नारायणो नाम यदापः पुरुषोद्भवाः'' इति॥ ६॥

तोयान्तः स महीं ज्ञात्वा जगत्येकार्णवे प्रभुः।
अनुमानात् तदुद्धारं कर्त्तुकामः प्रजापतिः॥७॥
अकरोत् स तनूमन्यां कल्पादिषु यथा पुरा।
मत्स्यकूर्म्मादिकां तद्वद् वाराहं वपुरास्थितः॥८॥
वेदयज्ञमयं रूपमशेषजगतः स्थितौ।
स्थितः स्थिरात्मा सर्वात्मा परमात्मा प्रजापतिः॥९॥
जनलोकगतैः सिद्धैः सनकाद्यैरभिष्टुतः।
प्रविवेश यदा तोयमात्माधारो धराधरः॥१०॥
निरीक्ष्य तं तदा देवी पातालतलमागतम्।
तुष्टाव प्रणता भूत्वा भक्तिनम्रा वसुन्धरा॥११॥[२९]

पृथिव्युवाच

नमस्ते सर्वभूताय तुभ्यं शङ्खगदाधर।
मामुद्धरास्मादद्य त्वं त्वत्तोऽहं पूर्व्वमुत्थिता॥१२॥
त्वत्तोऽहमुद्धता पूर्व्वं त्वन्मायाहं जनार्दन।
तथान्यानि च भूतानि गगनादीन्यशेषतः॥१३॥

ततः किमत आह-'**तोयान्त**'रिति पादेनद्वाभ्याम्। तोयस्योपरि पुष्करपर्णं दृष्ट्वा तदधिष्टानानुमानात् तोयस्यान्तर्महीं ज्ञात्वा तदुद्धारं कर्त्तुमिच्छन् नारायणोऽन्यां तनुं तदुद्धारयोग्यामकरोदित्यन्वयः॥७॥

पुरा यथा मत्स्यकूर्म्मादिकां तनुं कल्पादिषु तत्तत्कार्यार्थमकरोत् तद्वत्। तथा च श्रुतिः- "सोऽपश्यत् पुष्करपर्णे तिष्ठन्, सोऽमन्यत अस्ति चैतत् यस्मिन्निदमधितिष्ठति" इति। "स च वाराहं रूपकृत्त्वा उपन्यमज्जत्। स पृथिवीमप आर्च्छद्"। इत्यादि। तदा च वाराहं वपुरास्थितः सन् तोयं प्रविवेश इत्युत्तरेणान्वयः॥८॥

वेदयज्ञमयरूपमास्थितः, यतोऽशेषजगतः स्थितौ स्थितः वेदयज्ञाधीनत्वाज्जगत्स्थिते॥९-१०॥

तदा वसुन्धरा तदधिष्ठात्री देवी तं तुष्टाव॥११॥

अस्मात् पातालतलात् मामुद्धर त्वत्तो हेतोरहमुत्थिता उत्पन्ना उद्धृता उद्गता वा॥१२॥

उपादानकारणमपि मम च गगनादीनाञ्च त्वमेवेत्याह-'**त्वन्मये**'ति- त्वन्मयी॥१३॥

नमस्ते परमात्मात्मन् पुरुषात्मन् नमोऽस्तु ते।
प्रधानव्यक्तभूताय कालभूताय ते नमः॥ १४॥
त्वं कर्त्ता सर्वभूतानां त्वं पाता त्वं विनाशकृत्।
सर्गादिषु प्रभो ब्रह्मविष्णुरूद्रात्मरूपधृक्॥ १५॥
सम्भक्षयित्वा सकलं जगत्येकार्णवीकृते।
शेषे त्वमेव गोविन्द चिन्त्यमानो मनीषिभिः॥ १६॥
भवतो यत् परं तत्त्वं तन्न जानाति कश्चन।
अवतारेषु यद्रूपं तदर्चन्ति दिवौकसः॥ १७॥
त्वमाराध्य परं ब्रह्म याता मुक्तिं मुमुक्षवः।
वासुदेवमनाराध्य को मोक्षं समवाप्स्यति॥ १८॥
यत् किंचिन्मनसा ग्राह्यं यदग्राह्यं चक्षुरादिभिः।
बुद्ध्या च यत् परिच्छेद्यं तद्रूपमखिलं तव॥ १९॥
त्वन्मयाऽहं त्वदाधारा त्वत्सृष्टा त्वामुपाश्रिता।
माधवीमिति लोकोऽयमभिधत्ते ततो हि माम्॥ २०॥
जयाखिलज्ञानमय जय स्थूलमयाव्यय।
जयानन्त जयाव्यक्त जय व्यक्तमय प्रभो॥ २१॥

उपादाननिमित्तत्वादिकं साधयन्ती परब्रह्मस्वरूपेण पूर्वोक्तपुरुषादिचतू रूपेण प्रणमति-'नमस्त' इति॥ १४॥

ब्रह्मादिरूपेण सृष्ट्यादिकर्त्ता च त्वमेवेत्याह-'त्व'मिति। पाता पालकः॥ १५॥

शेषे-शयनं करोषि॥ १६॥

दिवौकसोऽपि॥ १७॥

मुमुक्षूणामपि तदेव भजनीयमित्याह-'त्वा'मिति। परं ब्रह्ममूर्तिं त्वमेवाराध्य मुक्तिं प्राप्ताः॥ १८॥

मनसा ग्राह्यं सङ्कल्प्यम्। बुद्धया च यत् परिच्छेद्यमध्यवसेयम्॥ १९॥

मम तु त्वदीयत्वं लोकप्रसिद्धमेवेत्याह-'त्वन्मये'ति। त्वत्समाश्रया त्वच्छरणा इत्येतैर्हेतुभिस्तत आरभ्य मामयं लोको माधवीं त्वदीयामभिधत्ते॥ २०-२१॥

परापरात्मन् विश्वात्मन् जय यज्ञपतेऽनघ।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोंकारस्त्वमग्नयः॥ २२॥
त्वं वेदास्त्वं तदङ्गानि त्वं यज्ञपुरुषो हरे।
सूर्यादयो ग्रहास्तारा नक्षत्राण्यखिलं जगत्॥ २३॥
मूर्त्तामूर्त्तमदृश्यञ्च कठिनं पुरुषोत्तम।
यच्चोक्तं यच्च नैवोक्तं मयात्र परमेश्वर।
तत्सर्वं त्वं नमस्तुभ्यं भूयो भूयो नमो नमः॥ २४॥

पराशर उवाच

एवं संस्तूयमानस्तु पृथिव्या पृथिवीधरः।
सामस्वरध्वनिः श्रीमान् जगर्ज्ज परिघर्घरम्॥ २५॥
ततः समुत्क्षिप्य धरां स्वदंष्ट्रया
महावराहः स्फुटपद्मलोचनः।
रसातलादुत्पलपत्रसन्निभः
समुत्थितो नील इवाचलो महान्॥ २६॥
उत्तिष्ठता तेन मुखानिलाहतं
तत्सम्भवाम्भो जनलोकसंश्रयात्।

परापरं कारणं कार्य्यञ्च, उच्चनीचं वा, तदात्मन् तद्रूपं, यज्ञपते यज्ञफलद, वषट्कारः वषड् इति मन्त्रः तद्वाच्यो वा॥ २२॥

यज्ञपुरुषो यज्ञमूर्तिर्यज्ञाराध्यो वा। तारा अश्विन्याद्याः, अन्यानि नक्षत्राणि, विपरीतं वा, उभयथापि प्रयोदर्शनात्॥ २३॥

मूर्त्तम्-असर्वगतं द्रव्यं, कठिनं वा। अदृश्यम्-अप्रत्यक्षम्। भूयो भूय इत्यादरार्थम्॥ २४॥

सामस्वर एव ध्वनिर्यस्य स इदानीं वाराहं रूपमनुकृत्य परिघर्घरं तज्ञात्यनुकृत्या जगर्ज्ज व्यनदत्॥ २५॥

समुत्क्षिप्य-उद्धृत्य। स्फुटे विकसिते पद्मे इव लोचने यस्य सः। उत्पलपत्रसन्निभः स्निग्धश्यामः॥ २६॥

प्रक्षालयामास हि तान् महाद्युतीन्
सनन्दनादीनपकल्मषान् मुनीन्॥ २७॥

प्रयान्ति तोयानि क्षुराग्रविक्षते
रसातलेऽघ, कृतशब्दसन्ततिः।

श्वासानिलास्ताः परतः प्रयान्ति
सिद्धा जने ये नियतं वसन्ति॥ २८॥

उतिष्ठतस्तस्य जलार्द्रकुक्षे-
र्महावराहस्य महीं विधार्य्य।

विधुन्वतो वेदमयं शरीरं
रोमान्तरस्था मुनयो जुषन्ति॥ २९॥

तं तुष्टुवुस्तापपरीतचेतसो
लोके जने ये निवसन्ति योगिनः।

सनन्दनाद्या नतिनम्रकन्धरा
धराधरं धोरतरोद्धतेक्षणम्॥ ३०॥

जयेश्वराणां परमेश केशव
प्रभो गदाशंखधरासि चक्रधृक्।

प्रसूति नाशस्थितिहेतुरीश्वर-
स्त्वमेव नान्यत् परमञ्च यत् परम्॥ ३१॥

निष्कल्मषानपि तान् मुनीन् प्रकर्षेण क्षालयामास-अतिनिर्मलानकरोत्। पाठान्तरेऽप्येवमेवार्थः॥ २७॥

वराहस्य खुराग्रेण विक्षते विदीर्णे रसातले सति, तेन द्वारेणाधस्तात् तोयानि प्रयान्ति। कथं ? कृतशब्दसन्तति-सनिर्घोषं यथा भवति तथा, सप्तम्यन्तपाठे कृता शब्दसन्ततिर्यस्मिन् रसातले तस्मिन्नधः प्रयान्तीत्यर्थः। श्वासानिलेन अस्ताः क्षिप्ताः। जने जनलोके॥ २८॥

'विगृह्ये'ति पाठे विशेषण गृहीत्वा। रोमान्तरस्था मुनय इति जनलोकं यावद् रोमप्रसरणादिति भावः॥ २९॥

तोषेण परीतं व्यातं चेतो येषां ते। तारतारः अत्युच्चः स चासावुद्धतेक्षणश्च उन्नतदृष्टिः तम्। धीरतरोद्धतेक्षणमिति पाठं निर्विशङ्कोदारेक्षणमित्यर्थः॥ ३०॥

पादेषु वेदास्तव यूपदंष्ट्र
दन्तेषु यज्ञाश्चितयश्च वक्त्रे
हुताशजिह्वोऽसि तनूरुहाणि
दर्भाः प्रभो यज्ञपुमांस्त्वमेव॥ ३२॥

विलोचने रात्र्यहनी महात्मन् सर्वाश्रयं ब्रह्मपदं शिरस्ते।
सूक्तान्यशेषाणि सटाकलापो घ्राणं समस्तानि हवींषि देव॥ ३३॥
स्रुक्तुण्डसामस्वरधीरनाद प्राग्वंशकायाखिलसत्रसन्धे।
पूर्त्तेष्टधर्म्मश्रवणोऽसि देव सनातनात्मन् भगवन् प्रसीद॥ ३४॥
पदक्रमक्रान्तभुवं भवन्तमादिस्थितिञ्चाक्षर विश्वमूर्त्ते।

ईश्वराणां ब्रह्मादीनां परमेश! अतो जगतः प्रसूत्यादीनां त्वमेव हेतुः, ईश्वरश्च नियन्ता। यच्च परमं पदं तदपि त्वत्तो नान्यत्। त्वमेव परं ब्रह्मेत्यर्थः। पाठान्तरं सुगमम्॥ ३१॥

परमत्वेन स्तुत्वा प्रस्तुतावताररूपं यज्ञरूपकेण स्तुवन्ति-'पादेष्वि'ति त्रिभिः। यज्ञपुमांस्त्वमेवेति प्रतिज्ञा। तत्सम्पादनं पादेष्वित्यादिभिः। चतुःसंख्यत्वाद् यज्ञाङ्गत्वाच्च वेदा यज्ञमयस्य तस्य पादत्वेन रूप्यन्ते। यूपा उन्नतत्वाद् दंष्ट्रा यस्य, हे यूपदंष्ट्र। दन्तेषु यज्ञाः पुरोडाशादिभक्षणार्थत्वाद् दन्तत्वेन रूप्यन्ते। चितयः ''श्येनचितं चिन्वीत कङ्कचितं चिन्वीत'' इत्यादिश्रुत्युक्तान्यग्निस्थलानि ताश्चितयो वक्त्रस्थानीया हविर्निक्षेपस्थानत्वात्। एवं सर्वत्र किञ्चित् साम्यमूहनीयम्। हुताशोऽग्निर्जिह्वा यस्य सः। दर्भास्तव तनुरुहाणि रोमाणि॥ ३२॥

रात्र्यहनी तमःप्रकाशधर्म्मके यज्ञकालात्मके तव विलोचने, निमेषोन्मेषाभ्यां तयोरपि तमःप्रकाशधर्म्मकत्वात्। परं ब्रह्म तव शिरः उत्तमाङ्गम्। सूक्तानि वैष्णवादीनि। सटाकलापः-स्कन्धकेशरसन्दर्भः ऋक्सन्दर्भरूपत्वात् सूक्तानाम्। हवींषि घ्राणेन्द्रियं गन्धवत्त्वसाम्यात्॥ ३३॥

स्रुक्तुण्डेत्यादि चत्वारि सम्बोधनानि। स्रुक् जुहूस्तुण्डं मुखं यस्य, वराहमुखाकारत्वात् स्रुचः। सामस्वर एव धीरो गम्भीरो नादो यस्य। प्राग्वंशः अग्निशालायाः पूर्वभागः। ''पूर्वभागोऽग्निशालायाः प्राग्वंशः परिकीर्तित इति वचनात् प्राग्वंश कायो मध्यभागो यस्य। अखिलानि सत्राणि द्वादशाहादीनि सन्धयो यस्य, तेषां त्रिवृत्यञ्च दशाद्यहःसंहतिरूपत्वात्। पूर्तं स्मार्तो धर्मः, इष्टं श्रौतो धर्मः तौ श्रवणौ यस्य स त्वमसि। सनातनात्मन्-नित्यमूर्त्ते॥ ३४॥

विश्वस्य विद्मः परमेश्वरोऽसि प्रसीद नाथोऽसि चराचरस्य॥ ३५॥

दंष्ट्राग्रविन्यस्तमशेषमेतद्-
भूमण्डलं नाथ विभाव्यते ते।
विगाहतः पद्मवनं विलग्नं
सरोजिनीपत्रमिवोढपङ्कम्॥ ३६॥

द्यावापृथिव्योरतुलप्रभाव
यदन्तरं तद् वपुषा तवैव।
व्याप्तं जगद्व्याप्तिसमर्थदीप्ते:
हिताय विश्वस्य विभो भव त्वम्॥ ३७॥

परमार्थस्त्वमेवैको नान्योऽस्ति जगतः पते:।
तवैष महिमा येन व्याप्तमेतच्चराचरम्॥ ३८॥

तदेतद् दृश्यते मूर्त्तमेतज्ज्ञानात्मनस्तव।
भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति जगद्रूपमयोगिनः॥ ३९॥

तदुपपादयति 'पदक्रमे'ति। 'पदक्रमेण पादविक्षेपेणाक्रान्ता प्याप्ता भूः येन तथाभूतं भवन्तं विश्वस्यादिस्थितिञ्च-जनकं पालकञ्च विद्म इत्यन्वयः। अतः परमेश्वरोऽसि, नाथश्च त्वमेवासि, नाथ्यते प्रार्थ्यति इति नाथः। अभिप्रेतमर्थं याचनीयश्चासीत्यर्थः। 'पादक्रमाक्रान्तमनन्तमादिस्थितं त्वमे'वेति पाठे भो अक्षर! भो विश्वमूर्ते! त्वया पादक्रमैराक्रान्तमनन्तं विश्वं, तस्मात् त्वमेव विश्वस्यादिस्थितं कारणं परमेश्वरश्च नाथश्चासीति वयं विद्मः, अतः प्रसीदेत्यन्वयः॥ ३५॥

किञ्च,-ते तव दंष्ट्राग्रे विन्ययस्तं स्थितमेतद् भूमण्डलम् ऊढपङ्कं धृतपङ्कं सरोजपत्रमिव विभाव्यते प्रतीयते कथम्भूतं सरोजपत्रमिव पवनं विगाहतः प्रविश्य विहरतः अर्थाद् गजेन्द्रस्य इव तव दंष्ट्राग्रे विलग्नमिवेत्यर्थः॥ ३६॥

किञ्च-द्यावापृथिव्योर्यदन्तरमन्तरीक्षं तत् तवैव वपुषा प्याप्तम्। जगद्व्याप्तौ समर्था दीप्तयो यस्य भो तथाभूत! पाठान्तरं सुगमम्॥ ३७॥

तव वपुषा व्याप्तमित्युक्तेः प्रतीतव्याप्यापवादेन परमार्थमाह-'**परमार्थ**' इति। अन्यश्चेन्नास्ति, कथं तर्हि त्वया व्याप्तमित्युक्तं, तत्राह-तवैष महिमा मायाप्रभावः। कोऽसौ, येन महिम्ना व्याप्तम् एतच्चराचरं जगत् सः एषः॥ ३८॥

व्याप्ताज्जगतस्तस्य वैलक्षण्यमाह-''**यदेतदि**'ति। तव यदेतत् मूर्त्तं भूतात्मकं तद्रूपं दृश्यते, एतत् ज्ञानात्मनो ज्ञानधनस्य तव ज्ञानमयमेव रूपम्। ज्ञानात्मकं तवेति वा पाठः। आयोगिनस्त्वज्ञा भ्रान्तिज्ञानेन जगद्रूपम् भूतमयं पश्यन्तीत्यर्थः॥ ३९॥

ज्ञानस्वरूपमखिलं जगदेतदबुद्धयः।
अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोहसंप्लवे॥ ४०॥
ये तु ज्ञानविदः शुद्धचेतसस्तेऽखिलं जगत्।
ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति त्वद्रूपं परमेश्वर॥ ४१॥
प्रसीद सर्वसर्वात्मन् भवाय जगतामिमाम्।
उद्धरोर्वीममेयात्मन् शंन्नो देह्यब्जलोचन॥ ४२॥
सत्त्वोद्रिक्तोऽसि भगवन् गोविन्द पृथिवीमिमाम्।
समुद्धर भवायेश शं नो देह्यब्जलोचन॥ ४३॥
सर्गप्रवृत्तिर्भवतो जगतामुपकारिणी।
भवत्वेषा नमस्तेऽस्तु शं नो तेह्यब्जलोचन॥ ४४॥

पराशर उवाच

एवं संस्तूयमानोऽथ परमात्मा महीधरः।
उज्जहार क्षितिं क्षिप्त न्यस्तवांश्च महार्णवे॥ ४५॥

इदं वाराहं रूपं त्वया लीलया धृतं ज्ञानात्मकमिति किं वक्तव्यम्। यतो वस्तुतस्तद्रुपाव्यतिरेकाज्जगदपि ज्ञानमयमेवेत्याह-'**ज्ञानस्वरूप**'मिति। मोहमये सम्प्लवे संसारसागरे॥ ४०॥

ज्ञानात्मकमेव सर्वमित्यत्र विद्वदनुभवं प्रमाणयन्ति-'ये त्वि'ति ज्ञायते। अनेनेति ज्ञानं वेदान्तपुराणादि, तद्विदः। श्रुतिश्च-''सर्वं खल्विदं ब्रह्म ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'' इत्यादि॥ ४१॥

सर्वं सर्वात्मन् जडाजडस्वरूप! भवन्त्यस्मिन्निति भवो निवासः तदर्थमुर्वीमुद्धर। एवं कृत्वा शं सुखं नोऽस्मभ्यं देहि। भो अब्जलोचन! अब्जवत् सुप्रसन्ने लोचने यस्य तव॥ ४२॥

साम्प्रतञ्च तवेदमेव युक्तमित्याह-'**सत्त्वोद्रिक्तोऽसी**'ति द्वाभ्याम्। भवाय उद्भवार्थम्। अब्जलोचन-श्रीनिलयभूते लोचने यस्य॥ ४३॥

जगदुपकार एवास्मत्सुखं तदेवास्माभिः प्रार्थ्यत इति त्वमेव जानासीति पुनः सम्बोधयन्ति। अब्जे हृतपुण्डरीके लोचनं दृष्टिर्यस्य,-भो हृदयसाक्षिन्नित्यर्थः॥ ४४-४५॥

तस्योपरि समुद्रस्य महती नौरिव स्थिता।
विततत्वाच्च देहस्य न मही याति संप्लवम्॥ ४६॥
ततः क्षितिं समां कृत्वा पृथिव्यां सोऽपि नोद्गिरीन्।
यथा विभागं भगवाननादिः परमेश्वरः॥ ४७॥
प्राक् सर्गदग्धानखिलान् पर्वतान् पृथिवीतले।
अमोघेन प्रभावेण ससर्जामोघवांछितः॥ ४८॥
भूविभागं ततः कृत्वा सप्तद्वीपं यथातथम्।
भुवाद्यांश्चतुरो लोकान् पूर्ववत् सतकल्पयत्॥ ४९॥
ब्रह्मरूपधरो देवस्ततोऽसौ रजसा वृत्तः।
चकार सृष्टिं भगवांश्चतुर्वक्त्रधरो हरिः॥ ५०॥
निमित्तमात्रमेवासीत् सृज्यानां सर्गकर्म्मणि।

विततत्वात् विस्तृतत्वात्, संप्लवं-निमज्जनं न याति॥ ४६॥

यथाविभागं यथास्थानम्॥ ४७॥

अमोघवाञ्छितः सत्यसङ्कल्पः॥ ४८॥

यथातथं-यथावत्। भूवाद्यांश्चतुरो लोकान् यथापूर्वं समकल्पयत्-सङ्कल्पेनैव सृष्टवान् पातालेन सह भुवादीनां चतुष्टयम्। यद्वा महर्लोकस्यापि सङ्कर्षणमुखानलोष्मणा शून्यतया विनष्टप्रायत्वाच्चतुरो लोकानित्युक्तम्। तथा च श्रुतिः-''सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरीक्षमथो स्वः''। इति। दिवः पृथगुपादानात् स्वःशब्देन महर्लोके गृह्यते॥ ४९॥

तदेवं भूम्युद्धारादिलोकरचनापर्यन्ता वाराहमूर्तेर्हरेर्लीलोक्ता, अथ तेनैव ब्रह्मरूपेण कृतां देवादिसृष्टिमाह-''**ब्रह्मरूपे**' ति॥ ५०॥

रजसावृतः सृष्टिं चकारेत्युक्तम्, तत्र रजोगुणस्य कर्मशक्तिर्दुखादिहेतुत्वाद् ब्रह्मणो नित्यं कर्मदुःखित्वादि प्राप्तमित्याशंक्याह-'**निमित्तमात्र**'मिति। असौ हरिर्ब्रह्मरूपधरः। अयमर्थः,-सृष्टानां सर्गे ब्रह्मा निमित्तमात्रं-पर्ज्जन्यवत् सन्निधिमात्रेण साधारणकारणमेव, न तु प्रतिसृज्यं स्वयं व्याप्रियते। तदुक्तम्-''यथा सन्निधिमात्रेण गन्धः क्षोभाय जायते'' इति। अत्र तर्हि मुख्यं कारणं किमिन्यत्राहप्रधानकारणीभूता इति। प्रधानं मुख्यमसाधारणं कारणं यथाभूतः। यतः कारणात् सृज्यशक्तय एव॥ ५१॥

प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तय:॥५१॥
निमित्रमात्रं मुक्त्वाकं नान्यत् किंचिदवेक्षते।
नीयते तपतां श्रेष्ठ स्वशक्त्या वस्तुवस्तुताम्॥५२॥

इति श्रीविष्णुपुराणे प्रथमांशे चतुर्थोध्याय:।

एतद् विवृणोति-'निमित्तमात्र'मिति। निमित्तमात्रसमवधाने सति कारणात्मना स्थितं सूक्ष्मं वस्तु स्वपरिणामशक्त्यैव वस्तुतां स्थूलरूपतां नीयते। निमित्ताद् यदन्यत् तत् स्थूलरूपपरिणामार्थं नापेक्षते। यथा धान्रादिबीजेषु सूक्षात्मना स्थितमङ्कुरादि पर्ज्नन्ये सति स्वपरिणामशक्त्यैव तथा परिणमते तद्वत्। अतो नोक्तदोषप्रसङ्ग इत्यर्थ:॥५२॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशभिधायां विष्णुपुराणटीकायां प्रथमांशे चतुर्थोऽध्याय:

पञ्चमोऽध्यायः

(देवीदीनां सृष्टिकथनम्।)

मैत्रेय उवाच

यथा ससर्ज्ज देवोऽसौ देवर्षिपितृदानवान्।
मनुष्य तिर्यग्वृक्षादीन् भूव्योमसलिलौकसः॥ १॥
यद्गुणं यत्स्वरूपञ्च यत्स्वभावं जगद्द्विज।
सर्गादौ सृष्टवान् ब्रह्मा तन्मामाचक्ष्व तत्त्वतः॥ २॥

पराशर उवाच

मैत्रेय कथयाम्येष शृणुष्व सुसमाहितः।
यथा ससर्ज्ज देवोऽसौ देवादीनखिलान् प्रभुः॥ ३॥
सृष्टिं चिन्तयतस्तस्य कल्पादिषु यथा पुरा।
अबुद्धिपूर्वकः सर्गः प्रादुर्भूतस्तमोमयः॥ ४॥
तमो मोहो महामोहस्तामिस्त्रो ह्यन्धसंज्ञितः।
अविद्याः पंचपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥ ५॥

ब्रह्मरूपधरो देवः स्त्रष्टिञ्चकारेत्युक्तम्। तत्प्रकारं जिज्ञासुः पृच्छति-'यथे'ति द्वाभ्याम्। भू-व्योम-सलिलान्योकांसि स्थानानि येषां तान्॥ १॥

यद्गुणमित्यादिः, स्वभावः-शान्तत्वघोरत्वादिः। रूपं, द्विपाद्यतुष्पादित्याद्याकारः, यादृग् गुणशीलाकारमित्यर्थः॥ २-३॥

अविद्यां विना सृष्टेषु देहेषु जीवानां कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यसम्भवात् प्रथममविद्याविर्भावमाह-'**सृष्टिमि**'ति। अबुद्धिपूर्वकः अनवधानमूलः, तमोमय। अविद्यावृतिरूपः॥ ४॥

तदेवाह-'**मत**' इति। अन्धसंज्ञितः अन्धतामिस्त्रः। पञ्च पर्वाणि वृत्तिविशेषा यस्याः सा। तत्र तमो-देहादावनात्माभिमानः, मोहः-तत्सम्बधिषु पुत्रादिषु स्वाम्यहमस्मीत्यभिमानः। महामोहः—शब्दादिभोगस्पृहा। तामिस्त्रः तत् प्रतिघाते क्रोधः। अन्धतामिस्त्रः विनाशादिशङ्क्या नित्यं तद्र क्षणाद्यभिनिवेशः। एते च पञ्च विपर्य्यया: पातञ्जले क्लेशशब्देनोक्ताः—''**अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः**'' इति॥ ५॥

पंचधावस्थितः सर्गो ध्यायतो प्रति बोधवान्।
बहिरन्तोऽप्रकाशश्च संवृतात्मा नगात्मकः॥ ६॥
मुख्या नगा यतश्चोक्ता मुख्यसर्गस्ततस्त्वयम्।
तं दृष्ट्वाऽसाधकं सर्गममन्यदपरं पुनः॥ ७॥
तस्याभिध्यातयः सर्गस्तिर्यक्स्त्रोताभ्यवर्त्तत।
यस्मात् तिर्य्यक् प्रवृतः स तिर्य्यक्स्त्रोतास्ततः स्मृतः॥ ८॥
पश्वादयस्ते विख्यातास्तमः प्रा‌‌या ह्यवेदिनः।
उत्पथग्राहिणश्चैव तेऽज्ञाने ज्ञानमानिनः॥ ९॥
अहङ्कृता अहम्माना अष्टविंशद्वधात्मकाः।

तदेवमविद्यायामूद्भूतायां सत्यां प्रथममत्यन्ततमोमयं स्थावरसर्गमाह—'**पञ्चधे**'ति सार्धेन। तस्य सृष्टिं ध्यायतः सतो नगात्मकः स्थावररूपः सर्गः पञ्चधावस्थितः। ''वृक्षगुल्मलतावीरुत् समस्तास्तृणजातय'' इति पञ्चमांशे वक्ष्यमाणः पञ्चप्रकारो जात इत्यर्थः। तस्य सामान्यलक्षणम् अप्रतिबोधवान् कोऽहमिति परामर्शशून्यः। बहिःशब्दादिविषये अन्तःसुखादौ च अप्रकाशः ज्ञानशून्यः संवृतात्मा मूढस्वभावः॥ ६॥

मुखमिव प्रथमं ब्रह्मणः सर्गो भवतीति मुख्या नगाः स्थावराः। अत एव पर्वतानां स्थावरत्वेऽपि ब्राह्मसर्गात् प्रागेव वराहेण सृष्टत्वान्नात्रानुप्रवेश इति पञ्चधेत्युक्तम्। यद्वा पर्वतानां पक्षच्छेदनिमित्तमागन्तुकं स्थावरत्वं, न स्वाभाविकमिति नात्रानुप्रवेशः। मुख्यसर्गपरितोषेण सर्गान्तरं ध्यायतस्तस्मात् किञ्चिदुत्कृष्टस्तिर्य्यक्सर्गो जात इत्याह— 'तं दृष्टवे'ति सार्द्धैस्त्रिभिः। असाधकं पुरुषार्थप्रवृत्तिशून्य दृष्ट्वा अपरं सर्गममन्यत्—अमन्यत दध्यावित्यर्थः। 'अमन्यत परं पुन'रिति पाठः साधुः॥ ७॥

तिर्य्यक्स्रोताः अभ्यवर्त्तत, सन्धिरार्षः। यस्मात् तिर्यक्प्रवृत्तः तिर्य्यगाहारसञ्चारेण प्रकृष्टं वृत्तं वृत्तिर्जीवनं यस्य सः॥ ८॥

पश्वादय इति—आदिशब्देन पक्ष्यादिः। तेषां लक्षणं तमःप्रायाः तमोऽधिकाः। अवेदिनः अनुसन्धाशून्याः—तथा च श्रुतिः अथेतरेषां पशूनामशनायापिपासे एवाभिज्ञानं, न विज्ञातं वदन्ति, न विज्ञातं प्रपश्यन्ति, न विदुः श्वस्तनं लोकालोकौ''। इति उत्पथग्राहिणः—उन्मार्गवर्तिनः भक्ष्याभक्ष्यगम्यागम्यादिविवेकरहिता इत्यर्थः। अज्ञाने विपर्य्ययज्ञाने सम्यग्ज्ञानाभिमानिनः॥ ९॥

अन्त:प्रकाशास्ते सर्वे आवृताश्च परस्परम्॥ १०॥

अहङ्कृता: साहङ्कारमेव कृतं कर्म येषां ते। अहंमाना: साहङ्कार एव मनोऽवबोधो येषां ते। अष्टाविंशद्वधात्मका:। अष्टविंशतिवधस्वभावा:। अन्त: सुखादावेव प्रकाश: प्रकृष्ट ज्ञानं येषां ते। आवृताश्च परस्परम् अन्योन्याभिजात्यस्वभावाद्यनभिज्ञा:। अष्टाविंशतिवधा: सांख्योक्ता:। 'एकादशेन्द्रियवधा: सहबुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा:। सप्तदशधा तु बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम्। आध्यात्मिकाश्चतस्र: प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्या:। बाह्या विषयोपरमात् पञ्च तुष्टयोऽभिहिता:। ऊह: शब्दोऽध्ययनं दु:खविघातास्त्रय: सुहृत्प्राप्ति:। दानञ्च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धे: पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविध:। "अयमर्थ:—इन्द्रियवधा एकादश अन्धबधिरत्वादिरूपाद् वैकल्यात् स्वार्थग्रहणाशक्तिरूपा:। तुष्टीनां नवानां सिद्धीनाञ्चाष्टानां वैकल्यात् सप्तदशधा बुद्धेर्वध:, तदेवमष्टाविंशतिवधात्मका: पश्वादय:। यद्यपि मनुष्यादीनामपीन्द्रियाद्यशक्तय: सम्भवन्ति, तथापि तिरश्चां तदाधिक्यादेवमुक्तम्। तत्र नव तुष्टीराह—अध्यात्मिका: प्रकृत्युपादानकांला भाग्याख्याश्चतस्रस्तुष्टय:। तत्राष्टविधप्रकृत्यां चित्रलयान् मुक्तोऽस्मीति प्रकृत्याख्या तुष्टि:। सन्नायासवेशोपादानमात्रात् कृतार्थोऽस्मीति तुष्टिरूपादानाख्या। कालत एव सेत्स्यति, किं ध्यानक्लेशेनेति तुष्टि: कालाख्या। भाग्योदयादेव सेत्स्यतीति तुष्टिर्भग्याख्या:। एताश्चात्मानमधिकृत्य भवन्तीत्याध्यात्मिकाश्चतस्र:। अर्थानामर्ज्जनरक्षणव्ययनाशादिदोषदर्शनेन शब्दादिपञ्चविषयोपरमात् पञ्च तुष्टयो बाह्यविषयत्वाद् बाह्या:। एवं नव तुष्टयोऽभिहिता:। अष्टौ सिद्धीराह—'ऊह' इति। उपदेशानपेक्षमेवार्थोन्नयनमूहसिद्धि:। प्रासङ्गिकाच्छब्दश्रवणादर्थज्ञानं शब्दसिद्धि:। गुरूपदेशादेव ततो विवेकार्थज्ञानमध्ययनसिद्धि:। दु:खत्रयविघातात् तिस्र: सिद्धय:। सुहृत्प्राप्तितोऽर्थसिद्धि:। विद्वत्तपस्विशुश्रूषालभ्या अर्थसिद्धिरित्येता अष्टौ सिद्धय:। अयञ्चेन्द्रियाशक्तितुष्टिसिद्धिरूपस्त्रिविध:। सिद्धेर्मुक्ते: पूर्वोऽङ्कुश: प्रतिघातक इति श्लोकत्रयस्यार्थ:। आसाञ्च तुष्टिसिद्धिनामभावसलिला चेत्यादि परिभाषिकसंज्ञान्तरं तत्तदवान्तरभेदश्च विस्तरभयान्न लिख्यते। अष्टाविंशद्वधात्मका इति वा पाठ: तदा तु भागवतोक्ता नव द्विशफा:, षडेकशफा:, त्रयोदश पञ्चनखा इत्यष्टाविंशतिर्भेदा ग्राह्या:। तदुक्तं—"गौरजो महिष: कृष्ण: शूकरो गवयो रुरु:। द्विशफा: पशवश्चेमे अविरुष्ट्रश्च सत्तम॥ खरोऽश्वोऽश्वतरो गौर: शरभश्चमरी तथा। एते चैकशफा: क्षत्त: श्रृण पञ्चनखान् पशून्॥ श्वा श्रृगालो वृको व्याघ्रो मार्जार: शश-शल्लको। सिंह: कपिर्गज: कूर्म्मो गोधा च मकरादय:॥ १०॥

तमप्यसाधकं मत्वा ध्यायतोऽन्यस्ततोऽभवत्।
ऊर्ध्वस्रोतास्तृतीयस्तु सात्त्विकोर्ध्वमवर्त्तत॥ ११॥
ते सुखप्रीतिबहुला बहिरन्तस्त्वनावृताः।
प्रकाशा बहिरन्तश्च ऊर्ध्वस्रोतोद्भवाः स्मृताः॥ १२॥
तुष्टात्मनस्तृतीयस्तु देवसर्गस्तु स स्मृतः।
तस्मिन् सर्गेऽभवत् प्रीतिर्निष्पन्ने ब्रह्मणस्तदा॥ १३॥
ततोऽन्यं स तदा दध्यौ साधकं सर्गमुत्तमम्।
असाधकांस्तु तान् ज्ञात्वा मुख्यसर्गादिसम्भवान्॥ १४॥
तथाभिध्यायतस्तस्य सत्याभिध्यायिनस्ततः।
प्रादुर्बभूव चाव्यक्तादर्वाक् स्रोतस्तु साधकम्॥ १५॥
यस्मादर्वाक् प्रवर्त्तन्ते ततोऽर्वाक्स्रोतसस्तु ते।
ते च प्रकाशबहुलास्तमोद्रिक्ता रजोऽधिकाः॥ १६॥
तस्मात् ते दुःखबहुला भूयोभूयश्च कारिणः।
प्रकाशा बहिरन्तश्च मनुष्याः साधकाश्च ते॥ १७॥

तिर्यक्सर्गापरितोषेण पुनर्ध्यायतो देवसर्गोऽभूदित्याह—'तमपी'ति त्रिभिः। ऊर्ध्वम् उपरि देहाद् बहिरेव स्रोत आहारस्य ग्रहणं यस्य सः, अमृतदर्शनादेव तृप्तेः। तथा च श्रुतिः—'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति'' इति। सात्त्विकोर्द्धं सात्त्विकं सुखप्रकाशनादिकमूर्द्धवमधिकं यथा भवत्येवमवर्त्तत॥ ११॥

तदेवाह—'त' इति। सुखं विषयेन्द्रियोगजम्' प्रीतिस्तन्निमित्तो हर्षः, सत्त्वाधिक्यात् सुखप्रीति बहुले येषां ते तथा॥ १२-१४॥

सत्याभिध्यायिनः सत्यसङ्कल्पस्य भगवद्ध्यानशीलस्येति वा। अव्यक्तादिति मुख्यादिसर्गेष्वपि समानं, तेष्वपि कारणान्तरस्यानुक्तवात्। तथा च वायुः—''अव्यक्ताज्जायते वास्य मनसा यद् यदिच्छति। वशीकृतत्वात् त्रैगुण्यात् सापेक्षत्वात् स्वभावतः''॥ इति॥ १५॥

यस्मादर्वागधः प्रविष्टेनाहारेण प्रवर्त्तन्ते॥ १६॥

तम उद्रेकाद् दुःखबहुलाः, रजोऽधिकत्वाद् भूयोभूयः कर्मशीलाः, प्रकाशबहुलत्वाद् बहिरन्तश्च प्रकाशाः प्रकृष्टज्ञानाः, साधकाः कर्मज्ञानाधिकारित्वात्॥ १७॥

इत्येते कथिताः सर्गाः षडत्र मुनिसत्तम।
प्रथमो महतः सर्गो विज्ञेयो ब्रह्मणस्तु सः॥१८॥
तन्मात्राणां द्वितीयश्च भूतसर्गस्तु स स्मृतः।
वैकारिकस्तृतीयस्तु सर्ग ऐन्द्रियकः स्मृतः॥१९॥
इत्येष प्राकृतः सर्गः सम्भूतो बुद्धिपूर्वकः।
मुख्यसर्गश्चतुर्थस्तु मुख्या वै स्थावराः स्मृताः॥२०॥
तिर्य्यक्स्रोतास्तु यः प्रोक्तस्तैर्य्यग्योन्यः स उच्यते।
ऊर्ध्वस्रोतास्ततः षष्ठो देवसर्गस्तु स स्मृतः॥२१॥
ततोऽर्व्वाक्स्रोतसः सर्गः सप्तमः स तु मानुषः।
अष्टमोऽनुग्रहः सर्गः सात्त्विकस्तामसश्च सः॥२२॥

षडत्रेति-द्वितीयाध्यायोक्तैः सह षडेते सर्गाः। तथा हि इन्द्रियदेवतासर्गस्य बाह्यदेवतासर्गस्य च देवतासर्गत्वेनैक्यम् इन्द्रियसर्गेण सहाभेदश्च वक्ष्यते, अहङ्काराविद्यासर्गयोश्च बुद्धिभेदत्वाद् बुद्ध्यात्मकहत्तत्त्वान्तर्भावः, भौतिकब्रह्माण्डसर्गस्य भूतसर्गान्तर्भावः। एवञ्च सति महत्तत्त्वभूतेन्द्रिसर्गास्त्रयो मुख्यतिर्य्यङ्मनुष्यसर्गाश्च त्रय इत्येवं षडेते सर्गाः कथिता इत्यर्थः। तानेव किञ्चिदवान्तरभेदविवक्षया नवधा विवृण्वन्नाह—'प्रथमो महत' इत्यादिना। विराट् समस्त शरीराभिमानिनो ब्रह्मणो महत्तत्त्वं लिङ्गशरीरम्, अतोऽसौ ब्रह्मणः सर्गो विज्ञेय इत्यर्थः। यद्वा—ब्रह्म परमात्मा, तत्कर्तृकः सर्गो विज्ञेय इत्यर्थः॥१८॥

इत्येष प्राकृतः—प्रकृतीनां ब्रह्माण्डकारणानां सर्ग इत्यर्थः। अबुद्धिरविद्याख्य-प्रकृतिस्ततपूर्वकः सम्भूतः। यद्वा बुद्धिर्महत्तत्त्वं तत्पूर्वकस्तदादिरित्यर्थः॥२०॥

तिर्यगेव योनिर्यस्य स तिर्यग्योनिः, स एव तैर्य्यग्योन्यः स्वार्थे ष्यञ्। स पञ्चमः सर्ग उच्यते इत्यर्थः॥२१॥

तत्र सात्त्विको देवसर्गः पूर्वमुक्तः, इदानीं सात्त्विकतमसोभयस्वभावमपरं देवसर्गमाह—'अष्टम' इति। स च वायुप्रोक्ते विवृतः—"अष्टमोऽनुग्रहः सर्गः स चतुर्धा व्यवस्थितः। विपर्य्ययेण चाशक्त्या सिद्ध्या तुष्ट्यातथैव च। स्थावरेषुविपर्य्यासात् तिर्यग्योनिष्वशक्तितः। सिद्ध्यात्मना मनुष्येषु तुष्ट्या देवेषु कृत्स्नशः"। इति। विपर्य्यासाः पञ्च तमोमोह इत्यादयः, अशक्तिरेकादशेन्द्रियवैकल्यलक्षणा, सिद्धिरष्टविधा, तुष्टिश्च

पंचैते वैकृताः सर्गाः प्राकृतास्तु त्रयः स्मृताः।
प्राकृतो वैकृताश्चैव कौमारो नवमः स्मृतः॥ २३॥
इत्येते वै समाख्याता नव सर्गाः प्रजापतेः।
प्राकृता वैकृताश्चैव जगतो मूलहेतवः।
सृजतो जगदीशस्य किमन्यत् श्रोतुमिच्छसि॥ २४॥

मैत्रैय उवाच

संक्षेपात् कथितः सर्गो देवादीनां मुने त्वया।
विस्तराच्छ्रोतुमिच्छामि त्वत्तो मुनिवरोत्तम॥ २५॥

पराशर उवाच

कर्म्मभिर्भाविताः पूर्व्वैः कुशलाकुशलैस्तु ताः।
ख्यात्यातया ह्यनिर्मुक्ता संहारे हयुपसंहताः॥ २६॥
स्थावरान्ताः सुराद्यास्तु प्रजा ब्रह्मंश्चतुर्विधाः।

नवविधा प्रागेव प्रपञ्चिता। स्थावरादिष्वत्यन्तविपर्य्ययादिस्वभावेषु तत्तत्स्वभावानुग्राहको देवसर्गो हि अनुग्रहशब्देनोच्यते। स च स्थावरेषु तिर्यक्षु च तमसः पोषकत्वात् तामसः। मनुष्येषु देवेषु च सिद्धितुष्ट्यनुरूपत्वोपबृंहकत्वात् सात्त्विक इत्यर्थः॥ २२॥

पञ्चैते मुख्यसर्गादयो वैकृताः, विकृतीनां सर्गाः। महदादयः प्राकृताः। देवतासर्गान्तरमाह—'प्राकृता' इति। कौमारः नीललोहितरुद्रसनत्कुमारादीनां सर्गः। तत्र सनत्कुमारादिसर्गो वैकृतः, विकृतिभूतेन ब्रह्मणा कृतत्वात्। रुद्रसर्गस्तु प्राकृतः, प्रकृतितः स्वयमेवोदभूतत्वादिति केचित्। तथा च वक्ष्यति—''प्रादुरासीत् प्रभोरङ्केकुमारो नीललोहितः'' इति। अन्ये त्वाहुः—रुद्रसर्गो विकृत्यन्तरजनकत्वात् प्राकृतः, सनत्कुमारादीनां नैष्ठिकानां सर्गो विकृत्यन्तरानुत्पादकत्वाद् वैकृत एवेति॥ २३॥

जगत्सृजत् ईश्वरस्य जगतो मूलहेतव एते नव सर्गाः समाख्याता इत्यर्थः॥ २४॥

ब्रह्मणः शरीराद् विस्तारेण सृष्टिं वक्तुं कुमारादौ तावत् सनिमित्तां मानसीं सुरादिसृष्टिं पूर्वोक्तामनुवदति 'कर्मभि'रिति द्वाभ्याम्। पूर्वैः कर्मभिर्भाविता अधिवासिताः। अतस्ताः प्रजाः संहारे उपसंहता अपि तया ख्यात्या तत्तत्—कर्मानुसारिण्या बुद्धया अनिर्मुक्ता न नितरां वियुक्ताः, संस्काररूपेण स्थितयैव जज्ञिर इत्युत्तरेणान्वयः॥ २६॥

ब्रह्मणः कुर्वतः सृष्टिं जज्ञिरे मानसास्तु ताः॥ २७॥
ततो देवासुरपितृ न् मानुषांश्च चतुष्टयम्।
सिसृक्षुरम्भांस्येतानि स्वमात्मानमयूयुजत्॥ २८॥
युक्तात्मनस्तमोमात्रा उद्रिक्ताभूत् प्रजापतेः।
सिसृक्षोर्ज्जघनात् पूर्वमसुरा जज्ञिरे ततः॥ २९॥
उत्ससर्ज्ज ततस्तान्तु तमोमात्रात्मिकां तनुम्।
सा तु त्यक्ता ततस्तेन मैत्रेयाभूद् विभावरी॥ ३०॥
सिसृक्षुरन्यदेहस्थः प्रीतिमाप ततः सुराः।
सत्त्वोद्रिक्ताः समुद्भूता मुखतो ब्रह्मणो द्विज॥ ३१॥
त्यक्ता सा तु तनुस्तेन सत्त्वप्रायमभूद् दिनम्।
ततो हि बलिनो रात्रावमुरा देवता दिवा॥ ३२॥
सत्त्वमात्रात्मिकामेव ततोऽन्यां जगृहे तनुम्।

सुराद्याः—सुर-नर-तिर्यक्-स्थावरा एवं चतुर्विधाः॥ २७॥

इदानीं शरीरात् सृष्टिमाह—'तत' इत्यादि यावदध्यायसमाप्तिः। देवादींश्चतुष्टयं चतुःसंख्यान् अम्भांसि अम्भःसंज्ञकान् सिसृक्षुरात्मानं मनोऽयूयुजत् समाधत्तेत्यन्वयः। ''तानि वा एतानि चत्वार्य्यम्भांसि देवा मनुष्याः पितरोऽसुरा'' इति श्रुतेर्देवादीनामम्भःसंज्ञा॥ २८॥

तमसो मात्रा लेशः सृष्टादृष्टावशाद्उद्रिक्ता अभूत्॥ २९॥

तमोमात्रात्मिकां तनुमिति विशेषणात् तमोमयं भावमुत्ससर्ज इत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि। विभावरी रात्रिः। श्रुतिश्च—''सा तमिस्राभवत्'' इति॥ ३०॥

अन्यदेहस्थः सात्त्विके भावे स्थितः सन् सिसृक्षुः प्रीतिं सुखमवाप। मुखतः—''सा मुखाद् देवान् सृजते'' इति श्रुतेः॥ ३१॥

सत्त्वप्रायं प्रकाशात्मकम्। रात्रिरभूदित्यादिकथनस्योपयोगमाह—'ततो ही'ति। यतस्तमोमय्या रात्रिभूतायास्तनोर्निर्गता। ततो ह्यसुरा रात्रौ बलिनः, अतस्तत्पूजा रात्रौ कार्येत्यर्थः। एवं दिवादिष्वपि द्रष्टव्यम्॥ ३२॥

अन्यां तनुं जगृहे, गृहीत्वा चात्मानं जगत् पितृवन्मन्यमानस्य पार्श्वाभ्यां पितरो जाताः। यथाह वायुः—''पितृवन् मन्यमानस्तु पुत्रान् प्रध्यायतः प्रभुः। स पितृनुपपक्षाभ्यां रात्र्यह्नोरन्तरेऽसृजत्'' इति॥ ३३/३४/३५॥

पितृवन्मन्यमानस्य पितरस्तस्य जज्ञिरे॥ ३३॥
उत्ससर्ज्ज पितॄन् सृष्ट्वा ततस्तामपि स प्रभुः।
स चोत्सृष्टाऽभवत् सन्ध्या दिननक्तान्तरस्थितिः॥ ३४॥
रजोमात्रात्मिकामन्यां जगृहे स तनुं ततः।
रजोमात्रोत्कटा जाता मनुष्या द्विजसत्तम॥ ३५॥
तामप्याशु स तत्याज तनुं सद्यः प्रजापतिः।
ज्योत्स्ना समभवत् सापि प्राक्सन्ध्या याभिधीयते॥ ३६॥
ज्योत्स्नायामेव बलिनो मनुष्याः पितरस्तथा।
मैत्रेय सन्ध्यासमये तस्मादेते भवन्ति वै॥ ३७॥
ज्योत्स्ना रात्र्यहनी सन्ध्या चत्वार्य्येतानि वै प्रभोः।
ब्रह्मणस्तू शरीराणि त्रिगुणोपाश्रयाणि तु॥ ३८॥
रजोमात्रात्मिकामेव ततोऽन्यां जगृहे तनुम्।
ततः क्षुद् ब्रह्मणो जाता जज्ञे कोपस्तया ततः॥ ३९॥
क्षुत्क्षामानन्धकारेऽथ सोऽसृजद् भगवांस्ततः।
विरूपाः श्मश्रुला जातास्तेऽभ्यधावंस्ततः प्रभुम्॥ ४०
मैवं भो रक्ष्यतामेष यैरुक्तम् राक्षसास्तु ते।
ऊचुः खादाम इत्यन्ये ये ते यक्षास्तु जक्षणात्॥ ४१॥

सद्य इत्यनेन तत्तद् बुद्धिमन्तरेण रवतनुत्यागो नास्तीति दर्शितम्। ज्योत्स्ना प्रभातम्॥ ३६॥

सन्ध्यासमये सन्ध्योपलक्षिते अपराह्ण इत्यर्थः। ''अपराह्णः पितृणाम्। इति श्रुतेः॥ ३७॥

तस्मात् ज्योत्स्ना रात्र्यहःसन्ध्यासमया ब्रह्मणस्तु शरीराणीत्युपासनार्थमुक्तम्॥ ३८॥
तया क्षुधा॥ ३९॥

ततो व्यासः सन् अन्धकारे स्थिता असृजत्। प्रभुमभ्यधावन् भक्षयितुमिति शेषः॥ ४०॥

तेषामेव मध्ये ये येऽन्ये खादामो जक्षाम इत्यूचुः, ते जक्षणात् भक्षणाध्यवसायाद् यक्षाः जक्ष भक्षहसनयोः। जक्ष इति वक्तव्ये यकारः, परोक्षतार्थः ''परोक्षप्रिया इव हि देवाः'' इति श्रुतेः॥ ४१॥

अप्रियानथ तान् दृष्ट्वा केशाः शीर्य्यन्त वेधसः।
हीनाश्च शिरसो भूयः समारोहन्त तच्छिरः॥ ४२॥
सर्पणात् तेऽभवन् सर्पा हीनत्वादहयः स्मृताः।
ततः क्रुद्धो जगत्स्रष्टा क्रोधात्मनो विनिर्ममे॥ ४३॥
वर्णेन कपिशेनोग्रा भूतास्ते पिशिताशनाः।
धयन्तो गां समुत्पन्ना गन्धर्वास्तस्य तत्क्षणात्॥ ४४॥
पिबन्तो जज्ञिरे वाचं गन्धर्वास्तेन ते द्विज।
एतानि सृष्ट्वा भगवान् ब्रह्मा तच्छक्तिनोदितः॥ ४५॥
ततः स्वच्छन्दतोऽन्यानि वयांसि वयसोऽसृजत्।
अवयो वक्षसश्चक्रे मुखतोऽजाः स सृष्टवान्॥ ४६॥
सृष्ट्वानुदराद् गाश्च पार्श्वाभ्यां च प्रजापतिः।
पद्भ्यामश्वान् समातङ्गान् शरभान् गवयान् मृगान्॥ ४७॥
उष्ट्रानश्वतरांश्चैव न्यङ्कूनन्यांश्च जातयः।
ओषध्यः फलमूलिन्यो रोमभ्यस्तस्य जज्ञिरे॥ ४८॥
त्रेतायुगमुखे ब्रह्मा कल्पस्यादौ द्विजोत्तम।
सृष्ट्वा पश्वोषधीः सम्यग् युयोज स तदाध्वरे॥ ४९॥

शीर्य्यन्त अशीर्य्यन्त अहीयन्तेत्यर्थः। शिरोहीनाः सन्तः पुनस्तस्य शिरः समारूढ़ाः॥ ४२॥

सर्पणात्—शिराः समारोहणात्। क्रोधात्मनः—क्रोधात्मकान्॥ ४३॥

गां वाचं धयन्तः पिबन्तः गायन्त इत्यर्थः॥ ४४॥

गां पिबन्तो गायन्तो जज्ञिरे, तेन ते गन्धर्वाः। तच्छक्तिनोदितः—तेषां सृष्टानां शक्तिभिः प्राक्कर्मसंस्काररूपाभिः प्रयुक्तः सन्॥ ४५॥

तत्तद्बुद्धिभिरेतानि सृष्ट्वा स्वच्छन्दतः तत्तत्कर्मवशादेवोत्पन्नया स्वेच्छया, वयसः देहावस्थाविशेषात्, वयांसि पक्षिणः, अवयः मेषाः॥ ४६-४७॥

अश्वतरान्। न्यङ्कून् कृष्णसारादिवन्मृगविशेषान्। अन्याश्च जातयः तिर्यक्जातीयाः॥ ४८॥

तदेवं कल्पस्यादावेव पशूनोषधीश्च सृष्ट्वा अनन्तरं त्रेतायुगमुखे प्राप्ते सति ग्राम्यारण्यव्यवस्था तदा अध्वरे साधनतया युयोज। कृतयुगे यज्ञनामप्रवृत्तेः॥ ४९॥

गौरजः पुरुषा मेषा अश्वा अश्वतराः खराः।
एतान् ग्राम्यान् प्रशून् प्राहुरारण्यांश्च निबोध मे॥५०॥
श्वापदो द्विखुरो हस्ती वानरः पक्षिपंचमः।
औदकाः पशवः षष्ठाः सप्तमास्तु सरीसृपाः॥५१॥
गायत्रं च ऋचश्चैव त्रिवृत्स्तोमं रथन्तरम्।
अग्निष्टोमं च यज्ञानां निर्म्ममे प्रथमान् मुखात्॥५२॥
यजूंषि त्रैष्टुभं छन्दस्तोमं सप्तदशं तथा।
बृहत् साम तथोक्थं च दक्षिणादसृजन् मुखात्॥५३॥
सामानि जगतीछन्दःस्तोमं सप्तदशं तथा।
वैरूपमतिरात्रं च पश्चिमादसृजन् मुखात्॥५४॥
एकविंशमथर्वाणमाप्तोर्यामाणमेव च।
अनुष्टुभं स वैराजम् उत्तरादसृजन् मुखात्॥५५॥
उच्चावचानि भूतानि गात्रेभ्यस्तस्य जज्ञिरे।
देवासुरपितॄन् सृष्ट्वा मनुष्यांश्च प्रजापतिः॥५६॥

ग्राम्यारण्यभेदमेवाह—'गौ'रिति द्वाभ्याम्॥५०॥

श्वापदो व्याघ्रादिः, द्विखुरो गवयादिः, औदकाः कूर्म्मादयः, सरीसृपाः सर्पगोधादयः॥५१॥

पूर्वादिमुखेभ्यः सृष्टिमाह चतुर्भिः। गायत्रं छन्दः, ऋच ऋग्वेदं त्रिवृतस्तोमं स्तोत्रसाधनभूतानांमृचां समुदायम्, रथन्तरं साम, यज्ञानां मध्ये अग्निष्टोमं सोमयागसंस्थाविशेषम्॥५२॥

यजूंषि यजुर्वेदम्, उक्थं सोमसंस्थाम्॥५३॥

सामानि सामवेदम्, साम वैरूपम्, अतिरात्रं सोसंस्थाम्॥५४॥

एकविंशं स्तोमम्, अथर्वाणमथर्ववेदम्। आप्तोर्यामाणं सोमसंस्थाम्। अनुष्टुभं छन्दः। वैराजं साम॥५५॥

सृष्टानां सर्वेषां भूतानां कर्मस्वभावादि वक्तुं पूर्वोक्तमेव सृष्टिप्रपञ्चमनुवदति—'उच्चावचानी'ति सार्द्धैस्त्रिभिः। उच्चावचानि उत्कृष्टनिकृष्टानि देवासुरादीनि॥५६-५७॥

ततः पुनः ससर्ज्जादौ स कल्पस्य पितामहः।
यक्षान् पिशाचान् गन्धर्वास्तथैवाप्सरसां गणान्॥५७॥
नरकिन्नररक्षांसि वयः पशुमृगोरगान्।
अव्ययं च व्ययं चैव यदिदं स्थाणुजङ्गमम्॥५८॥
तत् ससर्ज्ज तदा ब्रह्मा भगवानादिकृद् विभुः।
तेषां ये यानि कर्म्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे॥५९॥
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः।
हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्म्माधर्मावृतानृते।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात् तत् तस्य रोचते॥६०॥
इद्रियार्थेषु भूतेषु शरीरेषु च स प्रभुः।
नानात्वं विनियोगश्च धातैव व्यसृजत् स्वयम्॥६१॥
नामरूपं च भूतानां कृत्यानां च प्रपञ्चनम्।
वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकारः सः॥६२॥

नर-किन्नरभेदश्च ''नरोऽश्वजघनोऽपि स्यात् किन्नरो ऽश्वमुखौ नरः'' इत्यभिधानोक्तेः। अव्ययं चिरकालावस्थायिप्रवाहनित्यं वा, व्ययं तद्विपरीतम्॥५८॥

एवं सृष्टानां तेषां भूतानां मध्ये॥५९॥

तान्येव च कर्माण्याह,—हिंस्रं मारकम्, अहिंस्रं तद्विपरीतम्, शरीरं कर्म, मृदु सदयम्, क्रूरञ्च तद्विपरीतं मानसं कर्म, ऋतञ्चानृतञ्च वाचिकं कर्म, किंञ्चिद्धिंस्रमपि धर्म एव यथाग्निषामीयादि पश्वालम्भनम्। अहिंस्रमपि परस्त्रीगमनादिकमधर्मः। मृदुकर्माणि किञ्चिदधर्मः, यथा राज्ञां चौरादिरक्षणम्। क्रूरमपि किञ्चिद् धर्मः, यथा राज्ञां दुष्टशासनम्। सत्यपपि किञ्चिदधर्मः, यथा ब्राह्मणादेर्वधप्राप्तौ तदनुकूलम्। अनृतमपि ब्राह्मणादिरक्षणं धर्म एव, अतो धर्माधर्माविति तयो पृथग् ग्रहणम्। तद्भाविताः तैर्हिंस्रादिकर्मभिर्वासिताः, तस्मादद्यापि यो यद्वासनावासितस्तस्मै तदेव रोचते॥६०॥

एवं तत्तद्वासनानुसारेणैव इन्द्रियार्थेषु नानात्वम् अमृतमन्नं फलं तृणमित्यादिभोग्यविषयविभागम्। भूतेषु नानात्वं जलस्थलचरादिविभागम्। शरीरेषु नानात्वं द्विपाच्चतुष्पादादिविभागं विनियोगञ्च। अनेन जीवभेदं कार्य्यमित्यादि तत्तत्कर्मानुसारेण स्वयमेवासृजत्॥६१॥

ऋषीणां नामधेयानि यथा वेदश्रुतानि वै।
यथा नियोगयोग्यानि सर्वेषामपि सोऽकरोत्॥ ६३॥
यथर्त्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्य्यये।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु॥ ६४॥
करोत्येवं विधां सृष्टिं कल्पादौ स पुनः पुनः।
सिसृक्षाशक्तियुक्तोऽसौ सृज्यशक्तिप्रचोदितः॥ ६५॥

इति श्रीष्णिुपुराणे प्रथमांशे पञ्चमोऽध्यायः

नाम इन्द्रोऽग्निर्यम इत्यादि, रूपञ्च वज्रहस्तत्वादि, कृत्यानाञ्च वर्षणदहनसंयमादीनाम्, प्रपञ्चनं तत्तदवान्तरभेदः॥ ६२॥

किञ्च ऋषीणां वशिष्ठादीनां नामानि। तस्माद् वाशिष्ठो ब्रह्मा कार्य्य इत्यादिनियोगे योग्यानि तत्तत्सूक्तमन्त्रादिदर्शनयोग्यानि च वेदे यथा श्रुतानि तथैव कृतवान्॥ ६३॥

ननु देवादीनामनित्यानां कथं नित्येन भेदेनाभिधानमित्याशङ्क्य प्रवाहनित्यत्वं दृष्टान्तेन दर्शयति—'**यथे**'ति। यस्मिन् वसन्तादौ ऋतौ यानि ऋतुलिङ्गानि पुष्पफलादीनि पर्य्यये तस्य ऋतोः पुनरावृतौ तानि तानि तज्ञातीतान्येव दृश्यन्ते, तथैव युगमन्वन्तरकल्मादिषु भावा देवादयः॥ ६४॥

उपसंहरति—'**करोती**'ति। सिसृक्षा च शक्तिश्च सर्वविषया ताभ्यां युक्तः॥ ६५॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाभिधायां विष्णुपुराणटीकायां प्रथमांशे पञ्चमोऽध्यायः।

षष्ठोऽध्यायः

(चातुर्वर्ण्यसृष्टिः, चातुर्वर्णस्थाननिरूपणञ्च)

मैत्रेय उवाच

अर्वाक्स्रोतस्तु कथितो भवता यस्तु मानुषः।
ब्रह्मन् विस्तरतो ब्रूहि ब्रह्मा तमसृजद् यथा॥ १॥
यथा च वर्णानसृजद् यद्गुणांश्च महामुने।
यच्च तेषां स्मृतं कर्म्म विप्रादीनां तदुच्यताम्॥ २॥

पराशर उवाच

सत्याभिध्यायिनः पूर्वं सिसृक्षोर्ब्रह्मणो जगत्।
अजायन्त द्विजश्रेष्ठ सत्त्वोद्रिक्ता मुखात् प्रजा॥ ३॥
वक्षसो रजसोद्रिक्तास्तथा वै ब्रह्मणोऽभवन्।
रजसा तमसा चैव समुद्रिक्तास्तथोरूजाः॥ ४॥
पद्भ्यामन्याः प्रजा ब्रह्मा सजर्ज्ज द्विजसत्तम।
तमःप्रधानास्ताः सर्वाश्चातुर्वर्ण्यमिदं ततः॥ ५॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम।
पादोरुवक्षःस्थलतो मुखतश्च समुद्गताः॥ ६॥
यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार वै।
चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम्॥ ७॥

विस्तरतो ब्रूहीति यद् उक्तं, तदेव विवृणोति—'यथाचे'ति॥ २॥

ताश्चतुर्विधा मुखादिभ्यः सृष्टाः प्रजाः। इदं-प्रसिद्धं चातुर्वण्यं-चत्वारो वर्णाः॥५॥

एतदेव विभागेन स्पष्टयति-'ब्राह्मणा' इति। पादोरुवक्षःस्थलतो मुखतश्चेति ब्राह्मणादिभिः प्रातिलोम्येन सम्बन्धः॥ ६॥

तत्सृष्टेः प्रयोजनमाह—यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् यज्ञसाधनभूतम् उत्तमं चातुर्वर्ण्यं चकार इत्यन्वयः। यद्यपि ''अध्ययनाद्यभावात् न कर्माणि स्यात्'' इति सूत्रे जैमिनिः शूद्रस्य अध्ययनाद्यभावाद् यज्ञाधिकारं न मन्यते, तथापि द्विजशुश्रूषाद्वारेण तत्साधनत्वात्

यज्ञैराप्यायिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण वै प्रजाः।
आप्याययन्ते धर्म्मज्ञ यज्ञाः कल्याणहेतवः॥ ८॥
निष्पाद्यन्ते नरैस्तैस्तु स्वधर्म्माभिरतैस्ततः।
विशुद्धाचरणोपेतैः सद्भिः सन्मार्गगामिभिः॥ ९॥
स्वर्गापवर्गौ मानुष्यात् प्राप्नुवन्ति नरा मुने।
यथाभिरुचितं स्थानं तद् यान्ति मनुजा द्विज॥ १०॥
प्रजास्ता ब्रह्मणा सृष्टाश्चातुर्वर्ण्यव्यवस्थितौ।
सम्यक्श्रद्धासमाचारप्रवणा मुनिसत्तम॥ ११॥
यथेच्छावासनिरताः सर्वबाधाविवर्जिताः।
शुद्धान्तःकरणाः शुद्धाः सर्वानुष्ठाननिर्म्मलाः॥ १२॥
शुद्धे च तासां मनसि शुद्धेऽन्तःसंस्थिते हरौ।
शुद्धं ज्ञानं प्रपश्यन्ति विष्ण्वाख्यं येन तत्पदम्॥ १३॥

''नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्च यज्ञान् न हापयेत्'' इत्यादिस्मृतेः पाकयज्ञादिषु साक्षादनधिकारान्न विरोधः॥७॥

यज्ञनिष्पादनस्य उपयोगमाह—'यज्ञै'रिति। आप्यायितास्तर्पिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण ताः यज्ञकर्त्रीः प्रजाः तर्पयन्ति। ''अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः'' इति स्मृतेः, अतो यज्ञाः कल्याणहेतवः॥८॥

तेषु श्रेष्ठानधिकारिणो दर्शयति 'निष्पाद्यन्त' इति। स्वधर्मेषु श्रौतेषु अभिरतैः विशुद्धाचरणं स्मृत्यादिविहितं तदुपेतैः। पाठान्तरे विरुद्धाचरणात् अपेतैः निवृत्तैः सद्भिर्विद्वद्भिः सन्मार्गगामिभिर्मन्वादिसमानाचारानुवर्त्तिभिः॥९॥

अतो धर्माधिकारत्वान्मानुष्यं स्तौति—'स्वर्गापवर्गा'विति। यथाभिरुचितं स्थानं सत्यलोकादि॥१०॥

तदेवं चातुर्वर्ण्यव्यवस्थितये ताः प्रजाः सृष्टाः सम्यक् श्रद्धया [illegible]ः समाचारस्तस्मिन् प्रवणाः॥११॥

चातुर्वर्ण्यव्यवस्थाफलमाह—'यथेच्छे'ति द्वाभ्याम्। यथेच्छया आवासः गिरिकन्दरादिस्थानं [illegible]न् निरताः। यतः सर्वबाधाभिः शीतोष्णादिपीडाभिर्विवर्जिताः। शुद्धा सत्कुलीनाः॥१[illegible] तासां शुद्धं ज्ञानं भवति येन ज्ञनेन तत्पदं प्रपश्यन्ति॥१३॥

ततः कालात्मको योऽसौ स चांशः कथितो हरेः।
स पातयत्यघं घोरमल्यमल्पाल्पसारवत्॥ १४॥
अधर्म्मबीजसम्भूतं तमोलोभसमुद्भवम्।
प्रजासु तासु मैत्रेय रागादिकमसाधकम्॥ १५॥
ततः सा सहसा सिद्धिस्तेषां नातीव जायते।
रसोल्लासादयश्चान्याः सिद्धयोऽष्टौ भवन्ति याः॥ १६॥
तासु क्षीणास्वशेषासु वर्द्धमाने च पातके।
द्वन्द्वाभिभवदुःखार्त्तास्ता भवन्ति ततः प्रजाः॥ १७॥
ततो दुर्गाणि ताश्चक्रुर्वार्क्षं पार्वतमौदकम्।
कृत्रिमं च तथा दुर्गं पुरं खर्वटकादिकम्॥ १८॥

तदेवं धर्मानुष्ठानफलम् उक्तम्। इदानीं कालवशेन तद्वैकल्यात् प्राणिनामनिष्टप्राप्तिमाह—'तत्' इत्यादिना। ततः त्रेतायुगे किंचिदतिक्रान्ते सति, स प्रसिद्धः कालात्मकः योऽसौ हरेरंशः कथितः' सः अघं पापं रागादिकं विषयाभिलाष-द्वेष-मात्सर्य्यादिकम्, असाधकं पुरुषार्थप्रतिबन्धकं तासु प्रजासु पातयति प्रतिक्षिपति इति द्वयोरन्वयः। कथम्भूतं घोरं बहुदुःखप्रदम् अल्पाल्पसारवत् अत्यल्पसुखदम् यद्वा अत्यल्पबलं उत्पत्तिसमय एव धृतिमता पुंसा जेतुं शक्यम्॥ १४॥

अनन्तरं तु अधर्मस्य बीजभूतं तत्र हेतुस्तमोऽभिनिवेशः लोभस्तृष्णा तयोः समुद्भवो यस्मात् तत्॥ १५॥

अतः किम् इत्यत आह—'तत्' इति। सहजा स्वाभाविको सा सिद्धिः सर्वबाधाविवर्ज्जिता इति अत्र क्षुत्पिपासादिद्वन्द्वजयलक्षणा नातीव जायते। रसोल्लासादयः सिद्धयः स्कान्दादिप्रोक्ताः—"रसत्य स्वत एवान्त-रुल्लासः स्यात् कृते युगे। रसोल्लासाख्या सा सिद्धिस्तया हन्ति क्षुधं नरः। क्रियादिनिरपेक्षेण सदा तृप्ताः प्रजास्तदा। द्वितीया सिद्धिरुद्दिष्टा सा तृप्तिर्मुनिसत्तमैः।

"अधमोत्तमत्वं नास्त्यासां सा तृतीयाभिधीयते। चतुर्थी तुल्यता तासामायुषः सुखरूपयोः। ऐकान्त्यबलबाहुल्यं विशोका नाम पञ्चमी। परमात्मपरत्वेन तपोध्यानादिनिष्ठता। षष्ठी निकामचारित्वं सप्तमी सिद्धिरूच्यते। अष्टमी च तथा प्रोक्ता यत्र क्वचन शायिता" इति॥ १६॥ शीतोष्णादिद्वन्दैरभिभवाद् दुःखैः आर्त्ताः पीडिताः॥ १७॥

ततः चौरादिभयपरिहारार्थं दुर्गाणि शीतादिप्रतीकारार्थञ्च गृहाणि जीविकाद्यर्थञ्च कृषिवाणिज्यादीनि चक्रुरित्याह—'ततो दुर्गाणि' इत्यादिना। कृत्रिमं परिखाद्यावृतं प्राकारादि।

गृहाणि च यथान्यायं तेषु चक्रुः पुरादिषु।
शीतातपादिबाधानां प्रशमाय महामुने॥ १९॥
प्रतीकारमिदं कृत्वा शीतादेस्ताः प्रजाःपुनः।
वार्तोपायं ततश्चक्रुर्हस्तसिद्धिं च कर्मजाम्॥ २०॥
ब्रीहयश्च यवाश्चैव गोधूमा अणवस्तिलाः।
प्रियङ्गवो ह्युदाराश्च कोरदूषाः सचीकणाः॥ २१॥
माषा मुद्गा मसूराश्च निष्पावाः सकुलत्थकाः।
आढक्यश्चणकाश्चैव शणाः सप्तदशः स्मृताः॥ २२॥
इत्येताश्चौषधीनान्तु ग्राम्याणां जातयो मुने।
ओषध्यो यज्ञियाश्चैव ग्राम्यारण्याश्चतुर्दश॥ २३॥
ब्रीहयः सयवा माषा गोधूमा अणवस्तिलाः।
प्रियङ्गुसप्तमा ह्येता अष्टमास्तु कुलत्थकाः॥ २४॥

पुरादीनां लक्षणं भृगुणोक्तम्—''धृतावासः पुरी प्रोक्ता विशां पुरमपीष्यते। एकतो यत्र तु ग्रामो नगरञ्चैकतः स्थितम्। मिश्रं तु खर्वटं नाम नदीगिरिसराश्रयम्। विप्राश्च विप्रभृत्याश्च यत्र चैव वसन्ति ते। स तु ग्राम इति प्रोक्तः शूद्राणां वास एव च। पण्यक्रयादिनिपुणैश्चातुर्वर्ण्यंजनैर्युतम्! अनेकजातिसम्बद्धं नैकशिल्पिसमाकुलम्। सर्वदैवतसम्बद्धं नगरन्त्वभिधीयते''। इति॥ १८॥

गृहाणि च विश्वकर्मोक्तानि ''ध्रुवं धन्यं जयं कान्तं विपुलं विजयं तथा। सुपक्षं सुमुखं नन्दं निधनञ्च मनोरमम्॥'' इत्यादीनि। यथान्यायं अर्थनिमित्ताद्यनुसारेण यथा वास्तुशास्त्रम्॥ १९॥

वार्त्तोपायं जीविकासाधनं कृष्यादि, हस्तसिद्धिं-हस्ताभ्यां साध्यां सिद्धिं भूतिम्। तान एवाह कर्मजां तत् तत् कर्मनिमित्ताम्॥ २०॥

तत्र कृषिफलं प्रपञ्चयति—'ब्रीहयश्चे'ति सार्द्धद्वाभ्याम्। अणवः क्षुद्रशालयः। प्रियङ्गुसदृशं तृणधान्यम्। प्रियङ्गवः उदारा दीर्घनालाः। कोरदूषाः कोद्रवाः चीणका अणुतुल्या॥ २१॥

निष्पावा शिम्बाः। आढक्यस्तु वर्य्यः शणा गोण्युपादानत्वचः। इत्येता ग्राम्याणां कृषिसाध्यानां जातयः सप्तदश॥ २२॥

तासु ब्रीह्याद्याः श्यामाकान्ता एकोनदश यज्ञियाः यज्ञसाधनभूताः। आरण्या नीवाराद्याः पञ्च यज्ञसाधनभूताः। अथवा श्यामाका अप्यारण्या एव तृणधान्यरूपत्वात्॥ २३-२४॥

श्यामाकास्त्वथ नीवारा जर्त्तिला: सगवेधुका:।
तथा वेणुयवा: प्रोक्तास्तद्वत् मर्कटका मुने॥ २५॥
ग्राम्यारण्या: स्मृता ह्येता ओषध्यस्तु चतुर्द्दश।
यज्ञनिष्पत्तये यज्ञस्तथासां हेतुरुत्तम:॥ २६॥
एताश्च सह यज्ञेन प्रजानां कारणं परम्।
परापरविद: प्राज्ञस्ततो यज्ञान् वितन्वते॥ २७॥
अहन्यहन्यनुष्ठानं यज्ञानां मुनिसत्तम।
उपकारकरं पुसां क्रियमाणस्य शान्तिदम्॥ २८॥
येषान्तु कालरूपोऽसौ पापविन्दुर्महामते।
चेत:सु ववृधे चक्रुस्ते न यज्ञेषु मानसम्॥ २९॥
वेदवादांस्तथा वेदान् यज्ञनिष्पादकं च यत्।
तत्सर्वं निन्दमानास्ते यज्ञव्यासेधकारिण:॥ ३०॥
प्रवृतिमार्गव्युच्छित्तिकारिणो वेदनिन्दका:।
दुरात्मानो दुराचारा बभूवु: कुटिलाशया:॥ ३१॥

नीवारा: आरण्या: ब्रीहय:। जर्त्तिला: आरण्यास्तिला:। गवेधुका: कुसुम्भसदृशबीजा:। वेणुयवा: वेणुबीजानि, मर्कटका: आरण्या: प्रियङ्गव:॥ २५॥

एताश्चतुर्दश यज्ञनिष्पत्तये स्मृता इत्यन्वय:। यज्ञश्च आसाम् ओषधीनां हेतु: वृष्टिद्वारेण॥ २६॥ प्रजानां परं कारणं वृद्धिहेतुत्वात्। परापरविदो:—यज्ञा: कारणं प्रजास्तु कार्यमित्येवं विद:॥ २७॥

अहन्यहनि पञ्चमहायज्ञानुष्ठानं गृहस्थानां प्रत्यहं क्रियमाणस्य पञ्चसूनालक्षणस्य पापस्य शान्तिदं नाशकम्॥ २८॥

तदेवं ब्रह्मसृष्टानां यज्ञाङ्गभूतानाम् ओषधीनां कृष्यादिप्रवृत्त्या प्रवाहनित्यत्वमुक्तम्। यज्ञानाञ्च दुष्टादुष्टलक्षणं महत् फलमुक्तम्। तथापि तेषां कैश्चिदननुष्ठाने पूर्वोपक्षिप्तमेव रागादिकं कारणमाह—''येषान्तु'' इति त्रिभि:। ते यज्ञेषु मानसं न चक्रु:॥ २९॥

यज्ञानां व्यासेधकारिण: प्रतिहन्तार:॥ ३०॥

अत एव प्रवृत्तिमार्गोच्छेदकारिण:। यज्ञाननुष्ठाने देवैरवर्षणादन्नाभावेन प्रजावृद्धेरसिद्धे:॥ ३१॥

संसिद्धा यान्तु वार्त्तायां प्रजाः सृष्ट्वा प्रजापतिः।
मर्यादां स्थापयामास यथास्थानं यथागुणम्॥ ३२॥
वर्णानामाश्रमाणाञ्च धर्मान् धर्मभृतां वर।
लोकांश्च सर्ववर्णानां सम्यग् धर्मानुपालिनाम्॥ ३३॥
प्राजापत्यं ब्राह्मणानां स्मृतं स्थानं क्रियावताम्।
स्थानमैन्द्रं क्षत्रियाणां सङ्ग्रामेष्वनिवर्त्तिनाम्॥ ३४॥
वैश्यानां मारुतं स्थानं स्वधर्ममनुवर्त्तिनाम्।
गान्धर्वं शूद्रजातीनां परिचर्यानुवर्त्तिनाम्॥ ३५॥
अष्टाशीतिसहस्राणि मुनीनामूर्ध्वरेतसाम्।
स्मृतं तेषां मरुत्स्थानं तदेव गुरुवासिनाम्॥ ३६॥
सप्तर्षीणान्तु यत् स्थानं स्मृतं तद्वै वनौकसाम्।
प्राजापत्यं गृहस्थानां न्यासिनां ब्रह्मसंज्ञितम्॥ ३७॥
योगिनाममृतं स्थानं यद्विष्णोः परमं पदम्।
एकान्तिनः सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनो हि ये।
तेषां तत् परमं स्थानं यत् तु पश्यन्ति सूरयः॥ ३८॥

तदेवं प्रजाः सृष्ट्वा तासां वार्त्तायां कृष्यादीनां सिद्धायां सत्यां यथागुणं सत्वोद्रेकाद्यनुसारेण ब्राह्मणादीनां वर्णानां ग्रहस्थाद्याश्रमाणाञ्च मर्यादाधर्मव्यवस्थां यथास्थानं तत् तत् स्वधर्मावस्थानानुसारेण लोकव्यवस्थाञ्च कृतवानित्यर्थः॥ ३२॥

तदेवाह वर्णानामिति यावत् समाप्ति॥ ३३॥

क्रियावतां नित्यनैमित्तिकाग्निहोत्राद्यानुष्ठातृणां प्राजापत्यं स्थानं पितृलोकः, ''कर्मणा पितृलोकः'' इति श्रुतेः॥ ३४॥

मारुतं स्थानं देवलोकः॥ ३५॥

गुरुवासिनां नैष्ठिकब्रह्मचारिणां जनलोकम्॥ ३६॥

वनौकसां वानप्रस्थानां तपोलोकम्। ब्राह्मणादीनां विशेषं वक्तुं गृहस्थानां पूर्वोक्तमेव स्थानं अनुवदति—'प्राजापत्यम्' इति। सयात्रसिनां ब्रह्मसंज्ञितं सत्यलोकस्थानम्। ''सन्न्यासाद् ब्रह्मणः स्थानम्'' इति वचनात्॥ ३७॥

योगिनां ज्ञानिनाम् तदेवं स्पष्टयति—'एकान्तिन' इति॥ ३८॥

गत्वा गत्वा निवर्त्तन्ते चन्द्रसूर्य्यादयो ग्रहाः।
अद्यापि न निवर्त्तन्ते द्वादशाक्षरचिन्तकाः॥ ३९॥
तामिस्त्रमन्धतामिस्त्र महारौरवरौरवौ।
असिपत्रवनं घोरं कालसूत्रमवीचिमत्॥ ४०॥
विनिन्दकानां वेदस्य यज्ञव्याघातकारिणाम्।
स्थानमेतत् समाख्यातं स्वधर्म्मत्यागिनश्च ये॥ ४१॥

श्री विष्णुपुराणे प्रथमांशे षष्ठोऽध्यायः।

भगवदुपासकानामपि क्रममुक्त्वा तदेव स्थानमित्याशयेनाह—'गत्वा गत्वे'ति॥ ३९॥
स्वधर्मत्यागिनश्च ये तेषामपि वा॥ ४१॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाभिधायां विष्णुपुराणटीकायां प्रथमांशे षष्ठोऽध्यायः।

सप्तमोऽध्यायः

(मानसप्रजासृष्टिः, रुद्रादीनां सृष्टिः, चतुर्विधप्रलयवर्णञ्च)

पराशर उवाच

ततोऽभिध्यायतस्तस्य जज्ञिरे मानसीः प्रजाः।
तच्छरीरसमुत्पन्नैः कार्य्यैस्तैः कारणैः सह॥ १॥
क्षेत्रज्ञाः समवर्त्तन्त गात्रेभ्यस्तस्य धीमतः।
ते सर्वे समवर्त्तन्त ये मया प्रागुदीरिताः॥ २॥
देवाद्याः स्थावरान्ताश्च त्रैगुण्यविषये स्थिताः।
एवम्भूतानि सृष्टानि चराणि स्थावराणि च॥ ३॥
यदास्य ताः प्रजाः सर्वा न व्यवर्द्धन्त धीमतः।
अथान्यान् मानसान् पुत्रान् सदृशानात्मनोऽसृजत्॥ ४॥
भृगुं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुमङ्गिरसं तथा।
मरीचिं दक्षमत्रिं च वसिष्ठं चैव मानसम्॥ ५॥
नव ब्रह्माणा इत्येते पुराणे निश्चयं गताः।
सनन्दनादयो ये च पूर्वं सृष्टा तु वेधसा॥ ६॥

अथ यौनसृष्टिं वक्ष्यन् पूर्वोक्तायां मानसशरीरसृष्टौ कञ्चिद् विशेषं वक्तुमाह–**'तत'** इति त्रिभिः। प्रागनुक्तविशेषोक्तेः तत इत्यपूर्वसृष्टिवत् प्रस्तावः तत्रैवं शङ्क्यते, ननु मनसा सङ्कल्पमात्रेण भूतोपादानं विना भौमिकानां देहानां कथं जन्म, कथं वा जडात् शरीरात् चेतनानां जन्म इति, तत्राह– **तच्छरीरेति**। तस्य ब्रह्मणः शरीरात् समुत्पन्नैः कार्य्यैर्देहैः कारणैः इन्द्रियैश्च सह मनसा निमित्तभूतेन मानस्यः प्रजा जज्ञिरे, ब्रह्मशरीरस्थभूतान्येव तद्देहानाम् आपादानकारणमित्यर्थः॥ १॥

तथा धीमतः चेतनस्य समष्टिजीवस्य तस्य ब्रह्मणो जडेभ्योऽपि गात्रेभ्य उत्पद्यमानैर्देहैः तत्सङ्कल्पमात्रादुद्‌दुबुद्धसंस्कारा व्यष्टिक्षेत्रज्ञाः समवर्त्तन्त आविर्भूता इत्यर्थः। तान् एवाह– **'ते सर्वे'** इति॥ २–३॥

यौनसृष्टेः प्रयोजनमाह–**'यदस्ये'**ति। न व्यवर्धन्त पुत्रपौत्रादिरूपेण वृद्धिं न प्राप्तः। अथ अन्यान् यौनसृष्टिप्रवर्त्तकान् भृग्वादीन् सृष्टवान्॥ ४–५॥

न ते लोकेष्वसज्जन्त निरपेक्षाः प्रजासु ते।
सर्वे ते ह्यागतज्ञाना वीतरागा विमत्सराः॥७॥
तेष्वेवं निरपेक्षेषु लोकसृष्टौ महात्मनः।
ब्रह्मणोऽभून्महाक्रोधस्त्रैलोक्यदहनक्षमः॥८॥
तस्य क्रोधात् समुद्भूतज्वालामालाविदीपितम्।
ब्रह्मणोऽभूत् तदा सर्वं त्रैलोक्यमखिलं मुने॥९॥
भृकुटीकुटीलात् तस्य ललाटात् क्रोधदीपितात्।
समुत्पन्नस्तदा रुद्रो मध्याह्नार्कसमप्रभः॥१०॥
अर्द्धनारीनरवपुः प्रचण्डोऽतिशरीरवान्।
विभजात्मानमित्युक्त्वा तं ब्रह्मान्तर्दधे ततः॥११॥
तथोक्तोऽसौ द्विधा स्त्रित्वं पुरुषत्वं तथाकरोत्॥
बिभेद पुरुषत्वं च दशधा चैकधा च सः॥१२॥
सौम्यासौम्यैस्तथा शान्ता शान्तैः स्त्रीत्वं च स प्रभुः॥
बिभेद बहुधा देवः स्वरूपैरसितैः सितैः॥१३॥
ततो ब्रह्मात्मसम्भूतं पूर्वं स्वायम्भुवं प्रभुः।

आत्मानः सदृशान् इति यदुक्तं तदेव ब्रह्मसमाख्यया दर्शयति- **'नव ब्रह्माण'** इति। क्रोधाद् रुद्रसृष्टिं तत्रैव मनुसृष्टिं वक्तुं ब्रह्मणः क्रोधे कारणं दर्शयन्नाह-**सनन्दनादय** इति॥६॥

आगतज्ञानाः प्राप्तज्ञानाः। पाठान्तरे अनागतेऽप्यर्थे ज्ञानं येषाम्॥७॥

एवं तेषु प्रजासृष्टौ निरपेक्षेषु महात्मनः सृष्टिविस्तारे प्रवृत्तस्य ब्रह्मणः क्रोधोऽभूत्॥८॥

तस्य ब्रह्मणः क्रोधसमुद्भूतानां ज्वालानं मालाभिरभितो दीपितं त्रैलोक्यमभूद् इत्यन्वयः॥९-१०॥

अर्द्धाभ्यां नारी च नरश्च वपुर्यस्य सः। प्रचण्डः अतिक्रोधनः। आत्मानं स्त्रीपुरुषाकारदेहं विभज्य, पृथक् कुरु इति तमुक्त्वा अन्तर्धानं गतः॥११-१२॥

सौम्यासौम्यैः इत्यस्यैव विवरणं शान्ताशान्तै रूपैरिति॥१३॥

आत्मानमेव कृतवान् प्रजापाल्ये मनुं द्विज॥ १४॥
शतरूपां च तां नारीं तपोनिर्धूतकल्मषाम्।
स्वायम्भुवो मनुर्देवः पत्नीत्वे जगृहे विभुः॥ १५॥
तस्माच्च पुरुषाद् देवी शतरूपा व्यजायत।
प्रियव्रतोत्तानपादौ प्रसूत्याकूतिसंज्ञितम्॥ १६॥
कन्याद्वयञ्च धर्मज्ञ रूपौदार्य्यगुणान्वितम्।
ददौ प्रसूतीं दक्षाय तथाकूतिं रुचे पुरा॥ १७॥
प्रजापतिः स जग्राहः तयोर्यज्ञः सदक्षिणः।
पुत्रो जज्ञे महाभाग दाम्पत्यं मिथुनं ततः॥ १८॥
यज्ञस्य दक्षिणायान्तु पुत्रा द्वादश जज्ञिरे।
यामा इति समाख्याता देवाः स्वायम्भुवे मनौ॥ १९॥
प्रसूत्यां च तथा दक्षश्चतस्रो विंशतिस्तथा।
ससर्ज कन्यास्तासान्तु सम्यङ् नामानि मे शृणु॥ २०॥
श्रद्धा लक्ष्मीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिर्मेधा क्रिया तथा।
बुद्धिर्लज्जा वपुः शान्ति सिद्धिः कीर्तिस्त्रयोदश॥ २१॥
पत्न्यर्थं प्रतिजग्राह धर्मो दाक्षायणीः प्रभुः।
ताभ्यः शिष्टा यवीयस्य एकादश सुलोचनाः॥ २२॥
ख्यातिः सत्यथ सम्भूतिः स्मृतिः प्रीतिः क्षमा तथा।

तत एकादशविभागतः क्रोधांशे निर्गते सति सात्त्विकस्वभावं पूर्वम् आत्मानः स्वदेहात् सम्भूतम् अत एव "आत्मा वै पुत्रानामासि" इति श्रुतेरात्मानमेव त मनुं प्रजापालनार्थमकरोदित्यर्थः॥ १४॥

तां स्वदेहार्द्धभूतानां नारीं पत्न्यर्थं जगृहे। तपसानिधूर्तकल्मषामिति च, देव इति च, विभुरिति च, सापिण्ड्यदोषपरिहारार्थमुक्तम्॥ १५॥

व्यजायत प्रसूता॥ १६-१७॥

स च रुचिः तां जग्राह। तयोर्दक्षिणासहितो यज्ञो मिथुनमेव पुत्रो जज्ञे॥ १८॥

स्वायम्भुवे मनौ तन्मन्वन्तरे यामा इति देवाः समाख्याताः॥ १९-२०॥

तासां नामानि कथयन्नेव विवाहानाह-"**श्रद्धा**" इत्यादिपञ्चभिः॥ २१-२३॥

सन्नितिश्चानसूया च ऊर्ज्जा स्वाहा स्वधा तथा॥ २३॥
भृगुर्भवो मरीचिश्च तथा चैवाङ्गिरा मुनिः।
पुलस्त्यः पुलहश्चैव क्रतुश्चर्षिवरस्तथा॥ २४॥
अत्रिर्वसिष्ठो वह्निश्च पितरश्च यथाक्रमम्।
ख्यात्याद्या जगृहुः कन्या मुनयो मुनिसत्तम॥ २५॥
श्रद्धा कामं चला दर्पं नियमं धृतिरात्मजम्।
सन्तोषञ्च तथा तुष्टिर्लोभं पुष्टिरसूयत॥ २६॥
मेधा श्रुतं क्रिया दण्डं नयं विनयमेव च।
बोधं बुद्धिस्तथा लज्जा विनयं वपुरात्मजम्॥ २७॥
व्यवसायं प्रजज्ञे वै क्षेमं शान्तिरसूयत॥
सुखं सिद्धिर्यशः कीर्तिरित्येते धर्मसूनवः॥ २८॥
कामान् नन्दा सुतं हर्षं धर्मपौत्रमसूयत।
हिंसा भार्या त्वधर्म्मस्य तस्यां जज्ञे तथानृतम्।
कन्या च निकृतिस्ताभ्यां भयं नरकमेव च॥ २९॥
माया च वेदना चैव मिथुनन्त्विदमेतयोः।
तयोर्जज्ञेऽथ वे माया मृत्युं भूतापहारिणम्॥ ३०॥

धर्मपत्नीनां त्रयोदशानां पुत्रानाह-'**श्रद्धा**' इति त्रिभिः। चला लक्ष्मीः॥ २६॥

क्रिया त्रिगुणा, अतः तमोंऽशेन दण्ड, रजोंऽशेन नयं, सत्त्वांशेन विनयम् अनौद्धत्यरूपम् असूयत्। लज्जा शरीरं विनयं, वपुःसंज्ञा व्यवसायात्मकं प्रजज्ञे॥ २७॥

कीर्त्तिर्यशःसंज्ञं पुत्रमसूयत॥ २८॥

नन्दा कामस्य भार्या। तदेवं धर्मभार्य्याणां वंशा उक्ताः, अन्यासां दक्षकन्यानां पुत्रान् ''देवौ धाताविधातारौ भृगोः ख्यातिरसूयत'' इत्यादिना उत्तराध्यायत्रये वक्ष्यति। तत्र तावद् धर्मवंशोक्त्या तत्प्रतियोगितया च बुद्धिस्थस्य अधर्मस्य वंशं प्रसक्तानुप्रसक्तेन च नित्यप्रलयादिकमाह-'**हिंसा**' इत्यादिना। धर्माधर्मौ च ब्रह्मणः पुत्रौ। ''धर्मः स्तनाद् दक्षिणतो यत्र नारायणः स्वयम्। अधर्मः पृष्ठतो यस्मात् मृत्युलोकभयङ्करः'' इति शुकोक्तेः निकृतिर्वञ्चनं ताभ्यामनृतनिकृतिभ्यां भय-नरकाख्यं पुत्रद्वयं जज्ञे॥ २९॥

एतयोत्स्तु भय-नरकयोर्यथाक्रमं माया च वेदना चेति मिथुनत्वसम्पादकं भार्याद्वयञ्च ताभ्यामेव जज्ञे इत्यर्थः। तयोर्मायावेदनयोर्मध्ये माया मृत्युं जज्ञे जनयामास भयादित्यर्थसिद्धम्॥ ३०॥

वेदना स्वसुतञ्चापि दुखं जज्ञेऽथ रौरवात्।
मृत्योर्व्याधिजराशोकतृष्णाक्रोधश्च जज्ञिरे॥ ३१॥
दुःखोत्तरा स्मृता ह्येते सर्वे चाधर्म्मलक्षणाः।
नैषां भार्यास्ति पुत्रो वा ते सर्वे ह्यूर्ध्वरेतसः॥ ३२॥
रौद्राणि तानि रूपाणि विष्णुर्मुनिवरात्मजः।
नित्यप्रलयहेतुत्वं जगतोऽस्य प्रयान्ति वै॥ ३३॥
दक्षो मरीचिरत्रिश्च भृग्वाद्याश्च प्रजेश्वराः।
जगतत्यत्र महाभाग नित्यसर्गस्य हेतवः॥ ३४॥
मनवो मनुपुत्राश्च भूपा वीर्यधनाश्च ये॥
सन्मार्गाभिरताः शूरास्ते नित्यस्थितिकारिणः॥ ३५॥

मैत्रैय उवाच

येयं नित्या स्थितिर्ब्रह्मन् नित्यसर्गस्तथेरितः॥
नित्याभावाश्च तेषां वै स्वरूपं मम कथ्यताम्॥ ३६॥

पराशर उवाच

सर्गस्थितिविनाशांश्च भगवान् मधुसूदनः।
तैस्तैरूपैरचिन्त्यात्मा करोत्यव्याहतान् विभुः॥ ३७॥
नैमित्तिकः प्राकृतिकस्तथैवात्यन्तिको द्विजः॥

वेदना च दुःखं स्वसुतं स्वयोग्यं सुतं रौरवान् नरकाज्जनयामासेत्यर्थः॥ ३१॥

दुःखोत्तरा दुःखेदर्का यतोऽधर्मलक्षणाः पापरूपाः। यद्वा प्राचीनाधर्मज्ञापकाः, तत्फलत्वादेषां व्याध्यादीनाम्। ऊर्ध्वरेतसः कार्य्यानुत्पादकाः चरमकार्यदुःखभोगात्पकत्वात्॥ ३२॥

नित्यप्रलयहेतुप्रसङ्गान्नित्यसर्गनित्यस्थितिहेतूनाह-''दक्ष'' इति द्वाभ्याम्॥

ननु मन्वादीनां कादाचित्कानां कथं नित्यस्थित्यादिहेतुत्वमित्याशयेन पृच्छति-'येय'मिति। नित्याभावाः-नित्यप्रलयाः॥ः३६॥

तैस्तैर्दक्षादिमन्वादिरूपैर्भगवानेव सर्गादीन् करोति, अतो न उक्तदोषप्रसङ्ग इत्यर्थः। अव्यहतान् अविच्छिन्नान्॥ ३७॥

नित्यश्च सर्वभूतानां प्रलयोऽयं चतुर्विधः॥३८॥
ब्राह्मो नैमित्तिकस्तत्र यच्छेते जगतः पतिः।
प्रयाति प्राकृते चैव ब्रह्माण्डं प्रकृतौ लयम्॥३९॥
ज्ञानादात्यन्तिक प्रोक्तो योगिनः परमात्मनि।
नित्यः सदैव जातानं यो विनाशो दिवानिशम्॥४०॥
प्रसूतिः प्राकृतेर्या तु सा सृष्टिः प्राकृती स्मृता।
दैनन्दिनी तथा प्रोक्ता यान्तरप्रलयादनु॥४१॥
भूतान्यनुदिनं यत्र जायन्ते मुनिसत्तम।
नित्यः सर्गः स तु प्रोक्तः पुराणार्थविचक्षणैः॥४२॥
एवं सर्वशरीरेषु भगवान् भूतभावनः।
संस्थितः कुरुते विष्णुरुत्पत्तिस्थितिसंयमान्॥४३॥
सृष्टिस्थितिविनाशानां शक्तयः सर्वदेहिषु।
वैष्णव्यः परिवर्त्तन्ते मैत्रेयाऽहर्निशं सदा॥४४॥

तत्र प्रलयं चतुर्धा प्रपञ्चयति-'नैमित्तिक'' इति त्रिभिः॥३८॥

यच्छेते यदा शेते। ब्रह्मनिद्रानिमित्तो नैमित्तिकः। ब्रह्माण्डं यदा प्रकृतौ लयं प्रयाति, स प्राकृतिक इत्यर्थः॥३९॥

ज्ञानात् परमात्मनि योगिनो लय आत्यन्तिकः, सदैव दीपज्वालावत् सान्तत्येन जातानां दिवानिशं यो विनाशः स नित्यः॥४०॥

त्रिविधां सृष्टिमाह-'**प्रसूति**' रिति महाप्रलयावसाने प्रकृतेः सकाशाद् या महदादिप्रसतिः, सा प्राकृती सृष्टिः। अवान्तरप्रलयादनन्तरं या चराचरसृष्टिः, सा दैनन्दिनी॥४१॥

भूतानीति-अस्मदादिसृष्टिप्रवाहो नित्यसर्ग इत्यर्थः। आत्यन्तिकप्रलयवदात्यन्तिक-सृष्टेरभावात् सृष्टिस्त्रिविधैव॥४२॥

उपसंहरति-'एव'मिति॥४३॥

तर्हि विष्णोः सर्वशरीरेषु सर्वदा स्थिततत्वात् कालभेदेन उत्पत्त्यादयो न स्युः तत्राह-'**सृष्टी**'ति। तथापि विष्णुशक्तीनां सत्त्वादीनां तत्र तत्र कालभेदेन सञ्चारात्रायं दोष इति भावः॥४४॥

गुणत्रयमयं ह्येतद् ब्रह्मन् शक्तित्रयं महत्।
योऽतियाति स चात्येव परं नावर्त्तते पुनः॥४५॥

इति श्रीविष्णुपुराणे प्रथमांशे सप्तमोऽध्यायः।

यस्मात् त्रिगुणात्मकविष्णुशक्तित्रपरिवृत्या सृष्ट्यादिप्रवाहो भवति, अतो गुणातीतस्य न पुनस्तत्प्रवाहपात इत्याह–'**गुणत्रये**'ति। योऽतियाति अतिक्रामति, स परं पदं यात्येव ''न पुनरावर्त्तते'' इति श्रुतेः॥४५॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाभिधायां विष्णु पुराणटीकायां प्रथमांशे सप्तमोऽध्यायः

अष्टमोऽध्यायः

(लक्ष्म्युत्पत्तिकथनम्)

पराशर उवाच

कथितस्तामसः सर्गो ब्रह्मणस्ते महामुने।
रुद्रसर्गं प्रवक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु॥१॥
कल्पादावात्मनस्तुल्यं सुतं प्रध्यायतस्ततः।
प्रादुरासीत् प्रभोरङ्के कुमारो नीललोहितः॥२॥
रुदन् वै सुस्वरं सोऽथ द्रवंश्च द्विजसत्तम॥
किं रोदिषीत तं ब्रह्मा रुदन्तं प्रत्युवाच ह॥३॥
नाम देहीति तं सोऽथ प्रत्युवाच प्रजापतिम्।
रुद्रस्त्वं देव नाम्नासि मा रोदीर्धैर्यमावह॥४॥
एवमुक्तः पुनः सोऽथ सप्तकृत्वो रुरोद वै।
ततोऽन्यानि ददौ तस्मै सप्त नामानि वै प्रभुः।
स्थानानि चैषामष्टानां पत्नीः पुत्रांश्च वै प्रभुः॥५॥

दक्षजामातुर्धर्मस्य वंशोक्तौ तत्प्रतियोगिता बुद्धिस्थस्याधर्मस्य नित्यप्रलयहेतुं तामसं वंशमुक्त्वा इदानीं तदनुवादकपूर्वकं प्रस्तुतं दक्षकन्याद्वयमनुवर्तयितुं तत्कन्यापरिणेतुर्नीललोहितरुद्रस्य सर्गमाह-'**कथित**' इति। यद्यपि ''ख्यातिः सत्यथ सम्भूतिः'' इत्युपदेशक्रमेण ख्यातेरन्वयः। प्रथमं वक्तुं युक्तः, तथापि तत्कथा अतिविततत्वादनन्तरं वक्ष्यते। यद्वा पूर्वोक्तात् तामसाद् रुद्रसर्गादन्योऽयं कुमारसर्गान्तर्भूतः सात्त्विको रुद्रसर्गः। तमिमं शृणुष्व इति सम्बन्धः॥१॥

रुदन् द्रवंश्च प्रादुरासीद् इति रुद्रनामनिरुक्तिः। ''एवमुक्तास्तु रुरुदुर्दुवुश्च समन्ततः। रोदनाद् द्रवणाच्चैव रुद्रा नाम्नेति विश्रुताः।'' इति वायुक्तेः॥२-३॥

हे देव! त्वं रुद्रोऽसि रोदनाद् द्रवणाच्चेत्यर्थः॥४॥ परमेश्वरस्यापि सतो रोदनादि शिशुत्वनाट्यं लोकसङ्ग्रहाय पितृपारतन्त्र्यद्योतनार्थम्। अत एव आश्चर्यत्वाद् रोदनादेर्नामनिरुक्तिहेतुत्वाद् रोदनादिनामोपाधि-भेदादष्टानामित्युच्यते॥५॥

भवं सर्वं महेशानं तथा पशुपतिं द्विज।
भीममुग्रं महादेवं उवाच स पितामहः॥ ६॥
चक्रे नामान्यथैतानि स्थानान्येषां चकार सः।
सूर्यो जलं मही वह्निर्वायुराकाशमेव च।
दीक्षितो ब्राह्मणः सोम इत्येतास्तनवः क्रमात्॥ ७॥
सुवर्चला तथैवोमा सुकेशी चापरा शिवा।
स्वाहा दिशस्तथा दीक्षा रोहणी च यथाक्रमम्॥ ८॥
सूर्यादीनां नरश्रेष्ठ रुद्राद्यैर्नामभिः सह।
पत्न्यः स्मृता महाभाग तदपत्यानि मे शृणु।
येषां सूतिप्रसूतैर्वा इदमापूरितं जगत्॥ ९॥
शनैश्चरस्तथा शुक्रो लोहिताङ्गो मनोजवः।
स्कन्दः खर्गोऽथ सन्तानो बुधश्चानुक्रमात् सुताः॥ १०॥
एवम्प्रकारो रुद्रोऽसौ सतीं भार्य्यामविन्दत॥
दक्षकोपाच्च तत्याज सा सती स्वं कलेवरम्॥ ११॥

अन्यानि सप्त नामानि ददावित्युक्तम्, तान्येवाह-'भव'मिति। तं भवादिनामानमुवाच-तस्य भवादिनामानि कृतवानित्यर्थः॥ ६॥

तदेवाह-'चक्रे नामानि'ति। रुद्रभवादीनां सूर्यादीनि अष्ट स्थानानि। तान्येव अभिव्यक्तिस्थानत्वात् तनवो मूर्त्तय उच्यन्ते। दीक्षितो ब्राह्मण इति सधर्मानुष्ठातरि क्षेत्रज्ञे परमात्माभिव्यक्तेस्तन्मूर्तित्वम्। "आत्मा तस्याष्टमी मूर्तिः शिवस्य परमात्मनः। व्यापिकेतरमूर्तीनां विश्वं तस्माच्छिवात्मकम्। स्थानेष्वेतेषु ये रुदं ध्यायन्ति प्रणमन्ति च। तेषामष्टतनुर्देवो ददाति परमं पदम्"॥ इति वायूक्तेः। सूर्यो जलं मही वायुर्वह्निरिति क्रमो द्रष्टव्यः। तथा सति सुवर्चलादीनां पत्नीनां यथाक्रमं सम्बन्धः। वायोः शिवा पत्नी, वह्नेः स्वाहेति सिध्यति, वक्ष्यमाणेऽपि पुत्रक्रमे वह्नेः स्कन्दः पुत्र इति उपपत्स्यते, अतो वह्निर्वायुरिति पाठक्रमो न विवक्षितः॥ ७-८॥

सूतिप्रसूतैः पुत्रैः पौत्रादिभिश्च॥-१०॥

उक्तस्य रुद्रर्गस्य प्रस्तुतोपयोगमाह-'एवम्प्रकार' इति। सतीं नाम दक्षस्य कन्याम्, दक्षकोपात्-पित्रा दक्षेण स्वयज्ञे रुद्रवर्जनोद्भूतात्। अतस्तस्याः सन्ततिर्नाभूदिति भावः॥ ११॥

हिमवद्दुहिता साभून्मेनायां द्विजसत्तम।
उपयेमे पुनश्चोमामनन्यां भगवान् भवः॥ १२॥
देवौ धातृविधातारौ भृगोः ख्यातिरसूयत।
श्रियञ्च देवदेवस्य पत्नी नारायाणस्य या॥ १३॥

मैत्रेय उवाच

क्षीराब्धौ श्रीः समुत्पन्ना श्रूयतेऽमृतमन्थने।
भृगोः ख्यात्यां समुत्पन्नेत्येतदाह कथं भवान्॥ १४॥

पराशर उवाच

नित्यैव सा ज़गन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी।
यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम॥ १५॥
अर्थो विष्णुरियं वाणी नीतिरेषा नयो हरिः।
बोधो विष्णुरियं बुद्धिर्धर्म्मोऽसौ सत्क्रिया त्वियम्॥ १६॥
स्रष्टा विष्णुरियं सृष्टिः श्रीर्भूमिर्भूधरो हरिः॥
सन्तोषो भगवान् लक्ष्मीस्तुष्टिर्मैत्रेय शाश्वती॥ १७॥

अनन्यां भवैकनिष्ठाम्॥ १२॥

श्रीः नारायणस्य पत्नी या तां श्रियं चासूयत॥ १३॥

प्रश्नः स्पष्टार्थः॥ १४॥

उत्तरस्यायं भावः,—तस्या उत्पत्तिमत्त्वे भवेदयं विरोधः। नित्याया एव सर्वगतायाः सर्वात्मिकायाश्च विष्णुशक्तेस्तस्याः कार्यवशेन विष्णोरिवाविर्भावमात्रम्। अतः पूर्वं भृगुसुतारूपेण आविर्भूताया दुर्वासःशापेन च तिरोभूतायाः पुनः क्षीराब्धावाविर्भावो न विरुध्यत इति। यद् एतदाह–'नित्यैव' इत्यादिना यावदुत्तराध्यायसमाप्तिः॥ १५॥

लक्ष्मीनारायणोः सर्वात्मकत्वं तथा तथोपासनार्थं प्रपञ्चयति– 'अर्थो विष्णु'रित्यादिना यावदध्यायसमाप्तिः। वाणी अर्थाभिधायिका वाक् इयं श्रीः। नीतिर्दण्डनीतिरेषा श्रीः, नयः समाद्युपायः। बोधः आत्मप्रकाशः, बुद्धिस्तदभिव्यञ्जिका धीवृत्तिः। धर्मोऽपूर्वं, सत्क्रिया यागादिः॥ १६॥

भूधरो गिरिभूपतिर्वा। यदृच्छालाभैरलं प्रत्ययः सन्तोषः, तथानिर्वृतिस्तुष्टिः॥ १७॥

इच्छा श्रीभर्गवान् कामो यज्ञोऽसौ दक्षिणा तु सा।
आज्याहुतिरसौ देवी पुरोडाशो जनार्द्दनः॥ १८॥
पत्नीशाला मुने लक्ष्मीः प्राग्वंशो मधुसूदनः।
चितिर्लक्ष्मीर्हरिर्यूप इध्मा श्रीर्भगवान् कुशः॥ १९॥
सामस्वरूपी भगवानुद्गीतिः कमलालया।
स्वाहा लक्ष्मीर्जगन्नाथो वासुदेवो हुताशनः॥ २०॥
शङ्करो भगवाञ्छौरिर्भूतिर्गौरी द्विजोत्तम।
मैत्रेय केशवः सूर्य्यस्तत्प्रभा कमलालया॥ २१॥
विष्णुः पितृगणः पद्मा स्वधा शाश्वततुष्टिदा।
द्यौः श्रीः सर्वात्मको विष्णुरवकाशोऽतिविस्तरः॥ २२॥
शशाङ्कः श्रीधरः कान्तिः श्रीस्तस्थैवानपायिनी।
धृतिर्लक्ष्मीर्जगच्चेष्टा वायुः सर्वत्रगो हरिः॥ २३॥
जलधिर्द्विज गोविन्दस्तद्वेला श्रीर्महामते।
लक्ष्मीस्वरूपमिन्द्राणी देवेन्द्रो मधुसूदनः॥ २४॥
यमश्चक्रधरः साक्षाद् धूमोर्णा कमलालया।
ऋद्धिः श्रीः श्रीधरो देवः स्वयमेव धनेश्वरः॥ २५॥
गौरी लक्ष्मीर्महाभागा केशवो वरुणः स्वयम्।
श्रीर्देवसेना विप्रेन्द्र देवसेनापतिर्हरिः॥ २६॥
अवष्टम्भो गदापाणिः शक्तिर्लक्ष्मीर्द्विजोत्तम।

इच्छा धनादिस्पृहा, कामस्तद्भोगाभिलाषः॥ १८॥ चितिरिष्टिकाचयनम्॥ १९॥

सामस्वरूपी रथन्तरादिगानरूपः। उद्गीतिस्तद्गानव्यापारः, हुताश्नो वासुदेवः, स्वाहा तु लक्ष्मीः॥ २०-२१॥

द्यौःश्रीः अवकाशो विष्णुः॥ २२॥

धृतिर्मेधादिधारणं, जगच्चेष्टा च लक्ष्मीः। तत्कर्त्ता वायुर्हरिः॥ २३-२४॥

धूमोर्णा यमस्य भार्या। धनेश्वरः कुवेरः, ऋद्धिस्तस्य पत्नी॥ २५॥

वरुणस्य भार्यापि गौरीसंज्ञा॥ २६॥

काष्ठा लक्ष्मीर्निमेषोऽसौ मुहूर्तोऽसौ कला तु सा॥ २७॥
ज्योत्स्ना लक्ष्मीः प्रदीपोऽसौ सर्वः सर्वेश्वरो हरिः।
लताभूता जगन्माता श्रीर्विष्णुर्द्रुमसंस्थितः॥ २८॥
विभावरी श्रीर्दिवसो देवश्चक्रगदाधरः।
वरप्रदो वरोविष्णुर्वधूः पद्मवनालया॥ २९॥
नदस्वरूपी भवाञ्छ्रीर्नदीरूपसंस्थितिः।
ध्वजश्च पुण्डरीकाक्षः पताका कमलालया॥ ३०॥
तृष्णा लक्ष्मीर्जगत्स्वामी लोभो नारायणः परः।
रति-रागौ च धर्मज्ञ लक्ष्मीर्गोविन्द एव च॥ ३१॥
किञ्चातिबहुनोक्तेन संक्षेपेणेदमुच्यते।
देवतिर्य्यङ्मनुष्यादौ पुंन्नाम्नि भगवान् हरिः।
स्त्रीनाम्नि लक्ष्मीमैत्रेय नानयोर्विद्यते परम्॥ ३२॥

इति श्रीविष्णुपुराणे प्रथमांशे अष्टमोऽध्यायः॥

अवष्टम्भः पुरुषकारः, शक्तिस्तत्सामर्थ्यम्॥ २७॥

ज्योत्स्ना प्रभा, दीपो हरिः,हरेर्विशेषणं सर्वः सर्वेश्वरश्चेति। द्रूमरूपः संस्थितो लताया आश्रयः॥ २८॥

वधूर्जाया, वरः पतिः॥ २९-३०॥

इतस्ततः पुनरुपादित्सा तृष्णा, तत्प्राप्यार्थपर्यासिर्लोभः। रागः कामः, रतिस्तत्पत्नी॥ ३१॥

अनयोराभ्यां परमन्यत्र विद्यते॥ ३२॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाभिधायां विष्णुपुराण टीकायां प्रथमांशे अष्टमोऽध्यायः।

नवमोऽध्यायः

(इन्द्रं प्रति दुर्वाससः शापः, ब्राह्मणः समीपे देवानां गमनम् समुद्रमन्थनम् इन्द्रस्य लक्ष्मीस्तुतिश्च)

पराशर उवाच

इदञ्च शृणु मैत्रेय यत् पृष्टोऽहमिह त्वया।
श्रीसम्बद्धं मया ह्येतच्छ्रुतमासीन्मरीचितः॥ १॥
दुर्वासाः शङ्करस्यांशश्चचार पृथिवीमिमाम्।
स ददर्श स्त्रजं दिव्यामृषिर्विद्याधरीकरे॥ २॥
सन्तानकानामखिलं यस्या गन्धेन वासितम्।
अतिसेव्यमभूद् ब्रह्मन् तद्वनं वनचारिणाम्॥ ३॥
उन्मत्तव्रतधृग् विप्रस्तां दृष्ट्वा शोभनां स्त्रजम्।
तां ययाचे वरारोहां विद्याधरवधूं ततः॥ ४॥
याचिता तेन तन्वङ्गी मालां विद्याधराङ्गना।
ददौ तस्मै विशालाक्षी सादरं प्रणिपत्य च॥ ५॥
तामादायात्मनो मूर्ध्नि स्त्रजमुन्मत्तरूपधृक्।
कृत्वा स विप्रो मैत्रय परिबभ्राम मेदिनीम्॥ ६॥
स ददर्श समायान्तमुन्मत्तैरावतस्थितम्।

तदेवं मैत्रेयकृताक्षेपपरिहारार्थं सर्वात्मत्वप्रपञ्चनेन विष्णोरिव लक्ष्म्या अपि नित्यत्वमुक्तम्, इदानीम् आविर्भावतिरोभावाभ्यां तदुक्तं विरोधं परिहर्त्तुमाह इदञ्चेत्यादिना-पूवं भृगुसुता सतीत्यन्तेन ग्रन्थेन। भृगुसुतापि श्रीर्यथा क्षीराब्धौ जाता इत्युच्यते इदञ्च शृणु। मयापि एवमेव सन्दिहानेन मरीचेः सकाशाद् एतच् श्रुतमासीत्॥ १॥

तत्र प्रथमं भृगुसुतायाः सत्यास्तिरोधाने कारणं वक्तुमाह-''उन्मत्तव्रतधृगयोगिनो हि जडोन्मत्तपिशाचा इव दुर्वासा'' इति। शङ्करस्यांश इत्यनेन तस्य शक्रशापसामर्थ्यम् अपराधासहिष्णुत्वञ्चोक्तम्। सन्तानो देवतरुः, तदीयानां पुष्पाणां स्त्रजं मालाम्। यस्या गन्धेन वासितं तद् वनं वनचारिणाम् अतिसेव्यमभूत्॥ २-३॥

वर्त्तन्ते। तां स्त्रजं तां विद्याधरवधूं याचितवान् इति द्विकर्मको याचति॥ ४-५॥

त्रैलोक्याधिपतिं देवं सह दैवैः शचीपतिम्॥ ७॥
तामात्मनः सः शिरसः स्रजमुन्मत्तषट्पदाम्।
आदायामरराजाय चिक्षेपोन्मत्तवन्मुनिः॥ ८॥
गृहीत्वामरराजेन स्रगैरावतमूर्द्धनि।
न्यस्ता रराज कैलासशिखरे जाह्नवी यथा॥ ९॥
मदान्धकारिताक्षोऽसौ गन्धाकृष्टेन वारणः।
करेणाघ्राय चिक्षेप तां स्रजं धरणीतले॥ १०॥
ततश्चुक्रोध भगवान् दुर्वासा मुनिसत्तमः।
मैत्रेय देवराजं तं क्रुद्धश्चैतदुवाच ह॥ ११॥
ऐश्वर्यमत्त दुष्टात्मन्नतिस्तब्धोऽसि वासव।
श्रियो धाम स्रजं यस्त्वं मद्दत्तां नाभिनन्दसि॥ १२॥
प्रसाद इति नोक्तं ते प्रणिपातपुरः सरम्।
हर्षोत्फुल्लकपोलेन न चापि शिरसा धृता॥ १३॥
मया दत्तामिमां मालां यस्मान्न बहु मन्यसे।
त्रैलोक्यश्रीरतो मूढ़ विनाशमुपयास्यति॥ १४॥
मां मन्यतेऽन्यैः सदृशं न्यूनं शक्र भवान् द्विजैः।
अतोऽवमानमस्माकं मानिना भवता कृतम्॥ १५॥

तां स्रजं मूर्ध्नि कृत्वा मेदिनीं परिबभ्राम इत्यन्वयः॥ ६-८॥

ऐरावतमूर्द्धनि न्यस्ता सा च कैलासशिखरे जाह्नवी इव रराज॥ ९॥

मदेन अन्धकारिते सञ्जातान्धकारे अक्षिणी यस्य असौ। करेण आघ्राय इति-कारणः करस्यैव घ्राणत्वात्॥ १०-११॥

अतिस्तब्धोऽसि गर्विताऽसि। श्रियो धाम लक्ष्म्या निवासभूताम्॥ १२॥

ते त्वया हर्षेण उत्फुल्लौ विकसितौ कपोलौ यस्य तथाभूतेन सता त्वया॥ १३॥

त्रैलोक्यश्रीस्तव त्रैलोक्यैश्वर्य्यम् विनाशम्, अतो मालाबहुमानाकरणदोषात्॥ १४-१५॥

मद्दत्ता भवता यस्मात् क्षिप्ता माला महीतले।
तस्मात् प्रनष्टलक्ष्मीकं त्रैलोक्यं ते भविष्यति॥ १६॥
यस्य सञ्जातकोपस्य भयमेति चराचरम्।
तं त्वं मामतिगर्वेण देवराजावमन्यसे॥ १७॥

पराशर उवाच

महेन्द्रो वारणस्कन्धादवतीर्य्य त्वरान्वितः।
प्रसादयामास तदा दुर्वाससमकल्मषम्॥ १८॥
प्रसाद्यमानः स तदा प्रणिपातपुरःसरम्।
प्रत्युवाच सहस्राक्षं दुर्वासा मुनिसत्तमः॥ १९॥

दुर्वासा उवाच

नाहं कृपालुहृदयो न च मां भजते क्षमा।
अन्ये ते मुनयः शक्र दुर्व्वाससमवेहि माम्॥ २०॥
गौतमादिभिरन्यैस्त्वं गर्वमापादितो मुधा।
अक्षान्तिसारसर्वस्वं दुर्वाससमवेहि माम्॥ २१॥
वसिष्ठाद्यैर्दयासारैः स्तोत्रं कुर्वद्भिरुच्चकैः।
गर्वं गतोऽसि येनैवं मामप्यद्यावमन्यसे॥ २२॥

गजेन क्षिप्ताया उपेक्षितत्वाद् भवतैव क्षिप्ता इत्युक्तम् तस्मान्मालाया धरणीतले प्रक्षेपदोषात्। त्वदीयं त्रैलोक्यं प्रनष्टलक्ष्मीकं दारिद्र्याभिभूतं भविष्यति इति द्वितीयः शापः॥ १६-१७॥

अकल्मषं सापराधशापे दोषोभावात्॥ १८-१९॥

अन्ये ते मुनयः ये दयालवः। अहं तु न तथा॥ २०॥

तदेवाह, गौतमादिभिः स्वभार्याधर्षणाद्यपराधेऽपि त्वयि दाक्षिण्येन अनुग्रहपरैः मुधा वृथैव गर्वं प्रापितोऽसि। अक्षान्तौ एव सारस्तपोबलं, तदेव सर्वस्वं यस्य तं माम्॥ २१॥

उच्चैरुच्चकैः स्तुवद्भिः, यद्वा उच्चकैरुन्नमितैः शिरोभिरूच्चासनोपविष्टस्य एवं स्तोत्रं कुर्वद्भिरित्यर्थः॥ २२॥

ज्वलज्जटाकलापस्य भृकुटीकुटिलं मुखम्।
निरीक्ष्य कस्त्रिभुवने मम यो न गतो भयम्॥ २३॥
नाहं क्षमिष्ये बहुना किमुक्तेन शतक्रतो।
विडम्बनामियां भूयः करोष्यनुनयात्मिकाम्॥ २४॥

पराशर उवाच

इत्युक्त्वा प्रययौ विप्रो देवराजोऽपि तं पुनः।
आरुह्यैरावतं ब्रह्मन् प्रययावमरावतीम्॥ २५॥
ततः प्रभृति निःश्रीकं सशक्रं भुवनत्रयम्।
मैत्रेयासीदपध्वस्तं संक्षीणौषधिवीरुधम्॥ २६॥
न यज्ञाः सम्प्रवर्त्तन्ते न तपस्यन्ति तापसाः।
न च दानादिधर्मेषु मनश्चक्रे तदा जनः॥ २७॥
निःसत्त्वा सकला लोका लोभायु पहतेन्द्रियाः।
स्वल्पेऽपि हि बभूवुस्ते साभिलाषा द्विजोत्तम॥ २८॥
यतः सत्त्वं ततो लक्ष्मीः सत्त्वं भूत्यनुसारि च।
निःश्रीकाणां कुतः सत्त्वं विना तेन गुणाः कुतः॥ २९॥
बलशौर्य्याद्यभावश्च पुरुषाणां गुणैर्विना।

एवं सति। ज्वलज्जटेति, मम मुखं निरीक्ष्य यो भयं न गतः, स कः-न कोऽपीत्यर्थः॥ २३॥

विडम्बनाम् अवहासम्॥ २४-२५॥

अपध्वस्तं नष्टप्रायम्॥ २६॥

निःसत्त्वाः धैर्यशून्याः अतो लोभादिभिः उपहतेन्द्रिया अतः स्वल्पेऽप्यर्थे साभिलाषाः॥ २८॥

एतदेव स्पष्टयति यत इति। यतो यत्र सत्त्वं धैर्य्यं तत्र लक्ष्मीः। सत्त्वं भूत्यनुसारि लक्ष्म्या एवानुसारी लक्ष्म्या एवानुवर्ति एवं धैर्यलक्ष्म्योः परस्पराविनाभूतत्वात् श्रीनिवृत्त्या सत्त्वनिवृत्तिमाह निःश्रीकाणामिति। तेन सत्वेन विना गुणाः औदार्य्यसन्तोषक्षमाशीलादयः कुतः॥ २९॥

लङ्घनीयः समस्तस्य बलशौर्य्य विवर्जितः॥ ३ ०॥
भवत्यपध्वस्तमतिर्लङ्घितः प्रथितः पुमान्।
एवमत्यन्तनिःश्रीके त्रैलोक्ये सत्त्ववर्ज्जिते॥ ३ १॥
देवान् प्रति बलोद्योगं चक्रुर्दैतेयदानवाः।
लोभाभिभूता निःश्रीका दैत्याः सत्त्वविवर्जिताः॥ ३ २॥
श्रिया विहीनैर्निःसत्त्वैर्देवैश्चक्रुस्ततो रणम्।
विजितास्त्रिदशा दैत्यैरिन्द्राद्याः शरणं ययुः॥ ३ ३॥
पितामहं महाभागं हुताशनपुरोगमाः।
यथावत् कथितो देवैर्ब्रह्मा प्राह ततः सुरान्॥ ३ ४॥

ब्रह्मोवाच

परापरेशं शरणं व्रजध्वमसुरार्द्दनम्।
उत्पत्तिस्थितिनाशानामहेतुं हेतुमीश्वरम्॥ ३ ५॥
प्रजापतिपतिं विष्णुमनन्तमपराजितम्।
प्रधानपुंसोरजयोः कारणं कार्यभूतयोः॥ ३ ६॥
प्रणतार्त्तिहरं विष्णुं स वः श्रेयो विधास्यति।
एवमुक्त्वा सुरान् सर्वान् ब्रह्मा लोकपितामहः।
क्षीरोदस्योत्तरं तीरं तैरेव सहितो ययौ॥ ३ ७॥

ततोऽनर्थपरम्परामाह बलेति। लङ्घनीयः अभिभाव्यः॥ ३०॥

प्रथितः प्रख्यातः पुमान् लङ्घितः अवज्ञातः सन् अपध्वस्तमतिः नष्टप्रज्ञो भवति॥ ३१-३२॥

रण युद्धं इन्द्रापराधेन त्रैलोक्यस्य निःश्रीकत्वं प्राप्तम् अतस्त्रैलोक्यान्तवर्तितया प्राप्नु वदति तद्विपक्षेषु दैतेषु देवेषु इव नातिप्रभूतम् इति दैत्यानां जयः सङ्गच्छते॥ ३३॥

हुताशनपुरोगमा इति अग्नेर्दूतत्त्वात् पुरोगमत्वम् "अग्निर्देवानां दूत आसीद्" इति श्रुतेः॥ ३४॥

जगदुत्पत्त्यादीनां हेतुम्। स्वयम् अहेतुम् स्वत एव नित्यसिद्धम्॥ ३५॥

अजयोः कार्यभूतयोरिति जन्मरहितयोरपि तयोः सर्गाभिमुखीकरणेन कार्यत्वम्॥ ३६॥

उत्तरदिगवस्थितं तीरं परं कूलमिति वा॥ ३७॥

स गत्वा त्रिदशैः सर्व्वैः समवेतः पितामहः।
तुष्टाव वाग्भिरिष्टाभिः परापरपतिं हरिम्॥ ३८॥

ब्रह्मोवाच

नमाम सर्वं सर्वेशमनन्तमजमव्ययम्।
लोकधामधराधारमप्रकाशमभेदिनम्॥ ३९॥
नारायणमणीयांसमशेषाणामणीयसाम्।
समस्तानां गरिष्ठं यद् भूरादीनां गरीयसाम्॥ ४०॥
यत्र सर्वं यतः सर्वमुत्पन्नं सत्पुरःसरम्।
सर्वभूतश्च यो देवः पराणामपि यः परः॥ ४१॥
परः परस्मात् पुरुषात् परमात्मस्वरूपधृक्।
योगिभिश्चिन्त्यते योऽसौ मुक्तिहेतुर्मुमुक्षुभिः॥ ४२॥
सत्तादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः।
स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु॥ ४३॥
कला-काष्ठा-निमेषादिकालसूत्रस्य गोचरे।
यस्य शक्तिर्न शुद्धस्य प्रसीदतु स नो हरिः॥ ४४॥

इष्टाभिः पूजिताभिः अपेक्षितार्थद्योतिकाभिरिति वा परापराणाम् उत्कृष्टनिकृष्टानां सर्वजीवानां पतिम्॥ ३८॥

नमाम इत्युत्तरश्लोकेऽपि सम्बन्धः। सर्वं सर्वस्वरूपं सर्वस्येश्वरञ्च। लोके ये धामधराः प्रभाववन्तस्तेषाम् आधारम्। इन्द्रादीनां प्रभावो यदाश्रय इत्यर्थः। अभेदिनं निर्भेदम्, अप्रकाशम् स्वव्यतिरिक्तप्रकाशशून्यम् इत्यर्थः॥ ३९-४०॥

यत्र सर्वमित्यादि यत् शब्दानां स आद्यः पुमान् प्रसीदतु इति तृतीयेन अन्वयः। पराणाम् अर्थादीनामपि यः परः पुरुषः तथा च श्रुतिः, ''इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः। महतः परमव्यक्तम् अव्यक्तात् पुरुषः परः, इति॥ ४१॥

तस्माद् परस्माद् अव्यक्तप्रेरकात् कारणात्मनः पुरुषादपि यः परमात्मैव स्वरूपधृक् मूर्त्तिधारी अत एव योगिभिश्चिन्त्यते योऽसौ॥ ४२-४३॥

कला-काष्ठा-निमेषादिकाल एव सूत्रवत् सूत्रं, जगच्चेष्टानियामकत्वात् तस्य गोचरे विषये यस्य शक्तिर्लक्ष्मीर्न वर्त्तते, स्वरूपाभिन्नत्वान्नित्यैव सा कालाधीना भवतीत्यर्थः। अत एव तस्याः स्वरूपभेदात् शुद्धस्य इत्युक्तम्॥ ४४॥

प्रोच्यते परमेशो हि यः शुद्धोऽप्युपचारतः।
प्रसीदतु स नो विष्णुरात्मा यः सर्वदेहिनाम्॥४५॥
यः कारणञ्च कार्यञ्च कारणस्यापि कारणम्।
कार्यस्यापि च यः कार्यं प्रसीदतु स नो हरिः॥४६॥
कार्यकार्यस्य यः कार्यं तत्कार्यस्यापि यः स्वयम्।
तत्कार्यकार्यभूतो यस्ततश्च प्रणताः स्म तम्॥४७॥
कारणं कारणस्यापि तस्य कारणकारणम्।
तत्कारणानां हेतुं त्वां प्रणताः स्म सुरेश्वरम्॥४८॥
भोक्तारं भोज्यभूतञ्च स्रष्टारं सृष्टमेव च।
कार्यं कर्म्मस्वरूपं तं प्रणताः स्म परं पदम्॥४९॥
विशुद्धं बोधनं नित्यमजमक्षयमव्ययम्।
अव्यक्तमविकारं यत् तद्विष्णोः परमं पदम्॥५०॥

ननु यदि लक्ष्मीस्तत्स्वरूपाभिन्ना कथं तर्हि लक्ष्म्याः पतिरुच्यते, तत्राह, प्रोच्यते इति। परा चासौ मा च लक्ष्मीः तस्या ईशः परमेशो यः शुद्धः केवलोऽपि उपचारतो भेदविवक्षया प्रोच्यते। द्वितीयो यच्छब्दः प्रसिद्धौ॥४५-४६॥

पूर्वश्लोकार्थं प्रपञ्चयति कार्यकार्यस्येति द्वाभ्याम्। प्रकृतिकार्यस्य महतो यत् कार्यमहङ्काराख्यं, तस्य कार्यं भूतसूक्ष्मवर्गः। तस्यापि कार्यं भूतभूतवर्गः। तत्कार्यं ब्रह्माण्डम्। तस्य कार्यभूतो ब्रह्मदक्षादिवर्गः, ततश्च तत् पुत्रपौत्रप्रवाहभूतो यः स्वयमेव, तं प्रणताः इत्यन्वयः॥४७॥

तथा कारणम् अर्वाक्सृष्टिर्ब्रह्मादि, तस्य कारणं ब्रह्माण्डम्, तस्य कारणम् महाभूतानि, तत्कारणं भूतसूक्ष्माणि, तत्कारणानाम् अहङ्कारमहत्सूत्राणां हेतुं प्रधानभूतं प्रणताः स्म इत्यर्थः। प्रकृतेर्गुणक्षोभात् प्रथमं क्रियाशक्तिसूत्रम् उत्पद्यते। ततो ज्ञानशक्ति महत्तत्त्वं ततोऽहङ्कार इति प्रक्रियायां तत्कारणानाम् इत्यनेन बहुवचनान्तेन अहङ्कारमहत्सूत्राणां ग्रहणम्। तदुक्तं ''सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम्''। इति यद्वा प्रकृत्या सह तत्कारणानामिति बहुत्वसम्पाद्य तद्धेतुं प्रकृतिप्रेरकम् ईश्वरं प्रणताः स्म इति योजनीयम्॥४८-४९॥

न स्थूलं न च सूक्ष्मं यन्न विशेषणगोचरम्।
तत्पदं परमं विष्णोः प्रणमामः सदामलम्॥५१॥

यस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरियं स्थिता।
परं ब्रह्मस्वरूपं यत् प्रणमामस्तमव्ययम्॥५२॥

यन्न देवा न मुनयो न चाहं न च शङ्करः।
जानन्ति परमेशस्य तद्विष्णोः परमं पदम्॥५३॥

यद् योगिनः सदोद्युक्ताः पुण्यपापक्षयेऽक्षयम्।
पश्यन्ति प्रणवे चिन्त्यं तद्विष्णो परमं पदम्॥५४॥

शक्तयो यस्य देवस्य ब्रह्मविष्णुशिवादिकाः।
भवन्त्यभूतपूर्वस्य तद्विष्णोः परमं पदम्॥५५॥

सर्वेश सर्वभूतात्मन् सर्वं सर्वाश्रयाच्युत।
प्रसीद विष्णो भक्तानां व्रज नो दृष्टिगोचरम्॥५६॥

इत्युदीरितमाकर्ण्य ब्रह्मणस्त्रिदशास्ततः।
प्रणम्योचुः प्रसीदेति व्रज नो दृष्टिगोचरम्॥५७॥

यन्नायं भगवान् ब्रह्मा जानाति परमं पदम्।
तन्नाताः स्म जगद्धाम तव सर्वं गताच्युत॥५८॥

विशुद्धं बोधनं शुद्धं ज्ञानं वृत्तिज्ञानं व्यावर्त्तयन् शुद्धत्वं दर्शयति, अव्यक्तं व्यक्तं विषयः तद् रहितम् अधिकारञ्चेति। तदुपपादयति, नित्यम् इत्यादिना। अक्षयमनाधारं तद् विष्णोः परमं पदं प्रणमाम इत्युत्तरेण अन्वयः॥५०-५१॥

यस्य अचिन्त्यानन्तशक्तेरयुतांशांशो मायाशक्तिलेशः तस्यांशो रजोगुणस्तस्मिन् इयं विश्वरचनाशक्तिः स्थिता, तं प्रणमाम इत्यस्य उत्तरश्लोकत्रयेऽपि अनुषङ्गः॥५२-५३॥

पुण्यपापक्षये तत्प्रतिबन्धापगमे प्रणवे स्थितं महावाक्यार्थविषयत्वात् तस्य॥५४॥

अभूतपूर्वस्य न भूतः कश्चिदति पूर्वो यस्मात्, अनादेरित्यर्थः। ''यस्मिन्नजातः परोऽन्योऽस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वाः'' इति श्रुतेः॥५५॥

तदेवं स्तुत्वा प्रार्थयते सर्वेशेति॥५६-५७॥

जगद्धाम जगतः प्रकाशकम् आश्रयभूतमिति वा॥५८॥

इत्यन्ते वचसस्तेषां देवानां ब्रह्मणस्तथा।
ऊचुर्देवर्षयः सर्वैः बृहस्पतिपुरोगमाः॥५९॥
आद्यो यज्ञपुमानिड्यो यः सर्वेषाञ्च पूर्वजः।
तं नताः स्म जगत्स्रष्टुः स्रष्टारमविशेषणम्॥६०॥
भगवन् भूतभव्येश जगन्मूर्त्तिधराव्यय।
प्रसीद प्रणतानां त्वं सर्वेषां देहि दर्शनम्॥६१॥
एष ब्रह्मा तथैवायं सह रुद्रैस्त्रिलोचनः।
सर्वादित्यैः समं पूषा पावकोऽयं सहाग्निभिः॥६२॥
अश्विनौ वसवश्चेमे सर्वे चैते मरुद्गणाः।
साध्या विश्वे तथा देवा देवेन्द्रश्चायमीश्वरः॥६३॥
प्रणामप्रवणा नाथ दैत्यसैन्यपराजिताः।
शरणं त्वामनुप्राप्ताः समस्ता देवतागणाः॥६४॥

पराशर उवाच

एवं संस्तूयमानस्तु भगवाञ्छङ्खचक्रधृक्।
जगाम दर्शनं तेषां मैत्रेय परमेश्वरः॥६५॥
तं दृष्ट्वा ते तदा देवाःशङ्खचक्रगदाधरम्।
अपूर्वरूपसंस्थानं तेजसां राशिमूर्ज्जितम्॥६६॥
प्रणम्य प्रणताः पूर्वं संक्षोभस्तिमितेक्षणाः।
तुष्टुवुः पुण्डरीकाक्षं पितामहपुरोगमाः॥६७॥

देवा ऊचुः

नमो नमोऽविशेषस्त्वं त्वं ब्रह्मा त्वं पिनाकधृक्।
इन्द्रस्त्वमग्निः पवनो वरुणः सविता यमः॥६८॥
वसवो मरुतः साध्या विश्वे देवगणा भवान्।

प्रणतानां प्रसीद इत्युक्त्वा तानेवाहुः,-एष ब्रह्मेति त्रिभिः॥६२॥

अपूर्वं रूपसंस्थानं दैहिकः सन्निवेशो यस्य तम्॥६६॥

पूर्वं प्रणता अपि भक्त्या पुनः प्रणम्य तुष्टुवुः॥६७॥

योऽयं तवागतो देव समीपं देवतागणः॥६९॥
स त्वमेव जगत्स्रष्टा यतः सर्वगतो भवान्।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोङ्कारः प्रजापतिः॥७०॥
वेद्यावेद्यञ्च सर्वात्मंस्त्वन्मयञ्चाखिलं जगत्।
त्वामत्र शरणं विष्णो प्रयाता दैत्यनिर्ज्जिताः॥७१॥

अविशेषः शुद्धः परमात्मा त्वं ब्रह्मादिरूपश्च त्वमेव॥६८-७१॥

वयं प्रसीद सर्वात्मंस्तेजस्याप्यायस्व नः।
तावदार्त्तिस्तथा वाञ्छा तावन्मोहस्तथासुखम्॥७२॥
यावन्नायाति शरणं त्वामशेषाघनाशनम्।
त्वं प्रसादं प्रसन्नात्मन् प्रपन्नानां कुरुष्व नः॥७३॥
तेजसां नाथ सर्वेषां स्वशक्त्याप्यायनं कुरु॥७४॥

पराशर उवाच

एवं संस्तूयमानस्तु प्रणतैरमरैर्हरिः।
प्रसन्नदृष्टिर्भगवानिदमाह स विश्वकृत्॥७५॥

श्रीभगवानुवाच

तेजसो भवतां देवाः करिष्याम्युपबृंहणम्।
वदाम्यहं यत् क्रियतां भवद्भिस्तदिदं सुराः॥७६॥
आनीय सहिता दैत्यैः क्षीराब्धौ सकलौषधीः।
मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा तु वासुकिम्॥७७॥

तेजसा प्रभावदिना नोऽस्मान् अप्यायस्व संवर्धय। आर्त्तिः शत्रुपीडा, असुखं दुःखम्॥७२-७३॥

स्वशक्त्या लक्ष्म्या॥७४॥

भगवान् इदमाह इत्यादेर्भागवतोक्तोऽभिप्रायः। तदुक्तम् ''एक एवेश्वरस्तस्मिन् सुरकार्ये सुरेश्वरः। विहर्त्तुकामस्तानाह समुद्रोन्मथनादिभिः'' इति॥७८-७६॥

क्षीराब्धौ क्षिप्त्वेति शेषः। नेत्रं मन्थनरज्जुम्॥७७॥

मथ्यताममृतं देवाः सहाये मय्यवस्थिते।
सामपूर्वञ्च दैतेयास्तत्र साहाय्यकर्मणि॥७८॥
सामान्यफलभोक्तारो यूयं वाच्या भविष्यथ।
मथ्यमाने च तत्राब्धौ यत् समुत्पद्यतेऽमृतम्॥७९॥
तत्पानाद् बलिनो यूयममराश्च भविष्यथ।
तथा चाहं करिष्यामि यथा त्रिदशविद्विषः।
न प्राप्स्यन्त्यमृतं देवाः केवलं क्लेशभागिनः॥८०॥

पराशर उवाच

इत्युक्त्वा देवदेवेन सर्व एव ततः सुराः।
सन्धानमसुरैः कृत्वा यत्नवन्तोऽमृतेऽभवन्॥८१॥
नानौषधीः समानीय देव-दैतेयदानवाः।
क्षिप्त्वा क्षिराब्धिपयसि शरदभ्रामलत्विषि॥८२॥
मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा च वासुकिम्।
ततो मथितुमारब्धा मैत्रेय तरसामृतम्॥८३॥
विबुधाः सहिताः सर्वे यतः पुच्छं ततः कृताः।
कृष्णेन वासुकेर्दैत्याः पूर्वकाये निवेशिताः॥८४॥
ते तस्य फणनिःश्वास-वह्निनापहतत्विषः।
निस्तेजसोऽसुराः सर्वे बभुवुरमितद्युते॥८५॥

अमृतं मथ्यतां मथनेन अमृतं उत्पाद्यतामित्यर्थः॥७८॥

सामपूर्वम् उपपत्तिपूर्वकं सामान्यं यत् फलं भोक्तारो यूयञ्च भविष्यथ इति वाच्याः॥७९॥

तर्हि तेऽपि तथा भविष्यन्तीति शङ्कमानान् प्रत्याह-**तथा** चेति। भो देवाः। ते युष्मद्द्विषः केवलं क्लेशभागिनो यथा भविष्यन्ति, तथा करिष्यामि॥८०॥

अमृतेऽमृतार्थम्॥८१॥

शरदभ्रस्येव अमला त्विट् दीप्तिर्यस्य तस्मिन्॥८२॥

अमृतं मथितुम् आरब्धाः। कर्त्तरि क्तः आरब्धवन्त इत्यर्थः॥८३-८५॥

तेनैव मुखनिःश्वास-वायुनास्तबलाहकैः।
पुच्छप्रदेशे वर्षद्भिस्तथा चाप्यायिताः सुराः॥८६॥
क्षीरोदमध्ये भगवान् कूर्म्मरूपी स्वयं हरिः।
मन्थनाद्रेरधिष्ठानं भ्रमतोऽभून्महामुने॥८७॥
रूपेणान्येन देवानां मध्ये चक्रगदाधरः।
चकर्ष भोगिराजानं दैत्यमध्येऽपरेण च॥८८॥
उपर्य्याक्रान्तवान् शैलं बृहद्रूपेण केशवः।
तथापरेण मैत्रेय यन्न दृष्टं सुरासुरैः॥८९॥
तेजसा नागराजानं तथाप्यायितवान् हरिः।
अन्येन तेजसा देवान् उपबृंहितवान् विभुः॥९०॥
मथ्यमाने ततस्तस्मिन् क्षीराब्धौ देवदानवैः।
हविर्धामाभवत् पूर्वं सुरभिः सुरपूजिता॥९१॥
जग्मुर्म्मुदं ततो देवा दानवाश्च महामुने।
व्याक्षिप्तचेतसश्चैव बभूवुस्तिमितेक्षणाः॥९२॥
किमेतदिति सिद्धानां दिवि चिन्तयतां ततः।
बभूव वारुणी देवी मदाघूर्णितलोचना॥९३॥
कृतावर्त्तात् ततस्तस्मात् क्षीरोदाद् वासयन् जगत्।
गन्धेन पारिजातोऽभूद् देवस्त्रीनन्दनस्तरूः॥९४॥
रूपौदार्य्यगुणोपेतस्ततश्चाप्सरसां गणः।
क्षीरोदधेः समुत्पन्नो मैत्रेय परमाद्भुतः॥९५॥

येन असुराणां दुःसहो वह्निरुत्पादितः। तेनैव वासुकेर्मखनिःश्वासवायुना अस्तबलाहकैः क्षिप्तैर्मेघैः॥८६॥

सहाये मयि अवस्थित इति यदुक्तं, तत्साहाय्यमाह-क्षीरोदमध्य इति चतुर्भिः॥८७-९०॥

हविषः क्षीरदध्यादेर्धाम आश्रयभूता॥९१॥

व्याक्षिप्तचेतसः तल्लोभाकृष्टमनसः॥९२॥

वारूणी मदिराधिष्ठात्री देवी॥९३॥

मन्दरभ्रमणेन कृता अम्भसाम् आवर्त्ता यस्मिन् तस्मात्॥९४-९५॥

ततः शीतांशुरभवज्जगृहे त्वं महेश्वरः।
जगृहुश्च विषं नागाः क्षीरोदाद्य समुत्थितम्॥ ९६॥
ततो धन्वन्तरिर्देवः श्वेताम्बरधरः खयम्।
बिभ्रत् कमण्डलुं पूर्णममृतस्य समुत्थितः॥ ९७॥
ततः स्वस्थमनस्कास्ते सर्वे दैतेय-दानवाः।
बभूवुर्मुदिताः सर्वे मैत्रेय मुनिभिः सह॥ ९८॥
ततः स्फुरत्कान्तिमती विकासिकमले स्थिता।
श्रीर्देवी पयसस्तस्मादुत्थिता भृतपङ्कजा॥ ९९॥
तां तुष्टुवुर्मुदा युक्ताः श्रीसूक्तेन महर्षयः।
विश्वावसुमुखास्तस्या गन्धर्वाः पुरतो जगुः॥ १००॥
घृताचीप्रमुखा ब्रह्मन् ननृतुश्चाप्सरोगणाः।
गङ्गाद्याः सरितस्तोयैः स्नानार्थमुपतस्थिरे॥ १०१॥
दिग्गजा हेमपात्रस्थमादाय विमलं जलम्।
स्नापयाञ्चक्रिरे देवीं सर्वलोकमहेश्वरीम्॥ १०२॥
क्षीरोदो रूपधृक् तस्यै मालामम्लानपङ्कजाम्।
ददौ विभूषणान्यङ्गे विश्वकर्मा चकार च॥ १०३॥
दिव्यमाल्याम्बरधरा स्नाता भूषणभूषिता।
पश्यतां सर्वदेवानां ययौ वक्षःस्थलं हरेः॥ १०४॥
तयावलोकिता देवा हरिवक्षःस्थलस्थया।
लक्ष्म्या मैत्रेय सहसा परां निर्वृतिमागता॥ १०५॥

विपञ्च महेश्वरो जगृहे। तच्छेषञ्च नागा जगृहुः। तदुक्तं ''प्रस्कन्नं पिबतः पाणेर्यत् किञ्चिज्जगृहुः स्म तत्। वृश्चिकाहिविषौषध्यो दन्दशूकाश्च ये परे'' इति॥९६॥

अमृतस्य कमण्डलुं तेनैव पूर्णं विभ्रत समुत्थितः॥९७॥

स्वस्थमनसो बभूवुः॥९८-९९॥

श्रीसूक्तेन ''हिरण्यवर्णाम्'' इति पञ्चदशर्चेन॥१००॥

पश्यतां सर्वदेवानां तान् अनादृत्येत्यर्थः।१०४॥

उद्वेगं परमं जग्मुर्दैत्या विष्णुपराङ्मुखाः।
त्यक्ता लक्ष्म्या महाभाग विप्रचित्तिपुरोगमाः॥ १०६॥
ततस्ते जगृहुर्दैत्या धन्वन्तरिकरे स्थितम्।
कमण्डलुं महावीर्या यत्रास्ते तद् द्विजामृतम्॥ १०७॥
मामया लोभयित्वा तान् विष्णुः स्त्रीरूपमास्थितः।
दानवेभ्यस्तदादाय देवेभ्यः प्रददौ विभुः॥ १०८॥
ततः पपुः सुरगणाः शक्राद्यास्तत् तदामृतम्।
उद्यतायुधनिस्त्रिंशा दैत्यास्तांश्च समभ्ययुः॥ १०९॥
पीतेऽमृते च बलिभिर्देवैर्दैत्यचमुस्तदा।
वध्यमाना दिशो भेजे पातालं तु विवेश वै॥ ११०॥
तदा देवा मुदा युक्ताः शङ्खचक्रगदाभृतम्।
प्रणिपत्य यथापूर्वम् आशासत त्रिविष्टपम्॥ १११॥
ततः प्रसन्नभाः सूर्य्यः प्रययौ स्वेन वर्त्मना।
ज्योतींषि च यथामार्गं प्रययुर्मुनिसत्तम॥ ११२॥
जज्वाल भगवांश्चोच्चैश्चारूदीप्तिर्विभावसुः।
धर्म्मे च सर्वभूतानां तदा मतिरजायत॥ ११३॥
त्रैलोक्यञ्च श्रिया जुष्टं बभूव मुनिसत्तम।
शक्रश्च त्रिदशश्रेष्ठः पुनः श्रीमानजायत॥ ११४॥
सिंहासनगतः शक्रः सम्प्राप्य त्रिदिवं पुनः।
देवराज्ये स्थितो देवीं तुष्टावाब्जकरां ततः॥ ११५॥

इन्द्र उवाच

नमस्ते सर्वभूतानां जननीमब्जसम्भवाम्।
श्रियमुन्निद्रपद्माक्षीं विष्णोर्वक्षःस्थलस्थिताम्॥ ११६॥

प्रसन्नभाः स्पष्टदीप्तिः सन् स्वेन वर्त्मना दक्षिणोत्तरायणनियमेन। ज्योतींषि ताराग्रहभौमादयो यथामार्गं वक्रातिचारं विना॥ ११२॥

दुर्वासःशापपातेन पुनर्माभूदियं तथा। इत्यभिप्रायतः शक्रस्तुष्टाव श्रियमानतः॥ ११५॥

नमस्ये नमामि सर्वभूतानां जननीं त्वाम्॥ ११६॥

त्वं सिद्धिस्त्वं सुधा स्वाहा स्वधा त्वं लोकपावनि।
सन्ध्या रात्रिः प्रभा भूतिर्मेधा श्रद्धा सरस्वती॥ ११७॥
यज्ञविद्या महाविद्या गुह्यविद्या च शोभने।
आत्मविद्या च देवि त्वं विमुक्तिफलदायिनी॥ ११८॥
आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिस्त्वमेव च।
सौम्यासौम्यैर्जगद्रूपैस्त्वयैतद्देवि पूरितम्॥ ११९॥
का त्वन्या त्वामृते देवि सर्वयज्ञमयं वपुः।
अध्यास्ते देवदेवस्य योगिचिन्त्यं गदाभृतः॥ १२०॥
त्वया देवि परित्यक्तं सकलं भुवनत्रयम्।
विनष्टप्रायमभवत् त्वयेदानीं समेधितम्॥ १२१॥
दाराः पुत्रास्तथागारं सुहृद् धान्यधनादिकम्।
भवत्येतन्महाभागे नित्यं त्वद्वीक्षणान्नृणाम्॥ १२२॥
शरीरारोग्यमैश्वर्य्यमरिपक्षक्षयः सुखम्।
देवि त्वद्दृष्टिदृष्टानां पुरुषाणां न दुर्लभम्॥ १२३॥
त्वं माता सर्वभूतानां देवदेवो हरिः पिता।
त्वयैतद् विष्णुना चाद्य जगद्व्याप्तं चराचरम्॥ १२४॥

त्वं सिद्धिरणिमादिः। प्रभा दिवसः॥ ११७॥

यज्ञविद्या कर्मविद्या। महाविद्या विश्वरूपासना। गुह्यविद्या तद्वाचकद्वादशक्षरादिरहस्य-मन्त्रविद्या। आत्मविद्या ब्रह्मविद्या। एवं कर्मविद्यादिरूपेण विमुक्तिफलदायनी त्वमेव॥ ११८॥

किञ्च आन्विक्षिकी तर्कविद्या त्वमेव। त्रयी वेदत्रयम् वार्त्ता शिल्पशास्त्रायुर्वेदादिः। दण्डनीतिः सामाद्युपायप्रतिपादकराजनीतिः। एवम् अन्यैरपि सौम्यासौम्यै रूपैस्त्वदीयैः एतज्जगत् पूरितम्॥ ११९॥

अतस्तव सौभाग्यम् अत्याश्चर्यम् इत्याह, का त्विति। का पुनस्त्वदन्या गदाभृतो वपुरध्यास्ते तद्वक्षसि वसतीत्यर्थः॥ १२०॥

अतस्तदुपेक्षानुकम्पयोरीदृशं फलं दृष्टमित्याह, त्वयेति। समेधितं संवर्धितम्॥ १२१॥

तच्चैतत् चित्रमित्याह, दारा इति त्रिभिः॥ १२२-१२४॥

मा नः कोशं तथा गोष्ठं मा गृहं मा परिच्छदम्।
मा शरीरं कलत्रञ्च त्यजेथाः सर्व्वपावनि॥ १२५॥
मा पुत्रान् मा सुहृद्वर्गं मा पशून् सा विभूषणम्।
त्यजेथा मम देवस्य विष्णोर्वक्षःस्थलालये॥ १२६॥
सत्त्वेन सत्यशौचाभ्यां तथा शीलादिभिर्गुणैः।
त्यज्यन्ते ते नराः सद्यः सन्त्यक्ता ये त्वयामले॥ १२७॥
त्वयावलोकिताः सद्यः शीलाद्यैरखिलैर्गुणैः।
कुलैश्वर्य्यैश्च मुह्यन्ते पुरुषा निर्गुणा अपि॥ १२८॥
स श्लाघ्यः स गुणी धन्यः स कुलीनः स बुद्धिमान्।
स शूरः स च विक्रान्तो यस्त्वया देवि वीक्षितः॥ १२९॥
सद्यो वैगुण्यमायान्ति शीलाद्याः सकला गुणाः।
पराङ्मुखी जगद्धात्रि यस्य त्वं विष्णुवल्लभे॥ १३०॥
न ते वर्णयितुं शक्ता गुणान् जिह्वापि वेधसः।
प्रसीद देवि पद्माक्षि मास्मांस्त्याक्षीः कदाचन॥ १३१॥

पराशर उवाच

एवं श्रीः संस्तुता सम्यक् प्राह देवी शतक्रतुम्।
शृण्वतां सर्वदेवानां सर्वभूतस्थिता द्विज॥ १३२॥

श्रीरुवाच

परितुष्टास्मि देवेश स्तोत्रेणानेन ते हरे।
वरं वृणीष्व यस्त्विष्टो वरदाहं तवागता॥ १३३॥

अतो मा त्वं नोऽस्माकं कोशादिकं त्यजेथाः। परिच्छदं परिकरम्॥ १२५-१२९॥

त्वया च परित्यक्तानाम् अनिष्टं भवतीत्याह, सद्य इति। वैगुण्यं दोषत्वम्॥ १३०॥

अतस्तद्गुणस्तुतौ न कोऽपि शक्तः, कृपयैव केवलं प्रसीदेति प्रार्थयते,-न त इति। वेधसोऽपि जिह्वा न शक्तेत्यन्वयः॥ १३१॥

हरे! इन्द्र॥ १३३॥

इन्द्र उवाच

वरदा यदि मे देवि वरार्हो यदि वाप्यहम्।
त्रैलोक्यं न त्वया त्याज्यमेष मेऽस्तु वरः परः॥ १३४॥
स्तोत्रेण यस्तथैतेन त्वां स्तोष्यत्यब्धिसम्भवे।
स त्वया न परित्याज्यो द्वितीयोऽस्तु वरो मम॥ १३५॥

श्रीरुवाच

त्रैलोक्यं त्रिदशश्रेष्ठ न संत्यक्ष्यामि वासव।
दत्तो वरो मया यस्ते स्तोत्राराधनतुष्टया॥ १३६॥
यश्च सायं तथा प्रातः स्तोत्रेणानेन मानवः।
मां स्तोष्यति न तस्याहं भविष्यामि पराङ्मुखी॥ १३७॥

पराशर उवाच

एवं वरं ददौ देवी देवराजाय वै पुरा।
मैत्रेय श्रीर्महाभाग स्तोत्राराधनतोषिता॥ १३८॥
भृगोः ख्यात्यां समुत्पन्ना श्रीः पूर्वमुदधेः पुनः।
देव-दानवयत्नेन प्रसूतामृतमन्थने॥ १३९॥
एवं यथा जगत्स्वामी देवदेवो जनार्द्दनः।
अवतारं करोत्येष तथा श्रीस्तत्सहायिनी॥ १४०॥
पुनश्च पद्माद्दुद्भूता आदित्योऽभूद् यदा हरिः।
यदा तु भार्गवो रामस्तदाभूद् धरणी त्वियम्॥ १४१॥
राघवत्वेऽभवत् सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि।
अन्येषु चावतारेषु विष्णोरेषा सहायिनी॥ १४२॥

प्रकृतं श्रियोऽवतारद्वयं निगमयन् प्रसङ्गादन्यानपि तदवतारानाह, भृगोरित्यादि यावदध्यायसमाप्तिः॥ १३९॥

तत्सहायिनि तदनुवर्त्तनशीला॥ १४०॥

यदा हरिरादित्यो वामनोऽभूत्। भार्गवो जामदग्न्यः॥ १४१॥

देवत्वे देवदेहेयं मनुष्यत्वे च मानुषी।
विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषात्मनस्तनुम्॥ १४३॥
यश्चैतच्छृणुयाज्जन्म लक्ष्म्या यश्च पठेन्नरः।
श्रियो न विच्युतिस्तस्य गृहे यावत् कुलत्रयम्॥ १४४॥
पठ्यते येषु चैवैष गृहेषु श्रीस्तवो मुने।
अलक्ष्मीः कलहाधारा न तेष्वास्ते कदाचन॥ १४५॥
एतत् ते कथितं ब्रह्मन् यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
क्षीराब्धौ श्रीर्यथा जाता पूर्वं भृगुसुता सती॥ १४६॥
इति सकलविभूत्यवाप्तिहेतुः
स्तुतिनियमिन्द्रमुखोद्गता हि लक्ष्म्याः।
अनुदिनमिह पठ्यते नृभिर्यै
र्वसति न तेषु कदाचिदप्यलक्ष्मीः॥ १४७॥

इति श्रीविष्णुपुराणे प्रथमांशे नवमोऽध्यायः।

कलहाधारा कलह आधारो यस्याः सा कलहोऽपि तेषु न भवतीत्यर्थः॥ १४५॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाभिधायां विष्णुपुराणटीकायां प्रथमांशे नवमोऽध्यायः।

दशमोऽध्यायः

(भृगुसर्गादीनां पुनः कथनम्)

मैत्रेय उवाच

कथितं मे त्वया सर्वं यत्पृष्टोऽसि महामुने।
भृगुसर्गात् प्रभृत्येष सर्गो मे कथ्यतां पुनः॥ १॥

पराशर उवाच

भृगोः ख्यात्यां समुत्पन्ना लक्ष्मीर्विष्णुपरिग्रहः।
तथा धातृविधातरौ ख्यात्यां जातौ सुतौ भृगोः॥ २॥
आयतिर्नियतिश्चैव मेरोः कन्ये महात्मनः।
धातृविधात्रोस्ते भार्य्ये तयोर्जातौ सुतावुभौ॥ ३॥
प्राणश्चैव मृकण्डुश्च मार्कण्डेयो मृकण्डुतः॥
ततो वेदशिरा जज्ञे प्राणस्यापि सुतं शृणु॥ ४॥
प्राणस्य कृतिमान् पुत्रो राजवांश्च ततोऽभवत्।
ततो वंशो महाभाग विस्तारं भार्गवो गतः॥ ५॥
पत्नी मरीचेः सम्भूतिः पौर्णमासमसूयत्।
विरजाः सर्वगश्चैव तस्य पुत्रौ महात्मनः॥ ६॥

पुनर्भृगुसर्गात् प्रभृति भृगुसुतानुवादपूर्वकमेष भर्गोवंश, कथ्यताम्, अन्यथा पूर्वापरकथासम्बन्धाप्रतीतेरित्यर्थः॥ १॥

अतो भृगोः सुताननुवदति भृगोरिति। विष्णोः परिग्रहः पत्नी॥ २॥

ताभ्यां तयोरायति-नियत्योः प्रत्येकं प्राणाश्च मृकण्डश्चेत्येवम् उभौ सुतौ जातावित्यन्वयः। प्राणस्य वेदशिरा यज्ञे इत्यन्वयः॥ ३-४॥

तस्यैव पुत्रान्तरमाह प्राणस्येति॥ ५॥

वंशसङ्कीर्त्तने पुत्रान् वदिष्येऽहं तयोर्द्विज॥
स्मृतिश्चाङ्गिरसः पत्नी प्रसूताः कन्याकास्तथा॥७॥
सिनीवाली कुहूश्चैव राका चानुमतिस्तथा॥
अनुसूया तथैवात्रेर्जज्ञे पुत्रानकल्मषान्॥८॥
सोमं दुर्वासञ्चैव दत्तात्रेयञ्च योगिनम्।
प्रीत्यां पुलस्त्यभार्य्यायां दत्तोलिस्तत्सुतोऽभवत्॥९॥
पूर्वजन्मनि योऽगस्त्यः स्मृतः स्वायम्भुवेऽन्तरे।
कर्दमश्चावरीयांश्च सहिष्णुश्च सूतत्रयम्॥१०॥
क्षमा तु सुषुवे भार्य्या पुलहस्य प्रजापतेः।
क्रतोश्च सन्नतिर्भार्य्या बालखिल्यानसूयत॥११॥
षष्टिर्यानि सहस्राणि यतीनामूर्द्ध्वरेतसाम्।
अङ्गुष्ठपर्वमात्राणां जलद्भास्करतेजसाम्॥१२॥
ऊर्ज्जायाञ्च वसिष्ठस्य सप्ताजायन्त वै सुताः।
रजोगात्रोर्ध्वबाहुश्च वसनश्चानघस्तथा॥१३॥

तदेवं चतुर्विंशतिदक्षकन्यानां मध्ये श्रद्धादीनां त्रयोदशानां धर्मभार्य्याणां वंशाः कथिताः। अनन्तरञ्च ख्यातिः सत्यथ सम्भूतिरित्युद्दिष्टानाम् एकादशानां भृगुमरीच्यादिभार्य्याणां मध्ये ख्यात्यां भृगोर्वंशो निरूपितः। सत्याश्च भवभार्याया दक्षकोपाद् अप्रौढाया एवं देहत्यागोक्त्या तस्या वंशो नाभूदित्यर्थदुक्तम्। अथ क्रमप्राप्तं मरीचेः सम्भूत्यां जातं वंशमाह पत्नी मरीचेरिति॥६॥

वंशसङ्कीर्त्तन इति। मरीचेरेव कश्यपोऽन्यः पुत्रः, तत् पुत्रा विवस्वदादयः। इत्यस्मिन्नेवांशे अन्ते वंशकीर्त्तने वक्ष्ये विवस्वतः श्राद्धदेवादयः। श्राद्धदेवस्य इक्ष्वाकुप्रमुखा इत्यादि तत्तत् पुत्रान् विस्तरतो वंशीकीर्त्तने चतुर्थांशे वक्ष्ये। अत्र तु स्वल्पत्वात् पौर्णमासान्वयमात्रमुक्तम् इत्वर्थः॥७॥

ताः कन्या निर्दिशति सिनीवालीति॥८॥

सप्तर्षयस्तृतीये मन्वतरे। अभिमानी देवः न तु ज्वलनमात्ररूपः ''ब्रह्मणस्तनयोऽग्रजः मुखानग्निरजायत'' इति श्रुतेः॥१४॥

सुतपाः शुक्र इत्येते सर्वे सप्तर्षयोऽमलाः।
योऽसावग्निरभिमानी ब्रह्मणस्तनयोऽग्रजः॥ १४॥
तस्मात् स्वाहा सुतांल्लेभे त्रीणुदारौजसो द्विज।
पावकं पावमानञ्च शुचिञ्चापि जलाशिनम्॥ १५॥
तेषान्तु सन्ततावन्ये चत्वारिंशच्च पञ्च च।
एवमेकोनपञ्चाशद् वह्नयः परिकीर्त्तिताः॥ १६॥
कथ्यन्ते वह्नयश्चैते पिता पुत्रत्रयञ्च यत्।
पितरो ब्रह्मणा सृष्टा व्याख्याता ये मया तव॥ १७॥
अग्निष्वात्ता बर्हिषदोऽनग्नयः साग्नयश्च ये।
तेभ्यः स्वधा सुते जज्ञे मेनां वैधारिणीं तथा॥ १८॥
ते उभे ब्रह्मवादिन्यौ योगिन्यौ चाप्युभे द्विज।
उत्तमज्ञानसम्पन्ने सर्वैः समुदितैर्गुणेः॥ १९॥
इत्येषा दक्षकन्यानां कथितापत्यसन्ततिः।
श्रद्धावान् संस्मरन्नेतामनपत्यो न जायते॥ २०॥

इति विष्णुपुराणे प्रथमांशे दशमोऽध्यायः।

उदारौजसः अतितेजस्विनः जलाशिनं सूर्यस्थत्वात्। तथा च कौर्मे ''निर्मथ्यः पवमानः स्याद् वैद्युतः पावकः स्मृतः। यश्चासौ तपते सूर्य्ये शुचिरग्निरसौ स्मृतः'' इति॥ १५॥

तेषां त्रयाणां प्रत्येकं पञ्चदश, पञ्चचत्वारिंशद् वह्नयः। पिता ब्रह्मपुत्र एकस्तत् पुत्रत्रयं पावकादि। एवमेकोनपञ्चाशत्॥ १७॥

अग्निष्वात्ता अनग्नयो जाताः। बर्हिषदः साग्नयो यज्वानः। 'ये वा अयज्वानो गृहभेधिनः ते पितरोऽग्निष्वाताः, ये वै यज्वानस्ते पितरो बर्हिषदः'' इति श्रुतेः॥ १८॥

तयोर्विवाहादिकं न अभूद् इत्याशयेन आह, ते उभे इति॥ १९-२०॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाभिधायां विष्णुपुराणटीकायां प्रथमांशे दशमोऽध्यायः।

एकादशोऽध्यायः

(ध्रुवोपाख्यानम्)

पराशर उवाच

प्रियव्रतोत्तानपादौ मनोः स्वायम्भुवस्य तु।
द्वौ पुत्रौ सुमहावीर्य्यौ धर्मज्ञौ कथितौ तव॥ १॥
तयोरुत्तानपादस्य सुरुच्यामुत्तमः सुतः।
अभीष्टायामभूद् ब्रह्मन् पितुरत्यन्तवल्लभः॥ २॥
सुनीतिर्नाम या राज्ञस्तस्याभून्महिषी द्विज।
स नातिप्रीतिमांस्तस्यां तस्याश्चाभूद् ध्रुवः सुतः॥ ३॥
राजासनस्थितस्याङ्कं पितुर्भ्रातरमाश्रितम्।
दृष्ट्वोत्तमं ध्रुवश्चक्रे तमारोढुं मनोरथम्॥ ४॥
प्रत्यक्षं भूपतिस्तस्याः सुरुच्या नाभ्यनन्दत।
प्रणयेनागतं पुत्रमुत्सङ्गारोहणोत्सुकम्॥ ५॥

मैत्रेय उवाच

सपत्नीतनयं दृष्ट्वा तमङ्कारोहणोत्सुकम्।
पितुः पुत्रं तदारूढं सुरुचिर्वाक्यमब्रवीत्॥ ६॥

मनोः कन्यान्वयः प्रोक्तः पुत्रवंशोऽधुनोच्यते। तत्राध्यायद्वयेनाह ध्रुवस्य चरितं महत्। मनोर्द्वौ पुत्रौ द्वे च कन्ये। तत्र कन्ययोर्वंश उक्तः। इदानीं पुत्रद्वयानुवादपूर्वकमुत्तानपादवंशमाह, प्रीयव्रतेत्यादिना॥ १॥

तस्य सुरुचिः सुनीतिश्चेति द्वे भार्ये। तत्र सुरुच्याम् अभीष्टायां प्रेयस्याम् उत्तमो नाम सुतोऽभूत्॥ २॥

राजासनस्थितस्य पितुरङ्कम् उत्सङ्गमाश्रितं भ्रातरम् उत्तमं दृष्ट्वा, तमङ्कम् आरोढुं ध्रुवो मनोरथं चक्रे इत्यन्वयः॥ ४॥

सुरुच्याः प्रेयस्याः प्रत्यक्षं समक्षं तत्प्रणयभङ्गभयाद् ध्रुवं न अभ्यनन्दत्॥ ५॥

तं ध्रुवं पितुरङ्कारोहणोत्सुकं दृष्ट्वा तथा स्वपुत्रञ्च तदङ्कारूढं दृष्ट्वा सुरुचिरब्रवीत् इत्यन्वयः॥ ६॥

क्रियते किं वृथा वत्स महानेष मनोरथः।
अन्यस्त्रीगर्भजातेन असम्भूय ममोदरे॥ ७॥
उत्तमोत्तममप्राप्यमविवेकोऽभिवाञ्छसि।
सत्यं सुतस्त्वमप्यस्य किन्तु न त्वं मया धृतः॥ ८॥
एतद् राजासनं सर्वभूभृत्संश्रयकेतनम्।
योग्यं ममैव पुत्रस्य किमात्मा क्लिश्यते त्वया॥ ९॥
उच्चैर्मनोरथस्तेऽयं मत्पुत्रस्येव किं वृथा।
सुनीत्यामात्मनो जन्म किं त्वया नावगम्यते॥ १०॥

पराशर उवाच

उत्सृज्य पितरं बालस्तच्छ्रुत्वा मातृभाषितम्।
जगाम कुपितो मातुर्निजाया द्विज मन्दिरम्॥ ११॥
तं दृष्ट्वा कुपितं पुत्रमीषत्प्रस्फुरिताधरम्।
सुनीतिरङ्कमारोप्य मैत्रेयैतदभाषत॥ १२॥
वत्स कः कोपहेतुस्ते कश्च त्वां नाभिनन्दति।
कोऽवजानाति पितरं तव यस्तेऽपराध्यति॥ १३॥
इत्युक्तः सकलं मात्रे कथयामास तद्यथा।
सुरुचिः प्राह भूपालप्रत्यक्षमपि गर्विता॥ १४॥

सुरुच्या दुरुक्तिम् असहमानो ध्रुवःस्त्रीजितं पितरं विहाय मातुः समीपं गत्वा दुःखितायास्तस्या अनुमत्या पुरान्निर्गत्य सप्तर्षीणाम् उपदेशेन मधुवने भगवन्तम् आराध्य पदं प्राप्त इति क्रमेण कथयिष्यन् सुरुच्या गर्वोक्तिमाह, क्रियते किमिति चतुर्भिः॥७॥

अविवेको मन्दमतिः॥८॥

एतद् राजासनं सर्वभूभृतां संश्रयस्य चक्रवर्त्तिनः केतनं स्थानं मत्पुत्रस्यैव योग्यं न हि राजपुत्रतामात्रलभ्यम् एतत् किन्तु मद्गर्भसम्भवसौभाग्यलभ्यम्॥९॥

अतस्तव अयमुच्चैः उत्कृष्टैश्वर्य्यमनोरथो वृथैव, इत्यतिगर्वोक्तिः॥१०॥

यस्ते अपराध्यति अपराधं करोति, स तव पितरमेव अवजानाति। स चैवम्भूतः कः इत्यर्थः॥१३॥

विनःश्वस्येति कथिते तस्मिन् पुत्रेण दुर्मनाः।
श्वासक्षामेक्षणा दीना सुनीतिर्वाक्यमब्रवीत्॥ १५॥

सुनीतिरुवाच

सुरुचिः सत्यमाहेदं स्वल्पभाग्योऽसि पुत्रक।
न हि पुण्यवतां वत्स सपत्नैरेवमुच्यते॥ १६॥
नोद्वेगस्तात कर्त्तव्यः कृतं यद् भवता पुरा।
तत् कोऽपहर्त्तुं शक्नोति दातुं कश्चाकृतं त्वया।१७॥
राजासनं तथाच्छत्रं वराश्वा वरवारणाः।
यस्य पुण्यानि तस्यैते मत्वैतच्छाम्य पुत्रक॥ १८॥
अन्यजन्मकृतैः पुण्यैः सुरुच्यां सुरुचिर्नृपः।
भार्येति प्रोच्यते चान्या मद्विधा भाग्यवर्ज्जिता॥ १९॥
पुण्योपचयसम्पन्नस्तस्याः पुत्रस्तथोत्तमः।
मम पुत्रस्तथा जातः स्वल्पपुण्यो ध्रुवो भवान्॥ २०॥
तथापि दुःखं न भवान् कर्तुमर्हति पुत्रक।
यस्य यावत् स तेनैव स्वेन तुष्यति बुद्धिमान्॥ २१॥
यदि वा दुःखमत्यर्थं सुरुच्या वचसा तव।
तत् पुण्योपचये यत्नं कुरु सर्वफलप्रदे॥ २२॥
सुशीलो भव धर्मात्मा मैत्रः प्राणिहिते रतः।
निम्नं यथापः प्रवणाः पात्रमायान्ति सम्पदः॥ २३॥

तस्मिन् सुरुच्या वचसि कथिते सति श्वासेन अत्युष्णेन क्षामे म्लाने ईक्षणे नेत्रे यस्याः॥ १५॥

उद्वेगः क्षोभः॥ १७॥

एतन्मत्वा अवबुध्य शाम्य उपशमं भज॥ १८॥

सुरुच्यां नृपः सुरुचिः अतिप्रीतिमान्। मद्विधा मादृशी तु केवलं भार्य्येति प्रोच्यते॥ १९॥

यस्य यावदेव प्राप्तं स तेन तुष्यति॥ २१॥

मैत्रो मित्रधर्मा। प्रवणाः निम्नदेशाभिमुख्यः सत्यः पात्रं सगुणं नरम्॥ २३॥

ध्रुव उवाच

अम्ब यत् त्वमिदं प्राह प्रशमाय वचो मम।
नैतद् दुर्वचसा भिन्ने हृदये मम तिष्ठति॥ २४॥
सोऽहं तथा यतिष्यामि तथा सर्वोत्तमोत्तमम्।
स्थानं प्राप्स्याम्यशेषाणां जगतामपि पूजितम्॥ २५॥
सुरुचिर्दयिता राज्ञस्तस्या जातोऽस्मि नोदरात्।
प्रभावं पश्य मेऽम्ब त्वं वृद्धस्यापि तवोदरे॥ २६॥
उत्तमः स मम भ्राता यो गर्भे न धृतस्त्वया।
स राजासनमाप्नोतु पित्रा दत्तं तथास्तु तत्॥ २७॥
नान्यदत्तमभीप्सामि स्थानमम्ब स्वकर्मणा।
इच्छामि तदहं स्थानं यन्न प्राप पिता मम॥ २८॥

पराशर उवाच

निर्जगाम गृहान्मातुरित्युक्त्वा मातरं ध्रुवः।
पुराच्च निष्क्रम्य ततस्तद् बाह्योपवनं ययौ॥ २९॥
स ददर्श मुनींस्तत्र सप्त पुर्वागतान् ध्रुवः।
कृष्णाजिनोत्तरीयेषु विष्टरेषु समास्थितान्॥ ३०॥
स राजपुत्रस्थान् सर्वान् प्रणिपत्याभ्यभाषत।
प्रश्रयावनतः सम्यगभिवादनपूर्वकम्॥ ३१॥

ध्रुव उवाच

उत्तानपादतनयं मां निबोधत सत्तमाः।

अम्ब! हे मातः! मम प्रशमाय नोद्वेगस्तात कर्त्तव्य इत्यादि सप्तश्लोकीरूपं यद् वचः प्राह ब्रवीषि, तद् भिन्ने भाण्डे पय इव मम हृदये न तिष्ठति॥ २४॥

वृद्धस्य वृद्धिं प्राप्तस्यापि॥ २६॥

किन्तु स्वकर्मणा प्राप्तुमेव इच्छामि॥ २८॥

पूर्वागतान् स्वानुग्रहाय ततः पूर्वमेव तत्रागतान् कृष्णाजिनम् उत्तरीयमुपरि आस्तरणं येषां तेषु विष्टरेषु कुशासनेषु उपविष्टान्॥ ३०॥

जातं सुनीत्यां निर्वेदाद् युष्माकं प्राप्तमन्तिकम्॥ ३२॥

ऋषय ऊचुः

चतुःपञ्चाब्दसम्भूतो बालस्त्वं नृपनन्दन।
निर्वेदकारणं किञ्चित् तव नाद्यापि विद्यते॥ ३३॥
न चिन्त्यं भवतः किञ्चिद् ध्रियते भूपतिः पिता।
न चैवेष्टवियोगादि तव पश्यामि बालक॥ ३४॥
शरीरे न च ते व्याधिरस्माभिरुपलक्ष्यते।
निर्वेदः किं निमित्तं ते कथ्यतां यदि विद्यते॥ ३५॥

पराशर उवाच

ततः स कथयामास सुरुच्या यदुदाहृतम्।
तन्निशम्य ततः प्रोचुर्मुनयस्ते परस्परम्॥ ३६॥
अहो क्षात्रं परं तेजो बालस्यापि यदक्षमा।
सपत्न्या मातुरुक्तस्य हृदयान्नापसर्पति॥ ३७॥
भो भो क्षत्रियदायाद निर्वेदाद् यत् त्वयाधुना।
कर्त्तुं व्यवसितं तन्नः कथ्यतां यदि रोचते॥ ३८॥
यच्च कार्यं तवास्माभिः साहाय्यममितद्युते।
तदुच्यतां विवक्षुस्तमस्माभिरुपलक्ष्यते॥ ३९॥

ध्रुव उवाच

नाहमर्थमभीप्सामि न राज्यं द्विजसत्तमाः।
तत्स्थानमेकमिच्छामि भुक्तं नान्येन यत् पुरा॥ ४०॥

निर्वेदात् दुःखात् प्राप्तं जानीत इत्यर्थः॥ ३२॥

चत्वारः पञ्च वा अव्दा यस्य, स चासौ सम्भूतश्च सम्यग्भूतः सौकुमार्येण जातः। अल्पवयाः कोमलतरश्चेत्यर्थः॥ ३३॥

चिन्त्यं कुटुम्बादिविषयं भवतः किञ्चिन्नास्ति, यतः पिता ध्रियते जीवति। स च भूपतिः॥ ३५॥

अक्षमा मानभङ्गासहनम्॥ ३७॥ क्षत्रियदायाद! क्षत्रियपुत्र॥ ३८॥

विवक्षुः किञ्चिद् वक्तुमिच्छुः॥ ३९-४०॥

एतन्मे क्रियतां सम्यक् कथ्यतां प्राप्यते यथा।
स्थानमग्र्यं समस्तेभ्यः स्थानेभ्यो मुनिसत्तमाः॥४१॥

मरीचिरुवाच

अनाराधितगोविन्दैर्नरैः स्थानं नृपात्मज।
न हि सम्प्राप्यते श्रेष्ठं तस्मादाराधयाच्युतम्॥४२॥

अत्रिरुवाच

परः पराणां पुरुषो यस्य तुष्टो जनार्दनः।
स प्राप्नोत्यक्षयं स्थानमेतत् सत्यं मयोदितम्॥४३॥

अङ्गिरा उवाच

यस्यान्तः सर्वमेवेदमच्युतस्याव्ययात्मनः।
तमाराधय गोविन्दं स्थानमग्र्यं यदीच्छसि॥४४॥

पुलस्त्य उवाच

परं ब्रह्म परं धाम योऽसौ ब्रह्म तथा परम्।
तमाराध्य हरिं याति मुक्तिमप्यतिदुर्लभाम्॥४५॥

क्रतुरुवाच

यो यज्ञपुरुषो यज्ञे योगे यः परमः पुमान्।
तस्मिंस्तुष्टे यदप्राप्यं किं तदस्ति जनार्दने॥४६॥

पुलह उवाच

ऐन्द्रमिन्द्रः परं स्थानं यमाराध्य जगत्पतिम्।
प्राप यज्ञपतिं विष्णुं तमाराधय सुव्रत॥४७॥

वसिष्ठ उवाच

प्राप्नोत्याराधिते विष्णौ मनसा यद् यदिच्छति।
त्रैलोक्यान्तर्गतं स्थानं किमु वत्सोत्तमोत्तमम॥४८॥

एतत् साहाय्यं क्रियताम्। साहाय्यप्राकरमेवाह सम्यक् कथ्यतामिति॥४१॥

मनसा यद् यदिच्छति, सत्यलोकादि तदपि प्राप्नोति। त्रैलोक्यान्तर्गतमुत्तमं प्राप्नोतीति किमु वक्तव्यम्॥४८॥

ध्रुव उवाच

आराध्यः कथितो देवो भवद्भिः प्रणतस्य मे।
मया तत् परितोषाय यज्ञप्तव्यं तदुच्यताम्॥४९॥

यथा चाराधनं तस्य मया कार्यं महात्मनः।
प्रसादसुमुखास्तन्मे कथयन्तु महर्षयः॥५०॥

राजपुत्र यथा विष्णोराराधनपरैर्नरैः।
कार्यमाराधनं तन्मे यथावच्छ्रोतुमर्हसि॥५१॥

ब्राह्यार्थानखिलांश्चित्तं त्याजयेत् प्रथमं नरः।
तस्मिन्नेव जगद्धाम्नि ततः कुर्वीत निश्चलम्॥५२॥

एवमेकाग्रचित्तेन तन्मयेन धृतात्मना।
जप्तव्यं यन्निबोधैतत् त्वं नः पार्थिवनन्दन॥५३॥

हिरण्यगर्भपुरुषप्रधानाव्यक्तरूपिणे।
ॐ नमो वासुदेवाय शुद्धज्ञानस्वभाविने॥५४॥

कृष्णाराधनमेवैकं पुंसां सर्वफलप्रदम्। सर्वैरप्येवमेवोक्ते तदुपायं बुभुत्सते। आराध्यः कथित इति द्वाभ्याम्॥४९-५१॥

ब्राह्यार्थानित्यादिना अष्टाङ्गयोगसाध्यचित्तसमाधानपूर्वकं मन्त्रजपम् उपदिशन्ति। तत्र प्रथमं ब्राह्यार्थान् चितं त्याजयेत् इति त्यागानुकूलप्राथमिकप्रयत्नविधानेन यथार्हं यमनियमासनप्राणायामपूर्वकः प्रत्याहार उक्तः। तस्मिन्नेव निश्चलं कुर्वीतेति धारणोक्ता॥५२॥

एवमनेन प्रकारेण एकाग्रचित्तेन इति पूर्वोक्तषडङ्गसाध्यं ध्यानमुक्तम्। तथा च वक्ष्यति ''तद्रूप प्रत्ययैवैका सन्ततिश्चान्यनिस्पृहा। तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप।'' इति तन्मयेनेति समाधिरुक्तेः। धृतात्मनेति पुनर्लयविक्षेपप्राप्तौ तत्परिहाराय चित्तस्थैर्य्ये प्रयत्नः उक्तः तदुक्तं गीतासु ''यतो यतो निःसरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।'' इति॥५३॥

हिरण्यगर्भो ब्रह्मा, पुरुषो विष्णुः प्रधीयते प्रक्षीप्यते प्रकृतौ विश्वमनेनेति प्रलयहेतुः शिवः प्रधानसंज्ञः अव्यक्तस्तेषां त्रयाणां नियन्ता त्रिगुणमायाशक्तिकारणात्मा। पाठान्तरे व्यक्तं

एतज्जजाप भगवान् जप्यं स्वायम्भुवो मनुः।
पितामहस्तव पुरा तस्य तुष्टो जनार्दनः॥५५॥
ददौ यथाभिलषिताम् ऋद्धिं त्रैलोक्यदुर्लभाम्।
तथा त्वमपि गोविन्दं तोषयैतत् सदा जपन्॥५६॥

इति श्रीविष्णुपुराणे प्रथमांशे एकादशोऽध्यायः।

विश्वम्। एतानि रूपानि सन्ति यस्य तस्मै। एवमौपाधिकेषु रूपेषु सत्स्वपि शुद्धज्ञानात्मकः स्वभावोऽप्रच्युत एवास्ति यस्य तस्मै। ओंकारप्रतिपाद्याय वासुदेवाय नम इति मन्त्रार्थः॥५४॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाभिधायां विष्णुपुराणटीकायां प्रथमांशे एकादशोऽध्यायः

द्वादशोऽध्यायः

(ध्रुवस्य वरलाभः)

पराशर उवाच

निशम्य तदशेषेण मैत्रेय नृपतेः सुतः।
निर्जगाम वनात् तस्मात् प्रणिपत्य स तानृषीन्॥ १॥
कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यमानस्ततो द्विज।
मधुसंज्ञं महापुण्यं जगाम यमुनातटम्॥ २॥
पुनश्च मधुसंज्ञेन दैत्येनाधिष्ठितं यतः।
ततो मधुवनं नाम्ना ख्यातमत्र महीतले॥ ३॥
हत्वा च लवणं रक्षो मधुपुत्रं महाबलम्।
शत्रुघ्नो मथुरां नाम पुरीं यत्र चकार वै॥ ४॥
यत्र वै देवदेवस्य सान्निध्यं हरिमेधसः।
सर्वपापहरे तस्मिन् तपस्तीर्थे चकार सः॥ ५॥
मरीचिमुख्यैर्मुनिभिर्यथोद्दिष्टमभूत् तथा।
आत्मन्यशेषदेवेशं स्थितं विष्णुममन्यत॥ ६॥
अनन्यचेतसस्तस्य ध्यायतो भगवान् हरिः।
सर्वभूतगतो विप्र सर्वभावगतोऽभवत्॥ ७॥
मनस्यवस्थिते तस्य विष्णौ मैत्रेय योगिनः।
न शशाक धरा भारमुद्वोढुं भूतधारिणी॥ ८॥
वामपादस्थिते तस्मिन् ननामार्द्धेन मेदिनी।

तस्मात् पुरोपवनाद् निर्जगाम॥ १-२॥

हरतीति हरिः। सर्वदुःखहारिणी यद्विषया मेधा स हरिमेधाः। नित्यमसि च प्रजामेधयोरिति सान्तत्वम्॥ ५॥

मरीचिमुख्यैर्मरीचिप्रमुखैः। यथा उद्दिष्टम् उपदिष्टम्। अमन्यत दध्यौ॥ ६॥

सर्वभावगतः सर्वभावेन विश्वरूपेण तच्चित्तत्वं गतः प्राप्तोऽभवत्॥ ७॥

ततश्च तस्य भारमुद्वाढुंभूर्नाशक्नोदित्याह, मनस्यवस्थित इति त्रिभिः॥ ८॥

द्वितीयञ्च ननामार्द्धं क्षितेर्दक्षिणसंस्थिते॥ ९॥
पादाङ्गुष्ठेन सम्पीड्य यदा स वसुधां स्थितः।
तदा सा वसुधा विप्र चचाल सह पर्वतैः॥ १०॥
नद्यो नदाः समुद्राश्च संक्षोभं परमं ययुः।
तत्क्षोभादमराः क्षोभं परं जग्मुर्महामुने॥ ११॥
यामा नाम तदा देवा मैत्रेय परमाकुलाः।
इन्द्रेण सह संमन्त्र्य ध्यानभङ्गं प्रचक्रमुः॥ १२॥
कुष्माण्डा विविधै रूपैः सहस्त्रेण महामुने।
समाधिभङ्गमत्यन्तमारब्धाः कर्त्तृमातुराः॥ १३॥
सुनीतिर्नाम तन्माता सास्त्रा तत्पुरतः स्थिता।
पुत्रेति करुणां वाचमाह मायामयी तदा॥ १४॥
पुत्रकास्मान्निवर्त्तस्व शरीरव्ययदारुणात्।
निर्बधन्तो मया लब्धो बहुभिस्त्वं मनोरथैः॥ १५॥
दीनामेकां परित्यक्तुमनाथां न त्वमर्हसि।
सपत्नीवचनाद् वत्स अगतेस्तं गतिर्मम॥ १६॥
क्व च त्वं पञ्चवर्षीयः क्व चैतद् दारुणं तपः।

वामेन पादेन स्थिते तस्मिन् अर्द्धेन अर्द्धं वामभागतो मेदिनी ननाम अवनताभूत्। दक्षिणेन पादेन स्थिते तस्मिन् क्षितेर्द्वितीयं दक्षिणमर्धं ननाम॥ ९॥

यदा च पादाङ्गुष्ठेन वसुधां मध्यतः सम्पीड्य आक्रम्य स्थितः तदा समस्ता वसुधा चचाल॥ १०॥

नद्यादयश्च क्षोभं प्राप्ताः॥ ११॥

ततो देवैरनेकधा विघ्ने क्रियमाणेऽपि तत्समाधेरव्युत्थानलक्षणं मतिदार्ढ्यम् आह यामा नामेत्यादिना। एवं सर्वासु मायास्वित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन॥ १२॥

कुष्माण्डाः केचिदुपदेवाः॥ १३॥

सास्त्रा आश्रुमुखी सती॥ १४॥

शरीरस्य व्ययेन दारुणात् तीव्रादस्मात् तपोनिर्बन्धात् निवर्त्तस्व॥ १५॥

सपत्नीवचनात् कुद्धः सन् मां त्यक्तुं न अर्हसीत्यर्थः॥ १६॥

निवर्त्त्यतां मनः कष्टान्निर्बन्धात् फलवर्जितात्॥ १७॥

कालः क्रीडनकानां ते तदन्तेऽध्ययनस्य च।

ततः समस्तभोगानां तदन्ते चेष्यते तपः॥ १८॥

कालक्रीडनकानां यस्तव बालस्य पुत्रक।

तस्मिंस्त्वमित्थं तपसि किं नाशयात्मनो रतः॥ १९॥

मत्प्रीतिः परमो धर्म्मो वयोऽवस्थाक्रियाक्रमम्।

अनुवर्त्तस्व सा मोहं निवर्त्तास्मादधर्मतः॥ २०॥

परित्यजति वत्साद्य यद्येतन्न भवांस्तपः।

त्यक्ष्याम्यहमपि प्राणांस्ततो वै पश्यतस्तव॥ २१॥

पराशर उवाच

तां विलापवतीमेवं वाष्पाबिल-विलोचनाम्।

समाहितमना विष्णौ पश्यन्नपि न दृष्टवान्॥ २२॥

वत्स वत्स सुघोराणि रक्षांस्येतानि भीषणे।

वनेऽभ्युद्यतशस्त्राणि समायान्त्यपगम्यताम्॥ २३॥

इत्युक्त्वा प्रययौ साथ रक्षांस्याविर्बभुस्ततः।

अभ्युद्यतोग्रशस्त्राणि ज्वालामालाकुलैर्मुखैः॥ २४॥

ततो नादानतीवोग्रान् राजपुत्रस्य ते पुरः।

मुमुचुर्दीप्तशस्त्राणि भ्रामयन्तो निशाचराः॥ २५॥

शिवाश्च शतशो नेदुः सज्वालाकवलैर्मुखैः।

त्रासाय तस्य बालस्य योगयुक्तस्य सर्वशः॥ २६॥

यतो मत्प्रीतिर्मत्तोषणं तव परो धर्मः, अतः कालः क्रीडनकानां ते इत्यादि मदुक्तं वयोऽवस्थानुरूपं क्रियाणां क्रमम् अनुवर्त्तस्व, मोहं दुराग्रहं मा अनुवर्त्तस्व। भाविमहद्दुःखहेतुत्वाद् अस्मादकालतपोनिर्बन्धलक्षणाद् अधर्माद् निवर्त्तस्व। मत्प्रीतिपरमम् इति पाठे मत्प्रीत्या परम उत्कृष्टो यो भवेत् तं वयोऽवस्थाक्रियाक्रमयुक्तं धर्ममनुवर्त्तस्वेत्यर्थः॥ २०॥

वाष्पैरश्रुभिराविले क्लिन्ने विलोचने यस्यास्तां पश्यन्नपि उन्मीलितनेत्रोऽपि॥ २२॥

हन्यतां हन्यतामेष छिद्यतां छिद्यतामयम्।
भक्ष्यतां भक्ष्यताञ्चायमित्यूचुस्ते निशाचराः॥ २७॥
ततो नानाविधान् नादान् सिंहोष्ट्रमकराननाः।
त्रासाय राजपुत्रस्य नेदुस्ते रजनीचराः॥ २८॥
रक्षांसि तानि ते नादाः शिवास्तान्यायुधानि च।
गोविन्दासक्तचितस्य ययुर्नेन्द्रियगोचरम्॥ २९॥
एकाग्रचेताः सततं विष्णुमेवात्मसंश्रयम्।
दृष्टवान् पृथिवीनाथपुत्रो नान्यत् कथञ्चन॥ ३०॥
ततः सर्वासु मायासु विलीनासु पुनः सुराः।
संक्षोभं परमं जग्मुस्तत्पराभवशङ्किताः॥ ३१॥
ते समेत्य जगद्योनिमनादिनिधनं हरिम्।
शरण्यं शरणं यातास्तपसा तस्य तापिताः॥ ३२॥

देवा ऊचुः

देव देव जगन्नाथ परेश पुरुषोत्तम।
ध्रुवस्य तपसा तप्तास्त्वां वयं शरणं गताः॥ ३३॥
दिने दिने कलालेशैः शशाङ्कः पूर्य्यते यथा।
तथायं तपसा देव प्रयात्यृद्धिमहर्निशम्॥ ३४॥
औत्तानपादितपसा वयमित्थं जनार्दन।
भीतास्त्वां शरणं यातास्तपसस्तं निवर्त्तय॥ ३५॥
न विद्मः किं स शक्रत्वं किं सूर्य्यत्वमभीप्सति।
वित्तापाम्बुपसोमानां साभिलाषः पदे नु किम्॥ ३६॥
तदस्माकं प्रसीदेश हृदयाच्छल्यमुद्धर।
उत्तानपादतनयं तपसः सन्निवर्त्तय॥ ३७॥

शिवाः, ज्वाला एव कवलं ग्रासस्तत्सहितैर्मुखैर्नादञ्चक्रुः॥ २६॥ सिंहोष्ट्रमकराणामिव आननानि येषां ते॥ २८-३०॥

तस्माद् यः पराभवः स्वपदापहारलक्षणस्तस्मात् शङ्किताः सन्तः॥ ३१॥

कलालेशैः एध्याभिः स्वकलाभिः॥ ३४॥

भगवानुवाच

नेन्द्रत्वं न च सूर्य्यत्वं नैवाम्बुपधनेशताम्।
प्रार्थयत्येष यं कामं तं करोम्यखिलं सुराः॥ ३८॥
यात देवा यथाकामं स्वस्थानं विगतज्वराः।
निवर्त्तयाम्यहं बालं तपस्यासक्तमानसम्॥ ३९॥

पराशर उवाच

इत्युक्ता देवदेवेन प्रणम्य त्रिदशास्ततः।
प्रययुः स्वानि धिष्णानि शतक्रतुपुरोगमाः॥ ४०॥
भगवानपि सर्वात्मा तन्मयत्वेन तोषितः।
गत्वा ध्रुवमुवाचेदं चतुर्भुजवपुर्हरिः॥ ४१॥

श्रीभगवानुवाच

उत्तानपादे भद्रं ते तपसापिरतोषितः।
वरदोऽहमनुप्राप्तो वरं वरय सुव्रत॥ ४२॥
बाह्यार्थनिरपेक्षं ते मयि चित्रं यदाहितम्।
तुष्टोऽहं भवतस्तेन तद् वृणीष्व वरं परम्॥ ४३॥

पराशर उवाच

श्रुत्वा तद् गदितं तस्य देवदेवस्य बालकः।
उन्मीलिताक्षो ददृशे ध्यानदृष्टं हरिं पुरः॥ ४४॥

शङ्खचक्रगदाशार्ङ्गवरासिधरमच्युतम्।
किरीटिनं समालोक्य जगाम शिरसा महीम्॥ ४५॥

हृदयात् शल्यं पराभवाशङ्कालक्षणम् उद्धर उत्पाटय॥ ३७॥

काममपेक्षितमर्थम्॥ ३८॥

विगतज्वराः निःशङ्काः॥ ३९॥

स्वानि धिष्णानि स्वस्थानानि॥ ४०॥

यद् यस्मदाहितं समाहितम्॥ ४३॥

रोमाञ्चिताङ्गः सहसा साध्वसं परमं गतः।
स्तवाय देवदेवस्य स चक्रे मानसं ध्रुवः॥४६॥
त्वद्भक्तिप्रवणं ह्येतत् परमेश्वर मे मनः।
स्तोतुं प्रवृत्तं त्वत्पादौ तत्र प्रज्ञां प्रयच्छ मे॥५०॥
किं वदामि स्तुतावस्य केनोक्तेनास्य संस्तुतिः।
इत्याकुलमतिर्देवं तमेव शरणं ययौ॥४७॥

ध्रुव उवाच

भगवन् यदि मे तोषं तपसा परमं गतः।
स्तोतुं तदहमिच्छामि वरमेतं प्रयच्छ मे॥४८॥
ब्रह्माद्यैर्वेदवेदज्ञैर्ज्ञायते यस्य नो गतिः।
तं त्वां कथमहं देव स्तोतुं शक्नोमि बालकः॥४९॥

पराशर उवाच

शङ्खप्रान्तेन गोविन्दस्तं पस्पर्श कृताञ्जलिम्।
उत्तानपादतनयं द्विजवर्य्य जगत्पतिः॥५१॥
अथ प्रसन्नवदनस्तत्क्षणान्नृपनन्दनः।
तुष्टाव प्रणतो भूत्वा भूतधातारमच्युतम्॥५२॥

ध्रुव उवाच

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
भूतादिरादिप्रकृतिर्यस्य रूपं नतोऽस्ति तम्॥५३॥

चतुर्षु भुजेषु शङ्खादिधरं कक्षादौ च वरासिधरं श्रेष्ठखड्गधरम्। शिरसा महों जगाम दण्डवत् प्रणतो बभूव॥४५॥

स्तवाय मानसं चक्रे॥४६॥

ततश्च ब्रह्मादिभिरविज्ञातगतेरस्य स्तुतौ विषये बालोऽहं किं वदामि। केन वा सर्वात्मत्वेन केवलत्वेनोक्तेन वास्य स्तुतिर्भवेदिति व्याकुलमतिस्तमेव शरणं ययौ॥४७॥

सर्ववेदमयस्य शंखस्य प्रान्तेन वेदान्तभागेन परमेश्वरतत्त्वप्रतिपादकेन पस्पर्श ''ब्रह्ममयेन कम्बुना पस्पर्श'' इति शुकोक्तेः॥५१॥

शुद्धः सूक्ष्मोऽखिलव्यापी प्रधानात् परतः पुमान्।
यस्य रूपं नमस्तस्मै पुरुषाय गुणाशिने॥५४॥
भूरादीनां समस्तानां गन्धादीनाञ्च शाश्वतः।
बुध्यादीनां प्रधानस्य पुरुषस्य च यः परः॥५५॥
तं ब्रह्मभूतमात्मानमशेषजगतः परम्।
प्रपद्ये शरणं शुद्धं तद्रूपं परमेश्वरम्॥५६॥
बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च यद्रूपं ब्रह्मसंज्ञितम्।
तस्मै नमस्ते सर्वात्मन् योगिचिन्त्याविकारवत्॥५७॥
सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्षः सहस्रपात्।
सर्वव्यापी भुवः स्पर्शादत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्॥५८॥
यद्भूतं यच्च वै भाव्यं पुरुषोत्तम तद् भवान्।
त्वत्तो विराट् स्वराट् सम्राट् त्वत्तश्चाप्यधिपुरुषः॥५९॥
अत्यरिच्यत सोऽधश्च तिर्यक् चोर्ध्वञ्च वै भुवः।

प्रसन्नवदनः प्राप्तज्ञानत्वात् ''शोभा तस्य मुखे य एवं वेदेति। ब्रह्मविद इव ते सौम्य मुखमाभाति'' इति श्रुतेः। भूतानां धातारमच्युतं तुष्टाव सर्वाश्रयभूत-स्थिरस्थानार्थितत्त्वात्॥५३॥

भूम्यादीनि स्थूलसूक्ष्मरूपाणि भूतानि दश, मन इत्येका दशेन्द्रियोपलक्षणम्। बुद्धिर्महत्तत्त्वं, भूतादिरहङ्कारः, आदिप्रकृतिरित्येवं चतुर्विंशतिस्तत्त्वानि यस्य रूपं तं नतोऽस्मि॥५४॥

प्रधानात् परतः परः प्रथमान्तात् तसिः। गुणाशिने गुणसाक्षिणे॥५६॥

बृहत्त्वात् सर्वगतत्वात् कारणतया संवर्द्धिकत्वात्। विकारवन्नविभाति अविकारवत्। योगिचिन्त्यश्च तदविकारवच्च। हे योगिचिन्त्य इति पृथक् पदं वा॥५७॥

बृहत्त्वं बृंहणत्वञ्च विवृण्वन् पुरुषसूक्तार्थरूपेण स्तौति। सहस्रशीर्षेत्यादिना। सहस्रमित्यपरिमितं नाम। अपरिमितानि शीर्षाणि यस्य विश्वरूपस्य सः। सहस्रमक्षीणि यस्य सः। सहस्रं पादा यस्य। स भुवः स्पर्शाद् भूशब्देन ब्रह्माण्डं तस्य स्पर्शादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी। दशाङ्गुलमित्याधिक्यमात्रपरम् अतोऽयमर्थः। सावरणं ब्रह्माण्डं स्पृष्ट्वा अभिव्याप्य तदतिक्रम्य निरवधिर्भवान् स्थित इति॥५८॥

त्वत्तो विश्वमिदं जातं त्वत्तो भूतभविष्यती॥ ६०॥
त्वद्रूपधारिणश्चान्तर्भूतं सर्वमिदं जगत्।
त्वत्तो यज्ञः सर्वहुतः पृषदाज्यं पशुर्द्विधा॥ ६१॥
त्वत्तो ऋचोऽच सामानि त्वत्तश्छन्दांसि जज्ञिरे।
त्वत्तो यजूंष्यजायन्त त्वत्तोऽश्वाश्चैकतोदतः॥ ६२॥
गावस्त्वत्तः समुद्भूतास्त्वत्तोऽजा अवयो मृगाः।
त्वन्मुखाद् ब्राह्मणास्त्वत्तो बाह्वोः क्षत्रमजायत॥ ६३॥
वैश्यास्तवोरुजाः शूद्रास्तव पद्भ्यां समुद्गताः।
अक्ष्णोः सूर्योऽनिलः श्रोत्राच्चन्द्रमा मनसस्तव॥ ६४॥
प्राणो न शुषिराज्ञातो मुखादग्निरजायत।
नाभितो गगनं द्यौश्च शिरसः समवर्त्तत॥ ६५॥

स्पर्शश्चात्र न संयोगमात्रं, किन्तु कारणत्वेन तद्व्याप्तिः। अतः कार्यात् कारणस्याधिक्यं युक्तमिति पूर्वोक्त समर्थयते यद् भूतमित्यादिना। विराट् ब्रह्माण्डं, स्वराट् ब्रह्मा, सम्राट् मनुः। अधिपुरुषश्च एषामधिष्ठाता महापुरुषः॥५९॥

यस्मादेते तत्तो जातास्तस्मात् स भवान् भुवोऽधश्च तिर्यक् चोर्ध्वञ्च परितश्च अतिरिक्तोऽभूत्। भूशब्दोक्तस्य विश्वस्य तत्कार्यत्वेन तदन्तवर्त्तित्वात्। ततो न्यूनत्वमाह त्वत्तो विश्वमिति। भूतञ्च भविष्यच्च भूत-भविष्यती॥६०॥

त्वद्रूपधारिणश्चेति। चकारोऽप्यर्थे। तवैव कारणभूतस्य रूपं सद्रूपं धारयति न तु पृथक्सत्वं यस्य तत् त्वद्रूपधारि ब्रह्माण्डं तस्याप्यन्तः सर्वमिदं जगदन्तर्भूतं किं पुनर्वक्तव्यं तवान्तर्भूतमिति। सर्वभूतमिति पाठे सर्वाणि भूतानि यस्मिन् तज्जगद्ब्रह्माण्डस्यान्तस्तिष्ठतीत्यर्थः। सर्वभूतादिति पाठे सर्वात्मकत्वद्रूपधारिणो ब्रह्माण्डस्यान्तरिदं जगत् तिष्ठतीत्यर्थः। किञ्च त्वत्तो यज्ञः सर्वेषां चरुपुरोडाशानां हुतं हवनमस्मिन् इति सर्वहुतः नानाद्रव्यक इत्यर्थः।

यज्ञादिति पाठे सर्वे हूयन्तेऽस्मिन् इति सर्वहुतं तस्माद् यज्ञादिति ल्यब्लोपे पञ्चम्यौ। सर्वहुतं यज्ञमुद्दिश्य तत्साधनं पृषदाज्यादि त्वत्तो जातिमित्यर्थः। पृषदाज्यम् दधिमिश्रं घृतं पशुर्द्विधा ग्राम्यारण्यभेदेन॥६१॥

छन्दांसि गायत्र्यादीनि। त्वत्तोऽश्वा उभयतो दन्ता एकदन्ताश्च॥६२॥

दिशः श्रोत्रात् क्षितिः पद्भ्यां त्वत्तः सर्वमभूदिदम्।
न्यग्रोधः सुमहानल्पे यथा बीजे व्यवस्थितः॥ ६६॥
संयमे विश्वमखिलं बीजभूते तथा त्वयि।
बीजादङ्कुरसम्भूतो न्यग्रोधः सुसमुत्थितः॥ ६७॥
विस्तारञ्च यथा याति त्वतः सृष्टौ तथा जगत्।
यथा हि कदली नान्या त्वक्पत्राद् वाथ दृश्यते॥ ६८॥
एवं विश्वस्य नान्यत्वं तत्स्थायीश्वर दृश्यते।
ह्लादिनी सन्धिनी साम्बत् त्वय्येका सर्वसंस्थितौ॥ ६९॥
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्ज्जिते।
पृथग्भूतैकभूताय भूतभूताय ते नमः॥ ७०॥
प्रभूतभूतभूताय तुभ्यं भूतात्मने नमः।
व्यक्तप्रधानपुरुषविराट् सम्राट् स्वराट् तथा॥ ७१॥

तानेवाह गाव इति॥ ६३-६७

त्वत्तो जातं विश्वं त्वत्तो भिन्नं न भवतीति दृष्टान्तेनाह यथा त्वचः पत्राद् वा अन्या पृथग्भूता कदली न दृश्यते। एवं त्वक्पत्रस्थानीयात् त्वतौ विश्वस्य नान्यत्वम्॥ ६८॥

यतस्त्वत्स्थायि त्वय्येव स्थातुं शीलमस्येति त्वत्स्थायि तथा भूतमेव सन् घटः सन् पट इत्येवं दृश्यते न तु पृथक्। भो ईश्वर सर्वजीवनियामक पाठान्तरेष्वपि अयमेवार्थः। ईश्वरत्वमेव जीवेश्वरवैलक्षण्येन दर्शयन् आह, ह्लादिनीति ह्लादिनी आह्लादकरी सन्धिनी सन्तता, संवित् विद्याशक्तिः। एका मुख्या अव्यभिचारिणी स्वरूपभूतेति यावत्। सा सर्वसंस्थितौ सर्वस्य सम्यक् स्थितिर्यस्मिन् तस्मिन् सर्वाधिष्ठानभूते त्वय्येव न तु जीवेषु। या गुणमयी त्रिविधा संवित् सा त्वयि नास्ति॥ ६९॥

तानेवाह ह्लादतापकरी मिश्रेति। ह्लादकरी मनसः प्रसादात् सात्त्विकी। तापकरी विषयवियोगादिषु दुःखकरी तामसी। तदुभयमिश्रा च विषयजन्या राजसी। तत्र हेतुः सत्त्वादिगुणैर्वर्जिते। तदुक्तं सर्वज्ञसूक्तो ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः। स्वाविद्यासंवृतो जीवः संक्लेशनिकराकरः'' इति। ऐश्वर्यमेव विभूतिभिः प्रपञ्चयति। पृथग्भूतैकभूताय, कार्यात्मना पृथग्रूपाय। कारणात्मना चैकरूपाय। भूतभूताय भूतसूक्ष्मरूपाय॥ ७०॥

विभाव्यतेऽन्तःकरणैः पुरुषेष्वक्षयो भवान्।
सर्वस्मिन् सर्वभूतस्त्वं सर्वः सर्वस्वरूपधृक्॥७२॥
सर्वं त्वत्तस्ततश्च त्वं नमः सर्वात्मनेऽस्तु ते।
सर्वात्मकोऽसि सर्वेश सर्वभूतस्थितो यतः॥७३॥
कथयामि ततः किं ते सर्वं वेत्सि हृदि स्थितम्।
सर्वात्मन् सर्वभूतेश सर्वसत्वसमुद्भव॥७४॥
सर्वभूतो भवान् वेत्ति सर्वभूतमनोरथम्।
यो मे मनोरथो नाथ सफलः स त्वया कृतः।
तपश्च तप्तं सफलं यद दृष्टोऽसि जगत्पते॥७५॥

श्रीभगवानुवाच

तपसस्तु फलं प्राप्तं यद् दृष्टोऽहं त्वया ध्रुव।

प्रभूतानि भूतानि महाभूतानि तद्रूपाय भूतात्मने चराचरप्राणिरूपाय च तुभ्यं नमः। किञ्च पूर्वोक्तव्यक्तप्रधानादिविभूतिरूपतयान्तःकरणैर्योगिभिर्भवान् विभाव्यते चिन्त्यते॥७१॥

तथा पुरुषेषु क्षेत्रज्ञेषु उपाध्याभमानेन क्षीणमाणेष्वपि भवान् परमात्मा अक्षयो विभाव्यते। किञ्च सर्वस्मिन् देवादिशरीरे सर्वभूतः तत्र केवलक्षेत्रज्ञरूपस्त्वं सर्वश्च त्वं क्षेत्ररूपश्च त्वमेव। क्षेत्रक्षेत्रज्ञरूपत्वमेकस्य विरूद्धमित्याशङ्क्याह—सर्वस्वरूपधृक्। चेतनाचेतनस्वरूपं त्वमेव धत्से। ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' इति श्रुतेरित्यर्थः॥७२॥

तदेवोपपादयति सर्वं त्वत्तः। त्वत्तो हि सर्वं जायते। अतः सर्वस्वरूपधृक् त्वमेव। ननु प्रथमं कार्यं हिरण्यगर्भादिकं मत्तो जायताम्। तत्र पुत्रादिद्वारा यदन्यज्ञायते तत् कथं मत्तो जातं स्यात्, तत्राह ततश्च त्वम्। त्वत्तो जाताद् हिरण्यगर्भादेस्तत् पुत्रादिरूपेण त्वमेव जायसे। अतस्तद्द्वारा जायमानं सर्वं त्वत्त एवेत्यर्थः स्तुतिं निगमयति, एवं सर्वात्मने नमोऽस्त्विति। स्वमनोरथं सूचयन्नाह, सर्वात्मकोऽसीति॥७३॥

एतदेव विवृण्वनाह, सर्वात्मन! सर्वेषामात्मभूत! अन्तर्यामिन्! सर्वेषां सत्त्वानां समुद्भवो यस्मात् सर्वप्राणिजनक॥७४॥

सर्वभूतश्च भवान् अतः सर्वेषां सत्त्वानां मनोरथं वेत्ति। न केवलं मदीयमेवेत्यर्थः। यो मे मनोरथः त्वत्स्तुतिविषयः स स्तुतिशक्तिदानेन त्वया सफलः कृतः। अतो मया यदर्थं तपस्तप्तं, तदपि सफलं जातमेवेति विज्ञायते यतस्त्वं दृष्टोऽसि॥७५॥

मद्दर्शनं हि विफलं राजपुत्रः न जायते॥७६॥
वरं वरय तस्मात् त्वं यथाभिमत मात्मनः।
सर्वं सम्पद्यते पुंसां मयि दृष्टिपथं गते॥७७॥

ध्रुव उवाच

भगवन् सर्वभूतेश सर्वस्यास्ते भवान् हृदि।
किमज्ञातं तव स्वामिन् मनसा यन्मयेप्सितम्॥७८॥
तथापि तुभ्यं देवेश कथयिष्यामि यन्मया।
प्रार्थ्यते दुर्विनीतेन हृदयेनातिदुर्ल्लभम्॥७९॥
किं वा सर्व्वजगत्स्त्रष्टः प्रसन्ने त्वयि दुर्ल्लभम्।
त्वत्प्रसादफलं भुङ्क्ते त्रैलोक्यं मघवानपि॥८०॥
नैतद राजासनं योग्यमजातस्य ममोदरात्।
इति गर्वादवोचन्मां सपत्नी मातुरुच्चकैः॥८१॥
आधारभूत जगतः सर्वेषामुत्तमोत्तमम्।
प्रार्थयामि प्रभो स्थानं त्वत्प्रसादादतोऽव्ययम्॥८२॥

श्रीभगवानुवाच

यत् त्वया प्रार्थितं स्थानमेत्तत् प्राप्स्यति वै भवान्।

यत् त्वया आकांक्षितं तपसः फलं तत् त्वया प्राप्तमेव। किं तत् प्रार्थनेन? यतो मद्दर्शनं विफलं न जायते॥७६॥

अपि च तस्मात् प्रासादान्यदपि वरं मत्सालोक्यादिकं यथेच्छं वृणीष्वेत्यर्थः॥७७॥

ध्रुवस्त्वाह-भगवन्! ममाद्यापि त्वत्सालोक्याद्यपेक्षा नास्ति किन्तु अन्यदेवेप्सितमस्ति, तच्च भवानन्तर्यामी जानात्येव॥७८॥

तथापि दुर्विनीतेन मया हृदये यत् प्रार्थ्यते, तत् कथयिष्यामि। कथं भूतं नातिदुर्लभम् अनतिदुर्लभं सुलभमपि॥७९॥

सुलभत्वमेवाह किञ्चेति॥८०॥

ब्रह्मादिदुर्लभं तत्सालोक्यादि विहाय त्रैलोक्यान्तर्वर्त्तिस्थानं स्वप्रार्थ्यं सहेतुकमाह नैतदिति द्वाभ्याम्॥८१॥

त्वयाहं तोषितः पूर्वमन्यजन्मनि बालकः॥ ८३॥
त्वमासीर्ब्राह्मणः पूर्वं मय्येकाग्रमतिः सदा।
मातापित्रोश्च शुश्रूषुर्निजधर्मानुपालकः॥ ८४॥
कालेन गच्छता मित्रं राजपुत्रस्तवाभवत्।
यौवनेऽखिलभोगाढ्यो दर्शनीयोज्ज्वलाकृतिः॥ ८५॥
तत्संगात् तस्य तामृद्धिमवलोक्यातिदुर्लभाम्।
भवेयं राजपुत्रोऽहमिति वाञ्छा त्वया कृता॥ ८६॥
ततो यथाभिलषिता प्राप्ता ते राजपुत्रता।
उत्तानपादस्य गृहे जातोऽसि ध्रुव दुर्लभे॥ ८७॥
अन्येषां तद् वरं स्थानं कुले स्वायम्भुवस्य यत्।
तस्यैतदवरं बाल येनाहं परितोषितः॥ ८८॥
मामाराध्य नरो मुक्तिमवाप्नोत्यविलम्बिताम्।
मयर्पितमना बाल किमु स्वर्गादिकं पदम्॥ ८९॥
त्रैलोक्यादधिके स्थाने सर्वताराग्रहाश्रयः।
भविष्यति न सन्देहो मत्प्रसादाद् भवान् ध्रुव॥ ९०॥
सूर्यात् सोमात् तथा भौमात् सोमपुत्राद् बृहस्पते।
सितार्कतनयादीनां सर्वर्क्षाणां तथा ध्रुवम्॥ ९१॥
सप्तर्षीणामशेषाणां ये तु वैमानिकाः सुराः।
सर्वेषामुपरि स्थानं तव दत्तं मया ध्रुव॥ ९२॥
केचिच्चतुर्युगं यावत् केचिन्मन्वन्तरं सुराः।
तिष्ठन्ति भवतो दत्ता मया वै कल्पसंस्थितिः॥ ९३॥

भगवद्वाक्यन्तु एवंविधं स्थानं पूर्वजन्मतपसैव त्वया प्राप्तुं शक्यम् अन्तरायेण तु केनचित् त्वं राजपुत्रोऽसि तत्राप्ययं तवापरितोषो मत्तोषणाप्रभावादेवाभूत्। अतः किञ्चित् कालं राज्यभोगान् भुक्त्वा ततश्चाकल्पान्तं ध्रुवे पदे जनन्या सह स्थित्वा पश्चाद् मोक्षं प्राप्स्यसीति तदाह, यत् त्वयेति पुण्यं भविष्यतीत्यन्तेन॥ ८३॥

स्वायम्भुवस्य कुले यद् जन्म अन्येषां तापसानां तद् वरं श्रेष्ठमेव स्थानम्। येन त्वया पूर्वमहं परितोषितः। तस्य तव भक्तस्यैतदवरं तुच्छ जातम्॥ ८८-९०॥

सुनीतिरपि ते माता त्वदासन्नातिनिर्म्मला।

विमाने तारका भूत्वा तावत् कालं निवत्स्यति॥ ९४॥

ये च त्वां मानवाः प्रातः सायञ्च सुसमाहिताः।

कीर्त्तयिष्यन्ति तेषाञ्च महत् पुण्यं भविष्यति॥ ९५॥

पराशर उवाच

एवं पूर्व जगन्नाथाद् देवदेवाज्जनार्दनात्।

वरं प्राप्य ध्रुवः स्थानमध्यास्ते स महामते॥ ९६॥

तस्यापि मानमृद्धिञ्च महिमानं निरीक्ष्य च।

देवासुराणामाचार्य्यः श्लोकमत्रोशना जगौ॥ ९७॥

अहोऽस्य तपसो वीर्य्यमहोऽस्य तपसः फलम्।

यदेनं पुरतः कृत्वा ध्रुवं सप्तर्षयः स्थिताः॥ ९८॥

ध्रुवस्य जननी चेयं सुनीतिर्नाम सूनृता।

अस्याश्च महिमानं कः शक्तो वर्णयितुं भुवि॥ ९९॥

त्रैलोक्याश्रयतां प्राप्तं परं स्नानं स्थिरायति।

सोमपुत्राद् बुधात्। सितः शुक्रः। अर्कतनयः शनैश्चरः॥ ९१-९३॥

सुनीतिरपि ते मातेति। त्वन्मातृत्वादेव तत्र निवत्स्यतीत्यर्थः॥ ९४-९६॥

कचद्वारा ज्ञेयमाचार्यत्वम्॥ ९७॥

सुनृता तत् पुण्योपचये यत्नं कुरुष्वेत्यादिहितसत्यवादिनी। "धर्मस्य कन्वा सुश्रोणी सुनृता नाम विश्रुता। उत्पन्ना वाजिमेधेन ध्रुवस्य जननी श्रुता" इति हरिवंशोक्तेः। पूर्वनाम वा॥ ९९॥

त्रैलोक्याश्रयतां प्राप्तं यत् परं विष्णुपदाख्यं स्थानम्। स्थिरायति स्थिरा नित्या मुक्तिरूपा आयतिरुत्तरकाले भावि फलं यस्मिस्तथाभूतं स्थानं निवासं प्राप। "आयतिस्तु स्त्रियां दैवे प्रभावागामिकालयो" इत्यभिधानात्। प्राप्तेति वा पाठः। कथं प्राप्ता वरं श्रेष्ठं विष्णुभक्तं ध्रुवं कुक्षिविवरे गर्भे कृत्वा या वरं स्थानं प्राप्ता, तस्या महिमानं वर्णयितुं कः शक्त इत्यर्थः॥ १००॥

स्थानं प्राप्ता वरं कृत्वा या कुक्षिविवरे ध्रुवम्॥ १००॥
यश्चैतत् कीर्त्तयेन्नित्यं ध्रुवस्यारोहणं दिवि।
स सर्वपापनिर्म्मुक्त स्वर्गलोके महीयते॥ १०१॥
स्थानभ्रंशं न चाप्नोति दिवि वा यदि वा भुवि।
सर्वकल्याणसंयुक्तो दीर्घकालञ्च जीवति॥ १०२॥

इति श्रीविष्णुपुराणे प्रथमांशे द्वादशोऽध्याय:

इति श्रीधरस्वामिकृतायां स्वात्मप्रकाशाभिधायां विष्णुपुराणटीकायां प्रथमांशे द्वादशोऽध्याय:

त्रयोदशोऽध्यायः

(वेणनृप-पृथुनृपोपाख्यानम्।)

पराशर उवाच

ध्रुवाच्छिष्टिञ्च भव्यञ्च भव्याच्छम्भुर्व्यजायत।
शिष्टेराधत्त सुच्छाया पञ्च पुत्रानकल्मषान्॥ १॥
रिपुं रिपुञ्जयं विप्रं वृकलं वृकतेजसम्।
रिपोराधत्त बृहती चाक्षुषं सर्वतेजसम्॥ २॥
अजीजनत् पुष्करिण्यां वारुण्यां चाक्षुषो मनुम्।
प्रजापतेरात्मजायामरण्यस्य महात्मनः॥ ३॥
मनोरजायन्त दश नड्वलायां महौजसः।
कन्यायां जगतां श्रेष्ठ वैराजस्य प्रजापतेः॥ ४॥
ऊरुः पुरुः शतद्युम्नस्तपस्वी सत्यवाक् कविः।
अग्निष्टोमोऽतिरात्रश्च सुद्युम्नश्चेति ते नव॥ ५॥
अभिमन्युश्च दशमो नड्वलायां महौजसः।
ऊरोरजनयत् पुत्रान् षडाग्नेयी महाप्रभान्॥ ६॥
अङ्गं सुमनसं स्वातिं क्रतुमङ्गिरसं शिवम्।
अङ्गात् सुनीथापत्यं वै वेणमेकमजायत॥ ७॥

भव्यादुद्भवार्हात्। ध्रुवात् शम्भुर्नाम तद्भार्यां शिष्टिं भव्यञ्च जनयामासेत्यर्थः। भार्या शम्भुरिति केचित् पठन्ति॥ १॥

वारुण्यां वरुणसन्तानजातायामरण्यस्य प्रजापतेरात्मजायां पुष्करिण्यां चाक्षुषो मनं षष्ठमन्वन्तरपतिं जनयामासेत्यन्वयः॥ ३॥

भव्यादुद्भवार्हात्। ध्रुवात् शम्भुर्नाम तद्भार्यां शिष्टिं भव्यञ्च जनयामासेत्यर्थः। भार्या शम्भुरिति केचित् पठन्ति॥ १॥

वारुण्यां वरुणसन्तानजातायामरण्यस्य प्रजापतेरात्मजायां पुष्करिण्यां चाक्षुषो मनं षष्ठमन्वन्तरपतिं जनयामासेत्यन्वयः॥ ३॥

वैराजस्य प्रजापतेः कन्यायां नड्वलायां मनोर्महौजसो दश पुत्रा अजायन्तेत्यन्वयः॥ ४-७॥

प्रजार्थमृषयस्तस्य ममन्थुर्दक्षिणं करम्।
वेणस्य पाणौ मथिते सम्बभूव महामुने॥८॥
वैण्यो नाम महीपालो यः पृथुः परिकीर्त्तितः।
येन दुग्धा मही पूर्वं प्रजानां हितकारणात्॥९॥

मैत्रेय उवाच

किमर्थं मथितः पाणिर्वेणस्य परमर्षिभिः।
यत्र यज्ञे महावीर्यः स पृथुर्मुनिसत्तमः॥१०॥

पराशर उवाच

सुनीथा नाम या कन्या मृत्योः प्रथमतोऽभवत्।
अङ्गस्य भार्या सा दत्ता तस्यां वेणो व्यजायत॥११॥
स मातामहदोषेण तेन मृत्योः सुतात्मजः।
निसर्गादेव मैत्रेय दुष्ट एवं व्यजायत॥१२॥
अभिषिक्तो यदा राज्ये स वेणः परमर्षिभिः।
घोषयामास स तदा पृथिव्यां पृथिवीपतिः॥१३॥
न यष्टव्यं न होतव्यं न दातव्यं कदाचन।
भोक्ता यज्ञस्य कस्त्वन्यो ह्यहं यज्ञपतिः प्रभुः॥१४॥
ततस्तमृषयः पूर्वं सम्पूज्य जगतीपतिम्।
ऊचुः सामकलं सम्यङ् मैत्रेय समुपस्थिताः॥१५॥

ऋषय ऊचुः

भो भो राजन् शृणुष्व त्वं यद् वदामस्तव प्रभो।
राज्यदेहोपकाराय प्रजानाञ्च हितं परम्॥१६॥
दीर्घसत्रेण देवेशं सर्वयज्ञेश्वरं हरिम्।

नद्वलायां महौजस इति पुनरुक्तिस्तु नद्वलायां महौजसो ये दशेत्यनुवादेन त एते इति विधानार्थः॥१४॥

सामकलं नाम्ना कलं मधुरं वाक्यमूचुः॥१५॥

राज्यदेहयोरुपकाराय क्षेमाय॥१६॥

पूजयिष्याम भद्रं ते तस्यांशस्ते भविष्यति॥ १७॥
यज्ञेन यज्ञपुरुषो हरिः सम्प्रीणितो नृप।
अस्माभिर्भवतः कामान् सर्वानेव प्रदास्यति॥ १८॥
यज्ञैर्यज्ञेश्वरो येषां राष्ट्रे सम्पूज्यते हरिः।
तेषां सर्वेप्सितावाप्तिं ददाति नृप भूभृताम्॥ १९॥

वेण उवाच

मत्तः कोऽभ्यधिकोऽन्योऽस्ति यश्चाराध्यो ममापरः।
कोऽयं हरिरिति ख्यातो योऽयं यज्ञेश्वरो मतः॥ २०॥
ब्रह्मा जनार्दनः शम्भुरिन्द्रो वायुर्यमो रविः।
हुतभुग् वरुणो धाता पूषा भूमिर्निशाकरः॥ २१॥
एते चान्ये च ये देवाः शापानुग्रहकारिणः।
नृपस्यैते शरीरस्थाः सर्वदेवमयो नृपः॥ २२॥
एतज्ज्ञात्वा मयाज्ञप्तं यथावत् क्रियतां तथा।
दातव्यं न होतव्यं न यष्टव्यञ्च वो द्विजाः॥ २३॥
भर्तृशुश्रूषणं धर्मो यथा स्त्रीणां परो मतः।
ममाज्ञापालनं धर्मो भवताञ्च तथा द्विजाः॥ २४॥

ऋषय ऊचुः

देह्यनुज्ञां महाराज मा धर्मो यातु संक्षयम्।
हविषां परिणामोऽयं यदेतदखिलं जगत्॥ २५॥

पराशर उवाच

इति विज्ञाप्यमानोऽपि स वेणः परमर्षिभिः।
यदा ददाति नानुज्ञां प्रोक्तः प्रोक्तः पुनः पुनः॥ २६॥

दीर्घसत्रेण सहस्रसंवत्सरेण। अंशः षष्ठो भागः। ''पुण्यषड्भागमादत्ते न्यायेन परिपालयन्'' इति स्मृतेः॥ १७॥

मया यथा यदाज्ञप्तं तत् तथैव क्रियतां तदेवाह, न दातव्यमिति॥ २३-२४॥

हविषां परिणामो वृष्ट्यादिद्वारा॥ २५-२६॥

ततस्तु मुनयः सर्वे कोपामर्षसमन्विताः।
हन्यतां हन्यतां पाप इत्यूचुस्ते परस्परम्॥ २७॥
यो यज्ञपुरुषं देवमनादिनिधनं प्रभुम्।
विनिन्दत्यधमाचारो न स योग्यो भुवः पतिः॥ २८॥
इत्युक्त्वा मन्त्रपूतैस्तैः कुशैर्मुनिगणा नृपम्।
निजघ्नुर्निहतं पूर्वं भगवन्निन्दनादिना॥ २९॥
ततश्च मुनयो रेणुं ददृशुः सर्वतो द्विज।
किमेतदिति चासन्नं पप्रच्छुस्ते जनं तदा॥ ३०॥
आख्यातञ्च जनैस्तेषां चैरीभूतैरराजके।
राष्ट्रे तु लोकैरारब्धं परस्वादानमातुरैः॥ ३१॥
तेषामुदीर्णवेगानां चौराणां मुनिसत्तमाः।
सुमहान् दृश्यते रेणुः परवित्तापहारिणाम्॥ ३२॥
ततः संमन्त्र्य ते सर्वे मुनयस्तस्य भूभृतः।
ममन्थुरूरुं पुत्रार्थमनपत्यस्य यत्नतः॥ ३३॥
मथ्यतश्च समुत्तस्थौ तस्योरोः पुरुषः किल।
दग्धस्थूणाप्रतीकाशः खर्बटास्योऽतिह्रस्वकः॥ ३४॥
किं करोमीति तान् सर्वान् विप्रान् प्राह त्वरान्वितः।
निषीदेति तमूचुस्ते निषादस्तेन सोऽभवत्॥ ३५॥
ततस्तत्सम्भवा जाता विन्ध्यशैलनिवासिनः।
निषादा मुनिशार्दूल पापकर्मोपलक्षणाः॥ ३६॥
तेन द्वारेण तत् पापं निष्क्रान्तं तस्य भूपतेः।

कोपश्च अमर्षश्च भगवन्निन्दाद्यसहनं ताभ्यां समन्विताः॥ २७-३३॥

मथ्यत इति पाठे मथ्यमानादित्येवार्थः। दग्धस्थूणाप्रतीकाशः दग्धस्तम्भतुल्यः कृष्णवर्ण इत्यर्थः। खर्वटाख्यः ह्रस्वमुखः चिपिटनासिकवक्त्र इत्यर्थः। खर्वटाख्य इति वा पाठः। केचित् तु खर्वटाक्ष इति पठित्वा गवाक्षे इव अक्षिणी यस्येति व्याचक्षते॥ ३४॥

अत्यन्तासम्भवे तथाभूतमप्यभिषेक्तुं निषीदेति तमूचुः॥ ३५॥

पापरूपं कर्मैवोपलक्षणं चिह्नं येषां ते॥ ३६॥

निषादास्ते ततो जाता वेणकल्मषनाशना:॥ ३७॥
ततोऽस्य दक्षिणं हस्तं ममन्थुस्तस्य ते द्विजा:।
मथ्यमाने च तत्राभूत् पृथुर्वैण्य: प्रतापवान्॥ ३८॥
दीप्यमान: स वपुषा साक्षादग्निरिव ज्वलन्।
आद्यमाजगवं नाम खात् पपात ततो धनु:॥ ३९॥
शराश्च दिव्या नभस: कवचञ्च पपात ह।
तस्मिन् जाते तु भूतानि सम्प्रहृष्टानि सर्वश:॥ ४०॥
सत्पुत्रेण च जातेन वेणोऽपि त्रिदिवं ययौ।
पुन्नाम्नो नरकात् त्रात: स तेन सुमहात्मना॥ ४१॥
तं समुद्राश्च नद्यश्च रत्नान्यादाय सर्वश:।
तोयानि चाभिषेकार्थं सर्वाण्योवोपतस्थिरे॥ ४२॥
पितामहश्च भगवान् देवैराङ्गिरसै: सह।
स्थावराणि च भूतानि जंगमानि च सर्वश:॥ ४३॥
समागम्य तदा वैण्यमभ्यषिञ्चन् नराधिपम्।
हस्ते तु दक्षिणो चक्रं दृष्ट्वा तस्य पितामह:॥ ४४॥
विष्णोरंशं पृथुं मत्वा परितोषं परं ययौ।
विष्णुचिह्नं करे चक्रं सर्वेषां चक्रवर्त्तिनाम्॥ ४५॥
भवत्यव्याहतो यस्य प्रभावस्त्रिदशैरपि।

तेन द्वारेण निषादरूपेण॥ ३७॥

अग्निरिवेति यथा काष्ठे मथ्यमाने धूमरूपेण तस्य मले निष्क्रान्ते पश्चादग्निरुत्पद्यते, तथा निषादरूपेण वेणकल्मषे निष्क्रान्ते पश्चादग्निरिव देदीप्यमान: पृथुरूत्पन्न इत्यर्थ:। आद्यं शार्वं पिनाकसंज्ञं धनु:॥ ३९॥

पुन्नाम्न इति ''पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुत:। तस्मात् पुत्र इति प्रोक्त: स्वयमेव स्वयम्भुवा'' इति वचनात्॥ ४१-४२॥

स्थावराणि चेति तदभिमानिदेवता:॥ ४३॥

चक्रमिति रेखान्तरानाकुलं रेखामयं चक्रं दृष्ट्वेत्यर्थ:। तदुक्तं ''यस्या: प्रतिहतं चक्रमंश: स परमेष्ठिन:'' इति॥ ४४॥

महता राजराज्येन पृथुर्वैण्यः प्रतापवान्॥४६॥
सोऽभिषिक्तो महातेजा विधिवद्धर्मकोविदैः।
पित्रा परञ्जितास्तस्य प्रजास्तेनानुरञ्जिताः॥४७॥
अनुरागात ततस्तस्य नाम राजेत्यजायत।
आपस्तस्तम्भिरे चास्य समुद्रमभियास्यतः॥४८॥
पर्वताश्च ददुर्मार्गं ध्वजभङ्गश्च नाभवत्।
अकृष्टपच्या पृथिवी सिद्ध्यन्त्यन्नानि चिन्तया॥४९॥
सर्वकामदुधा गावः पुटके पुटके मधु।
तस्य वै जातमात्रस्य यज्ञे पैतामहे शुभे॥५०॥
सूतः सूत्यां समुत्पन्नः सौत्येऽहनि महामतिः।
तस्मिन्नेव महायज्ञे जज्ञे प्राज्ञोऽथ मागधः॥५१॥
प्रोक्तौ तदा मुनिवरैस्तावुभौ सुतमागधौ।
स्तूयतामेष नृपतिः पृथुर्वैण्यः प्रतापवान्॥५२॥
कर्मैपदनुरूपं वां पात्रं स्तोत्रस्य चाप्ययम्।
ततस्तावूचतुर्विप्रान् सर्वानेव कृताञ्जली॥५३॥
अद्य जातस्य नो कर्म ज्ञायतेऽस्य महीपतेः।
गुणा न चास्य ज्ञायन्ते न चास्य प्रथितं यशः।
स्तोत्रं किमाश्रयञ्चास्य कार्यमस्माभिरुच्यताम्॥५४॥

राजराज्येन चक्रवर्त्तित्वेन॥४६॥

अपरं जिताः क्लेशिताः॥४७-४८॥

ध्वजभङ्गश्च वनेषु गच्छतो नाभवत्। अकृष्टपच्या कृषिं विनैव सफला॥४९॥

पुटकं पर्णादिसंस्थानविशेषः। यून एव पृथोर्जातत्वाज्ञातमात्रस्य यज्ञ इत्युच्यते। "पृथुरेवाभवत् तस्मात् ततः पृथुरजायत" इति मत्स्योक्तेः। पैतामहे पितामहदैवत्ये पृथोरेव यज्ञे न तु पितामहकर्तृके। यथाह वायुः "वैण्यस्य हि पृथोर्यज्ञे वर्त्तमाने महात्मनः सूतः सूत्यां समुत्पन्नः" इति॥५०॥

सूत्यामिति सूतिरभिषूति अभिषूयते कण्ड्यते सोमोऽस्यामिति सूतिः। सोमाभिषवभूमिः तस्याम्। सौत्येऽहनि तस्मिन्नेव दिने॥५१-५२॥

वां युवयोः॥५३॥ अस्माभिरिति अस्मदोर्द्वयोश्चेति बहुवचनम्॥५४॥

ऋषय ऊचुः

करिष्यत्येष यत् कर्म चक्रवर्ती महाबलः।
गुणा भविष्या ये चास्य तैरयं स्तूयतां नृपः॥५५॥

पराशर उवाच

ततः स नृपतिस्तोषं तच्छुत्वा परमं ययौ।
सद्‌गुणैः श्लाध्यतामेति स्तव्याश्लाभ्यां गुणा मम॥५६॥
तस्माद् यदद्य स्तोत्रेण गुणनिर्वर्णनं त्विमौ।
करिष्येते करिष्यामि तदेवाहं समाहितः॥५७॥
यदिमौ वर्जनीयञ्च किञ्चिदत्र वदिष्यतः।
तदहं वर्जयिष्यामीत्येवञ्चक्रे मतिं नृपः॥५८॥
अथ तौ चक्रतुः स्तोत्रं पृथोर्वैण्यस्य धीमतः।
भविष्यैः कर्मभिः सम्यक् सुस्वरौ सूतमागधौ॥५९॥
सत्यवाग् दामशीलोऽयं सत्यसन्धो नरेश्वरः।
ह्रीमान् मैत्रः क्षमाशीलो विक्रान्तो दुष्टशासनः॥६०॥
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च दयावान् प्रियभाषकः।
मान्यमानयिता यज्वा ब्रह्मण्यः साधुसम्मतः॥६१॥
समः शत्रौ च मित्रे च व्यवहारे स्थितो नृपः।
सूतेनोक्तेन गुणानित्थं स तदा मागधेन च॥६२॥
चकार हृदि तादृक् च कर्मणा कृतवानसौ।

चक्रवर्ती दक्षिणहस्ते तच्चिह्नस्य चक्रस्योपलब्धेः। महाबलश्च विष्णवंशत्वात्। अतः सर्वेऽप्यस्य गुणाः सत्कर्माणि च भविष्यन्त्येव, अतो भविष्यैरेव गुणकर्मभिरेष स्तूयताम् अयं भावः। ''नीचो नियुज्यते दण्डैरुत्तमस्तु प्रियोक्तिभिः''। इति न्यायादयं गुणकर्मस्तुत्यैव स्वकार्यं विज्ञापनीय इति॥५५॥

पृथुरपि हृष्यन् अनेन स्तुतिमिषेण ममायममृषिभिरुपदेश एव क्रियत इति मत्वा तथैव कर्त्तुमध्यवसितवानित्याह-ततः स इति त्रिभिः॥५६॥

सत्यसन्धः सत्यप्रतिज्ञः सत्यमर्यादो वा। ह्रीमान् अकार्य्ये जुगुप्सावान्॥६०॥

ततः स पृथिवीपालः पालयन् वसुधामिमाम्॥ ६३॥
इयाज विविधैर्यज्ञैर्महद्भिर्भूरिदक्षिणैः।
तं प्रजाः पृथ्वीनाथमुपतस्थुः क्षुधार्दिताः॥ ६४॥
ओषधीषु प्रणष्टासु तस्मिन् काले ह्यराजके।
तमूचुस्तेन ताः पृष्टास्तत्रागमनकारणम्॥ ६५॥

प्रजा ऊचुः

अराजके नृपश्रेष्ठ धरित्र्या सकलौषधीः।
ग्रस्तास्ततः क्षयं यान्ति प्रजाः सर्वाः प्रजेश्वर॥ ६६॥
त्वं नो वृत्तिप्रदो धात्रा प्रजापालो निरूपितः।
देहि नः क्षुत्परीतानां प्रजानां जीवनौषधीः॥ ६७॥

पराशर उवाच

ततोऽथ नृपतिर्दिव्यमादायाजगवं धनुः।
शरांश्च दिव्यान् कुपितः सोऽन्वधावद् वसुन्धराम्॥ ६८॥
ततो ननाश त्वरिता गौर्भूत्वा तु वसुन्धरा।
सा लोकान् ब्रह्मलोकादीन् तत्वासादगमन्मही॥ ६९॥
यत्र यत्र ययौ देवी सा तदा भूतधारिणी।
तत्र तत्र तु सा वैण्यं ददर्शाभ्युद्यतायुधम्॥ ७०॥
ततस्तं प्राह वसुधा पृथुं पृथुपराक्रमम्।
प्रवेपमाणा तद्बाणपरित्राणपरायणा॥ ७१॥

पृथिव्युवाच

स्त्रीवधे त्वं महापापं किं नरेन्द्र न पश्यसि।
येन मां हन्तुमत्यर्थं प्रकरोषि नृपोद्यमम्॥ ७२॥

तस्मिन् काले वेणपृथुराज्योः सन्धौ॥ ६५॥

सकला ओषधीः ओषध्यो ग्रस्ताः॥ ६७-६८॥

ननाश पलायत॥ ६९॥

पृथुरुवाच

एकस्मिन् यत्र निधनं प्रापिते दुष्टकारिणि।
बहूनां भवति क्षेमं तस्य पुण्यप्रदौ वधः॥७३॥

पृथिव्युवाच

प्रजानामुपकाराय यदि मां त्वं हनिष्यसि।
आधारः कः प्रजानां ते नृपश्रेष्ठ भविष्यति॥७४॥

पृथुरुवाच

त्वं हत्वा वसुधे वाणैर्मच्छासनपराङ्मुखीम्।
आत्मयोगबलेनेमा धारयिष्याम्यहं प्रजाः॥७५॥

पराशर उवाच

ततः प्रणम्य वसुधा तं भूयः प्राह पार्थिवम्।
प्रवेपिताङ्गी परमं साध्वसं समुपागता॥७६॥

पृथिव्युवाच

उपायतः समारब्धाः सर्वे सिद्ध्यन्त्युपक्रमाः।
तस्माद् वदाम्युपायं ते तत् कुरुष्व यदिच्छसि॥७७॥
समस्तास्ता मया जीर्णा नरनाथ महौषधीः।
यदीच्छसि प्रदास्यामि ताः क्षीरपरिणामिनीः॥७८॥
तस्मात् प्रजाहितार्थाय मम धर्मभृतां वर।
तं तु वत्सं प्रयच्छ त्वं क्षरेयं येन वत्सला॥७९॥
समाञ्च कुरु सर्वत्र येन क्षीरं समन्ततः।
वरौषधी बीजभूतं वीर सर्वत्र भावये॥८०॥

आत्मनो योगबलेन पृथ्वीभावं प्राप्य धारयिष्यामि। तथा च हरिवंशे "आत्मानं प्रथयित्वेमा धारयिष्याम्यहं प्रजाः" इति॥७७-७८॥

क्षरेयं क्षीररूपेणौषधीः स्रवेयम्॥७९॥

माञ्च सर्वत्र समां कुरु। येन समस्थलत्वेन क्षीरं सर्वत्र भावये धास्यामि॥८०॥

पराशर उवाच

तत उत्सारयामास शैलान्शतसहस्रशः।
धनुःकोट्या तदा वैण्यस्ततः शैला विवर्जिताः॥८१॥
न हि पूर्वविसर्गे वै विषमे पृथिवीतले।
प्रविभागः पुराणं वा ग्रामाणां वा तदाभवत्॥८२॥
न शस्यानि न गोरक्षं न कृषिर्न वणिक्पथः।
वैण्यात्प्रभृति मैत्रेय सर्वस्यैतस्य सम्भवः॥८३॥
यत्र यत्र समं तस्या भूमेरासीन्नराधिपः।
तत्र तत्र प्राजानां हि निवासं समरोचयत्॥८४॥
आहारः फलमूलानि प्रजानामभवत् तदा।
कृच्छ्रेण महता सोऽपि प्रनष्टास्वौषधीषु वै॥८५॥
स कल्पयित्वा वत्सं तु मनुं स्वायम्भुव प्रभुः।
स्वे पाणौ पृथिवीनाथो दुदोह पृथिवीं पृथुः॥८६॥
शस्यजातानि सर्वाणि प्रजानां हितकाम्यया।
तेनान्नेन प्रजास्तात वर्त्तन्तेऽद्यापि नित्यशः॥८७॥
प्राणप्रदानात् स पृथुर्यस्माद् भूमेरभूत् पिता।
ततस्तु पृथिवीसंज्ञामवापाखिलधारिणी॥८८॥
ततश्च देवैर्मुनिभिर्दैत्यैरक्षोभिरद्रिभिः।
गन्धर्वैरुरगैर्यक्षैः पितृभिस्तरुभिस्तथा॥८९॥

विवर्द्धिताः एकैकत्रोच्चतरा कृताः॥८१॥

पूर्वे विसर्गे पृथूत्पत्तेः पूर्वसृष्टौ॥८२॥

तदा पृथोः पूर्वमराजके काले सोऽपि फलाद्याहारः कृच्छ्रेण सम्पाद्योऽभवत्॥८५॥

स पृथुस्तं प्रजासन्तानप्रवर्त्तकं मनुं वत्सं कृत्वा स्वपाणिरूपे पात्रे शस्यजातानि पृथिवीं दुदोहेत्यन्वयः॥८६-८७॥

प्राणप्रदानादभयप्रदानाद् भूमेः पिताभूत्। यथाहुः, ''जनकश्चोपनेता च यश्च विद्यां प्रयच्छति। अन्न॰ता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः'' इति॥८८॥

तत् तत् पात्रमुपादाय तत तद् दुग्धा मुने पयः।
वत्सदोग्धृविशेषाश्च तेषां तद्योनयोऽभवन्॥ ९०॥
सैषा धात्री विधात्री च धारिणी पोषिणी तथा।
सर्वस्य जगतः पृथ्वी विष्णुपादतलोद्भवा॥ ९१॥
एवं प्रभावः स पृथुः पुत्रो वेणस्य वीर्यवान्।
जज्ञे महीपतिः पूर्वो राजभूञ्जनरञ्जनात्॥ ९२॥
य इदं जन्म वैण्यस्य पृथोः कीर्त्तयते नरः।

देवादिभिर्दशभिर्वर्गैस्तत् तत् स्वाभिमतं पात्रमुपादाय तत् तत् स्वाभिमतं पयो भूमिर्दुग्धा। तदेषां देवादीनां तद्योगबलात् तज्ञातीया एव वत्सविशेषा दोग्धृविशेषाश्चाभवन्। तमेव देवादिषु दोग्धृवत्सादिक्रमं हरिवंशमत्स्याद्युक्तं संक्षेपेण वक्ष्यामः। देवानामिन्द्रो वत्सः, मित्रो दोग्धा, सौवणं पात्रं, बलं क्षीरम्। मुनीनां सोमो वत्सः, बृहस्पतिर्दोग्धा, छन्दांसि पात्रम्, तपो ब्रह्म च क्षीरम्। दैत्यानां विरोचनो वत्सः, द्विमूर्धा दोग्धा, आयसं पात्रम्, माया क्षीरम्। राक्षसानां सुमाली वत्सः, जतुनाभो दोग्धा, कपालं पात्रम्, रुधिरं क्षीरम्। अद्रीणां हिमवान् वत्सः, मेरूर्दोग्धा, शिलामयं पात्रम्, ओषधीरत्नं क्षीरम्। गन्धर्वाणां चित्ररथो वत्सः, विश्वावसुर्दोग्धा, पद्मं पात्रम्, गन्धः क्षीरम्। उरुगाणां तक्षको वत्सः, धृतराष्ट्रो दोग्धा अलावुः पात्रम्, विषं क्षीरम्। यक्षाणां कुवेरो वत्सः, सुकर्णो दोग्धा, आमं मृण्मय पात्रम्, अन्तर्धानं क्षीरं। पितृणां यमो वत्सः, अन्तको दोग्धा, राजतं पात्रम् स्वधा क्षीरम्। तरुणां प्लक्षो वत्सः, शालवृक्षो दोग्धा, पालाशं पात्रम्, छिन्नसंरोहणं क्षीरम्। तदुक्तं हरिवंशे ''देवा मित्रेन्द्र सौवर्णैर्बलं तु, मुनयस्तथा। बृहस्पतीन्दुवेदैश्च तपो, दैत्या द्विमूर्द्धतः। विरोचनायसानाञ्च मायां रक्षोगणा अपि। जतुनाभसुमालिभ्यामस्था रक्तं, ततोऽद्रयः। मेरुहिमाद्रिशैलैस्तु रत्नं, गन्धर्वजातयः। सुरुक्चित्ररथाम्भोजैर्गन्धन्तु, भुजगास्ततः। धृतराष्ट्रतक्षकालावुभिश्च विषमुल्वणम्। यक्षाः सुकर्णधनदाऽऽमैरन्तर्द्धि, पितृव्रजाः। अन्तकप्रेतराटरौप्यैः स्वधामथ, महीरुहाः। शालप्लक्षपलाशैश्च छिन्नसंरोहणं मुहुः। स्वदोग्धृवत्सपात्रैस्ते तत् तद् दुदुहुरुर्वराम'' इति॥९०॥

धात्री माता, विधात्री कर्त्री, धारिणी आधारः। पोषणी पोषणकर्त्री, ''पद्भ्यां भूमिः'' इति श्रुतेः॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायां स्वात्मप्रकाशाभिधायां श्रीविष्णुपुराणटीकायां प्रथमांशे त्रयोदशोऽध्यायः॥

न तस्य दुष्कृतं किञ्चित् फलदायी प्रजायते॥ ९३॥
दुःस्वप्नोपशमं नृणां शृण्वतां चैतदुत्तमम्।
पृथोर्जन्म प्रभावश्च करोति सततं नृणाम्॥ ९४॥

इति श्रीविष्णुपुराणे प्रथमांशे त्रयोदशोऽध्यायः।

चतुर्दशोऽध्यायः

(प्रचेतसां तपस्या)

पृथोः पुत्रौ महावीर्यौ जज्ञातेऽन्तर्द्धिपालिनौ।
शिखण्डिनी हविर्द्धानमन्तर्द्धानाद् व्यजायत॥ १॥
हविर्द्धानात् षडाग्नेयी धिषणाजनयत् सुतान्।
प्राचीनबर्हिषं शुक्रं गयं कृष्णं ब्रजाजिनौ॥ २॥
प्राचीनबर्हिर्भगवान् महानासीत् प्रजापतिः।
हरिर्धानान्महाराज्ञो येन संवर्द्धिता प्रजाः॥ ३॥
प्राचीनाग्राः कृशास्तस्य पृथिव्यामभवन् मुने।
प्राचीनबर्हिर्भगवान् ख्यातो भुवि महाबलः॥ ४॥
समुद्रतनयायां तु कृतदारो महीपतिः।
महतस्तपसः पारे सवर्णायां महीपतेः॥ ५॥
सवर्णाधत्त सामुद्री दश प्राचीनबर्हिषः।
सर्वे प्रचेतसो नाम धनुर्वेदस्य पारगाः॥ ६॥
अपृथग्धर्म्मचरणास्तेऽतप्यन्त महातपः।
दशवर्षसहस्राणि समुद्रसलिलेशयाः॥ ७॥

अन्तर्द्धिरेवान्तर्द्धानं तस्माद् भार्या शिखण्डिनी हविर्धानं पुत्रमसूयत॥ १॥

आग्नेयी अग्निवंशजा धिषणा नाम्नी॥ २॥

प्राचीनाग्राः कुशा सर्वत्र यज्ञानुष्ठानात्। तदुक्तं ''यस्येदं देवयजनम् अनुयज्ञं वितन्वतः। प्राचीनाग्रैः कुशैरासीद् आस्तृतं वसुधातलम्'' इति॥ ४॥

तपसः पारे सवर्णासंज्ञायां कृतदारः। तपस्तप्त्वानन्तरं तां परिणीतवानित्यर्थः। तमस इति पाठे तमसो नरकस्य पारे निमित्ते पुत्रोत्पत्या नरकतारणार्थमित्यर्थः॥ ५॥

सवर्णा दश प्रचेतसोऽधत्त असूयत॥ ६॥

अपृथग्धर्मचरणाः समानधर्मचारिणः। एतच्च तेषां वक्ष्यमाणमेकभार्यत्वं सम्भावयितुमुक्तम् समुद्रसलिलेशयाः, तत्र निमग्नाः सन्तः॥ ७॥

मैत्रेय उवाच

यदर्थं ते महात्मानस्तपस्तेपुर्महामुने।
प्रचेतसः समुद्राम्भस्येतदाख्यातुमर्हसि॥ ८॥

पराशर उवाच

पित्रा प्रचेतसः प्रोक्ता प्रजार्थं ममितात्मना।
प्रजापतिनियुक्तेन बहुमानपुरःसरम्॥ ९॥

प्राचीनबर्हिरुवाच

ब्रह्मणा देवदेवेन समादिष्टोऽस्म्यहं सुताः।
प्रजाः संवर्द्धनीयास्ते मया चोक्तं तथेति तत्॥ १०॥
तन्मम पीयते पुत्राः प्रजावृद्धिमतन्द्रिताः।
कुरुध्वं माननीया वः समाज्ञा च प्रजापतेः॥ ११॥
ततस्ते तत्पितुः श्रुत्वा वचनं नृपनन्दनाः।
तथेत्युक्त्वा तु तं भूयः पप्रच्छुः पितरं मुने॥ १२॥

प्रचेतस ऊचुः

येन तात प्रजावृद्धौ समर्थाः कर्म्मणा वयम्।
भवामस्तत् समस्तं नः कर्म्म व्याख्यातुमर्हसि॥ १३॥

पितोवाच

आराध्यं वरदं विष्णुमिष्टप्राप्तिमसंशयम्।
समेति नान्यथा मर्त्त्यः किमन्यत कथयामि वः॥ १४॥
तस्मात् प्रजाविवृद्ध्यर्थं सर्वभूतप्रभुं हरिम्।
आराधयत गोविन्दं यदि सिद्धिमभीप्सथ॥ १५॥
धर्म्ममर्थञ्च कामञ्च मोक्षञ्चान्विच्छता सदा।
आराधनीयो भगवान् अनादिः पुरुषोत्तमः॥ १६॥
यस्मिनाराधिते सर्गं चकारादौ प्रजापतिः।
तमाराध्याच्युतं वृद्धिः प्रजानां वो भविष्यति॥ १७॥

ते त्वया प्रजाः संवर्द्धनीया इत्यादिष्टोऽस्मि॥ १०॥

पराशर उवाच

इत्येवमुक्तास्ते पित्रा पुत्रा प्रचेतसो दश।
मग्ना: पयोधिसलिले तपस्तेपु: समाहिता॥ १८॥
दशवर्षसहस्राणि न्यस्तचित्ता जगत्पतौ।
नारायणे मुनिश्रेष्ठ सर्वलोकपरायणे॥ १९॥
तत्रैव ते स्थिता देवमेकाग्रमनसो हरिम्।
तुष्टुवुर्य स्तुत: कामान् स्तोतुरिष्टान् प्रयच्छति॥ २०॥

मैत्रेय उवाच

स्तवं प्रचेतसो विष्णो: समुद्राम्भसि संस्थिता:।
चक्रुस्तन्मे मुनिश्रेष्ठ सुपुण्यं वक्तुमर्हसि॥ २१॥

पराशर उवाच

शृणु मैत्रेय गोविन्दं यथा पूर्वं प्रचेतस:।
तुष्टुवुस्तन्मयीभूता: समुद्रसलिलेशया:॥ २२॥

प्रचेतस ऊचु:

नता: स्म सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती।
तमाद्यं तमशेषस्य जगत: परमं प्रभुम्॥ २३॥
ज्योतिराद्यमनौपम्यमनन्तरमपारवत्।
योनिभूतमशेषस्य स्थावरस्य चरस्य च॥ २४॥

अन्विच्छता धर्माद्यनन्तरं मोक्षमपीच्छता पुंसा॥ १६॥

यस्मिन् आराधिते यमाराध्येत्यर्थ:। तमाराध्य तस्मिन्नाराधित इत्यर्थ:॥ १७॥

प्रचेतस एव प्राचेतसा:॥ १८-२०॥

यं स्तवं चक्रुस्तं वक्तुमर्हसि॥ २१-२२॥

जगद्बीजतया नत्वा चतूरूप विभागत:। शुद्धरूपप्रणामेन तुष्टो विष्णु: प्रचेतसाम्''॥ तत्र प्रथमं जगत्कारणतया प्रणमन्ति ''नता: स्म'' इति द्वाभ्याम्॥ २३॥

अनौपम्यं सूर्याद्युपमानशून्यं चिद्रूपमित्यर्थ:। अनन्तरं निर्भेदम्। अपारवत् अवधिशून्यम्॥ २४॥

यस्याहः प्रथमं रूपमरूपस्य ततो निशा।
सन्ध्या च परमेशस्य तस्मै कालात्मने नमः॥ २५॥
भुज्यतेऽनुदिनं देवैः पितृभिश्च सुधात्मकः।
जीवभूतः समस्तस्य तस्मै सोमात्मने नमः॥ २६॥
यस्तमो हन्ति तीव्रात्मा स्वभाभिर्भासयन् नभः।
धर्मशीताम्भसां योनिस्तस्मै सूर्यात्मने नमः॥ २७॥
काठिन्यवान् यो विभर्ति जगदेतदशेषतः।
शब्दादिसंश्रयो व्यापी तस्मै भूम्यात्मने नमः॥ २८॥
यद्योनिभूतं जगतो बीजं यत् सर्वदेहिनाम्।
तत् तोयरूपमीशस्य नमामो हरिमेधसः॥ २९॥
यो मुखं सर्वदेवानां हव्यभुक् कव्यभुक् तथा।
पितृणाञ्च नमस्तस्मै विष्णवे पावकात्मने॥ ३०॥
पञ्चधावस्थितो देहे यश्चेष्टां कुरुतेऽनिशम्।
आकाशयोनिर्भगवान् तस्तै वाटवात्मने नमः॥ ३१॥
अवकाशमशेषाणां भूतानां यः प्रयच्छति।
अनन्तमूर्त्तिमान् शुद्धस्तस्मै व्योमात्मने नमः॥ ३२॥
समस्तेन्द्रियवर्गस्य यः सदा स्थानमुत्तमम्।
तस्मै शब्दादिरूपाय नमः कृष्णाय वेधसे॥ ३३॥

कालरूपेण प्रणमन्ति, यस्याहरिति॥ २५॥
विश्वरूपेण प्रणमन्ति, भुज्यते इत्यादि दशभिः। जीवभूतः जीवनरूपः॥ २६॥
धर्मस्तापः शीतञ्च अम्भञ्च तेषो योनिः कारणम्॥ २७॥
शब्दादीनां पञ्चानामपि गुणानां संश्रयः॥ २८॥
योनिभूतं शोणितरूपेण, बीजञ्च शुक्ररूपेण॥ २९॥
यो हव्यभुग्देवानां मुखं कव्यभुक् पितृगणञ्च मुखम्॥ ३०॥
पञ्चधा प्राणादिरूपेण॥ ३१॥ अन्तश्च मूर्तिश्च अन्तमूर्ति, तदवान् न भवतीति अनन्तमूर्तिमान्॥ ३२॥ स्थानम् आलम्बनं विषय इत्यर्थः॥ ३३॥

गृह्णाति विषयान् नित्यमिन्द्रियात्माक्षराक्षर:।
यस्तस्तै ज्ञानमूलाय नता: स्मो हरिमेधसे॥ ३४॥
गृहीतानिन्द्रियैरर्थान् आत्मने य: प्रयच्छति।
अन्त: करणभूताय तस्मै विश्वात्मने नम:॥ ३५॥
यस्मिन्ननन्ते सकलं विश्वं यस्मात् यथोद्गतम्।
लयस्थानञ्च यस्तस्मै नम: प्रकृतिधर्मिणे॥ ३६॥
शुद्ध: संलक्ष्यते भ्रान्त्या गुणवानिव योऽगुण:।
तमात्मरूपिणं देवं नता: स्म पुरुषोत्तमम्॥ ३७॥
अविकारमजं शुद्धं निर्गुणं यन्निरञ्जनम्।
नता: स्म तत्परं ब्रह्म यद् विष्णो: परमं पदम्॥ ३८॥
अदीर्घह्रस्वमस्थूलमनण्वग्र्यमलोहितम्।
अस्नेहच्छायमनणुमसक्तमशरीरिणम्॥ ३९॥
अनाकाशमसंस्पर्शमगन्धमरसञ्च यत्।
अचक्षु: श्रोत्रमचलमवाक्प्राणममानसम्॥ ४०॥
अनामगोत्रममुखमतेजस्कमहेतुकम्।
अभयं भ्रान्तिरहितमनिन्द्यमजरामरम्॥ ४१॥
अरजोऽशब्दममृतमप्लुतं यदसंवृतम्।
पूर्वापरे न वै यस्मिन् तद् विष्णो: परमं पदम्॥ ४२॥

क्षर: स्थूलदेहावच्छेदेन। अक्षरो लिङ्गदेहस्थत्वेन। ज्ञानमूलाय शब्दादिज्ञानसाधनाय॥ ३४-३५॥

प्रधानरूपेण प्रणमन्ति, यस्मिन्निति। यस्मिन् अनन्ते विश्वं तिष्ठति। प्रकृते धर्मा: सत्त्वादयो गुणा सन्त्यस्येति प्रकृतधर्मी, तस्मै॥ ३६॥

पुरुषरूपेण प्रणमन्ति शुद्ध इति। गुणवानिव गुणप्रेरकत्वेन तेष्वासक्त इव। आत्मरूपिणं प्रत्यग्रूपम्॥ ३७॥

शुद्धं रूपं प्रणमन्ति, अविकारमिति षड्भि:। शुद्धं स्वभावत एव निर्मलं निरञ्जनम् आगन्तुकमलशन्यम्॥ ३८-४०॥

अंनिन्द्यं निरवद्यम्॥ ४१॥

अप्लुतं गतिशून्यम्। पूर्वापरे दिक्कालकृते॥ ४२॥

परमीशित्वगुणवत् सर्वभूतमसंश्रयम्।
नताः स्म तत् पदं विष्णोर्जिह्वादृग्गोचरं न यत्॥४३॥

पराशर उवाच

एवं प्रचेतसो विष्णुं स्तुवन्तस्तत्समाधयः।
दशवर्षसहस्राणि तपश्चेरुर्महार्णवे॥४४॥
ततः प्रसन्नो भगवांस्तेषामन्तर्जले हरिः।
ददौ दर्शनमुन्निद्रनीलोत्पलदलच्छविः॥४५॥
पतत्त्रिराजमारूढमवलोक्य प्रचेतसः।
प्राणिपेतुः शिरोभिस्तं भक्तिभारावनामितैः॥४६॥
ततस्तानाह भगवान् व्रियतामीप्सतो वरः।
प्रसादसुमुखोऽहं वो वरदः समुपस्थितः॥४७॥
ततस्तमूचुर्वरदं प्रणिपत्य प्रचेतसः।
यथा पित्रा समादिष्टं प्रजानां वृद्धिकारणम्॥४८॥
स चापि देवस्तं दत्त्वा यथाभिलषितं वरम्।
अन्तर्द्धानं जगामाशु ते च निश्चक्रमुर्जलात्॥४९॥

इति श्रीविष्णुपुराणे प्रथमेऽंशे चतुर्दशोऽध्यायः।

परं निरूपाधिकम् ईशित्वगुणवत् स्वाभाविकषड्गुणैश्वर्यमुक्तम्। मायया सर्वभूतमपि असंश्रयं निराधारम्। अतएव यज्जिह्वाया दृशश्च गोचरं न भवति तं नताः स्मः॥४३॥

तस्मिन्नेव समाधिश्चित्तैकाग्र्यं येषां ते तत्समाधयः॥४४॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायां स्वात्मप्रकाशाभिधायां विष्णुपुराणटीकायां प्रथमांशे चतुर्दशोऽध्यायः।

पञ्चदशोऽध्यायः

(कण्डुमुनिचरितम्, मैथुनधर्मेण दक्षस्य प्रजासृष्टिश्च)

पराशर उवाच

तपश्चरत्सु पृथिवीं प्रचेतःसु महीरुहाः।
अरक्ष्यमाणामाबव्रुर्बभूवाथ प्रजाक्षयः॥ १॥
नाशकन्मारुतो वातु वृतं खमभवद् द्रुमैः।
दशवर्षसहस्राणि न शेकुश्चेष्टितं प्रजाः॥ २॥
तद् दृष्ट्वा जलनिष्क्रान्ताः सर्वे क्रुद्धाः प्रचेतसः।
मुखेभ्यो वायुमग्निञ्च तेऽसृजन् जातमन्यवः॥ ३॥
उन्मूलानथ तान् वृक्षान् कृत्वा वायुरशोषयत्।
तानग्निरदहद् घोरस्तत्राभूद् द्रुमसंक्षयः॥ ४॥
द्रुमक्षयमथो दृष्ट्वा किञ्चिच्छिष्टेषु शाखिषु।
उपागम्यब्रवीदेतान् राजा सोमः प्रजापतीन्॥ ५॥
कोपं यच्छत राजानः श्रृणुध्वञ्च वचो मम।
सन्धानं वः करिष्यामि सह क्षितिरुहैरहम्॥ ६॥
रत्नभूता च कन्येयं वार्क्षे यो वरवर्णिनी।

प्रचेतःसु तपश्चरत्सु तत्पितरि च नादात् तत्त्वज्ञानं प्राप्य राज्यं त्यक्त्वा वनं गते सति इति द्रष्टव्यम्। तदुक्तम्। "प्राचीनबर्हिषं क्षत्रकर्मस्वासक्तचेतसम्। नारदोऽध्यात्मतत्त्वज्ञः कृपालुः प्रत्यबोधयत्" इत्यादिना पुरञ्जनाख्यानेन। अतोऽरक्ष्यमाणां पृथिवीं कर्षणाद्यभावाद् महीरुहा आवृतवन्तः॥ १-३॥

वायोरग्नेः सृष्टेः प्रयोजनमाह उन्मूलानीति॥ ४॥

सोमो वृक्षाणां राजा। प्रज्ञापतीन् इत्यनेन कन्दमूलफलादिभिः प्रजावृद्धिकारिणां वृक्षाणां दाहः प्रजापालकानां युष्माकम् अनुचित इति सामोपायः सूचितः॥ ५॥

कोपं यच्छत नियमयत्॥ ६॥

तपः प्रदानेन सन्धानं करोति, रत्नभूतेति। वार्क्षेयी वृक्षजा। भविष्यत् इयं युस्माकं पत्नी भविष्यति, अस्यां दक्षो जनिष्यते, तद्वंशेन च त्रिलोकी पूरयिष्यत इत्यादिरजानता मया गोभिः सुधामयैरश्मिभिः संवर्द्धिता॥ ७॥

भविष्यं जानता पूर्वं मया गोभिर्विवर्द्धिता॥ ७॥
मारिषा नाम नान्मैषा वृक्षाणामिति निर्मिता॥
भार्या वोऽस्तु महाभागा ध्रुवं वंशविवर्द्धिनी॥ ८॥
युष्माकं तेजसोऽर्द्धेन मम चार्द्धेन तेजसः।
अस्यामुत्पत्स्यते विद्वान् दक्षो नाम प्रजापतिः॥ ९॥
मम चांशेन संयुक्तो युष्मत्तेजोमयेन वै।
अग्निनाग्निसमो भूयः प्रजाः संवर्द्धयिष्यति॥ १०॥
कण्डुर्नाम मुनिः पूर्वमासीद् वेदविदां वरः।
सुरम्ये गोमतीतीरे स तेपे परमं तपः॥ ११॥
तत्क्षोभाय सुरेन्द्रेण प्रम्लोचाख्या वराप्सरा।
प्रयुक्ता क्षोभयामास तमृषिं सा शुचिस्मिता॥ १२॥
क्षोभिनः स तया सार्द्धं वर्षाणामधिकं शतम्।
अतिष्ठन्मन्दरद्रोण्यां विषयासक्तमानसः॥ १३॥
सा त्वं प्राह महात्मानं गन्तुमिच्छाम्यहं दिवम्।
प्रसादसुमुखो ब्रह्मन् अनुज्ञां दातुमर्हसि॥ १४॥

नाम्ना मारिषा वृक्षाणामेषा कन्या इति नाम। एवं हि प्रसिद्ध निर्मिता निष्पन्नेत्यन्वयः॥८॥

युष्माकं तपोमयस्य तीव्रस्य तेजसोऽर्द्धेन शीतैर्मदीयैर्गोभिः संवृद्धत्वादस्या मम च तेजसोऽर्द्धेन संयुक्तोऽस्यामुत्पत्स्यते॥ ९॥

एवञ्च सौम्येन ममांशेन युष्मत्तेजोमयेन चाग्निना संयुक्तोऽग्निसामात्मकः सन् अग्निसमः अप्रधृष्यो भूत्वा प्रजाः संवर्द्धयिष्यतीत्यर्थः॥ १०॥

न चैवं शङ्कनीयं दशानां कथमेको भार्या स्यादिति, यस्मादियं कण्डोस्तपः संसृतेन वीर्य्येण अप्सरोगर्भसम्भूता महाप्रभावा च अयोनिजा च देवी, न तु मानुषी। न तु बहूनामेकाप्सरः सम्भोगो विरुध्यते, विष्णोः प्रसादात् चास्या बहवः पतयो न दुष्यन्तीति वर्णयिष्यन् तस्या जन्मादिकं वक्तुमाह-**कण्डुर्नाम** इत्यादिना युष्मत्पत्नी नृपात्मजा इत्यन्तेन॥ ११॥

तस्य क्षोभाय चित्तविकारेण तपो नाशाय॥ १२-१८॥

तयैवमुक्तः स मुनिस्तस्यामासक्तमानसः।
दिनानि कतिचिद् भद्रे स्थीयतामित्यभाषत॥ १५॥
एवमुक्ता ततस्तेन साग्रं वर्षशतं पुनः।
बुभुजे विषयांस्तन्वी तेन सार्द्धं महात्मना॥ १६॥
अनुज्ञां देहि भगवन् व्रजामि त्रिदिवालयम्।
उक्तस्तथेति स मुनिः स्थीयतामित्यभाषत॥ १७॥
पुनर्गते वर्षशते साधिके सा शुभानना।
यामीत्याह दिवं ब्रह्मन् प्रणयस्मितशोभनम्॥ १८॥
उक्तस्तयैव स मुनिरुपगुह्यायतेक्षणाम्।
प्राहास्यतां क्षणं सुभ्रु चिरं कालं गमिष्यसि॥ १९॥
तच्छापभीता शुश्रोणी सह तेनर्षिणा पुनः।
शतद्वयं किञ्चिदूनं वर्षाणामन्वतिष्ठत॥ २०॥
गमनाय महाभागो देवराजनिवेशनम्।
प्रोक्तः प्रोक्तस्तया तन्व्या स्थीयतामित्यभाषत॥ २१॥
तं सा शापभयाद् भीता दाक्षिण्येण च दक्षिणा।
प्रोक्ता प्रणयभङ्गार्ति वेदनी न जहौ मुनिम्॥ २२॥
तया च रमतस्तस्य महर्षेस्तदहर्निशम्।
नवं नवमभूत् प्रेम मन्मथाविष्टचेतसः॥ २३॥
एकदा तु त्वरायुक्तो निश्चक्रामोटजान्मुनिः।
निष्क्रामन्तञ्च कुत्रेति गम्यते प्राह सा शुभा॥ २४॥
इत्युक्तः स तया प्राह परिवृतमहः शुभे।
सन्ध्योपास्तिं करिष्यामि क्रियालोपोऽन्यथा भवेत्॥ २५॥
ततः प्रहस्य मुदिता तं सा प्राह महामुनिम्।

उपगुह्य प्राह, इत्यनेन सम्भोगातिरेकादनुरागत्यातिरेकं दर्शयति। चिरकालं गमिष्यसि, गता सती शीघ्रं नागमिष्यसीत्यर्थः॥ १९॥

अन्वतिष्ठत् अनन्तरमतिष्ठदित्यर्थः॥ २०॥

किमद्य सर्वधर्मज्ञ परिवृत्तमहस्तव॥ २६॥

बहूनां विप्र वर्षाणां परिणाममहस्तव।

गतमेतन्न कुरुते विस्मयं कस्य कथ्यताम्॥ २७॥

मुनिरुवाच

प्रातस्त्वमागता भद्रे नदीतीरमिदं शुभम्।

मया दृष्टासि तन्वङ्गि प्रविष्टा च ममाश्रयम्॥ २८॥

इयञ्च वर्त्तते सन्ध्या परिणाममहर्गतम्।

उपहासः किमर्थोऽयं सद्भावः कथ्यतां मम॥ २९॥

प्रम्लोचोवाच

प्रत्यूषस्यागता ब्रह्मन् सत्यमेतन्न ते मृषा।

किन्त्वद्य तस्य कालस्य गतान्यब्दशतानि ते॥ ३०॥

सोम उवाच[१२१]

ततः ससाध्वसो विप्रस्तां पप्रच्छायतेक्षणाम्।

कथ्यतां भीरु कः कालस्तया मे रमतः सह॥ ३१॥

देवराजनिवेशनम्। प्रतिगमनाय॥ २१॥

दक्षिणेति। ''या गौरवं भयं प्रेम सद्भावं पूर्वनायके। न मुञ्चत्यन्यसक्तापि सा ज्ञेया दक्षिणा बुधैः''॥ तत्स्वभावो दाक्षिण्यं तेन॥ २२-२३॥

उटजात् पर्णशालतः॥ २४॥

परिवृत्तं अस्तासन्नं जातम्॥ २५॥

विस्मयेन प्रहस्य सर्वधर्मज्ञेति सोपालम्भं सम्बोध्य। किमद्य तवाहः परिवृत्तम्? इत्याह॥ २६॥

विस्मयहेतुं स्वयमेव स्फुटयति बहूनामिति एतत् बहुभिर्वर्षैः परिणामं गतं तवातिदीर्घमसः कस्य विस्मयं न कुरुते तदिदं कथ्यताम्॥ २७-२८॥

सद्भावः परमार्थः॥ २९॥

यस्मिन् प्रत्यूषःकालेऽहमागता तस्य कालस्य॥ ३०॥

कर्मलोपापराधेन ससाध्वसो विप्रस्तां पप्रच्छ, कः कालः क्रियान् गतः कालः॥ ३१॥

प्रम्लोचोवाच

सप्तोत्तराण्यतीतानि नववर्षशतानि ते।
मासाश्च षट् तथैवान्यत् समतीतं दिनत्रयम्॥ ३ २॥

ऋषिरुवाच

सत्यं भीरु वदस्येतत् परिहासोऽथ वा शुभे।
दिनमेकमहं मन्ये त्वया सार्द्धमिहासितम्॥ ३ ३॥

प्रम्लोचोवाच

वदिष्याम्यनृतं ब्रह्मन् कथमत्र तवान्तिके।
विशेषेणाद्य भवता पृष्टा मार्गानुवर्त्तिना॥ ३ ४॥
निशम्य तद् वचः सत्यं स मुनिर्नृपनन्दनाः।
धिङ्मां धिङ् मामतीवेत्थं निनिन्दात्मानमात्मना॥ ३ ५॥

मुनिरुवाच

तपांसि मम नष्टानि हतं ब्रह्मविदां धनम्।
हतो विवेकः केनापि योषिन्मोहाय निर्मिता॥ ३ ६॥
ऊर्मिषट्कातिगं ब्रह्म ज्ञेयमात्मजयेन मे।
मतिरेषा हृता येन धिक् तं काममहाग्रहम्॥ ३ ७॥
व्रतानि वेदविद्याप्तिकारणान्यखिलानि च।
नरकग्राममार्गेण सङ्गेनापहृतानि मे॥ ३ ८॥

इहासितम् अत्र स्थितम्॥ ३३॥

एतावन्तं कालमतिविस्रम्भार्हा सती कथमद्यानृतं वदिष्यामि। कर्मलोपशङ्काव्याकुलेन च पुनः सन्मार्गानुवर्तिना पृष्टा सती॥ ३४॥

धिग्धिग् मामिति गर्हायाम्। धिगित्यव्ययं तद्योगे च द्वितीया॥ ३५॥

ब्रह्मविदां वेदज्ञानां तच्च मम हतं नष्टम्॥ ३६॥

"क्षुत्तृष्णे शोकमोहौ च जरामृत्युषडुर्मयः" इत्येवं प्रोक्तं यदूर्म्मिषट्कं तदतिक्रम्य स्थितम्। ब्रह्म मया मनोजयेन ज्ञेयमित्येवं कृतैषा मतिर्येन हृता तम्॥ ३७॥

विनिन्द्येत्थं स धर्मज्ञः स्वयमात्मानमात्मना।
तामप्सरसमासीनामिदं वचनमब्रवीत्॥३९॥
गच्छ पापे यथाकामं यत् कार्यं तत्कृतं त्वया।
देवराजस्य मत्क्षोभं कुर्वन्त्या भावचेष्टितैः॥४०॥
न त्वां करोम्यहं भस्म क्रोधतीव्रेण वह्निना।
सतां साप्तपदं मैत्रमुषितोऽहं त्वया सह॥४१॥
अथवा तव को दोषः किं वा कुप्याम्यहं तव।
ममैव दोषो नितरां येनाहमजितेन्द्रियः॥४२॥
यया शक्रप्रियार्थिन्या कृतो मे तपसो व्ययः।
त्वया धिक् त्वां महामोहमञ्जूषां सुजुगुप्सिताम्॥४३॥

सोम उवाच

यावदित्थं स विप्रर्षिस्तां ब्रवीति सुमध्यमाम्।
तावद् गलत्स्वेदजला सा बभूवातिवेपथुः॥४४॥
प्रवेपमाणां सततं स्विन्नगात्रलतां सतीम्।
गच्छ गच्छेति सक्रोधमुवाच मुनिसत्तमः॥४५॥
सा तु निर्भत्सिता तेन विनिष्क्रम्य तदाश्रमात्।

भावः प्रेमभावस्तद्गर्भैश्चेष्टितैः, सस्मितैर्भ्रूभङ्गादिभिर्मम क्षोभं कुर्वन्त्या त्वया देवराजस्य यत्कार्यं तत् कृतमित्यन्वयः॥४०॥

मार्गसप्तपदानि सह गच्छतां मैत्रं प्रसिद्धम्। अहं पुनस्त्वया बहुकालमुषितः स्थितः। अतस्त्वां शापाग्निना नाहं भस्मीकरिष्यामि॥४१-४२॥

अजितेन्द्रियस्यापि स्वचित्तक्षोभे तदागमनं निमित्ताद् अतस्तामेव पुनर्निभर्त्सयति ययेति, यया त्वया सम्भोगादिभिर्मे तपसो व्ययः कृतः, तां त्वां महामोहस्य मञ्जूषा पेटिकाभूतां धिगित्यन्वयः॥४३॥

गलन्ति स्वेदजलानि धर्मविन्दवो यस्याः स, अतिशयेन वेपथुः कम्पो यस्यास्तथा भूता च बभूव॥४४॥

गात्रमेव लता कोमलत्वादिगुणैः स्विन्ना स्वेदयुक्ता गात्रलता यस्यास्ताम्॥४५॥

आकाशगामिनी स्वेदं ममार्ज तरुपल्लवैः॥४६॥
वृक्षाद् वृक्षं ययौ बाला तदग्रारुणपल्लवैः।
निर्मार्जमाना गात्राणि गलत्स्वेदजलानि वै॥४७॥
ऋषिणा यस्तदा गर्भस्तस्या देहे समाहितः।
निर्जगाम स रोमाद्य स्वेदरूपी तदङ्गतः॥४८॥
तं वृक्षा जगृहुर्गर्भमेकं चक्रे तु मारुतः।
मया चाप्यायितो गोभिः स तदा ववृधे शनैः॥४९॥
वृक्षाग्रगर्भसम्भूता मारिषाख्या वरानना।
तां प्रदास्यन्ति वो वृक्षाः कोप एष प्रशाम्यताम्॥५०॥
कण्डोरपत्यमेवं सा वृक्षेभ्यश्च समुद्गता।
ममापत्यं तथा वायोः प्रम्लोचातनया च सा॥५१॥
स चापि भगवान् कण्डुः क्षीणे तपसि सत्तमः।
पुरुषोत्तमाख्यं मैत्रेय विष्णोरायतनं ययौ॥५२॥
तत्रैकाग्रमतिर्भूत्वा चकाराराधनं हरेः।
ब्रह्मपारमयं कुर्वन् जपमेकाग्रमानसः।
ऊर्ध्वबाहुर्महायोगी स्थित्वासौ भूपनन्दन॥५३॥

प्रचेतस ऊचुः

ब्रह्मपारं मुने: श्रोतुमिच्छामः परमं स्तवम्।

तदेवं तस्या गर्भसम्भवहेतुं कण्डुना सम्भोगं तद्गर्भस्य च योनिद्वारं विनैव निःसरणमार्गं स्वेदोद्गममुक्त्वा तत्कन्याया वृक्षादिकन्यात्वहेतुं वक्तुमाह, सा तु निर्भर्त्सितेति षड्भिः॥४६॥

समाहितः सम्यगाहितो निषिक्तः॥४८-५१॥

तर्हि योगभ्रष्टस्य कन्येयमित्यनादरं वारयितुं पुनः कण्डोर्योगप्रभामाह, स चापीति सार्द्धद्वाभ्याम्॥५२॥

ब्रह्मशब्दः पारशब्दश्च विशिष्टार्थपरः प्रचुरो यस्मिन् तद् ब्रह्मपारमयम् यद्वा ब्रह्मणो वेदस्य पारो वेदान्तास्तन्मयं तत्परिणामभूतम्॥५३॥

जपता कण्डुना देवो येनाराध्यत केशवः॥५४॥

सोम उवाच

पारं परं विष्णुरपारपारः
परः परेभ्यः परमार्थरूपी।
स ब्रह्मपारः परपारभूतः
परः पराणामपि पारपारः॥५५॥
स कारणं कारणतस्ततोऽपि तस्यापि हेतुः परहेतुहेतुः।

आराध्यत आराधितः॥५४॥

"सङ्कीर्त्य तत्त्वं त्रिश्लोक्या प्रार्थना च चतुर्थतः। ब्रह्मपारस्तवेनैवं कण्डोस्तुष्टोऽचिराद् हरिः"॥ पारं परमित्यादित्रिभिः श्लोकैर्विष्णोस्तत्त्वं सङ्कीर्त्य चतुर्थेन रागादिदोषोपशमः प्रार्थ्यते। परं निरतिशयम् आवृत्तिशून्यं संसाराध्वनः पारमवधिर्विष्णुः। "सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" इति श्रुतेः अतः अपारपारो दुरन्तस्य संसाराध्वनः परत्वात् अपारो दुष्प्रापः पारो यस्य स वा। पारतीरसमाप्ताविति धातुः। तर्हि दीर्घेण कालेन प्राप्यः स्यात्? तत्राह, परः परेभ्य इति परेभ्य आकाशादिभ्योऽपि परः अनन्त इत्यर्थः। "महतो महीयान्" इति श्रुतेः। अतएव परमार्थरूपी। सत्यस्वरूपः। यद्वा अर्थः प्रयोजनं परमपुरुषार्थः परमानन्दः स एव। ननु तस्य दुष्प्रापत्वे कथं परमपुरुषता कथं वा "सोऽध्वनः परमाप्नोतीति" श्रुतिः? तत्राह-स ब्रह्म वेदः तपो वा सहितास्तन्निष्ठाः सब्रह्माणः तेषां पारः प्राप्तुं शक्यः। तत् कुतः? इत्यत्राह, परपारभूतः परस्यानात्मभूतप्रपञ्चस्य पारभूतः अवधिरूपः॥

तत्र हेतुः। परः पराणामपीति आत्माध्यासाद् आत्मत्वेन प्रतीतानामिन्द्रियादीनां परः निरुपाधिकः। परमात्मा "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः" इत्युपक्रम्य "पुरुषान्न परं किञ्चत् सा काष्ठा सा परा गतिः" इति श्रुतेः। अयं भावः। नहि ग्रामादिवद् गत्या तत्प्राप्तिः, येन दुरन्तसंसाराध्वपारत्वादनन्तत्वाच्च न प्राप्येत। किन्तु अयं ततोऽतिदूरीभूतोऽपि तपोविशुद्धचितैर्वेदोत्पन्नज्ञानेन अज्ञानकृतानात्मप्रपञ्चादन्तः प्राप्तुं शक्य इति अत एवोपाधिपरिच्छेदाभावान्निरशङ्कुशाचिन्त्यपरमैश्वर्येण पारपारः। पारश्चासौ पारश्चेति समासः। पृपालनपूरणयोरिति धातोः पार इति रूपम्। स्वभक्तानां पावनात् पारः। अपेक्षितैर्वैरैः पूरणांच्च पार इति द्वितीयपार शब्दस्यार्थः। यद्वा पाराः पालकाः पूरकाश्च ये इन्द्रब्रह्मादयस्तेषामपि पालकः पूरकश्चेत्यर्थः॥५५॥

कार्येषु चैवं सह कर्मकर्तृरूपैरशेषैरवतीह सर्वम्॥५६॥

ब्रह्म प्रभुर्ब्रह्म स सर्वभूतो ब्रह्म प्रजानां पतिरच्युतोऽसौ।

ब्रह्माक्षरं नित्यमजं स विष्णुरपक्षयाद्यैरखिलैरसङ्गि॥५७॥

तदेवं विशुद्धरूपेण स्तुत्वा सार्वात्म्येन स्तौति, स कारणमिति। कारणत इति षष्ठ्यर्थे तसिल्। स विष्णुः कारणस्यापि कारणं तस्यापि कारणमित्येवं चराचरकारणं ब्रह्माण्डमारभ्य मूलकारणपर्यन्तं कारणमालात्मकः। यथोक्तं ब्रह्मस्तुतौ ''कारणं कारणस्यापि तस्य कारणम्'' इत्यादि। कार्येषु चैवमित्यनेन प्रकृतिकार्यं महत्तत्त्वमारभ्य चरमकार्यपर्यन्तं कार्यमालात्मको विष्णुरेवोत्युक्तम्। तदेवं सृष्टिक्रियायां उपादानकारणत्वेन तत्कार्यत्वेन च सार्वात्म्यमुक्त्वा पालनक्रियायां पाल्यरूपकर्मतया तत्कर्तृतया वा सार्वात्म्यमाह, स इति। निपातोऽवधारणार्थः। स विष्णुरेव धर्मादिरूपैः पालनीयैस्तत्पालकैश्च कर्त्तृरूपैरशेषैः स्वीयैरूपलक्षितः सन् सर्वमवतीति। यद्वा अशेषैः कर्मरूपैः कर्त्तृरूपैश्च। सहैवमिति कर्मकर्त्तुरूपमालान्तरात्मकश्चातिदेशः। तत्र ''कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म'' इति स्मृतेः। कर्त्तुः क्रियया ग्रामगमनादिकरणिकया भावनाख्यया यदीप्सिततमं सुखं, तदेव मुख्यं कर्म अत्र गृह्यते। ग्रामादेस्तु धात्वर्थकर्मतैव न भावनाकर्मता। अत एवास्ते शेते इत्यादिषु अकर्मकेष्वपि प्रत्ययांशे भावनाप्रतीतेर्भाव्यं विना भावनाभावाच्च। सुखकाम आसीत् स्वाथ्यकामः शयीतेत्येवमादिप्रयोगेष्वासनेन सुखं भावयेदित्येवमादिवचनव्यक्त्या सुखादेर्भावनाकर्मत्वम् अभ्युपगम्यते। ततुक्तं भट्टैः- ''अस्त्यादावपि कर्त्रंशे भाव्यमस्त्येव भावना। अन्यत्रांशे च नातात्त न तथा सा प्रभासते'' इति।

यद्येवमकर्मकेष्वपि भाव्यं स्यात्, कस्तर्हि सकर्मकाकर्मयोर्भेद इत्याक्षिप्य परिहारश्चोक्तः। साक्षादव्यभिचारेण धात्वर्थो यत्र कर्मभाक्। सकर्मकः स धातुःस्यात् पारम्पर्ये त्वकर्मकः'' इति। अत्रोक्तकर्मशब्देन ईप्सिततमसुखवाचिना मानुषानन्दमारभ्य ब्रह्मानन्दपर्यन्तपुरुषार्थसाधकोऽपि विष्णुरेवेत्युक्तम्। तदेवं कारणकार्यकर्मकर्त्तृरूपैः सृष्टिलयक्रियाप्रतियोगिभिस्तत्तत्सम्बन्धिसार्वात्म्यमुक्तम्। एतैरेव रूपैः पालनक्रियाप्रतियोगिभिस्तत्तत्सम्बन्धिसार्वात्म्यमाह, अशेषैरेतै रूपैः स विष्णुः सर्वमवतीति॥५६॥

ननु यदि शुद्धं ब्रह्मैवासो विष्णुस्तर्हि कथमशेषै रूपैरवतीत्युच्यते? अथ सर्वात्मकस्तर्हि सर्वभावविकारप्राप्तेः कुतोऽस्य विशुद्वता। इत्याशङ्क्याह, ब्रह्मेति। स विष्णुः शुद्धं ब्रह्मैव सन् प्रभुः सर्वनियन्ता ब्रह्मैव सन् सर्वभूतश्च। ब्रह्मैव सन् प्रजानां पतिश्च पालकः।

ब्रह्माक्षरमजं नित्यं यथाऽसौ पुरुषोत्तमः।
तथा रागादयो दोषाः प्रयान्तु प्रशमं मनः॥५८॥

सोम उवाच

एतद् ब्रह्मा पराख्यं वै संस्तवं परमं जपन्।
अवाप परमां सिद्धिं समाराध्य स केशवम्॥५९॥
इयञ्च मारिषा पूर्वमासीद् या तां ब्रवीमि वः।
कार्यगौरवमेतस्याः कथने फलदायि वः॥६०॥
अपुत्रा प्रागियं विष्णुं मृते भर्तरि सत्तमाः।
भूपपत्नी महाभागा तोषयामास भक्तितः॥६१॥
आराधितस्तया विष्णुः प्राह प्रत्यक्षतां गतः।
वरं वृणीष्वेति शुभा सा च प्राहात्मवाञ्छितम्॥६२॥
भगवन् बालवैधव्याद् वृथाजन्माहमीदृशी।
मन्दभाग्या समुत्पन्ना विफला च जगत्पते॥६३॥

ननु ब्रह्मस्वरूपाप्रच्युत्या यतोऽसावच्युतः प्रसिद्धः अतः स विष्णुः व्यापनशीलः। सर्वात्मकोऽपि सन् अक्षरं ध्रुवं नित्यमजम् अपक्षयाद्यैरसङ्गिअपरिक्षय-विपरिणामवृद्धिसङ्गरहितञ्च ब्रह्मैव अचिन्त्यस्वाधीनमायया सर्वात्मतया स विवर्त्तते अतो नायं विरोधः इति भावः॥५७॥

उक्तं तत्त्वम् अनुस्मरन् दोषोपशमं प्रार्थयते ब्रह्माक्षरमिति। यथा निर्विकारं ब्रह्मैवासौ पुरुषोत्तमः, तथा तदनुस्मरणेन ततप्रसादाल्लब्धात् स्वरूपाविर्भावाद् मम रागादयः राग आदिकारणं येषां क्रियलोपपयोगभङ्गादिदोषाणां ते सर्वे दोषाः प्रकर्षेण समूलं शमं नाशं प्रपान्तु॥५८-५९॥

इदानीमस्या बहुपतित्वं भगवतैव प्रसादीकृतम् इति नास्याः युष्माकं वा कश्चिद् दोष इति वक्तुमाह इयञ्चेत्यादिना। कार्यगौरवं सत्पुत्रलाभाख्यम्। एतस्याः कथने सति वो युष्माकं वंशविस्ताराख्यफलदं भविष्यतीत्यर्थः॥६०॥

प्राग् जन्मनि भूपस्य पत्नीयम्। तस्मिन् भूपे भर्त्तरि मृते सति, विष्णुं तोषयामास इत्यन्वया॥६१-६२॥

वृथैव जन्म यस्याः सा वृथाजन्मा। विफला च अपुत्रा॥६३॥

भवन्तु पतयः श्लाघ्या मम जन्मनि जन्मनि।
त्वत्प्रसादात तथा पुत्रः प्रजापतिसमोऽस्तु मे॥ ६४॥
रूपसम्पत्समायुक्ता सर्वस्य प्रियदर्शना।
अयोनिजा च जायेयं त्वत्प्रसादादधोक्षज॥ ६५॥

सोम उवाच

तयैवमुक्तो देवेशो हृषीकेश उवाच ताम्।
प्रणामनम्रामुत्थाप्य वरदः परमेश्वरः॥ ६६॥

देवदेव उवाच

भविष्यन्ति महावीर्या एकस्मिन्नेव जन्मनि।
प्रख्यातोदारकर्माणो भवत्याः पतयो दश॥ ६७॥
पुत्रञ्च सुमहात्मानम् अतिवीर्यपराक्रमम्।
प्रजापतिगुणैर्युक्तं त्वमवाप्स्यसि शोभने॥ ६८॥
वंशानां तस्य कर्तृत्वं जगत्यस्मिन् भविष्यति।
त्रैलोक्यमखिलं सूतिस्तस्य चापूरयिष्यति॥ ६९॥
त्वञ्चाप्ययोनिजा साध्वी रूपौदार्यगुणान्विता।
मनःप्रीतिकरी नृणां मत्प्रसादाद् भविष्यसि॥ ७०॥
इत्युक्त्वान्तर्दधे देवस्तां विशालविलोचनाम्।
सा चेयं मारिषा जाता युष्मत्पत्नी नृपात्मजाः॥ ७१॥

पराशर उवाच

श्लाघ्याः प्रख्यातकर्माणः॥६४॥ रूपेण सम्पदा च समायुक्ता॥६५॥ प्रणामेण नम्राम्॥६६॥

जन्मभेदेन तया बहुपतिप्रार्थने वृतोऽपि स्वभक्तानां पुनर्जन्मासहमानो विष्णुरेकस्मिन्नेव जन्मनि तं वरं ददौ। तदाह-एकस्मिन्नन्तर एव जन्मनीति॥६७-६८॥

सूतिः सन्ततिः॥६९॥ साध्वी पतिव्रता॥७०॥

ततः सोमस्य वचनाज्जगृहुस्ते प्रचेतसः।
संहृत्य कोपं वृक्षेभ्यः पत्नीं धर्मेण मारिषाम्॥७२॥
दशभ्यस्तु प्रचेतोभ्यो मारिषायां प्रजापतिः।
जज्ञे दक्षो महायोगो यः पूर्वं ब्रह्मणोऽभवत्॥७३॥
स तु दक्षो महाभागः सृष्ट्यर्थं सुमहामते।
पुत्रान् उत्पादयामास प्रजासृष्ट्यर्थमात्मनः॥७४॥
अचरांश्च चरांश्चैव द्विपदोऽथ चतुष्पदान्।
आदेशं ब्रह्मणः कुर्वन् सृष्ट्यर्थं समुपस्थितः॥७५॥
स सृष्ट्वा मनसा दक्षः पश्चादप्यसृजत् स्त्रियः।
ददौ स दशधर्माय कश्यपाय त्रयोदश॥७६॥
कालस्य नयने युक्ताः सप्तविंशतिमिन्दवे।
तासु देवास्तथा दैत्या नागा गावस्तथा खगाः॥७७॥
गन्धर्वाप्सरसश्चैव दानवाद्याश्च जज्ञिरे।
ततः प्रभृति मैत्रेय प्रजा मैथुनसम्भवाः॥७८॥
सङ्कल्पाद् दर्शनाद् स्पर्शाद् पूर्वेषामभवत् प्रजाः।
तपोविशेषैः सिद्धानां तदात्यन्ततपस्विनाम्॥७९॥

यः पूर्वं ब्रह्मणः पुत्रो बभूव, स दक्षो मारिष्यां जज्ञे॥७३॥

सृष्ट्यर्थं प्राजापत्यसृष्टिवृद्ध्यर्थम् आत्मनश्च प्रजासृष्ट्यर्थं सन्तानार्थम्॥७४॥

अवरान् नीचान् वरान् श्रेष्ठान् अचरांश्च चरांश्चेति वा पाठः॥७५॥

पश्चात् हर्यश्वादिपुत्रनाशान्तरं स्त्रियः कन्याः षष्टिमसृजत्। तासां मध्ये पञ्चाशत् कन्यानां विवाहान् वंशांश्च प्रदर्शनार्थमुपक्षिपति, ददाविति द्वाभ्याम्॥७६॥

कालस्य नयेन परिवर्त्तने युक्ता नियुक्ता कृत्तिकाद्याः। तदुक्तम् ''कृत्तिकादीनि नक्षत्राणि इन्दोः पत्न्यस्तु भारत'' इति॥७७॥

ततो दक्षात् प्रभृति॥७८॥

मैत्रेय उवाच

अङ्गुष्ठाद् दक्षिणाद् दक्षः पूर्वं जातः श्रुतं मया।
कथं प्राचेतसो भूयः स सम्भूतो महामुने॥८०॥

एष मे संशयो ब्रह्मन् सुमहान् हृदि वर्त्तते।
यद् दौहित्रः स सोमस्य पुनः श्वशुरतां गतः॥८१॥

पराशर उवाच

उत्पत्तिश्च निरोधश्च नित्यौ भूतेषु सत्तम।
ऋषयोऽत्र न मुह्यन्ति ये चात्र दिव्यचक्षुषः॥८२॥
युगे युगे भवन्त्येते दक्षाद्या मुनिसत्तमाः।
पुनश्चैवं निरुध्यन्ते विद्वांस्तत्र न मुह्यति॥८३॥
कानिष्ठ्यं ज्यैष्ठ्यमप्येषां पूर्वं नाभूद् द्विजोत्तम।
तप एव गरीयोऽभूद् प्रभावश्चैव कारणम्॥८४॥

दक्षात् पूर्वेषान्तु सङ्कल्पादिमात्रात् प्रजा अभवन्। यद्यपि प्राचेतसाद् दक्षात् पूर्वमपि मैथुनसृष्टिरस्त्येव। तथापि बाहुल्याभिप्रायेणैतदुच्यत इत्यविरोधः॥७९-८०॥

सोमदुहितुर्मारिषायाः पुत्रत्वात् सोमस्य दौहित्रः। पुनश्च सप्तविंशतिमिन्दवे ददावित्युक्तेः श्वशुरताञ्च गत इति यत्, एषोऽन्यः संशय इत्यर्थः। दौहित्रस्येति पाठे दक्षकन्यायामनसूयायाम् अत्रेः सोमस्योत्पत्तेर्दक्षस्य दौहित्रः। सोमस्य पुनर्दक्षः श्वशुरतां कथं गतः ? इति॥८१॥

नित्यौ प्रवाहरूपेणाविच्छिन्नौ॥८२॥

दक्षाद्या इत्यादिशब्देन सोमो गृह्यते। एते युगेयुगे भवन्ति, सम्प्रति बुद्धवद् भवन्ति। निरुध्यन्ते सुषुप्तवल्लीयन्त इत्यर्थः। युगे युगे इति युज्यन्तेऽस्मिन् ग्रहा एकं स्थानं यान्तीति युगमात्र कल्पमन्वन्तरादिः कालः। स्वायम्भुवमन्वन्तरे जातस्य दक्षस्य पुनश्चाक्षुषमन्वन्तरे प्रचेतोभ्योजन्मप्रसिद्धेः। एवमेवात्रेः सकाशाज्जातस्य सोमस्य पुनः क्षीराब्धेः सकाशाज्जन्मप्रसिद्धेर्न विरोधः॥८३॥

न चात्यन्तकनिष्ठे श्वशुरे पूज्यपूजाव्यतिक्रमाशङ्क्येत्याह—**कानिष्ठ्यमिति**। गरीयो गुरुतरं तपश्च प्रभावश्च ज्यैष्ठ्यकारणमभूत्। न तु वयोमात्रम् इत्यर्थः॥८४॥

मैत्रेय उवाच

देवानां दानवानाञ्च गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
उत्पतिं विस्तरेणेह मम ब्रह्मन् प्रकीर्त्तय॥ ८५॥

पराशर उवाच

प्रजाः सृजेति व्यादिष्टः पूर्वं दक्षः स्वयम्भुवा।
यथा ससर्ज भूतानि तथा श्रृणु महामते॥ ८६॥
मानसानि तु भूतानि पूर्वं दक्षोऽसृजत् तदा।
देवानृषीन् सगन्धर्वान् असुरान् पन्नगांस्तथा॥ ८७॥
यदास्य द्विज मानस्यो नाभ्यवर्द्धन्त ताः प्रजाः।
ततः सञ्चिन्त्य स पुनः सृष्टिहेतोः प्रजापतिः॥ ८८॥
मैथुनेनैव धर्मेण सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
असिक्नीमावहत् कन्यां वीरणस्य प्रजापतेः॥ ८९॥
सुतां सुतपसा युक्तां महतीं लोकधारिणीम्।
अथ पुत्रसहस्राणि वैरण्यां पञ्च वीर्यवान्॥ ९०॥
असिक्न्यां जनयामास सर्गहेतोः प्रजापतिः।
तान् दृष्ट्वा नारदो विप्रः संविवर्द्धयिषून् प्रजा।
सङ्गम्य प्रियसंवादो देवर्षिरिदमब्रवीत्॥ ९१॥

नारद उवाच

हे हर्यश्वा महावीर्याः प्रजा यूयं करिष्यथ।
ईदृशो लक्ष्यते यत्नो भवतां श्रूयतामिदम्॥ ९२॥
बालिशा बत यूयं वै नास्या जानीथ वै भुवः।
अन्तरुर्ध्वमधश्चैव कथं स्रक्ष्यथ वै प्रजाः॥ ९३॥

दक्षसृष्टिं विस्तरेण जिज्ञासुः पृच्छति-देवानामिति। इह अस्मिन् प्राचेतसे दक्षेया देवादीनामुत्पत्तिस्तां विस्तरेण प्रकीर्त्तयेत्यर्थः॥ ८५-९०॥

प्रजाः सम्यग् विवर्द्धयितुमिच्छन् तान् दृष्ट्वा अभिसङ्गम्य अब्रवीत्॥ ९१॥

बालिशा बतेत्यादेरयं वास्तवोऽर्थः। बतेति खेदे। तेषां तत्त्वविमर्षं विना प्रजासृष्ट्यादिक्लेशप्रासेः। अहो! यूयं बालिशाः अज्ञाः। यतोऽस्या भुवः

ऊर्द्धं निर्य्यगधश्चैव यदा प्रतिहता गतिः।

तदा कस्माद् भुवो नान्तं सर्वं द्रक्ष्यथ बालिशाः॥९४॥

पराशर उवाच

ते तु तद्वचनं श्रुत्वा प्रयाताः सर्वतो दिशम्।

अद्यापि न निवर्त्तन्ते समुद्रेभ्य इवापगाः॥९५॥

हर्यश्वेष्वथ नष्टेषु दक्षः प्राचेतसः पुनः।

वैरण्यामथ पुत्राणां सहस्रमसृजत् प्रभुः॥९६॥

विवर्द्धयिषवस्ते तु शवलाश्वाः प्रजाः पुनः।

पूर्वोक्तं वचनं ब्रह्मन् नारदेन प्रचोदिताः॥९७॥

अन्योऽन्यमूचुस्ते सर्वे सम्यगाह महामुनिः।

भ्रातृणां पदवी चैव गन्तव्या नात्र संशयः॥९८॥

ज्ञात्वा प्रमाणं पृथ्व्याश्च प्रजाः स्रक्ष्यामहे ततः।

तेऽपि तेनैव मार्गेण प्रयाताः सर्वतो दिशम्।

संसाराङ्कुरप्रसवक्षेत्रस्य लिङ्गशरीरस्याधः उपक्रमम्, ऊर्ध्वमवसानम्, अन्तः मध्यञ्च न जानीथ। अतो मोक्षमार्गम् अज्ञात्वा कथं प्रजाः स्रक्ष्यथ। व्यर्थं संसारोपपादकं प्रजासर्गं किमिति करिष्यथ॥९३॥

यूयञ्च विशुद्धबुद्धित्वात् तत्त्वज्ञानाधिकारिण एवेत्याह-**ऊर्ध्वमिति**। ऊर्ध्वं तिर्यगधश्च सर्वतस्तत्त्वविचारे यदा इदानीं नृजन्मनि युष्माकं गतिर्बुद्धिप्रतिहता वर्त्तते, तदा कस्माद् भुवो लिङ्गशरीरस्यान्तं न द्रक्ष्यथ? लिङ्गभङ्गपर्यन्ते तत्त्वज्ञाने किमिति यत्नं य करिष्यथेत्यर्थः। तदुक्तं षष्ठस्कन्धे हर्यश्वैर्नारदोक्तिविवरणे,-"भूः क्षेत्रं बीजसंज्ञं यद् अनादिनिजबन्धनम्। अदृष्ट्वा तस्य निर्वाणं किमसत्कर्मभिर्भवेत्"? इत्यादि॥९४॥

सर्वतो दिशं प्रयाताः असङ्गतया सर्वासु दिक्षु स्वैरं व्यचरन्। ततश्च मुक्तत्वात् नाद्यापि निवर्त्तन्ते॥९५॥

नष्टेषु यत्र क्वापि गतेषु॥९६॥

पूर्वोक्तं 'बालिशा बते'त्यादिवचनं प्रचोदिताः श्राविताः सन्त ऊचुः। भ्रातृणां ज्येष्ठानां गुरूणां पदवी मोक्षमार्गः॥९८॥

पृथ्व्याः प्रमाणं लिङ्गशरीरावसानं ज्ञात्वा, ततः पश्चात् पित्राज्ञापालनेन सङ्ग्रहार्थं प्रजाः स्रक्ष्यामह इति वास्तवोऽर्थः कथारूपोऽर्थः स्पष्ट एव॥९९॥

अद्यापि न निवर्त्तन्ते समुद्रेभ्य इवापगाः॥ ९९॥
ततः प्रभृति वै भ्राता भ्रातुरन्वेषणे द्विज।
प्रयातो नश्यति तथा तन्न कार्यं विजानता॥ १००॥
तांश्चापि नष्टान् विज्ञाय पुत्रान् दक्षः प्रजापतिः।
क्रोधं चक्रे महाभागो नारदं स शशाप च॥ १०१॥
सर्गकामस्ततो विद्वान् स मैत्रेय प्रजापतिः।
षष्टिं दक्षोऽसृजत् कन्यावैरण्यामिति नः श्रुतम्॥ १०२॥
ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश।
सप्तविंशति सोमाय चतस्रोऽरिष्टनेमिने॥ १०३॥
द्वे चैव बहुपुत्राय द्वे चैवाङ्गिरसे तथा।
द्वे कृशाश्वाय विदुषे तासां नामानि मे शृणु॥ १०४॥
अरुन्धती वसुर्यामी लम्बा भानुर्मरुत्वती।
सङ्कल्पा च मुहूर्त्ता च साध्या विश्वा च ता दश॥ १०५॥
धर्मपत्न्यो दश त्वेतास्तदपत्यानि मे शृणु।
विश्वेदेवास्तु विश्वायाः साध्या साध्यान् व्यजायत॥ १०६॥
मरुत्वत्या मरुत्वन्तो वसोस्तु वसवः स्मृताः॥ १०७॥
भानोस्तु भानवः पुत्रा मुहूर्त्तायां मुहूर्त्तजाः।
लम्बायाश्चैव घोषोऽथ नागवीथी तु यामिजा॥ १०८॥
पृथिवीविषयं सर्वमरुन्धत्यां व्यजायत।
सङ्कल्पायान्तु सर्वात्मा जज्ञे सङ्कल्प एव तु॥ १०९॥

तदभिप्रायेणैवाह-ततः प्रभृतीति। नश्यति अदर्शनं याति॥ १००॥

नारदशापश्च भागवतोक्तः ''तस्माल्लोकेषु ते मूढ! न भवेद् भवतः पदम् इति॥ १०१॥

कन्यानां वंशान् वक्तुमाह-ददावित्यादिना। 'सप्तविंशति' इति द्वितीयालोप आर्षः॥ १०३॥

पूर्वोक्ताः श्राद्धाद्यास्त्रयोदश धर्मस्य पत्न्यः स्वायम्भुवस्य दक्षस्य कन्याः। एतास्त्वरुन्धत्याद्या दश प्राचेतसस्य दक्षस्येत्यविरोधः॥ १०५-१०७॥

मुहूर्त्तजास्तत्तन्मुहूर्त्ताभिमानिनो देवाः, घोषस्तदभिमानी देवः, नागवीथी देवयानोत्तरवीथ्यभिमानिनी देवता॥ १०८॥

ये त्वनेकवसुप्राणा देवा ज्योतिः पुरोगमाः।
वसवोऽष्टौ समाख्यातास्तेषां वक्ष्यामि विस्तरम्॥ ११०॥
आपो ध्रुवश्च सोमश्च धरश्चैवानिलोऽनलः।
प्रत्यूषश्च प्रभावश्च वसवो नामभिः स्मृताः॥ १११॥
आपस्य पुत्रो वैतण्ड्यः श्रम श्रान्तो ध्वनिस्तथा।
ध्रुवस्य पुत्रो भगवान् कालो लोकप्रकालनः॥ ११२॥
सोमस्य भगवान् वर्चा वर्चस्वी येन जायते।
धरस्य पुत्रो द्रविणो हुतहव्यवहस्तथा॥ ११३॥
मनोहरायाः शिशिरः प्राणोऽथ वरुणस्तथा।
अनिलस्य शिवा भार्या तस्याः पुत्रो मनोजवः॥ ११४॥
अविज्ञातगतिश्चैव द्वौ पुत्रावनिलस्य च।
अग्निपुत्रः कुमारस्तु शरस्तम्बे व्यजायत॥ ११५॥
तस्य शाखो विशाखश्च नैगमेयश्च पृष्ठजाः।
अपत्यं कृत्तिकानान्तु कार्त्तिकेय इति स्मृतः॥ ११६॥

पृथिव्येव विषयः स्थानं यस्य चराचरप्राणिजातस्य तत् सर्वम्। सर्वात्मा सर्ववस्तुविषयः॥ १०९॥

वसूनामष्टानां नामपूर्वकं वंशान् वक्तुमाह-'**विश्वरूपो महायशा**' इत्यन्तेन। अनेकं नानाविधं वसु तेजस्तदेव प्राणो बलं येषां ते अनेकवसुप्राणा इति वसूनाम-निरुक्त्यर्थमुक्तम्। ज्योतिः पुरोगमा अग्निमुख्याः, ''वसूनां पावकश्चास्मि'' इति स्मृतेः॥ ११०-१११॥

आपस्य वैतण्ड्यादयश्चत्वारः पुत्राः। लोकप्रकालनस्तत्संहर्त्ता॥ ११२॥

येन वर्चसा वर्चश्वी कान्तिमान् पुरुषो जायेत सः। धरस्य भार्या मनोहरा, पुत्राश्च द्रविणादयः पञ्च। हुतं हव्यं वहतीति तथा॥ ११३-११४॥

शरो मुञ्जस्तस्य स्तम्बे॥ ११५॥

पृष्ठजाः अनुजाः कुमारव्यूहरूपाः। तदुक्तं शल्यपर्वणि, ''ततोऽभवच्चतुर्मूर्त्तिः क्षणेन भगवान् गुहः'' इति। कुमार एव कार्तिकेय इति स्मृतेः॥ ११६॥

प्रत्यूषस्य विदुः पुत्रमृषिं नाम्नाथ देवलम्।
द्वौ पुत्रौ देवलस्यापि क्षमावन्तौ मनीषिणौ॥ ११७॥
बृहस्पतेस्तु भगिनी वरस्त्री ब्रह्मचारिणी।
योगसिद्धा जगत्कृस्नमसक्ता विचरत्युत॥ ११८॥
प्रभासस्य तु सा भार्या वसूनामष्टमस्य च।
विश्वकर्मा महाभागस्तस्यां जज्ञे प्रजापतिः॥ ११९॥
कर्त्ता शिल्पसहस्राणां त्रिदशानाञ्च वर्द्धकिः।
भूषणानाञ्च सर्वेषां कर्त्ता शिल्पवतां वरः॥ १२०॥
यः सर्वेषां विमानानि देवतानां चकार ह।
मनुष्याश्चोपजीवन्ति यस्य शिल्पं महात्मनः॥ १२१॥
तस्य पुत्रास्तु चत्वारस्तेषां नामानि मे शृणु।
अजैकपादहिर्ब्रध्नस्त्वष्टा रुद्रश्च बुद्धिमान्।
त्वष्टुश्चाप्यात्मजः पुत्रो विश्वरूपो महायशाः॥ १२२॥
हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः।
वृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्द्दी रैवतस्तथा॥ १२३॥
मृगव्याधश्च शर्वश्च कपाली च महामुने।
एकादशैते प्रथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः॥ १२४॥
शतं त्वेवं समाख्यातं रुद्राणाममितौजसाम्।
अदितिर्दितिर्दनुः काला अरिष्टा सुरसा तथा॥ १२५॥

बृहस्पतेर्भगिनी प्रभासस्य भार्या। असक्ता सङ्गवर्जिता॥ ११८॥

तस्यां विश्वकर्मा॥ ११८-१२०॥ अजैकपादादयश्चत्वारो जज्ञिरे॥ १२२॥

त्वष्टुरनुजस्य रुद्रस्यैकादशधा विभागमाह-'हरश्चे'ति द्वाभ्याम्॥ १२३॥

एषामेवैकादशानां प्रत्येकं शतं भेदानाह-'शतं त्वेव'मिति॥ १२४॥

यद्वा एतद्विभूतिरूपाणामानन्त्यमुच्यते, शतशब्दस्य अपरिमितवचनत्वात्। असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्राः ''अधिभूम्याम्'' इति श्रुतेश्च। तदेवं धर्मभार्याणां वंशा उक्ताः। इदानीं कश्यपाय त्रयोदशेत्युक्तानां वंशान् वक्तुमाह-''अदिति-रित्यादिना॥ १२५॥

सुरभिर्विनता चैव ताम्रा क्रोधवशा इरा।
कद्रुर्मुनिश्च धर्मज्ञ तदपत्यानि मे शृणु॥१२६॥
पूर्वमन्वन्तरे श्रेष्ठा द्वादशासन् सुरोत्तमाः।
तुषिता नाम तेऽन्योन्यमूचुर्वैवस्वतेऽन्तरे॥१२७॥
उपस्थितेऽतियशसश्चाक्षुषस्यान्तरे मनोः।
समवायीकृताः सर्वे समागम्य परस्परम्॥१२८॥
आगच्छत द्रुतं देवा अदितिं सम्प्रविश्य वै।
मन्वन्तरे प्रसूयामस्तन्नः श्रेयो भविष्यति॥१२९॥
एवमुक्त्वा तु ते सर्वे चक्षुषस्यान्तरे मनोः।
मारीचात् कश्यपाज्जातास्ते दित्या दक्षकन्यया॥१३०॥
तत्र विष्णुश्च शक्रश्च जज्ञाते पुनरेव च।
अर्यमा चैव धाता च त्वष्टा पूषा तथैव च॥१३१॥
विवस्वान् सविता चैव मित्रो वरुण एव च।
अंशो भगश्चादितिजा आदित्या द्वादश स्मृताः॥१३२॥
चाक्षुषस्यान्तरे पूर्वमासन् ये तुषिताः सुराः।
वैवस्वतेऽन्तरे ते वै आदित्या द्वादश स्मृताः॥१३३॥

तत्र तुषिता एवादितेः पुत्रा जाता इति कथापूर्वकमाह। पूर्वमन्वन्तरे चाक्षुषे ये तुषिता नाम देवा आसन् ते चाक्षुषस्य मनोरन्तरे वर्त्तमाने वैवस्वतमन्वन्तरे चोपस्थिते भाविनि सति परस्परं समागम्य अन्योऽन्यं पार्श्वं गत्वा समवायीकृता मिलिताः सन्तोऽन्योन्यमूचुरिति द्वयोरन्वयः॥१२७॥

अतियशसः प्रख्यातवीर्याः॥१२८॥

किमूचूस्तदाह-'आगच्छते'ति। वैवस्वतमन्वन्तरे प्रसूयाम प्रसूयेमहि। किमर्थमित्यत्राहुः-तत् ततः पुनरपि देवाधिकारप्राप्त्या नः श्रेयो भद्रं भविष्यतीति॥१२९॥

चाक्षुषस्य मनोरन्तरे एवमुक्त्वा वैवस्वतमन्वन्तरे अदित्या निमित्तभूतया कश्यपाज्जाता इत्यर्थः॥१३०-१३२॥

अतस्तुषिता एव द्वादशादित्याः स्मृता इत्युपसंहरति॥१३३॥

या: सप्तविंशति: प्रोक्ता: सोमपन्त्योऽथ सुव्रता:।
सर्वा नक्षत्रयोगिन्यस्तन्नाम्न्यश्चैव ता: स्मृता:॥ १३४॥
तासामपत्यान्यभवन् दीप्तान्यमिततेजसा।
अरिष्टनेमिपत्नीनामयत्यानीह षोडश॥ १३५॥
बहुपुत्रस्य विदुषश्चतस्रो विद्युत: स्मृता:।
प्रत्यङ्गिरसजा: श्रेष्ठा ऋचो ब्रह्मर्षिसत्कृता:॥ १३६॥
कृशाश्वस्य तु देवर्षेर्देवप्रहरणा: स्मृता:।
एते युगसहस्रान्ते जायन्ते पुनरेव हि॥ १३७॥
सर्वे देवगणास्तात त्रयस्त्रिंशत् तु छन्दजा:।
तेषामपीह सततं निरोधोत्पत्तिरुच्यते॥ १३८॥
यथा सूर्यस्य मैत्रेय उदयास्तमयाविह।

एवं तावदष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या इत्यादिश्रुतिक्रमेणादित्यानामुपस्थानाददित्या वंश उक्त:। इदानीं अदिरिति कश्यपभार्योद्देशानुसारेण दित्या वंशं क्रमप्राप्तमपि प्रह्लादचरितादि बहुविस्तरत्वेन पश्चाद् वक्ष्यन आदौ तावदल्पत्वादन्यासां दक्षकन्यानां वंशानाह-'**या: सप्तविंशति: प्रोक्ता**' इत्यादि सार्द्धपञ्चभि:॥ १३४॥

तासामतितेजसा दीप्तिमन्त्यपत्यान्भवन्। पाठान्तरे अमिततेजसो हेतोर्दीप्ता न्यभवन्नित्यर्थ:। चतस्रोऽरिष्टनेमय इत्युक्तानां वंशमाह- '**अरिष्ट नेमी**'ति॥ १३५॥

'द्वे चैव बहुपुत्राय' इत्युक्तयोर्वंशमाह-बहुपुत्रस्ये'ति। चतस्रो विद्युतस्तु-''वाताय कपिला विद्युप्रतापायातिलोहिता। पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्भिक्षाय सिता भवेत् ''इति ज्योतिषशास्त्रे प्रसिद्धा: 'द्वे चैवाङ्गिरस' इत्युक्तयोर्वंशमाह-'**प्रत्यङ्गिरसजा**' इति। अङ्गिरसे प्रत्यागते प्रत्यङ्गिरसे ताभ्यां जाता: प्रत्यङ्गिरसाख्या ऋच: ''यान् कल्पयन्ति'' इत्यादि पञ्चत्रिंशन्मन्त्राभिमानिदेवता:॥ १३६॥

'द्वे कृशाश्वाये'त्युक्तयोर्वंशमाह-'**कृशाश्वस्ये**'ति। देवप्रहरणा: देवशस्त्रदेवता:॥ १३७॥

त्रयस्त्रिंशत्-अष्टौ वसव:, एकादश रुद्रा:, द्वादशादित्या:। प्रजापतिश्च वषट्कारश्चेति श्रुत्युक्ता:। छन्दत: स्वेच्छातो जायन्त इति छन्दजा:। निरोधसहिता उत्पत्तिर्निरोधोत्पति:॥ १३८॥

एवं देवनिकायास्ते सम्भवन्ति युगे युगे॥ १३९॥
दित्याः पुत्रद्वयं जज्ञे कश्यपादिति न श्रुतम्।
हिरण्यकशिपुश्चैव हिरण्याक्षश्च दुर्जयः॥ १४०॥
सिंहका चाभवत् कन्या विप्रचित्ते परिग्रहः।
हिरण्यकशिपोः पुत्राश्चत्वारः प्रथितौजसः॥ १४१॥
अनुह्लादश्च ह्लादश्च प्रह्लादश्चैव बुद्धिमान्।
संह्लादश्च महावीर्या दैत्यवंशविवर्द्धनाः॥ १४२॥
तेषां मध्ये महाभाग सर्वत्र समदृग् वशी।
प्रह्लादः परमां भक्तिं य उवाह जनार्दने॥ १४३॥
दैत्येन्द्रदीपितो वह्निः सर्वाङ्गोपचितो द्विज।
न ददाह च यं विप्र वासुदेवे हृदि स्थिते॥ १४४॥
महार्णवान्तः सलिले स्थितस्य चलतो मही।
चचाल सकला यस्य पाशबद्धस्य धीमतः॥ १४५॥
न भिन्नं विविधैः शस्त्रैर्यस्य दैत्येन्द्रपातितैः।
शरीरमद्रिकठिनं सर्वत्राच्युतचेतसः॥ १४६॥
विषानलोज्ज्वलमुखा यस्य दैत्यप्रचोदिताः।
नान्ताय सर्पपतयो बभूवुरुरुतेजसः॥ १४७॥
शैलैराक्रान्तदेहोऽपि यः स्मरन् पुरुषोत्तमम्।
तत्याज नात्मनः प्राणान् विष्णुस्मरणदंशितः॥ १४८॥
पतन्तमुच्चादवनिर्यमुपेत्य महामतिम्।

उत्पत्तिनिरोधयोरिच्छा कथं स्यादित्यत आह-'**यथा सूर्यस्ये**'ति। युगे युगे प्रतिकल्पं मन्वन्तरादिषु॥ १३९॥

दितेर्वंशमाह-'**दित्या**' इत्यादिना यावदेकविंशाध्याये दनोर्वंशोक्तिः॥ १४०॥

प्रतिग्रहो भार्या॥ १४२॥

''प्रह्लादवन्नृसिंहैकभक्तिलाभाय देहिनाम्। आवहन् श्रवणौत्सुक्यं तत्प्रभावमसूचयत्''। तेषां मध्ये इत्यादिना यावत्समाप्तिः॥ १४७॥

विष्णोः स्मरणेन दंशितः सन्नद्धः॥ १४८॥

दधार दैत्यपतिना क्षिप्तं स्वर्गनिवासिना॥ १४९॥
यस्य संशोषको वायुर्देहे दैत्येन्द्रयोजितः।
अवाप संक्षयं सद्यश्चित्तस्थे मधुसूदने॥ १५०॥
विषाणभङ्गमुन्मत्ता मदहानिश्च दिग्गजाः।
यस्य वक्षस्थले प्राप्ता दैत्येन्द्रपरिणामिताः॥ १५१॥
यस्य चोत्पादिता कृत्या दैत्यराजपुरोहितैः।
बभूव नान्ताय पुरा गोविन्दासक्तचेतसः॥ १५२॥
शम्बरस्य च मायानां सहस्रमतिमायिनः।
यस्मिन् प्रयुक्तं चक्रेण कृष्णस्य वितथीकृतम्॥ १५३॥
दैत्येन्द्रसूदोपहृतं यस्तु हालाहलं विषम्।
जारयामास मनिमानविकारममत्सरी॥ १५४॥
समचेता जगत्यस्मिन् यः सर्वेष्वेव जन्तुषु।
यथात्मनि तथान्यत्र परं मैत्रगुणान्वितः॥ १५५॥
धर्मात्मा सत्यशौचादिगुणानामाकरस्तथा।
उपमानमशेषाणां साधूनां यः सदाभवत्॥ १५६॥

इति श्रीविष्णुपुराणे प्रथमांशे पञ्चदशोऽध्यायः।

दैत्येन्द्रेण परिणामिताः दन्तैः प्रहर्तुं गजशिक्षाक्रमेणोद्योजिताः॥ १५३॥

दैत्येन्द्रस्य सूदैः सूपकारैः उपहृतं दत्तं हालाहलम्! ''हलाहला नाम नदी हिमवत्यतिदारुणा। यत्तु तत्तीरसम्भूतं विषं हालाहलं स्मृतम्'' इति। अविकारं रोमाञ्चस्वेदकृशोषादिविकारशून्यं यथा भवत्येवं जारयामास॥ १५४-१५६॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाभिधायां स्वप्रकाशाख्यायां वा
विष्णुपुराणटीकायां प्रथमांशे पञ्चदशोऽध्यायः॥

षोडशोऽध्यायः

(मैत्रेयस्य प्रह्लादचरितविषयकः प्रश्नः।)

मैत्रेय उवाच

कथितो भवता वंशो मानवानां महामुने।
कारणञ्चास्य जगतो विष्णुरेव सनातनः॥ १॥
यच्चैतद् भगवानाह प्रह्लादं दैत्यसत्तमम्।
ददाह नाग्निर्नास्त्रैश्च क्षुण्णस्तत्याज जीवितम्॥ २॥
जगाम वसुधा क्षोभं प्रह्लादे सलिले स्थिते।
बन्धबद्धे विचलति विक्षिप्ताङ्गैः समाहता॥ ३॥
शैलैराक्रान्तदेहोऽपि न ममार च यः पुरा।
त्वयैवातीव माहात्म्यं कथितं यस्य धीमतः॥ ४॥
तस्य प्रभावमतुलं विष्णोर्भक्तिमतो मुने।
श्रोतुमिच्छामि यस्यैतच्चरितं दीप्ततेजसः॥ ५॥
किं निमित्तमसौ शस्त्रैर्विक्षतो दितिजैर्मुने।
किमर्थञ्चाब्धिसलिले निक्षिप्तो धर्मतत्परः॥ ६॥
आक्रान्तः पर्वतैः कस्मात् कस्माद्दष्टो महोरगैः।
क्षिप्तः किमद्रिशिखरात् किं वा पावकसञ्चये॥ ७॥
दिग्दन्तिनां दन्तभूमिं स च कस्मान्निरूपितः।
संशोषकोऽनिलश्चास्य प्रयुक्तः किं महासुरैः॥ ८॥
कृत्याञ्च दैत्यगुरवो युयुजुस्तत्र किं मुने।

उक्तानुवादपूर्वकं प्रह्लादचरितं पृच्छति-'कथित' इत्यादिना। मानवानां उत्तानपादध्रुवादीनाम्॥ १॥

ददाह यन्नाग्निः। अस्त्रैः क्षुण्णः प्रहतोऽपि॥ २॥

यत्र अस्मिन् प्रह्लादे बन्धैर्बद्धे विचलति सति तस्य विक्षिप्तैरङ्गैः समाहता सती वसुधा क्षोभं जगाम। विक्षिप्ताङ्गः समाहिता इति पाठे तु उत्तरेणान्वयः। बन्धबद्धो विचरतीति पाठे पृथग् एतद् वाक्यम्॥ ३॥

शम्बरश्चापि मायानां सहस्रं किं प्रयुक्तवान्॥ ९॥
हालाहलं विषमहो दैत्यसूदैर्महात्मनः।
कस्माद् दत्तं विनाशाय यद् जीर्णं तेन धीमता॥ १०॥
एतत् सर्वं महाभाग प्रह्लादस्य महात्मनः।
चरितं श्रोतुमिच्छामि महामाहात्म्यसूचकम्॥ ११॥
न हि कौतुहलं तत्र यद् दैत्यैर्न हतो हि सः।
अनन्यमनसो विष्णो कः शक्नोति निपातने॥ १२॥
तस्मिन् धर्मपरे नित्यं केशवाराधानोद्यते।
स्ववंशप्रभवैर्दैत्यैः कर्त्तुं द्वेषोऽतिदुष्करः॥ १३॥
धर्मात्मनि महाभागे विष्णुभक्ते विमत्सरे।
दैतेयैः प्रहृतं यस्मात् तन्ममाख्यातुमर्हसि॥ १४॥
प्रहरन्ति महात्मानो विपक्षा अपि नेदृशे।
गुणैः समन्विते साधौ किं पुनर्यः स्वपक्षजः॥ १५॥
तदेतत् कथ्यतां सर्वं विस्तरान्मुनिसत्तम।
दैत्येश्वरस्य चरितं श्रोतुमिच्छाम्यशेषतः॥ १६॥

इति श्रीविष्णुपुराणे प्रथमांशे षोडशोऽध्यायः।

शिष्टाः प्रश्नाः स्पष्टार्थाः॥ १६॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाभिधायां स्वप्रकाशाभिधायां वा विष्णुपुराणटीकायां प्रथमांशे षोडशोऽध्यायः॥

सप्तदशोऽध्यायः

(प्रह्लादचरितकथनम्)

पराशर उवाच

मैत्रेय श्रूयतां सम्यक् चरितं तस्य धीमतः।
प्रह्लादस्य सदोदारचरितस्य महात्मनः॥ १॥
दितेः पुत्रो महावीर्यो हिरण्यकशिपुः पुरा।
त्रैलोक्यं वशमानिन्ये ब्रह्मणो वरदर्पितः॥ २॥
इन्द्रत्वमकरोद् दैत्यः स चासीत् सविता स्वयम्।
वायुरग्निरपां नाथः सोमश्चाभन्महासुरः॥ ३॥
धनानामधिपः सोऽभूत् स एवासीत् स्वयं यमः।
यज्ञभागानशेषांस्तु स स्वयं बुभुजेऽसुरः॥ ४॥
देवाः स्वर्गं परित्यज्य तत् त्रासान् मुनिसत्तम।
विचेरुरवनौ सर्वे विभ्राणा मानुषीं तनुम्॥ ५॥
जित्वा त्रिभुवनं सर्वं त्रैलोक्यैश्वर्यदर्पितः।
उपगीयमानो गन्धर्वैर्बुभुजे विषयान् प्रियान्॥ ६॥
पानासक्तं महात्मानं हिरण्यकशिपुं तदा।
उपासाञ्चक्रिरे सर्वे सिद्धगन्धर्वपन्नगाः॥ ७॥
अवादयञ्जगुश्चान्ये जयशब्दानथापरे।
दैत्यराजस्य पुरतश्चक्रुः सिद्धा मुदान्विताः॥ ८॥

भगवद्द्वेष एव तद्भक्तस्वपुत्रद्वेषेऽपि कारणमिति वक्ष्यन् हिरण्यकशिपोर्वृत्तान्तमाह-'दितेः पुत्र' इत्यादिना॥ १॥

''भूतेभ्यस्त्वद्विसृष्टेभ्यो मृत्युर्माभून्मम प्रभो।'' इत्याद्यनेकवरप्रार्थने कृते सति तथैव ब्रह्मणा दत्तैर्वरैर्दर्पितः सन्॥ ४॥

तत्त्रासात् हिरण्यकशिपोर्भयात्॥ ५-६॥

महात्मानं अद्भुतप्रभावम्॥ ७॥ अवादयन् वाद्यादीनि, जगुर्गीतम्॥ ८॥

तत्र प्रनृत्याप्सरसि स्फटिकाभ्रमयेऽसुरः।
पपौ पानं मुदा युक्तः प्रासादे सुमनोहरे॥ ९॥
तस्य पुत्रो महाभागः प्रह्लादो नाम नामतः।
पपाठ बालपाठ्यानि गुरुगेहे गतोऽर्भकः॥ १०॥
एकदा तु स धर्मात्मा जगाम गुरुणा सह।
पानासक्तस्य पुरतः पितुर्दैत्यपतेस्तदा॥ ११॥
पादप्रणामावनतं तमुत्थाप्य पिता सुतम्।
हिरण्यकशिपुः प्राह प्रह्लादममितौजसम्॥ १२॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

पठ्यतां भवता वत्स! सारभूतं सुभाषितम्।
कालेनैतावता यत् ते सदोद्युक्तेन शिक्षितम्॥ १३॥

प्रह्लाद उवाच

श्रूयतां तात! वक्ष्यामि सारभूतं तवाज्ञया।
समाहितमना भूत्वा यन्मे चेतस्यवस्थितम्॥ १४॥
अनादिमध्यान्तमजमवृद्धिक्षयमच्युतम्।
प्रणतोऽस्मि महात्मानं सर्वकारणकारणम्॥ १५॥

पराशर उवाच

एवं निशम्य दैत्येन्द्रः क्रोधसंरक्तलोचनः।
विलोक्य तद्गुरुं प्राह स्फुरिताधरपल्लवः॥ १६॥

प्रकृष्टं नृत्यं यासां ता अप्सरसो यस्मिन् तस्मिन् प्रासादे स्फटिकाभ्रमये स्फटिकशिलाभिः अभ्रकशिलाभिश्च रचिते। पीयत इति पानं मदिरादि॥ ९॥

तदेवं तस्य परमैश्वर्यम् उक्त्वा पुत्रद्वेषकारणं वक्तुमाह- **'तस्य पुत्र'** इत्यादिना॥ १०॥

तत्र हेतुः-सर्वकारणानां कारणम्। प्रणतोऽस्म्यन्तसन्तानमिति पाठे, अन्तयति इत्यन्तः संहर्त्ता, सन्तन्यतेऽनेनेति सन्तानः स्थितिकर्त्ता, तम्। पाठान्तरं सुगमम्॥ १६॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

ब्रह्मबन्धो! किमेतत् ते विपक्षस्तुतिसंहितम्।
असारं ग्राहितो बालो मामवज्ञाय दुर्मते!॥ १७॥

गुरुरुवाच

दैत्येश्वर! न कोपस्य वशमागन्तुमर्हसि।
ममोपदेशजनितं नायं वदति ते सुतः॥ १८॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

अनुशास्तोऽसि केनेदृग् वत्स! प्रह्लाद कथ्यताम्।
ममोपदिष्टं नेत्येष प्रब्रवीति गुरुस्तव॥ १९॥

प्रह्लाद उवाच

शास्ता विष्णुरशेषस्य जगतो यो हृदि स्थितः।
तमृते परमात्मानं तात! कः केन शास्यते॥ २०॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

कोऽयं विष्णुः सुदुर्बुद्धे! यं ब्रवीषि पुनः पुनः।
जगतामीश्वरस्येह पुरतः प्रसभं मम॥ २१॥

प्रह्लाद उवाच

न शब्दगोचरे यस्य योगिध्येयं परं पदम्।
यतो यश्च स्वयं विश्यं स विष्णुः परमेश्वरः॥ २२॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

परमेश्वरसंज्ञोऽज्ञ! किमन्यो मय्यवस्थिते।
तवास्ति मर्त्तुकामस्त्वं प्रब्रवीषि पुनः पुनः॥ २३॥

ब्रह्मबन्धो! ब्राह्मणाधम! ते त्वया विपक्षस्तुत्या संहितं सम्बद्धं किमेतद् ग्राहितः शिक्षितः॥ १७-२०॥

प्रसभं निःशङ्कम्॥ २१॥

यतो विश्वं, विश्वरूपः स परमेश्वरो विष्णुः॥ २२-२३॥

प्रह्लाद उवाच

न केवलं तात! मम प्रजानां
स ब्रह्मभूतो भवतश्च विष्णुः।
धाता विधाता परमेश्वरश्च
प्रसीद कोपं कुरुषे किमर्थम्॥ २४॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

प्रविष्टः कोऽस्य हृदये दुर्बुद्धेरतिपापकृत्।
येनेदृशान्यसाधूनि वदत्याविष्टमानसः॥ २५॥

प्रह्लाद उवाच

न केवलं मद्हृदयं स विष्णु-
राक्रम्य लोकान् सकलानवस्थितः।
स मां त्वदादींश्च पितः! समस्तान्
समस्तचेष्टासु युनक्ति सर्वगः॥ २६॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

निष्काम्यतामयं दुष्टः शास्यताञ्च गुरोर्गृहे।
योजितो दुर्मतिः केन विपक्षवितथस्तुतौ॥ २७॥

पराशर उवाच

इत्युक्तोऽसौ तदा दैत्यैर्नीतो गुरुगृहं पुनः।
जग्राह विद्यामनिशं गुरुशुश्रूषणोद्यतः॥ २८॥
कालेऽतीते च महति प्रह्लादमसुरेश्वरः।
समाहूयाब्रवीत् पुत्र! गाथा काचित् प्रगीयताम्॥ २९॥

न केवलं ममैव, किन्तु प्रजानां सर्वासां भवतश्च धाता धारयिता, विधाता कर्त्ता च परमेश्वरः स एव॥ २४-२५॥

आक्रम्य अधिष्ठायावस्थितः। युनक्ति प्रवर्त्तयति। "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" इति श्रुतेः॥ २६-२७॥

जग्राह, विद्या गुरोरुपकारार्थमेव, अन्यथा तद्वृत्तिलोपप्रसङ्गात्॥ २८॥

गाथा गद्यपद्यादिः॥ २९॥

प्रह्लाद उवाच

यतः प्रधानपुरुषौ यतश्चैतच्चराचरम्।
कारणं सकलस्यास्य स नो विष्णुः प्रसीदतु॥३०॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

दुरात्मा बध्यतामेष नानेनार्थोऽस्ति जीवता।
स्वपक्षहानिकर्त्तृत्वाद् यः कुलाङ्गारतां गतः॥३१॥

पराशर उवाच।

इत्याज्ञप्तास्ततस्तेन प्रगृहीतमहायुधाः।
उद्यतास्तस्य नाशाय दैत्याः शतसहस्त्रशः॥३२॥

प्रह्लाद उवाच

विष्णुः शस्त्रेषु युष्माकं मयि चासौ यथा स्थितः।
दैतेयास्तेन सत्येन मा क्रामन्त्वायुधानि मे॥३३॥

पराशर उवाच

ततस्तैः शतशो दैत्यैः शस्त्रौघैराहतोऽपि सन्।
नावाप वेदनामल्पामभूच्चैव पुनर्नवः॥३४॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

दुर्बुद्धे! विनिवर्त्तस्व वैरिपक्षस्तवादतः।
अभयं ते प्रयच्छामि मातिमूढमतिर्भव॥३५॥

प्रह्लाद उवाच

भयं भयानामपहारिणि स्थिते
मनस्यनन्ते मम कुत्र तिष्ठति।
यस्मिन् स्मृते जन्मजरान्तकादि-
भयानि सर्वाण्यपयान्ति तात॥३६॥

यतः प्रधानपुरुषौ आविर्भूतौ॥३०॥ कुलस्याङ्गरतां दाहकताम्॥३१॥

यस्मिन् स्मृते एव जन्मादीन्यपि भयान्यपयान्ति, तस्मिन् मनसि नित्यं स्थिते सति भयं कुत्र तिष्ठति॥३६-३७॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

भो भोः सर्पा! दुराचारमेनमत्यन्त दुर्मतिम्।
विषज्वालाकुलैर्वक्त्रैः सद्यो नयत संक्षयम्॥ ३७॥

पराशर उवाच

इत्युक्तास्तेन ते सर्पाः कुहकास्तक्षकान्धका।
अदशन्त समस्तेषु गात्रेष्वतिविषोल्वणाः॥ ३८॥
स त्वासक्तमतिः कृष्णे दश्यमानो महोरगैः।
न विवेदात्मनो गात्रं तत्स्मृत्याह्लादसंस्थितः॥ ३९॥

सर्पाः ऊचुः

दंष्ट्रा विशीर्णा मणयः स्फुटन्ति
फणेषु तापो हृदयेषुः कम्पः।
नास्य त्वचः स्वल्पमपीह भिन्नं
प्रशाधि दैत्येश्वर! कार्यमन्यत्॥ ४०॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

हे दिग्गजाः! सङ्कटदन्तमिश्रा!
घ्नतैनमस्मद्रिपुपक्षभिन्नम्।
तज्ञा विनाशाय भवन्ति तस्य
यथारणेः प्रज्वलितो हुताशः॥ ४१॥

पराशर उवाच

ततः स दिग्गजैर्बालो भूभृच्छिखरसन्निभैः।

अदशन्त दष्टवन्तः॥ ३८-३९॥

एतदशक्यम्, अन्यत कार्यं प्रशाधि आदिश॥ ४०॥

सङ्कटैः सङ्कीर्णैर्दन्तैर्मिश्रा मिलिताः सन्तः घ्नत मारयत। अस्मद्रिपुपक्षैर्वैष्णवैः सामाद्युपायेन अस्मत्तो भिन्नं पृथक्कृतम्। तस्माज्जाता अपि तस्य विनाशाय क्वचिद् भवन्ति। यथा अरणेर्जातो हुताशोऽरणेर्नाशाय॥ ४१॥

पातितो धरणीपृष्ठे विषाणैरवपीडितः॥४२॥

स्मरतस्तस्य गोविन्दमिभदन्ताः सहस्रशः।

शीर्णा वक्षःस्थलं प्राप्य स प्राह पितरं ततः॥४३॥

दन्ता गजानां कुलिशाग्रनिष्ठुराः

शीर्णा यदेते न बलं ममैतत्।

महाविपत्पापविनाशनोऽयं

जनार्दनानुस्मरणानुभावः॥४४॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

ज्वाल्यतामसुरा! वह्निरपसर्पत दिग्गजाः।

वायो समेधयाग्निं त्वं दह्यतामेष पापकृत्॥४५॥

पराशर उवाच

महाकाष्ठचयच्छन्नमसुरेन्द्रसुतं ततः।

प्रज्वाल्य दानवा वह्निं ददहुः स्वामिनोदिताः॥४६॥

प्रह्लाद उवाच

तातैष वह्निः पवनेरितोऽपि न मां दहत्यत्र समन्ततोऽहम्।

पश्यामि पद्मास्तरणास्तृतानि शीतानि सर्वाणि दिशां मुखानि॥४७॥

पराशर उवाच

अथ दैत्येश्वरं प्रोचुर्भार्गवस्यात्मजा द्विजाः।

पुरोहिता महात्मानः साम्ना संस्तूय वाग्मिनः॥४८॥

विषाणैर्दन्तैः॥४२-४३॥

पितुरपि भगवद्भक्तिमुत्पादयितुं तत्स्मरणप्रभावमाह, 'दन्ता' इति। कुलिशं वज्रं तस्याग्रमिव निष्ठुराः दृढाः तीक्ष्णाः, महतीर्विपदस्तन्मूलभूतानि पापानि च विनाशयतीति तथा॥४४॥

भार्गवस्यात्मजाः शण्डामर्कादयः॥४८॥

पुरोहिता ऊचुः

राजन्! नियम्यतां कोपो बालेऽत्र तनयेऽनुजे।
कोपो देवनिकायेषु यत्र ते सफलो यतः॥४९॥

तथा तथैनं बालं ते शासितारो वयं नृप।
यथा विपक्षनाशाय विनीतस्ते भविष्यति॥५०॥

बालत्वं सर्वदोषाणां दैत्यराजास्पदं यतः।
ततोऽत्र कोपमत्यर्थं योक्तुमर्हसि नार्भके॥५१॥

न त्यक्ष्यति हरेः पक्षमस्माकं वचनाद् यदि।
ततः कृत्यां वधायास्य करिष्यामो निवर्त्तिनीम्॥५२॥

पराशर उवाच

एवमभ्यर्थितस्तैस्तु दैत्यराजः पुरोहितैः।
दैत्यैर्निष्काशयामास पुत्रं पावकसञ्चयात्॥५३॥

ततो गुरुगृहे बालः स वसन् बालदानवान्।
अध्यापयामास मुहुरुपदेशान्तरे गुरोः॥५४॥

प्रह्लाद उवाच

श्रूयतां परमार्थो मे दैतेया दितिजात्मजाः।
न चान्यथैतन्मन्तव्यं नात्र लोभादिकारणम्॥५५॥

निवर्त्तिनीं हिंस्राम्, अनिवर्तिनीमिति वा च्छेदः। दुष्प्रतीकारामित्यर्थः॥५३॥

पितुर्विषयासक्तेर्विष्णुभक्तिर्न भवति, एषां तु भविष्यतीति बालदानवान् गुरोरुपदेशस्याध्यापनस्यान्तरे विच्छेदे तन्मध्ये मुहुर्मुहुः स्वयमध्यापयामास उपदिदेश॥५४॥

"संसारे नित्यदुःखानि विष्णुभक्तौ परं सुखम्। इत्थं प्रह्लादवाक्यार्थं बुद्ध्वा विष्णुं भजेद् बुधः।" हे दितिजात्मजाः! मद्भ्रातरः! दैतेयास्तदन्ये! परमार्थतत्त्वं श्रूयताम्। मे मत्तः। अन्यथा मिथ्येत्येतत् न मन्तव्यं, यतोऽस्य गुरोरुपदेश इव मदुक्तौ लोभादिकारणं नास्ति॥५५॥

जन्म बाल्यं ततः सर्वो जन्तुः प्राप्नोति यौवनम्।
अव्याहतैव भवति ततोऽनुदिवसं जरा॥ ५६॥
ततश्च मृत्युमभ्येति जन्तुर्दैत्येश्वरात्मजाः।
प्रत्यक्षं दृश्यते चैतदस्माकं भवतां तथा॥ ५७॥
मृतस्य च पुनर्जन्म भवत्येतच्च नान्यथा।
आगमोऽयं तथा तत्र नोपादानं विनोद्भवः॥ ५८॥
गर्भवासादि यावत् तु पुनर्जन्मोपपादनम्।
समस्तावस्थकं तावद् दुःखमेवावगम्यताम्॥ ५९॥
क्षुत्तृष्णोपशमं तद्वच्छीताद्युपशमं सुखम्।
मन्यते बालबुद्धित्वाद् दुःखमेव हि तत् पुनः॥ ६०॥
गर्भवासादि यावत् तु पुनर्जन्मोपपादनम्।
समस्तावस्थकं तावद् दुःखमेवावगम्यताम्॥ ५९॥
क्षुत्तृष्णोपशमं तद्वच्छीताद्युपशमं सुखम्।
मन्यते बालबुद्धित्वाद् दुःखमेव हि तत् पुनः॥ ६०॥

बाल्यादारभ्य बन्धमुक्तये विष्णुभक्तिरेव कर्त्तव्येति वक्तुं प्रवृत्तिमार्गे जन्मादिसर्वावस्थासु नित्यं दुःखमेवेति दर्शयन्नाह-'**जन्मे**'त्यादि-'सर्वं दुःखमयं जग' दित्यन्तैश्चतुर्दशभिः॥५६॥

मृतस्य पुनर्जन्म भवतीत्ययमेतदर्थप्रतिपादकः प्रमाणभूतश्रुतिस्मृत्यादिरूप आगमोऽस्ति। ''योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्ये तु सयान्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्'' इति, ''जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च'' इत्यादि। एतदनुकुलं तर्कमप्याह-**तच्च तथैव** मन्तव्यम्, यस्माज्जीवाद्यधिष्ठितशुक्रशोणितरूपम् उपादानकारणं विना देहस्योद्भवो न घटते इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति। यद्वा जीवन्मुक्तव्यावृत्त्यर्थमाह-**नेति।** उपादीयते निमित्ततया स्वीक्रियते पुनर्जन्मार्थम्। इत्युपादानं पुण्यपापादि। तद्विना **उद्भवो** जन्म नास्ति, किन्तु तत्सद्भावे, अतो जीवन्मुक्ते नातिप्रसङ्ग इत्यर्थः॥५८॥

ततः किमत आह-'**गर्भवासादी**' ति। पुनर्जन्मन उपपादनं प्रापणं यावत् तावद् दुःखमेव। यद्वा वामदेवगर्भवासव्यावृत्त्यर्थमाह-'**पुनर्जन्मे**'ति॥५९॥

अन्नपानादिजनितसुखमप्यस्ति, कुतो दुःखमेवोज्यते? इति चेत्, तत्राह-**क्षुदि**'ति। क्षुत्पिपासादिकृतदुःखोपशमं मूढो भ्रान्तः सुखं मन्यते। तद् हि पुनरन्नपानादिसम्पादनप्रयासाद् दुःखमेव॥६०॥

अत्यन्तस्तिमिताङ्गानां व्यायामेव सुखैषिणाम्।
भ्रान्तिज्ञानावृताक्षाणां प्रहारोऽपि सुखायते॥६१॥
का शरीरमशेषाणां श्लेष्मादीनां महाचयः।
क्व कान्ति-शोभा-सौरभ्य-कमनीयादयो गुणाः॥६२॥
मांसाऽसृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जाऽस्थिसंहतौ।
देहे चेत् प्रीतिमान् मूढो नरके भवितापि सः॥६३॥
अग्नेः शीतेन तोयस्य तृषा भक्तस्य च क्षुधा।
क्रियते सुखकर्त्तृत्वं तद् विलोमस्य चेतरैः॥६४॥
करोति हे दैत्यसुता! यावन्मात्रं परिग्रहम्।
तावन्मात्रं स एवास्य दुःखं चेतसि यच्छति॥६५॥
यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥६६॥

दुःखत्वेन प्रसिद्धेऽपीच्छयाङ्गप्रहारादौ सुखभ्रमं दृष्टान्तत्वेनाह-अत्यन्ते'ति। वातादिदोषेण अत्यन्तं जडीभूतगात्राणां व्यायामेन गमनादिश्रमेण सुखमिच्छतां व्यायामोऽपि सुखमिव भवति, भ्रान्तिज्ञानावृताक्षाणाञ्च मोहपिहितदृष्टीनां कामिनां प्रणयकुपितकामिनी-नूपुररणत्कारचरणप्रहारोऽपि सुखवत् प्रतीयते॥६१॥

तदेव कामिनां सुखम्। निन्दति-क्वेति। महाचयः स्थूलसंघातः, कान्तिर्गौरत्वादिः अङ्गच्छाया, शोभा भूषणादिकृता, सौरभ्यं सौगन्ध्यं, कमनीयं सौन्दर्यम्, एवमादयोगुणाश्च क्व॥६२॥

देहे चेदहं-ममकारास्पदे प्रीतिमान् भवेत् तर्हि नरकेऽपि प्रीतिमान् भविष्यति? तस्यापि नारकिभोग्यमांसादिसंघातत्वाविशेषात्॥६३॥

किञ्च न वस्तुतः किञ्चित् सुखसाधनस्यैव कदाचित् दुःखदर्शनादित्याह-'अग्ने' रिति। शीतेन पूर्वभाविना अग्नेः सुखकर्त्तृत्वं क्रियते। शीताभावे ग्रीष्मे अग्नेर्दुःसहत्वात्। एवं पूर्वभाविन्या तृषा तोयस्य, क्षुधा च भक्तस्यान्नस्य, तयोरभावे तोयान्नयोरतिप्रतिकूलत्वात् तद्विलोमस्याग्न्यादिप्रतियोगिनः शीतादेः, इतरैरग्न्यादिभिः, अग्निना सन्तापे सति शीतस्य, तोये सति तृषः, अन्ने सति क्षुधः सुखहेतुत्वम्, अन्यथा तेषामेव दुःखहेतुत्वात्॥६४॥

किञ्च 'करोती' ति॥६५॥

यद् यद् गृहे तन्मनसि यत्र तत्रावतिष्ठतः।
नाशदाहापहरणं तत्र तस्यैव तिष्ठति॥ ६७॥
जन्मन्यत्र महद् दुःखं म्रियमाणस्य चापि तत्।
यातनासु यमस्योग्रं गर्भसङ्क्रमणेषु च॥ ६८॥
गर्भे च सुखलेशोऽपि भवद्भिरनुमीयते।
यदि तत् कथ्यतामेवं सर्वं दुःखमयं जगत्॥ ६९॥
तदेवमतिदुःखानामास्मदेऽत्र भवार्णवे।
भवतां कथ्यते सत्यं विष्णुरेकः परायणम्॥ ७०॥
मा जानीत वयं बाला देही देहेषु शाश्वतः।
जरा-यौवन-जन्माद्या धर्म्मा देहस्य नात्मनः॥ ७१॥
बालोऽहं तावदिच्छातो यतिष्ये श्रेयसे युवा।

कलत्र-पुत्र-मित्रादिसम्बन्धोऽपि दुःखहेतुरेवेत्याह-**'यावत्'** इति। शोकरूपाः शङ्कवः कीलकानि खन्यन्ते निपात्यन्ते। तेषामपगमेऽपि तन्नाशादिशोकानपगमादित्यर्थः॥ ६६॥

एतत् स्पष्टयति-'यद् यदि'ति। यद् यद्गृहेऽस्ति धनादि, तद् यत्र तत्र देशान्तरेऽपि अवतिष्ठमानस्य मनसि नित्यं चिन्तयतस्तिष्ठति, तस्य तु धनादेर्नाशो दाहोऽपहरणं वा तत्रैव गृहे एव तिष्ठति, न तु मानसे स्मर्यमाणतया स्थितस्य धनादेर्नाशादि भवति, मनसि स्थितस्य तु न भवतीति कुतः ? अहो चित्रम्! गृहे नष्टमपि धनादि यत्र कुत्रचिद् देशान्तरे स्थितमपि परिग्रहणं व्यर्थयितुमेव मानसवासनारूपेण तिष्ठति। अतस्तद्वासनापरित्यागे विशोको भवति, न तद् वियोगमात्र इति भावः। पाठान्तरेष्वपि अयमेव तात्पर्य्यार्थः॥ ६७॥

एवं सर्वावस्थास्वपि दुःखमनुसन्धेयमित्याह-**'जन्मनी'** ति द्वाभ्याम्॥ ६९॥

तदेवं प्रवृत्तिमार्गे दोषोक्त्या विरक्तिमुत्पाद्य विष्णुसेवायां प्रवर्त्तयन्नाह- **'तदेव'**मिति॥ ७०॥

तथाप्यस्माकं बालानां नात्राधिकार इत्याशङ्क्यां व्यावर्त्तयति- **'जानीते'**ति। तत्तत्परिणामभेदेन भिन्नेष्वपि बालयुवादिदेहेषु देहिनः प्रतिसन्धानाद् देही शाश्वतो नित्यः। अतो जराद्या धर्मा देहस्यैव, न त्वात्मनः। देहात्मविवेक-शून्यानाम् अविरक्तानामेवात्रानधिकारः। तद्विवेकवतां तु विरक्तानां सुतरामेवाधिकारः ''देहावस्था त्वकारणं यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्'' इत्यादिश्रुतेरिति भावः॥ ७१॥

युवाहं वार्द्धके प्राप्ते करिष्याम्यात्मनो हितम्॥७२॥
वृद्धोऽहं मम कर्म्माणि समस्तानि न गोचरे।
किं करिष्यामि मन्दात्मा समर्थेन न यत् कृतम्॥७३॥
एवं दुराशयाक्षिप्तमानसः पुरुषः सदा।
श्रेयसोऽभिसुखं याति न कदाचिद् पिपासितः॥७४॥
बाल्ये क्रीडनकासक्ता यौवने विषयोन्मुखाः।
अज्ञा नयन्त्यशक्त्या च वार्द्धकं समुपस्थितम्॥७५॥
तस्माद् बाल्ये विवेकात्मा यतेत श्रेयसे सदा।
बाल्य-यौवन-वृद्धाद्यैर्देहभावैरसंयुतः॥७६॥
तदेतद् वो मयाख्यातं यदि जानीत नानृतम्।
तदस्मत्प्रीतये विष्णुः स्मर्य्यतां बन्धमुक्तिदः॥७७॥
आयासः स्मरणे कोऽस्य स्मृतो यच्छति शोभनम्।
पापक्षयश्च भवति स्मरतां तमहर्निशम्॥७८॥
सर्वभूतस्थिते तस्मिन् मतिर्मैत्री दिवानिशम्।

किञ्चिद्विवेकवतामपि अविरक्तानां श्रेयसि प्रवृतौ कालप्रतीक्षया वृथैव जीवितं यातीत्याह–'**बालोऽह**'मिति त्रिभिः। इच्छातो विचरिष्यामीति शेषः॥७२-७३॥

दुराशया विषयासक्त्या आक्षिप्तमानसः आकृष्टचित्तः। पिपासितः भोगतृष्णाकुलः। अनेन च रजकादिदृष्टान्तः सूचितः। रजको हि जाह्नवीजलस्थोऽपीदं प्रक्षाल्य जलं पास्यामीदमिदञ्चेत्येवं पिपासया यथा म्रियते। जालिकश्च इमञ्चामुञ्च परञ्च मत्स्यं धृत्वा तोयं पास्यामीत्येवं पिपासित एव यथा म्रियते तद्वदित्यर्थः॥७४॥

अज्ञास्तु पशुवदेवायुः क्षपयन्तीत्याह–'बाल्य' इति। समुपस्थितं प्राप्तं वार्द्धकञ्चाशक्त्या नयन्ति यापयन्ति, न तु तदापि श्रेयोजिज्ञासा तेषामित्यर्थः॥७५॥

अतः श्रेयसे विलम्बो न कर्त्तव्य इत्याह– '**तस्मा**'दिति। विवेकात्मा विवेकयुक्तचित्तः। तमेव विवेकं स्मारयति 'बाल्ये'ति॥७६॥

यद्यपि युष्माकमत्र नेच्छा, तथाप्यस्मत्प्रीतये विष्णुः स्मर्यताम्॥७७॥

युष्माकमपि विष्णुभक्तावेव प्रवृत्तिर्युक्ता सुकरत्वान् महाफलत्वाच्च इत्याह–'**आयास**' इति॥७८॥

भवतां जाययामेवं सर्वक्लेशान् प्रहास्यथ॥७९॥

तापत्रयेणाभिहतं यदेतदखिलं जगत्।

तदा शोच्येषु भूतेषु द्वेषं प्राज्ञः कराति कः॥८०॥

अथ भद्राणि भूतानि हीनशक्तिरहं परम्।

मुदं तथापि कुर्व्वीत हानिर्द्वेषफलं यतः॥८१॥

बद्धवैराणि भूतानि द्वेषं कुर्व्वन्ति चेत् ततः।

शोच्यान्यहोऽतिमोहेन व्याप्तानीति मनीषिणा॥८२॥

एते भिन्नादृशा दैत्या विकल्पाः कथिता मया।

कृत्वाभ्युपगमं तत्र संक्षेपः श्रूयतां मम॥८३॥

विस्तारः सर्वभूतस्य विष्णोर्विश्वमिदं जगत्।

विष्णुभाक्त्यैव सर्वत्र विष्णुदृष्टिः सर्वभूतमैत्री च मुख्यं कारणमित्याह- **'सर्वेति'**। सर्वभूतेषु अन्तर्यामितया स्थिते तस्मिन् विष्णौ मतिर्भवतामस्तु। अत एव तदधिष्ठाने भूतमात्रे मैत्री चाहर्निशमस्तु। एवमनेन प्रकारेण रागद्वेषादिकृतसर्वक्लेशान् प्रहास्यथेत्यर्थः॥७९॥

ननु सर्वभूतेषु मैत्री दुष्कराः मत्सरादिभिः सन्तप्यमानेषु धनविद्यादिगर्वितेषु वृथैव बद्धवैरेषु च द्वेषस्य दुष्परिहरत्वादित्यत्राह-**'तापत्रयेणे'**ति त्रिभिः। तापत्रयेणाध्यात्मिकादिदुःखत्रयेण मदमत्सरादिना जगदेतदभिहतमिति यदा बुद्धिः, तदा शोच्येषु कृपाविषयेषु भूतेषु कः प्राज्ञो द्वेषं करोति॥८०॥

अतैवं मतिः, भूतानि भद्राणि धनविद्यादिसम्पदा दृष्टानि, अहमेव केवलं धनाद्यर्जने हीनशक्तिरिति,-तथापि तेषु मुदं प्रीतिमेव कुर्वीत, न तु द्वेषं यतो द्वेषस्य फलं हानिरेव। तथा हि न्यायविदः-''इष्टसाधनज्ञानस्य रागत उपादानं फलम्।'' अनिष्टसाधनज्ञानस्य च द्वेषतो हानिः फलम्'' इति वर्णयन्ति। अतो हानिफलत्वाद् द्वेषो न कार्य इत्यर्थः॥८१॥

यदि चेद् वृथैव वद्धवैराणि स्वस्मिन् द्वेषं कुर्वन्ति तदा मनीषिणा तान्यतीव मोहव्याप्तानीति शोच्यानि अनुकम्प्यानि। तेषु सर्वथा द्वेषो न युक्त इत्यर्थः॥८२॥

एते च द्वेषोपशमप्रकारा मन्दाधिकारिणामेवोक्ताः। न तु उत्तमाधिकारिणामित्याह-**'एत'** इति। भिन्नदृशा भेददृष्ट्या। भिन्नदृशामिति वा पाठः। तत्र भेददृश्यङ्गीकारम् कृत्वा एते विकल्पाः द्वेषोपशमप्रकारभेदाः। कथिताः। उत्तमानां तु परमार्थसंक्षेपो मत्तः श्रूयताम्॥८३॥

द्रष्टव्यमात्मवत् तस्मादभेदेन विचक्षणैः॥ ८४॥
समुत्सृज्यासुरं भावं तस्माद् यूयं तथा वयम्।
तथा यत्नं करिष्यामो यथा प्राप्स्याम निर्वृतिम्॥ ८५॥
या नाग्निना न वार्केण नेन्दुना नैव वायुना।
पर्ज्जन्यवरूणाभ्यां वा न सिद्धैर्न च राक्षसैः॥ ८६॥
न यक्षैर्न च दैत्येन्द्रैर्नोरगैर्न च किन्नरैः।
न मनुष्यैर्न पशुभिर्दोषैर्नैवात्मसम्भवैः॥ ८७॥
ज्वराक्षिरोगाऽतीसार-प्लीह-गुल्मादिकैस्तथा।
द्वेषेर्ष्यामत्सराद्यैर्वा रागलोभादिभिः क्षयम्॥ ८८॥
न चान्यैर्नीयते कैश्चिन्नित्यचा ह्यत्यन्तनिर्म्मला।
तामाप्नोति मलं त्यक्त्वा केशवे हृदि संस्थिते॥ ८९॥
असारसंसारविवर्त्तनेषु मा यात तोषं प्रसभं ब्रवीमि।
सर्वत्र दैत्याः समतामुपेत समत्वमाराधनमच्युतस्य॥ ९०॥

तमेवाह–'**विस्तार**' इति॥ ८४॥

आसुरं भावं रागद्वेषादिस्वभावं सम्यगुत्सृज्य यूयं वयञ्च निर्वृतिं तथा येन प्रकारेण प्राप्स्यामस्तथा यत्नं करिष्यामः॥ ८५॥

तामेव निर्वृतिं तत्प्रयत्नञ्च विशिनष्टि–'**ये**'ति चतुर्भिः। या निर्वृतिर्मोक्षाख्या अग्न्यादिनान्यैरपि कैश्चित् क्षयं न नीयते, तां निर्वृतिं केशवे हृदयं न्यस्य प्राप्नोतीति चतुर्थेनान्वयः। तत्र नाग्न्यादिनेति आधिदैविकैरुपघातैः क्षयो वार्यते॥ ८६॥

न मनुष्यैर्न पशुभिरित्याधिभौतिकैः। दोषैर्नैवात्मसम्भवैरिति शारीरमानस-भेदेनाध्यात्मिकैः॥ ८७॥

तत्र शारीरैर्ज्वरादिभिर्मानसैर्द्वेषादिभिश्च॥ ८८॥

अन्यैश्च तन्मूलभूतैरविद्याकर्मादिभिर्या क्षयं न प्राप्यते तां निर्वृतिं केशवं स्मृत्वा प्राप्नोतीत्यर्थः॥ ८९॥

सर्वोपदेशसारमाह– '**असारे**'ति। असारो यः संसारः तत्र विवर्त्तनानि देवमनुष्यतिर्यगादिजन्मानि तेषु तत्तदुचितैर्भोगैस्तोषं मा यात न प्राप्नुत, किन्तु सर्वभूतेषु समदर्शिताम् उपेत प्राप्नुत। तदेव अच्युतस्याराधनं प्रीणनम्॥ ९०॥

तस्मिन् प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं
धर्मार्थकामैरलमल्पकास्ते।
समाश्रिताद् ब्रह्मतरोरनन्ता-
न्नि:संशयं प्राप्स्यथ वै महत् फलम्॥ ९१॥

इति श्रीविष्णुपुराणे प्रथमांशे सप्तदशोऽध्यायः।

अष्टादशोऽध्याय:

(प्रह्लादस्य विनाशाय दैत्यान् प्रति हिरण्यकशिपोरादेश:)

पराशर उवाच

तस्यैवं दानवाश्चेष्टां दृष्ट्वा दैत्यपतेर्भयात्।
आचचक्षु: स चोवाच सूदानाहूय सत्वर:॥ १॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

हे सूदा मम पुत्रोऽसावन्येषामपि दुर्मति:।
कुमार्गदेश्को दुष्टो हन्यतामविलम्बितम्॥ २॥
हालाहलं विषं तस्य सर्वभक्ष्येषु दीयताम्।
अविज्ञातमसौ पापो हन्यतां मा विचार्यताम्॥ ३॥

पराशर उवाच

ते तथैव ततश्चक्रु: प्रह्लादाय महात्मने।
विषदानं यथाज्ञप्तं पित्रा तस्य महात्मन:॥ ४॥
हालाहलं विषं घोरमनन्तोच्चारणेन स:।
अभिमन्त्र्य सहान्नेन मैत्रेय बुभुजे तदा॥ ५॥
अविकारं स तद् भुक्त्वा प्रह्लाद: स्वस्थमानस:।
अनन्तख्यातिनिर्वीर्य्यं जरयामास तद्विषम्॥ ६॥
ततस्तदा भयत्रस्ता जीर्णं दृष्ट्वा महद्विषम्।

चेष्टाम् उपदेशरूपाम्॥ १॥

कुमार्गस्य देशक: उपदेष्टा॥ २॥

पूर्वं शस्त्रसर्पगजादीन् दृष्ट्वा अनेन कोऽपि मन्त्रादि: प्रतीकार: कृत:। तस्मादविज्ञातं यथा भवत्येवं सर्वभक्ष्येषु खण्डलड्डुकादिषु विषं दत्त्वा हन्यतामित्यर्थ:॥ ४॥

अनन्तस्य नाम्ना भक्ष्यभोज्यादि सर्वम् अभिमन्त्र्य तस्मै निवेद्य तदुच्छिष्टं प्रसादरूपेण नित्यमसौ भुङ्क्ते। अतस्तदासौ विषमुग्रं तथैव बुभुजे॥ ५॥

तस्मादनन्तस्य ख्यात्या कीर्त्त्या निर्वीर्यत्वादविकारं यथा भवत्येवं जरयामास॥ ६॥

दैत्येश्वरमुपागम्य प्रणिपत्येदमब्रुवन्॥७॥

सूदा ऊचुः

दैत्यराज! विषं दत्तमस्माभिरतिभीषणम्।
जीर्णं तेन सहान्नेन प्रह्लादेन सुतेन ते॥८॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

त्वर्यतां त्वर्यतां हे हे सद्यो दैत्यपुरोहिताः
कृत्यां तस्य विनाशाय उत्पादयत मा चिरात्॥९॥

पराशर उवाच

सकाशमागम्य ततः प्रह्लादस्य पुरोहिताः।
सामपूर्वमथोचुस्ते प्रह्लादं विनयान्वितम्॥१०॥

पुरोहिता ऊचुः

जातस्त्रैलोक्यविख्यात आयुष्मन्! ब्रह्मणः कुले।
दैत्यराजस्य तनयो हिरण्यकशिपोर्भवान्॥११॥
किं देवैः किमनन्तेन किमन्येन तवाश्रयः।
पिता ते सर्वलोकानां त्वं तथैव भविष्यसि॥१२॥
तस्मात् परित्यजैनां त्वं विपक्षस्तवसंहिताम्।
वाचं पिता समस्तानां गुरूणां परमो गुरुः॥१३॥

प्रह्लाद उवाच

एवमेतन्महाभागाः! श्लाध्यमेतन्महाकुलम्।
मरीचेः सकलेऽप्यस्मिन् त्रैलोक्ये कोऽन्यथा वदेत्॥१४॥
पिता च मम सर्वस्मिन् जगत्युत्कृष्टचेष्टितः।
एतदप्यवगच्छामि सत्यमत्रापि नानृतम्॥१५॥

सर्वस्माद् ब्रह्मशक्तिरधिकेति मत्वा ब्राह्मणान् नियुङ्क्ते-'त्वर्यता'-मिति॥९-११॥

ते पिता सर्वलोकानामाश्रयः॥१२-१३॥

ब्रह्मणः मरीचेः कुले॥१४-१५-१६॥

गुरुणामपि सर्वेषां पिता परमको गुरूः।
यदुक्तं भ्रान्तिरत्रापि स्वल्पापि हि न विद्यते॥ १६॥
पिता गुरुर्न सन्देहः पूजनीयः प्रयत्नतः।
तत्रापि नापराध्यामीत्येवं मनसि मे स्थितम्॥ १७॥
यदेतत् किमनन्तेनेत्युक्तं युष्माभिरीदृशम्।
को ब्रवीति यथायुक्तं किन्तु नैतद् वचोऽर्थवत्॥ १८॥
इत्युक्त्वा सोऽभवन्मौनी तेषां गौरवयन्त्रितः।
प्रहस्य च पुनः प्राह किमनन्तेन साध्विति॥ १९॥
साधु भोः किमनन्तेन साधु भो गुरवो मम।
श्रूयतां यदनन्तेन यदि खेदं न यास्यथ॥ २०॥
धर्मार्थकाममोक्षाख्याः पुरुषार्था उदाहताः।
चतुष्टयमिदं यस्मात् तस्मात् किं किमिदं वृथा॥ २१॥
मरीचिमिश्रैर्दक्षेण तथैवान्यैरनन्ततः।
धर्मः प्राप्तस्तथैवान्यैरर्थः कामस्तथापरैः॥ २२॥
तत्तत्त्ववेदिनो भूत्वा ज्ञानध्यानसमाधिभिः।
अवापुर्मुक्तिमपरे पुरुषा ध्वस्तबन्धनाः॥ २३॥
सम्पदैश्वर्यमाहात्म्यज्ञानसन्ततिकर्मणाम्।
विमुक्तेश्चैकतालभ्यं मूलमाराधनं हरेः॥ २४॥

नापराध्यामि नान्यथा करोमि॥ १७॥

यथा यैर्यैर्दोषैरेतदयुक्तम्, तथा सर्वान् दोषान् को ब्रवीति? दोषानन्त्यान्न कोऽपि वक्तुं शक्नोतीत्यर्थः। तथापि किञ्चिद् वक्ष्यामीत्याह–'**किन्त्वि**'ति॥ १८॥

किमनन्तेन साध्वितीत्यादि पुनरुक्तिः सोपालम्भाक्षेपार्था॥ १९-२०॥

इदं पुरुषार्थचतुष्टयं यस्मादनन्ताद् भवति। तस्मात् किं स्यादिति इदं निरर्थकवाक्यं किमिति वृथैवोच्यते इत्यर्थः॥ २१॥

पुरुषार्थचतुष्टय-प्राप्तिमेवोदाहरन्नाह–'**मरीचिमिश्रै**'रिति चतुर्भिः। मिश्रशब्दस्य पूज्ये प्रयोगात् मरीचिमिश्रैर्मरीचिमुख्यैरित्यर्थः॥ २२-२३॥

एकतालभ्यं समदृष्टिमात्रसुलभं हरेराराधनमेव सम्पदादीनां विमुक्तेश्च मूलम्॥ २४॥

यतो धर्मार्थकामाख्यं मुक्तिश्चापि फलं द्विजाः।
तेनापि हि किमेत्येवमनन्तेन किमुच्यते॥२५॥
किञ्चात्र बहुनोक्तेन भवन्तो गुरवो मम।
वदन्तु साधु वाऽसाधु विवेकोऽस्माकमल्पकः॥२६॥

पुरोहिता ऊचुः

दह्यमानस्त्वमस्माभिरग्निना बाल रक्षितः।
भूयो न वक्ष्यसीत्येवं नैव ज्ञातोऽस्यबुद्धिमान्॥२७॥
यदास्मद्वचनान्मोहग्राहं न त्यक्ष्यते भवान्।
ततः कृत्यां विनाशाय तव स्त्रक्ष्याम दुर्मतेः॥२८॥

प्रह्लाद उवाच

कः केन हन्यते जन्तुर्जन्तुः कः केन रक्ष्यते।
हन्ति रक्षति चैवात्मा ह्यसत् साधु समाचरन्॥२९॥

पराशर उवाच

इत्युक्तास्तेन ते क्रुद्धा दैत्यराजपुरोहिताः।
कृत्यामुत्पादयामासुर्ज्वालामालोज्ज्वलाकृतिम्॥३०॥
अतिभीमा समागम्य पादन्यासक्षतक्षितिः।
शूलेन सा सुसंक्रुद्धा तं जघानाशु वक्षसि॥३१॥
तत् तस्य हृदयं प्राप्य शूलं बालस्य दीप्तिमत्।
जगाम खण्डितं भूमौ तत्रापि शतधा गतम्॥३२॥

यतो धर्मादि चतुर्विधं फलं तेनापि अनन्तेन। किमित्येव किमिदमुच्यते॥२५॥

सोपालम्भोक्तिं निगमयति-'**किञ्चे**'ति॥२६॥

एवं विपक्षस्तुतियुक्तं वाक्यं भूयो न वक्ष्यसीति मत्वा पूर्वमस्माभिस्त्वं रक्षितोऽसि अबुद्धिमान त्वमिति तु नैव ज्ञातोऽसि॥२७॥

मोहग्राहम् अबुद्धिकृतं दुराग्रहम्॥२८॥

असत् समाचरन् आत्मैवात्मानं हन्ति। साधु समाचरन्नात्मैव आत्मानं रक्षति चेत्यन्वयः॥२९-३०॥

यत्रानपायी भगवान् हृद्यास्ते हरिरीश्वरः।
भङ्गो भवति वज्रस्य तत्र शूलस्य का कथा॥ ३३॥
अपाये तत्र पापैश्च पातिता तत्र याजकैः।
तानेव सा जघानाशु कृत्या नाशं जगाम च॥ ३४॥
कृत्यया दह्यमानांस्तान् विलोक्य स महामतिः।
त्राहि कृष्णेत्यनन्तेति वदन्नभ्यवपद्यत॥ ३५॥

प्रह्लाद उवाच

सर्वव्यापिन् जगद्रूप जगत्स्रष्टर्जनार्दन।
पाहि विप्रानिमानस्माद् दुःसहान्मन्त्रपावकात्॥ ३६॥
यथा सर्वेषु भूतेषु सर्वव्यापी जगद्गुरूः।
विष्णुरेव तथा सर्वे जीवन्त्वेते पुरोहिताः॥ ३७॥
यथा सर्वगतं विष्णुं मन्यमानो न पावकम्।
चिन्तयाम्यरिपक्षेऽपि जीवन्त्वेते पुरोहिताः॥ ३८॥
ये हन्तुमागता दत्तं यैर्विषं यैर्हुताशनः।
यैर्द्दिग्गजैरहं क्षुण्णो दष्टः सर्पैश्च यैरपि॥ ३९॥
तेष्वहं मित्रभावेन समः पापोऽस्मि न क्वचित्।
तथा तेनाद्य सत्येन जीवन्त्वसुरयाजकाः॥ ४०॥
पादयोर्न्यासैर्निक्षेपैः, क्षता क्षितिर्यस्याः सा तथा॥ ३१॥
खण्डितं भग्नं सत् भूमौ जगाम पपात॥ ३३-३४॥
अभ्यवपद्यत रक्षणार्थं तदभिमुखम् अधावदित्यर्थः॥ ३५-३९॥

पराशर उवाच

इत्युक्तास्तेन ते सर्वे संस्पृष्टाश्च निरामयाः।
समुत्तस्थुर्द्विजा भूयस्तञ्चोचुः प्रश्रयान्वितम्॥ ४१॥

पुरोहिता ऊचुः

दीर्घायुरप्रतिहत-बलवीर्यसमन्वितः।
पुत्र-पौत्र-धनैश्वर्ययुक्तो वत्स! भवोत्तम॥ ४१॥

पराशर उवाच

इत्युक्त्वा तं ततो गत्वा यथावृत्तं पुरोहिताः।
दैत्यराजाय सकलमाचचक्षुर्महामुने॥ ४३॥

इति श्रीविष्णुपुराणे प्रथमांशेऽष्टादशोऽध्यायः।

स्पष्टमन्यत्॥ ४३॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाभिधायां स्वप्रकाशाभिधायां वा विष्णुपुराणटीकायां प्रथमांशे अष्टादशोऽध्यायः॥

एकोनविंशोऽध्यायः

(प्रह्लादं प्रति हिरण्यकशिपोरुक्तिः, प्रह्लादस्य विष्णुस्तवश्च)

पराशर उवाच

हिरण्यकशिपुः श्रुत्वा तां कृत्यां वितथीकृताम्।
आहूय पुत्रं पप्रच्छ प्रभावस्यास्य कारणम्॥ १॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

प्रह्लाद! सुप्रभावोऽसि किमेतत् ते विचेष्टितम्।
एतन्मन्त्रादिजनितमुताहो सहजं तव॥ २॥

पराशर उवाच

एवं पृष्टस्तदा पित्रा प्रह्लादोऽसुरबालकः।
प्रणिपत्य पितुः पादाविदं वचनमब्रवीत्॥ ३॥

प्रह्लाद उवाच

न मन्त्रादिकृतं तात! न वा नैसर्गिकं मम।
प्रभाव एष सामान्यो यस्य यस्याच्युतो हृदि॥ ४॥
अन्येषां यो न पापानि चिन्तयत्यात्मनो यथा।
तस्य पापागमस्तात! हेत्वभावान्न विद्यते॥ ५॥
कर्मणा मनसा वाचा परपीडां करोति यः।
तद्बीजजन्य फलति प्रभूतं तस्य चाशुभम्॥ ६॥
सोऽहं न पापमिच्छामि न करोमि वदामि वा।
चिन्तयन् सर्वभूतस्थमात्मन्यपि च केशवम्॥ ७॥

सहजं नैसर्गिकम्॥ १-३॥ सामान्यः समानः॥ ४॥

किञ्च अन्येषां यः पापानि तत्फलानि दुःखानि न चिन्तयति, तस्य पापागमो दुःखागमो नास्ति॥ ५॥

यतस्तत् पीडाकारणमेव बीजं तस्माद् जन्म यस्य तदशुभं पापं, तस्य कर्त्तुः। अत्यधिकं फलति दुःखफलात्मना चते॥ ६-८॥

शारीरं मानसं दु:खं दैवं भूतभवं तथा।
सर्वत्र शुभचित्तस्य तस्य मे जायते कुत:॥८॥
एवं सर्वेषु भूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी।
कर्त्तव्या पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिम्॥९॥

पराशर उवाच

इति श्रुत्वा स दैत्येन्द्रः प्रासादशिखरे स्थित:।
क्रोधान्धकारितमुखः प्राह दैतेयकिङ्करान्॥१०॥
दुरात्मा क्षिप्यतामस्मात् प्रासादाच्छतयोजनात्।
गिरिपृष्ठे पतत्वस्मिन् शिलाभिन्नाङ्गसंहति:॥११॥
ततस्त चिक्षिपुः सर्वे बालं दैतेयदानवा:।
पपात सोऽप्यधः क्षिप्तो हृदयेनोद्वहन् हरिम्॥१२॥
पतमानं जगद्धात्री जगद्धातरि केशवे।
भक्तियुक्तं दधारैनमुपसङ्गम्य मेदिनी॥१३॥
ततो त्रिलोक्य तं स्वस्थमविशीर्णास्थिपञ्जरम्।
हिरण्यकशिपुः प्राह शम्बरं मायिनां वरम्॥१४॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

नास्माभिः शक्यते हन्तुमसौ दुर्बुद्धिबालकः।
मायां वेत्ति भवांस्तस्मान्माययैनं निषूदय॥१५॥

शम्बर उवाच

सूदयाम्येष दैत्येन्द्र पश्य मायाबलं मम।

एवं सर्वभूतमयं हरिं ज्ञात्वा सर्वेषु भूतेषु तद्भक्तिः कर्त्तव्या॥९॥

क्रोधेनान्धकारितं जातान्धकारमिव दुष्प्रेक्ष्यं मुखं यस्य सः॥१०॥

शस्त्रविषाग्निकृत्यादीनां मणिमन्त्रादिभिः स्तम्भनं सम्भवति, पतने तु न किञ्चित् प्रभवति इत्याशयेन दैत्यान् आदिशति-'**दुरात्मा क्षिप्यता**'मिति॥१४॥

वास्तवैरुपायैर्हन्तुमशक्यत्वात् तद्वधे मायाविनं नियुङ्क्ते-'**नास्माभि**'रिति। निषूदय विनाशय॥१५॥

सहस्रमात्रं मायानां यस्य कोटिशतं तथा॥ १६॥

पराशर उवाच

ततः स ससृजे मायां प्रह्लादे शम्बरोऽसुरः।
विनाशमिच्छन् दुर्बद्धिः सर्वत्र समदर्शिनि॥ १७॥
समाहितमतिर्भूत्वा शम्बरेऽपि विमत्सरः।
मैत्रेय! सोऽपि प्रह्लादः सस्मार मधुसूदनम्॥ १८॥
ततो भगवता तस्य रक्षार्थं चक्रमुत्तमम्।
आजगाम समाज्ञप्तं ज्वालामालि सुदर्शनम्॥ १९॥
तेन मायासहस्रं तच्छम्बरस्याशुगामिना।
बालस्य रक्षता देहमैकैकश्येन सूदितम्॥ २०॥
संशोषकं तथा वायुं दैत्येन्द्रास्त्वदमब्रवीत्।
शीघ्रमेष ममादेशाद् दुरात्मा नीयतां क्षयम्॥ २१॥
तथेत्युक्त्वा तु सोऽप्येनं विवेश पवनो लघु।
शीतोऽतिरूक्षः शोषाय तद्देहस्यातिदुःसहः॥ २२॥
तेनाविष्टमथात्मानं स बुद्ध्वा दैत्यबालकः।
हृदयेन महात्मानं दधार धरणीधरम्॥ २३॥
हृदयस्थस्ततस्तस्य तं वायुमतिभीषणम्।
पपौ जनार्द्दनः क्रुद्धः स ययौ पवनः क्षयम्॥ २४॥
क्षीणासु सर्वमायासु पवने च क्षयं गते।
जगाम सोऽपि भवनं गुरोरेव महामतिः॥ २५॥

सुदर्शनं शुद्धज्ञानमयम्॥ १९॥

अतस्तेन मायासहस्रं प्रत्येकं विनाशितम्॥ २०॥

दृश्येषु बधोपायेषु प्रतिघातमसौ करोतीति अदृश्यं वायुं नियुङ्क्ते इत्याह- '**संशोषक**'मिति॥ २१॥

लघु शीघ्रम्। लघुरिति पाठे लघुवान् शीतोऽतिरुक्षश्च शीतज्वरप्रायः॥ २२॥

तेनाविष्टं व्याप्तम्। धरणीधरम् वायुभक्ष्यं शेषस्वरूपम्॥ २३॥

अहन्यहन्यथाचार्यो नीतिं राज्यफलप्रदाम्।
ग्राहयामास तं बालं राज्ञामुशनसा कृताम्॥ २६॥
गृहीतनीतिशास्त्रं तं विनीतञ्च यदा गुरूः।
मेने तदैनं तत्पित्रे कथयामास शिक्षितम्॥ २७॥

आचार्य उवाच

गृहीतनीतिशास्त्रस्ते पुत्रो दैत्यपते! कृतः।
प्रह्लादस्तत्त्वतो वेत्ति भार्गवेण यदीरितम्॥ २८॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

मित्रेषु वर्त्तेत कथमरिवर्गेषु भूपतिः।
प्रह्लाद! त्रिषु कालेषु मध्यस्थेषु कथं चरेत्॥ २९॥
कथं मन्त्रिष्वमात्येषु बाह्येष्वभ्यन्तरेषु च।
चारेषु चौरवर्गेषु शङ्कितेष्वितरेषु च॥ ३०॥
कृत्याकृत्यविधानेषु दुर्गाटविकसाधने।
प्रह्लाद कथ्यतां सम्यक् तथा कण्टकशोधने॥ ३१॥
एतच्चान्यच्च सकलमधीतं भवता यथा।
तथा मे कथ्यतां ज्ञातुं तवेच्छामि मनोगतम्॥ ३२॥

पराशर उवाच

प्रणिपत्य पितुः पादौ तथा प्रश्रयभूषणः॥

त्रिषु कालेषु क्षयवृद्धितत्साम्यसमयेषु॥ २९॥

मन्त्रिषु बुद्धिसहायेषु। अभ्यन्तरेषु अन्तःपुरमहानसादावधिकृतेषु दूतेषु वा। शङ्कितेषु जित्वा बलाद्दासीकृतेषु भूतेषु इतरेषु असत्सङ्गिषु च॥ ३०॥

कृत्याकृत्यविधानम्–सन्धिविग्रहादिषु कुत्र किं कृत्यं, कुत्र किमकृत्यमित्येष प्रकारः। यद्वा कृत्याः शत्रुभिर्भेद्याः, तेषामकृत्यविधानम् अभेद्यत्वकरणं दुर्गपर्वतोदकादि। आटविकाः महारण्यनिवासिनः। पुलिन्दाः म्लेच्छादयस्तेषां साधनं वशीकरणम्। कण्टकाः चोराः गूढशत्रवो वा तेषां शोधनं निरसनम्॥ ३१॥

अन्यच्च सामभेदादि॥ ३२॥

प्रश्रय एव भूषणं यस्य सः॥ ३३–३४॥

प्रह्लादः प्राह दैत्येन्द्रं कृताञ्जलिपुटस्तथा॥ ३३॥

प्रह्लाद उवाच

ममोपदिष्टं सकलं गुरुणा नात्र संशयः।
गृहीतञ्च मया किन्तु न सदेतन्मतं मम॥ ३४॥
साम चोपप्रदानञ्च भेददण्डौ तथापरौ।
उपायाः कथिताः सर्वे मित्रादीनाञ्च साधने॥ ३५॥
तानेवाहं न पश्यामि मित्रादींस्तात! मा क्रुधः।
साध्याभावे महाबाहो! साधनैः किं प्रयोजनम्॥ ३६॥
सर्वभूतात्मके तात! जगन्नाथे जगन्मये।
परमात्मनि गोविन्दे मित्रामित्रकथा कुतः॥ ३७॥
त्वय्यस्ति भगवान् विष्णुर्मयि चान्यत्र चास्ति सः।
यतस्ततोऽयं मित्रं मे शत्रुश्चेति पृथक् कुतः॥ ३८॥
तदेभिरलमत्यर्थं दुष्टारम्भोक्तिविस्तरैः।
अविद्यान्तर्गतैर्यत्नः कर्त्तव्यस्तात! शोभने॥ ३९॥
विद्याबुद्धिरविद्यायामज्ञानात् तात! जायते।
बालोऽग्निं किं न खद्योतमसुरेश्वर! मन्यते॥ ४०॥

कुपितस्य स्तुत्यादिभिः साधनं साम। ऐकमत्येन स्थितानां भयजननादिना पृथक्करणं भेदः। भूमिधनादिसमर्पणमुपादानम्, अर्थापहारादिदण्ड इत्येते उपाया॥ ३५॥

मा क्रुधः क्रोधं मा कार्षीः॥ ३६॥

सर्वभूतात्मके सर्वेषां भूतानामात्मनि परमात्मनि सर्वजीवनियन्तरि॥ ३७॥

तदेवाह–'**त्वय्यस्ती**'ति। पृथग् भेदः कुतः॥ ३८॥

दुष्टा रागद्वेषादिपूर्वका ये आरम्भा उद्यमाः तेषामुक्तिविस्तरैर्नीतिशास्त्रैरलम्। दृष्टारम्भेति पाठे, दृष्टा ऐहिकभोगार्थारम्भाः। शोभने निष्कामे आत्मविद्यायाञ्च॥ ३९॥

ननु च–''आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रय। अर्थशास्त्रचतुर्थास्तु विद्या अष्टादशैव तु''। इति स्मृतेर्दण्डनीत्यादिकमपि विद्यैव, कथमविद्यान्तर्गतैरित्युच्यते? तत्राह– ''**विद्याबुद्धि**'रिति। बालः खद्योतमग्निं किं न मन्यते? अपि तु मन्यते एव, तद्वत्॥ ४०॥

तत् कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये।
आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम्॥ ४१॥
तदेतदवगम्याहमसारं सारमुत्तमम्।
निशामय महाभाग! प्रणिपत्य ब्रवीमि ते॥ ४२॥
न चिन्तयति को राज्यं को धनं नाभिवाच्छति।
तथापि भाव्यमेवैतदुभयं प्राप्यते नरैः॥ ४३॥
सर्व एव महाभाग! महत्वं प्रति सोद्यमाः।
तथापि पुंसां भाग्यानि नोद्यमा भूतिहेतवः॥ ४४॥
जडानामविवेकानामसुराणामपि प्रभो।
भोग्यभोज्यानि राज्यानि सन्त्यनीतिमतामपि॥ ४५॥
तस्माद् यतेत पुण्येषु य इच्छेन्महतीं श्रियम्।
यतितव्यं समत्वे च निर्वाणमपि चेच्छता॥ ४६॥
देवा मनुष्याः पशवः पक्षिवृक्षसरीसृपाः।
रूपमेतदनन्तस्य विष्णोर्भिन्नमिव स्थितम्॥ ४७॥

शोभने यत्नः कर्त्तव्यः इति यदुक्तं तदेव शोभनकर्मादिकमाह-'**तत् कर्मे**' ति। अपरं अर्थकामाद्यर्थं कर्म आयासाय श्रमार्थमेव। अन्या विद्या अर्थशास्त्रादिः। शिल्पनैपुणम् ऐन्द्रजालिकादिशिल्पविद्यावत् कौशलमात्रमेव, तुच्छभलत्वादित्यर्थः॥ ४१॥

तदेतद् राज्यादिसाध्यसमारम्भं तुच्छं ज्ञात्वा उत्तमं साध्यं यत् प्रकर्षेण ब्रवीमि तन्निशामय इत्यन्वयः॥ ४२॥

किञ्च राज्यादेः श्रेष्ठफलत्वऽपि तदर्थं पुण्ये यत्नः कार्यः, न केवलं दृष्टार्थोद्यममात्रे। तस्य व्यभिचारित्वादित्याह-'ने'ति त्रिभिः। भाव्यं प्राक्तनपुण्यवशाद् भवितव्यमेव। तदुभयं राज्यं धनञ्च प्राप्यते॥ ४३॥

महत्त्वं राज्यधान्यादिविभूतिं प्रति, भाग्यान्येव भूतेः राज्यादिश्रियो हेतवः। न तु उद्यमाः॥ ४४॥

तैर्विनापि राज्यादेर्दृश्यमानत्वादित्याह- '**जडाना**' मिति- अनुद्यमानाम् नष्टानष्ट-विवेकशून्यानां राज्यानि सन्ति॥ ४५-४६॥

समत्वदृष्ट्या निर्वाणमाह-'**देवा**' इति त्रिभिः॥ ४७-५०॥

एतद्विजानता सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्।
द्रष्टव्यमात्मवद् विष्णुर्यतोऽयं विश्वरूपधृक्॥ ४८॥
एवं ज्ञाते स भगवाननादिः परमेश्वरः।
प्रसीदत्यच्युतस्तस्मिन् प्रसन्ने क्लेशसंक्षयः॥ ४९॥
एतच्छ्रुत्वा तु कोपेन समुत्थाय वरासनात्।
हिरण्यकशिपुः पुत्रं पदा वक्षस्यताडयत्॥ ५०॥
उवाच च स कोपेन सामर्षः प्रज्वलन्निव।
निष्पिष्य पाणिना पाणिं हन्तुकामो जगद् यथा॥ ५१॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

हे विप्रचित्ते! हे राहो! हे बलैष महार्णवे।
नागपाशैर्दृढैर्बद्ध्वा क्षिप्यतां मा विलम्ब्यताम्॥ ५२॥
अन्यथा सकलो लोकस्तथा दैतेयदानवाः।
अनुयास्यन्ति मूढस्य मतमस्य दुरात्मनः॥ ५३॥
बहुशो वारितोऽस्माभिरयं पापस्तथापरैः।
स्तुतिं करोति दुष्टानां वध एवोपकारकः॥ ५४॥

पराशर उवाच

ततस्ते सत्वरा दैत्या बद्ध्वा तं नागबन्धनैः।
भर्त्तुराज्ञां पुरस्कृत्य चिक्षिपुः सलिलालये॥ ५५॥
ततश्चचाल चलता प्रह्लादेन महार्णवः।
उद्वेलोऽभूत् परं क्षोभमुपेत्य च समन्ततः॥ ५६॥
भूर्लोकमखिलं दृष्ट्वा प्लाव्यमानं महाम्भसा।
हिरण्यकशिपुर्दैत्यानिदमाह महामते॥ ५७॥

सामर्षः असहनः॥५१॥

अरं यावत् सर्वैरुपायैर्न हन्तुं शक्यते, उपेक्षितश्चेत् सकलं लोकं विष्णुभक्तिं कृत्वा नाशयेत्। अतो नागपाशैर्बद्ध्वा समुद्रे क्षिप्त्वा पर्वतैराक्रमणीयः। ततः कालेन मरिष्यितीत्याह-'हे विप्रचितै इति'॥ ५२-५३॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

देतेयाः सकलैः शैलैरत्रैव वरूणालये।
निश्छिद्रैः सर्वशः सर्वैश्चीयतामेष दुर्म्मतिः॥५८॥
नाग्निर्दहति नैवायं शस्त्रैश्छिन्नो न चोरगैः।
क्षयं नीतो न वातेन न विषेण न कृत्यया॥५९॥
न मायाभिर्न चैवोच्चात् पातितो न च दिग्गजैः।
बालोऽतिदुष्टचित्तोऽयं नानेनार्थोऽस्ति जीवता॥६०॥
तदेष तोयधावत्र समाक्रान्तो महीधरैः।
तिष्ठत्वब्दसहस्रान्तं प्राणान् हास्यति दुर्मतिः॥६१॥
ततो दैत्या दानवाश्च पर्वतैस्तं महोदधौ।
आक्रम्य चयनं चक्रुर्योजनानि सहस्रशः॥६२॥
स चितः पर्वतैरन्तः समुद्रस्य महामतिः।
तुष्टावाह्निकवेलायामेकाग्रमतिरच्युतम्॥६३॥

प्रह्लाद उवाच

नमस्ते पुण्डरीकाक्ष! नमस्ते पुरुषोत्तम।
नमस्ते सर्वलोकात्मन्! नमस्ते तिग्मचक्रिणे॥६४॥
नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥६५॥
ब्रह्मत्वे सृजते विश्वं स्थितौ पालयते पुनः।
रुद्ररूपाय कल्पान्ते नमस्तुभ्यं त्रिमूर्त्तये॥६६॥
देवा यक्षासुराः सिद्धा नागा गन्धर्वकिन्नराः।

दोषोपशान्तिहेतुत्वाद् वधो दुष्टानामपि उपकार एव॥५५-५७॥

वरुणालये समुद्रे, निरन्तरैः पर्वतैश्चीयताम् उपर्युपरि निक्षिप्तैराक्रम्यताम्॥५८-६२॥

आह्निकवेलायाम् अहरहःकर्त्तव्यभोजनादिसमये॥६३-६४॥

ब्रह्मण्यानां देवाय श्रेष्ठाय॥६५-६६॥

पिशाचा राक्षसाश्चैव मनुष्याः पशवस्तथा॥ ६७॥
पक्षिणः स्थावराश्चैव पिपीलिकाः सरीसृपाः।
भूमिरापो नभो वायुः शब्दः स्पर्शस्तथा रसः॥ ६८॥
रूपं गन्धो मनो बुद्धिरात्मा कालस्तथा गुणाः।
एतेषां परमार्थञ्च सर्बमेतत् त्वमच्युत॥ ६९॥
विद्याविद्ये भवान् सत्यमसत्यं त्वं विषासृते।
प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च कर्म्म वेदोदितं भवान्॥ ७०॥
समस्तकर्म्मभोक्ता च कर्म्मोपकरणानि च।
त्वमेव विष्णो! सर्वाणि सर्वकर्मफलञ्च यत्॥ ७१॥
मय्यन्यत्र तथाशेषभूतेषु भुवनेषु च।
तवैव व्याप्तिरैश्वर्य्यगुणसंसूचिका प्रभो॥ ७२॥
त्वां योगिनश्चिन्तयन्ति त्वां यजन्ति च यज्विनः।
हव्यकव्यभुगेकस्त्वं पितृदेवस्वरूपधृक्॥ ७३॥
रूप महत् ते स्थितमत्र विश्वं ततश्च सूक्ष्मं जगदेतदीश।
रूपाणि सर्वाणि च भूतभेदास्तेष्वन्तरात्माख्यमतीव सूक्ष्मम्॥ ७४॥

विश्वरूपत्वेन स्तौति-'देवा' इति सप्तभिः। देवा इत्यादीनां 'सर्वं त्वमेवे'ति तृतीयेनान्वयः। यक्षाश्चासुराश्च॥ ६७॥

आत्मा अहङ्कारः। गुणा सत्त्वादयः। एतेषां परमार्थः तत्त्वं कारणम्॥ ७१॥

ऐश्वर्यं सामर्थ्यातिशयम्। गुणांश्च सत्यसङ्कल्पत्वादीन् संसूचयतीत्यैश्वर्यगुणसंसूचिका तवैव सच्चिद्रूपस्य व्याप्तिः॥ ७२॥

अत एव त्वामेव योगिनश्चिन्तयन्ति। त्वामेव च याजका यजन्ति। (त्वमेव) पितृदेवैस्वरूपधृक्॥ ७३॥

उक्तं प्रापञ्चिकम् अनुवदन् शुद्धस्वरूपमाह-'**रूप**'मिति द्वाभ्याम्। विश्वरूपं सावरणं ब्रह्माण्डं एतज्जगद्ब्रह्माण्डान्तर्वर्त्तिविराड्रूपम्। 'रूपं महत्ते स्थितमत्र विश्व'मिति पाठे महद् रूपं विश्वं ब्रह्माण्डम् अत्र स्थितं जगदेतत् ततश्च सूक्ष्मं रूपमित्यन्वयः। ततोऽपि सूक्ष्माणि रूपाणि भूतभेदाः जरायुजादि चतुर्विधा देहाः। तेष्वपि अन्तरात्माख्यं क्षेत्रज्ञसंज्ञमजीव सूक्ष्मं रूपम्॥ ७४॥

तस्माच्च सूक्ष्मादिविशेषणानामगोचरे यत् परमात्मरूपम्।

किमप्यचिन्त्यं तव रूपमस्ति तस्मै नमस्ते पुरुषोत्तमाय॥७५॥

सर्वभूतेषू सर्वात्मन्! या शक्तिरपरा तव।

गुणाश्रया नमस्तस्यै शश्वतायै सुरेश्वर॥७६॥

यातीतगोचरा वाचां मनसाञ्चाविशेषणा।

ज्ञानिज्ञानपरिच्छेद्या तां वन्दे चेश्वरीं पराम्॥७७॥

ॐ नमो वासुदेवाय तस्मै भगवते सदा।

व्यतिरिक्तं न यस्यास्ति व्यतिरिक्तोऽखिलस्य यः॥७८॥

नमस्तस्मै नमस्तस्मै नमस्तस्मै महात्मने।

नामरूपं न यस्यैको योऽस्तित्वेनोपलभ्यते॥७९॥

तस्मादपि परं सूक्ष्मादिविशेषणानाम् अविषये वर्त्तमानं तव किमप्यचिन्त्यं रूपमस्ति, तस्मै पुरुषोत्तमाख्याय ते रूपाय नमः। "यस्मात् क्षरमतीतोऽहम् अक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम" इति स्मृतेः॥७५॥

नन्वेवम्भूतस्य कुतः स्थूलसूक्ष्माद्यनेकरूपत्वमित्याशङ्क्य तदुपपादकं शक्तिद्वयं प्रणमति-'**सर्वेषु भूतेष्विति** द्वाभ्याम्। अपरा जडशक्तिः प्रकृत्याख्या॥७६॥

वाचां मनसाञ्च या अतीतगोचरा अतिक्रान्तो गोचरो यया सा। यस्मादविशेषणा जातिगुणादिविशेषणशून्या। ज्ञानिनां क्षेत्रज्ञानां यानि शब्दादिविषयाणि प्रादेशिकानि ज्ञानानि तैः परिच्छेद्या सर्वतः प्रसरद्भिर्निर्झरोदकैर्महासरोवत् सर्वगतत्वेनावगम्या। यद्वा ज्ञानी जीवः ज्ञानं बुद्धिः, तदुभयमपि परिच्छेद्यं बाह्यघटादिवत् प्रकाश्यं यस्याः सा, तस्याः सर्वभासकत्वात्। तामीश्वरीम् ईश्वरस्य तव स्वरूपभूतां परां चिच्छक्तिं वन्दे। "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविको ज्ञानबलक्रिया च" इति श्रुतेः। अत एवम्भूतशक्तिद्वयेनाचिन्त्यनिरतिशयैश्वर्यात् शुद्धत्वम् स्थूलसूक्ष्माद्यनेकरूपत्वञ्च सङ्गच्छत एवेति॥७७॥

द्वादशाक्षरमन्त्रप्रतिपाद्यरूपेण प्रणमति—'ओं नम' इति द्वाभ्याम्॥७८॥

'नमस्तस्मै' इति त्रिभिः पुनरुक्त्या 'रूपं मह'दिति श्लोकोक्तचैतन्योपाधिभूतैर्विश्वरूप-जगद्रूपभूतरूपैः प्रणामः। नामरूपं न यस्य तस्मै नम इत्यनुषङ्गात् शुद्धक्षेत्रज्ञरूपेण एकोऽस्तित्वेनोपलभ्यते। तस्मै महात्मने नमः इति पूर्णब्रह्मरूपेण च प्रणाम इति द्रष्टव्यम्॥७९॥

यस्यावताररूपाणि समर्चन्ति दिवौकसः।
अपश्यन्तः परं रूपं नमस्तस्मै महात्मने॥८०॥

योऽन्तस्तिष्ठन्नशेषस्य पश्यतीशः शुभाशुभम्।
तं सर्वसाक्षिणां विष्णुं नमस्ये परमेश्वरम्॥८१॥

नमोऽस्तु विष्णवे तस्मै यस्याभिन्नमिदं जगत्।
ध्येयः स जगतामाद्यः प्रसीदतु ममाव्ययः॥८२॥

यत्रोतमेतत् प्रोतञ्च विश्वमक्षरमव्ययम्।
आधारभूतः सर्वस्य स प्रसीदतु मे हरिः॥८३॥

नमोऽस्तु विष्णवे तस्मै नमस्तस्मै पुनः पुनः।
यत्र सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वसंश्रयः॥८४॥

सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः।
मत्तः सर्वमहं सर्वं मयि सर्वं सनातने॥८५॥

नन्वेवं केवलश्चेत् परमेश्वरस्तर्हि तस्याविषयत्वात् अर्चनादिकं न घटते इत्याशङ्क्याह—''यस्ये'ति॥८०॥

नन्वेवं परमेश्वर एव चेदर्चनीयः, तर्हि इन्द्रादीनां पूज्यता कथमित्याशङ्क्य तेषामन्तर्यामिस्वरूपेणैव पूज्यतेत्याशयेनाह—'योऽन्त'रिति॥८१॥

जडस्यापि जगतः परमेश्वरात्मत्वेन उपास्यत्वमस्ति, किं पुनर्दैवतानामित्याशयेनाह—'नमोऽस्त्वि'ति। अभिन्नत्वे हेतुः जगतामाद्यः कारणमिति॥८२॥

तदुपपादयन् आह—'अत्रे'ति। यस्मिन् ओतं विश्वं दीर्घतन्तुषु पटवद् ग्रथितम्, प्रोतञ्च तिर्यक् तन्तुषु पट इवानुस्यूतम्। अव्ययं प्रधानमहदादिरूपम्॥८३॥

उक्तं सर्वात्मत्वं संक्षेपतः स्मरन् प्रणमति—'नम' इति। यत्र सर्वं प्रलये तस्मै नमः। यतः सर्वं सृष्टौ तस्मै नमः। यः सर्वं स्थितौ पुनस्तस्मै नमः। अत एव यः सर्वस्य संश्रयः आधारः पुनस्तस्मै नमः इत्यवतारस्यावस्थाभेदान्नमस्कारावृतिः॥८४॥

तदेवं विष्णोर्ब्रह्मतया सर्वात्मत्वं भावयन् स्वस्यापि ब्रह्मत्वाविर्भावेण तदभेदं पश्यन्नाह—'सर्वगत्वा'दिति द्वाभ्याम्॥८५॥

अहमेवाक्षयो नित्यः परमात्मात्मसंश्रयः।
ब्रह्मसंज्ञोऽहमेवाग्रे तथान्ते च परः पुमान्॥८६॥

इति श्रीविष्णुपुराणे प्रथमांशे एकोनविंशोऽध्यायः।

अग्रे सृष्टेः पूर्वम्, अन्ते च प्रलयानन्तरम्॥८६॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाख्यायां स्वप्रकाशाख्यायां वा विष्णुपुराणटीकायां प्रथमांशे एकोनविंशोऽध्यायः।

विंशोऽध्यायः

(श्रीभगवत आविर्भावः, हिरण्यकशिपुवधश्च)

पराशर उवाच

एवं सञ्चिन्तयन् विष्णुमभेदेनात्मनो द्विज।
तन्मयत्वमवाप्याग्र्यं मेने चात्मानमच्युतम्॥ १॥
विसस्मार तथात्मानं नान्यत् किञ्चिदजानत।
अहमेवाव्ययोऽनन्तः परमात्मेत्यचिन्तयत्॥ २॥
तस्य तद्भावनायोगात् क्षीणपापस्य वै क्रमात्।
शुद्धेऽन्तःकरणे विष्णुस्तस्थौ ज्ञानमयेऽच्युतः॥ ३॥
योगप्रभावात् प्रह्लादे जाते विष्णुमयेऽसुरे।
चलत्युरगबन्धैस्तैर्म्मैत्रेय त्रुटितं क्षणात्॥ ४॥
भ्रान्तग्राहगणः सोर्म्मिर्ययौ क्षोभं महार्णवः।
चचाल च मही सर्वा सशैलवनकानना॥ ५॥
स च तं शैलसम्पातं दैत्यैर्न्यस्तमथोपरि।
प्रक्षिप्य तस्मात् सलिलान्निश्चक्राम महामतिः॥ ६॥
दृष्ट्वा च स जगद् भूयो गगनाद्युपलक्षणम्।
प्रह्लादोऽस्मीति सस्मार पुनरात्मानमात्मना॥ ७॥
तुष्टाव च पुनर्धीमाननादिं पुरुषोत्तमम्।
एकाग्रमतिरव्यग्रो यतवाक्कायमानसः॥ ८॥

प्रह्लाद उवाच

ॐ नमः परमार्थार्थ स्थूलसूक्ष्मक्षराक्षर।

आत्मानं प्रह्लादोऽहमिति विस्मृतवान्॥ १-२॥

क्षीणपापस्य ध्वस्तसमस्तकर्मवासनामलस्य॥ ३॥

त्रुटितं छिन्नं, भावे क्तः॥ ४॥

भ्रान्तो ग्राहगणो यस्मिन् सः। सोर्मिः ऊर्मिभिः सह वर्त्तमानः॥ ५-८॥

व्यक्ताव्यक्त कलातीत सकलेश निरञ्जन॥ ९॥

गुणाञ्जन गुणाधार निर्गुणात्मन् गुणस्थिर।

मूर्त्तामूर्त महामूर्ते सूक्ष्ममूर्त्ते स्फूटास्फुट॥ १०॥

करालसौम्यरूपात्मन् विद्याविद्यालयाच्युत।

सदसद्रूप सद्भाव सदसद्भावभावन॥ ११॥

नित्यानित्यप्रपञ्चात्मन् निष्प्रपञ्चामलाश्रित।

एकानेक नमस्तुभ्यं वासुदेवादिकारण॥ १२॥

यः स्थूलसूक्ष्मः प्रकटः प्रकाशो

यः सर्वभूतो न च सर्वभूतः।

विश्वं यतश्चैतदविश्वहेतो-

र्नमोऽस्तु तस्मै पुरुषोत्तमाय॥ १३॥

पराशर उवाच।

तस्य तच्चेतसो देवः स्तुतिमित्थं प्रकुर्वतः।

आविर्बभूव भगवान् पीताम्बरधरो हरिः॥ १४॥

हे परमार्थज्ञानरूप! हे अर्थदृश्यरूप! 'ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः। तमेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम्' इत्युक्तत्वात् स्थूलजाग्रद्दृश्यरूप! कलातीत निरयव! सकल सावयव! ईश नियामक! निरञ्जन निर्लेप॥ ९॥

गुणान् अनक्ति स्वसत्ताप्रकाशाभ्यामनुरञ्जयतीति वा। गुणानामाधार। गुणेषु स्थिर। परस्थितेति पाठे परमव्यक्तं तत्र स्थितेत्यर्थः। भक्तानां स्फुट, अन्येषामस्फुट॥ १०॥

करालसौम्यरूपाणामात्मन्! सदसद्रूपयोः कार्यकारणयोः सद्भाव उत्पत्तिर्यस्मात् तावेव च सदसद्भावौ भावयति पालयति तथा॥ ११॥

अमलैर्ज्ञानिभिराश्रित परमार्थेत्यादिषु आदिकारणेत्यन्तेषु षट्त्रिंशत् सम्बोधनेषु तुभ्यं नम इत्यनुषङ्गेन प्रत्येकं वाक्यसमाप्तिः कर्तव्या॥ १२॥

सर्वेषां भूतानां यः प्रकटः प्रकाशश्चिद्रूपत्वात्। अविश्वहेतोः सर्वकारणव्यतिरिक्तत्वात॥ १३॥

तस्मिन् हरावेव चेतो यस्य॥ १४॥

ससम्भ्रमस्तमालोक्य समुत्थायाकुलाक्षरम्।
नमोऽस्तु विष्णवेत्येतद् व्याजहारासकृद् द्विज॥ १५॥

प्रह्लाद उवाच

देव प्रपन्नार्त्तिहर प्रसादं कुरु केशव।
अवलोकनदानेन भूयो मां पावयाच्युत॥ १६॥

श्रीभगवानुवाच

कुर्वतस्ते प्रसन्नोऽहं भक्तिमव्यभिचारिणीम्।
यथाभिलषितो मत्तः प्रह्लाद व्रियतां वरः॥ १७॥

प्रह्लाद उवाच

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥ १८॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्माऽपसर्पतु॥ १९॥

श्रीभगवानुवाच

मयि भक्तिस्तवास्त्येव भूयोऽप्येवं भविष्यति।
वरस्तु मत्तः प्रह्लाद व्रियतां यस्तवेप्सितः॥ २०॥

प्रह्लाद उवाच

मयि द्वेषानुबन्धोऽभूत् संस्तूतावुद्यते तव।

विष्णवेति सन्धिरार्षः॥ १५॥

अवलोकनं प्रत्यक्षं दर्शनं तस्य दानेन॥ १६-१७॥

हे अच्युत! त्वयि मे अच्युता ऐकान्तिकी भक्तिरस्तु, एकान्तभक्तिः परमप्रीत्यधीनेति तां प्रीतिं प्रार्थयते—'ये'ति यादृशी प्रीतिर्विषयेषु आसक्तानां, सा तादृशी प्रीतिर्मे हृदयात् मा अपसर्पतु मा अपयातु हृदये सदा तिष्ठत्वित्यर्थः। यद्वा हे माप लक्ष्मीपते! सा विषयप्रीतिस्त्वामनुस्मरतो हृदयात् सर्पतु निर्गच्छतु। तत् प्रीतौ सत्यां त्वदनुस्मरणायोगादित्यर्थः॥ १८-२२॥

मत्पितुस्तत्कृतं पापं देव तस्य प्रणश्यतु॥ २१॥

शास्त्राणि पातितान्यङ्गे क्षिप्तो यच्चाग्निसंहतौ।

दंशितश्चोरगैर्द्दत्तं यद्विषं मम भोजने॥ २२॥

बद्ध्वा समुद्रे यत् क्षिप्तो यच्चितोऽस्मि शिलोच्चयैः!

अन्यानि चाप्यसाधूनि यानि यानि कृतानि मे॥ २३॥

त्वयि भक्तिमतो द्वेषादघं तत्सम्भवञ्च यत्।

त्वत्प्रसादात् प्रभो सद्यस्तेन मुच्येत मे पिता॥ १४॥

श्रीभगवानुवाच

प्रह्लाद सर्वमेतत् ते मत्प्रसादाद भविष्यति।

अन्यञ्च ते वरं दद्मि व्रियतामसुरात्मज॥ २५॥

प्रह्लाद उवाच

कृतकृत्योऽस्मि भगवन् वरेणानेन यत् त्वयि।

भवित्री त्वत्प्रसादेन भक्तिरव्यभिचारिणी॥ २६॥

धर्म्मार्थकामैः किं तस्य मुक्तिस्तस्य करे स्थिता।

समस्तजगतां मूले यस्य भक्तिः स्थिरा त्वयि॥ २७॥

श्रीभगवानुवाच

यथा ते निश्चलं चेतो मयि भक्तिसमन्वितम्।

तथा त्वं मत्प्रसादेन निर्वाणां परमाप्स्यसि॥ २८॥

पराशर उवाच

इत्युक्त्वान्तर्दधे विष्णुस्तस्य मैत्रेय! पश्यतः।

स चापि पुनरागम्य ववन्दे चरणौ पितुः॥ २९॥

तं पिता मूर्द्धन्युपाघ्राय परिष्वज्य च पीडितम्।

जीवसीत्याह वत्सेति बाष्पार्द्रनयनो द्विज॥ ३०॥

शिलोच्चयैः पर्वतौघैश्चितोऽस्मि॥ २३॥

तेन पापेन मे पिता मुच्येत॥ २४-२५॥

प्रीतिमांश्चाभवत् तस्मिन्ननुतापी महासुरः।
गुरुपित्रोश्चकारैवं शुश्रूषां सोऽपि धर्म्मवित्॥ ३१॥
पितर्य्युपरतिं नीते नरहिंस्वरूपिणा।
विष्णुना सोऽपि दैत्यानां मैत्रेयाभूत पतिस्ततः॥ ३२॥
ततो राज्यद्युतिं प्राप्य कर्म्मशुद्धिकरीं द्विज।
पुत्रपौत्रांश्च सुबहूनवाप्यैश्वर्य्यमेव च॥ ३३॥
क्षीणाधिकारः स यदा पुण्यपापविवर्जितः।
तदासौ भगवद्ध्यानात् परे निर्वाणमाप्तवान्॥ ३४॥
एवम्प्रभावो दैत्योऽसौ मैत्रेयासीन्महामतिः।
प्रह्लादो भगवद्भक्तो यं त्वं मामनुपृच्छसि॥ ३५॥
यस्त्वेतच्चरितं तस्य प्रह्लादस्य महात्मनः।
श‍ृणोति तस्य पापानि सद्यो गच्छन्ति संक्षयम्॥ ३६॥
अहोरात्रकृतं पापं प्रह्लादचरितं नरः।
श‍ृण्वन् पठंश्च मैत्रेय व्यपोहति न संशयः॥ ३७॥

वैष्णवानुभावदर्शनात् प्रीतिमांश्च तदा तस्मिन् अभवत्॥ ३१॥

पुनश्च कालान्तरे ब्रह्मशापवशाद् उद्भूतेन विष्णुद्वेषणादिक्रोधात् तं हन्तुमुद्यते तत्पितरि नरसिंहस्वरूपेण विष्णुना उपरतिं नीते सति प्रह्लादो दैत्यानां पतिरभूत्॥ ३२॥

राज्यद्युतिं राजलक्ष्मीं कर्मशुद्धिकरीं भोगैः प्रारब्धक्षयकरीं प्राप्य॥ ३३॥

क्षीणाधिकारः भोगैः क्षीणप्रारब्धकर्मज्ञानात् पूर्वोत्तरैः पुण्यपापैश्च विवर्जितः पूर्वसर्वकर्मविनाशात् अश्लेषाच्च उत्तरेषां ''तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुत'' इत्यादि श्रुतेः। तदधिगम उत्तरपूर्वाद्यियोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशादिति न्यायाच्च॥ ३४-३६॥

अहोरात्रं निरन्तरं यत कृतं पापं तत् सकृत् श‍ृण्वन् एवं पठन्नेव विशेषेण सवासनम् अपोहति निरस्यति, न तु सम्पूर्णं श्रुत्वा पठित्वा चेत्येकदेशश्रवणपाठफलोक्तिः॥ ३७॥

अमावास्यायामित्यर्थः। गोः प्रदानं प्रकर्षेण दानं कुरुक्षेत्रे सूर्यग्रहणे ब्रह्मविदे उभयतो मुख्याः सुवर्णश‍ृङ्गादि सम्पूर्णदक्षिणादि सच्छ्रद्धादिसकलाङ्गकलापेन यथावद्दाने यत् फलं तत् फलमेतच्चरितं सम्पठन्नेव प्राप्नोतीत्यर्थः॥ ३८॥

पौर्णमास्याममावस्यामष्टम्यामथवा पठन्।
द्वादश्यां वा तदाप्नोति गोप्रदानफलं द्विज॥ ३८॥
प्रह्लादं सकलापत्सु यथा रक्षितवान् हरिः।
तथा रक्षित यस्तस्य शृणोति चरितं सदा॥ ३९॥

इति श्रीविष्णुपुराणे प्रथमांशे विंशोऽध्यायः

सदा श्रवणस्य फलमाह—'**प्रह्लाद**'मिति॥ ३८॥

करुणं चरणानम्रे दारुणं प्रणतद्रुहि। प्रह्लादवरदं वन्दे नृसिंहं वृणिभीषणम्॥ ३९॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाख्यायां स्वप्रकाशाख्यायां वा विष्णुपुराणटीकायां प्रथमांशे विंशोऽध्यायः॥

एकविंशोऽध्याय:

(प्रह्लादवंशकथनम्)

पराशर उवाच

संह्लादपुत्र आयुष्मान शिविर्वाष्कल एव च।
विरोचनस्तु प्राह्लादिर्बलिर्ज्जज्ञै विरोचनात्॥ १॥
बलेः पुत्रशतन्त्वासीद् बाणज्येष्ठं महामुने!
हिरण्याक्षसुताश्चासन् सर्व एव महाबला:॥ २॥
उत्कुरः शकुनिश्चैव भूतसन्तापनस्तथा।
महानाभो महाबाहुः कालनाभस्तथापर:॥ ३॥
अभवन् दनुपुत्राश्च द्विमूर्द्धा शङ्करस्तथा।
अयोमुखः शङ्कुशिरा: कपिल: शम्बरस्तथा॥ ४॥
एकचक्रो महाबाहुस्तारकश्च महाबल:।
स्वर्भानुर्वृषपर्वा च पुलोमा च महाबल:॥ ५॥
एते दनोः सुता: ख्याता विप्रचित्तिश्च वीर्यवान्।
स्वर्भानोस्तु प्रभा कन्या शर्म्मिष्ठा वार्षपर्वणी॥ ६॥
उपदानवी-हयशिरा: प्रख्याता वरकन्यका:।
वैश्वानरसुते चोभे पुलोमा कालका तथा॥ ७॥

प्राह्लादि: प्रह्लादस्य पुत्र:॥ १॥ वाणो ज्येष्ठो यस्मिन्॥ २-३॥

एवं तावददितेर्दितेश्च वंशावुक्तौ। इदानीं क्रमप्राप्तानाम् अन्यासां कश्यपभार्याणां वंशान् वक्ष्यन् दनोर्वंशमाह—'**अभवन्**' इनि सार्द्धनवभि:॥ ४-५॥

एते प्रख्याता इति विशेषणेन हरिवंशमत्स्यादिषु दनो: सुतशते गणिता वैश्वानरादयश्च सुचिता:। शर्म्मिष्ठा वृषपर्वण: कन्या॥ ६॥

उपदानवी च हयशिराश्च तस्यैव कन्या इति केचित्। अन्यदीये इत्यन्ये, ''वैश्वानरसुतायास्तु चतस्रश्चारुदर्शना: उपदानवी हयशिरा: पुलोमा कालका तथा'' इति भागवताद्युक्ते:॥ ७॥

उभे सुते महाभागे मरीचेस्तु परिग्रहः।
ताभ्यां पुत्रसहस्राणि षष्टिर्दानवसत्तमाः॥८॥
पौलोमा कालकेयाश्च मारीचतनयाः स्मृताः।
ततोऽपरे महावीर्य्या दारूणास्त्वतिनिर्घृणाः॥९॥
सिंहिकायामथोत्पन्ना विप्रचित्तेः सुतास्तथा।
व्यंशः शल्यश्च बलवान् नभश्चैव महाबलः॥१०॥
वातापिर्नमुचिश्चैव इल्वलः खसृमस्तथा।
अञ्जको नरकश्चैव कालनाभस्तथैव च॥११॥
स्वर्भानुश्च महावीर्य्यश्चक्रयोधी महाबलः।
एते ते दानवाः श्रेष्ठा दनुवंशविवर्द्धनाः॥१२॥
एतेषां पुत्रपौत्राश्च शतशोऽथ सहस्रशः।
प्रह्लादस्य तु दैत्यस्य निवातकवचाः कुले॥१३॥
समुत्पन्नाः सुमहता तपसा भावितात्मनः।
षट् सुताः सुमहासत्त्वास्ताम्रायाः परिकीर्त्तिताः॥१४॥
शुकी श्येनी च भासी च सुग्रीवी शुचिगृध्रिका।
शुकी शुकानजनयदुलूकी प्रत्युलूककान्॥१५॥
श्येनी श्येनांस्तथा भासी भासान् गृध्रांश्च गृध्र्यपि।
शुच्यौदकान् पक्षिगणान् सुग्रीवी तु व्यजायत॥१६॥

मरीचेः कश्यपस्य परिग्रहो भार्या॥८॥

सिंहिकायां हिरण्यकशिपोर्भगिन्यां विप्रचित्तेर्दनुसुतात्॥१०-१२॥

सिंहावलोकनन्यायेन पुनराह— '**प्रह्लादस्ये**'ति। भावितात्मनः प्रह्लादस्येत्यन्वयः॥१३॥

ताम्राया वंशमाह—'**षडि**'ति त्रिभिः। सुताः कन्याः॥१४॥

ता एवाह—'**शुकी**'ति। सुग्रीवी वा शुचिर्वापि उलूकान् प्रत्युलूकांश्च सैवाजनयदित्यर्थः। न पुनरूलूकी संज्ञा अन्या अनिर्द्दिष्टत्वात्। ''शुकी शुकानजनयदुलूकी प्रत्युलूककान्'' इति मात्स्योक्तेश्च॥१५॥

शुच्यौदकान्—शुचिरेव शुची सा औदकान् जलजान् पक्षिगणान् व्यजायत। सुग्रीवी तु अश्वादीन् व्याजायतेत्यन्वयः॥१६॥

अश्वानुष्ट्रान गर्द्दभांश्च ताम्रावंशः प्रकीर्तितः।
विनतायास्तु पुत्रौ द्वौ विख्यातौ गरूडारूणौ॥ १७॥
सुपर्णः पततां श्रेष्ठो दारुणः पन्नगाशनः।
सुरसायां सहस्रन्तु सर्पाणाममितौजसाम्॥ १८॥
अनेकशिरसां ब्रह्मन् खेचराणां महात्मनाम्।
काद्रवेयास्तु बलिनः सहस्रममितौजसः॥ १९॥
सुपर्णवशगा ब्रह्मन् जज्ञिरे नैकमस्तकाः।
तेषां प्रधानभूतास्तु शेषवासुकितक्षकाः॥ २०॥
शङ्खः श्वेतो माहपद्मः कम्बलाश्वतरौ तथा।
एलापत्रस्तथा नागः कर्कोटक-धनञ्जयौ॥ २१॥
एते चान्ये च बहवो दन्दशूका विषोल्वणाः।
गणं क्रोधवशं विद्धि तस्याः सर्वे च दंष्ट्रिणः॥ २२॥
स्थलजाः पक्षिणोऽब्जाश्च दारुणाः पिशिताशनाः।
क्रोधा तु जनयामास पिशाचांश्च महाबलान्॥ २३॥
गास्तु वै जनयामास सुरभिर्म्महिषांस्तथा।
इरा वृक्ष-लता-बल्लीस्तृणजातीश्च सर्वशः।

ताम्राया वंशः प्रकीर्त्तितः इत्युपसंहरति॥ १७॥

गरुडं विशिनष्टि 'सुपर्ण' इति। पततां पक्षिणां सहस्रन्तु जज्ञे इति शेषः।१८॥

कद्रोर्वंशमाह—'काद्रवेया' इति त्रिभिः॥ १९॥

नैकमस्तकाः अनेकफणाः॥ २०-२१॥

क्रोधवशाया वंशमाह— 'गण' मिति। क्रोधवशं गणं क्रोधवशाया जातं विद्धीत्यर्थः। तद्गणस्थान् विशिनष्टि,— ते सर्वे दंष्ट्रिणः राक्षसाः सर्पाश्च। ''रक्षोगणं क्रोधवशा स्वनामानमजीजनत्। दंष्ट्रिणां नियुतं तेषां भीमसेनात् क्षयं गतम्'' इति मत्स्योक्तेः। व्यालगणा क्रोधवशादहीन्द्र भागवतोक्तेश्च॥ २२॥

स्थलजाश्च अब्जाश्च जलजा मांसाशिनो दारूणाः पक्षिणस्तस्या जाता इत्यपि त्वं विद्धीत्यन्वयः॥ २३॥

सुरभेरिरायाः खसाया मुनेररिष्टायाश्च पञ्चानां वशानाह—'गास्त्विति' द्वाभ्याम्॥ २४॥

खसा तु यक्षरक्षांसि मुनिरप्सरसस्तथा॥ २४॥
अरिष्टा तु महासत्त्वान् गन्धर्वान् समजीजनत्।
एते कश्यपदायादाः कीर्त्तिताः स्थाणु-जङ्गमाः॥ २५॥
तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च शतशोऽथ सहस्रशः।
एष मन्वन्तरे सर्गो ब्रह्मन् स्वारोचिषे स्मृतः॥ २६॥
वैवस्वते च महति वारूणे वितते क्रतौ।
जुह्वानस्य ब्रह्मणो वै प्रजासर्ग इहोच्यते॥ २७॥
पूर्वं यत्र तु सप्तर्षीनुत्पन्नान् सप्त मानसान्।
पुत्रत्वे कल्पयामास स्वयमेव पितामहः॥ २८॥
गन्धर्वभोगिदेवानां दानवानाञ्च सत्तम!
दितिर्विनष्टपुत्रा वै तोषयामास कश्यपम्॥ २९॥
तया चाराधितः सम्यक् कश्यपस्तपतां वरः।
वरेण च्छन्दयायास सा च वव्रे ततोवरम्॥ ३०॥
पुत्रमिन्द्रवधार्थाय समर्थममितौजसम्।
स च तस्मै वरं प्रादाद् भार्य्यायै मुनिसत्तम॥ ३१॥
दत्त्वा च वरमत्युग्रं कश्यपस्तामुवाच ह।
शक्रं पुत्रो निहन्ता ते यदि गर्भं शरच्छतम्॥ ३२॥
समाहितताति प्रयता शुचिनी धारयिष्यसि।
इत्येवमुक्त्वा तां देवीं सङ्गतः कश्यपो मुनिः॥ ३३॥

वैवस्वते च महति मन्वन्तरे वारुणे वरुणकर्तृके॥ २७॥

पूर्वमन्वन्तरोत्पन्नान् देवान् सप्तर्षीन् गन्धर्वादीनां पितामहो ब्रह्मापुत्रत्वे प्रजा सर्गाधिकारे कल्पयामास, नत्वन्यान् ससर्ज। स्वयं तद्यज्ञे व्यासत्वात् पितृत्वे तत्सृष्टौ न्ययुङ्क्तेत्यर्थः। अतः कश्यपादिभ्यो देवदानवादयः पूर्वं जाताः वैवस्वतमन्वन्तरे तु ऋषिभ्योऽपि जाता इत्युक्तं भवति॥ २८-२९॥

एकोनपञ्चाशत् मरुतो देवा अपि दितेः पुत्रा बभूवुरिति कथापूर्वकमाह—'**रिति**' दित्यादिना यावत्समाप्ति।

छन्दयामास प्रलोभितवान्॥ ३०॥

दधार सा च तं गर्भं सम्यक् शौचसमन्विता।
गर्भमात्मवधार्थाय ज्ञात्वातं मघवानपि॥ ३४॥
शुश्रूषुस्तामथागच्छद् विनयादमराधिपः।
तस्याश्चैवान्तरं प्रेप्सुरतिष्ठत् पाकशासनः॥ ३५॥
ऊने वर्षशते चास्या ददर्शान्तरमात्मना।
अकृत्वा पादयोः शैचं दितिः शयनमाविशत्॥ ३६॥
निद्राञ्चाहारयामास तस्याः कुक्षिं प्रविश्य सः!
वज्रपाणिर्म्महागर्भं चिच्छेदाथ स सप्तधा॥ ३७॥
स पीड्यमानो वज्रेण प्ररुरोदातिदारुणम्।
मा रोदीरिति तं शक्रः पुनः पुनरभाषत॥ ३८॥
सोऽभवत् सप्तधा गर्भस्तमिन्द्रः कुपितः पुनः।
एकैकं सप्तधा चक्रे वज्रेणारिविदारिणा॥ ३९॥
मरुतो नाम देवास्ते बभूवुरतिवेगिनः।
यदुक्तं वै मघवता तेनैव मरुतोऽभवन्॥ ४०॥

इति श्रीविष्णुपुराणे प्रथमेऽंशे एकविंशोऽध्यायः।

समाहिता श्रीविष्णुध्यानपरा। शुचिनी शौचवती। शरच्छतं वर्षशतं यदि गर्भं धारयिष्यसि, तर्हि तव पुत्रः शक्रं हनिष्यति। शैचादिनियमवैकल्ये तु विष्णुध्यानशुद्धचित्तायाः देवबन्धुरमरः पुत्रो भविष्यतीति गूढोऽभिप्रायः। शौचादिनियमाश्च मात्स्ये प्रोक्ताः। ''सन्ध्ययोर्नैव भोक्तव्यं गर्भिण्यां वरवर्णिनि। न स्नातव्यं न भोक्तव्यं वृक्षमूलेषु सर्वदा। वर्जयेत् कलहं लोके गात्रभङ्गं तथैव च। नो मुक्तकेशी तिष्ठेच्च नाशुचिः स्यात् कदाचन'' इत्याद्याः। भागवते—च ''न हिंस्यात् सर्वभूतानि न नश्येन्नानृतं वदेः'' इत्याद्याः॥ ३४॥

अन्तरप्रेप्सुः शौचादिशून्यकालं दिदृक्षुः॥ ३५॥

अन्तरमाह—'**अकृत्वे**'ति। आहारयामास तामासवती॥ ३६-३७॥

पीड्यमानः छिद्यमानः यदुक्तं 'मा रोदी' रिति तेन मरुतोऽभवन् इत्यक्षरसाम्यात् निरुक्तिः। वज्रोपलक्षितः। पाणिर्वज्रपाणीः, सोऽस्यास्तीति वज्रवाणीः, तस्य ब्रीह्यादिभ्यश्चेति णिप्रत्ययः॥ ४१॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाख्यायां स्वप्रकाशाख्यायां वा विष्णुपुराणटीकायां प्रथमांशे एकविंशोऽध्यायः।

द्वाविंशोऽध्यायः

(श्रीभगवतो विष्णोश्चतुर्विधविभूतिवर्णनम्)

श्री पराशर उवाच

यदाभिषिक्तः स पृथुः पूर्वं राज्ये महर्षिभिः।
ततः क्रमेण राज्यानि ददौ लोकपितामहः॥ १॥
नक्षत्र-ग्रह-विप्राणां वीरुधाञ्चाप्यशेषतः।
सोमं राज्येऽदधाद् ब्रह्मा यज्ञानां तपसामपि॥ २॥
राज्ञां वैश्रवणं राज्ये जलानां वरुणं तथा।
आदित्यानां पतिं विष्णुं वसूनामथ पावकम्॥ ३॥
प्रजापतीनां दक्षन्तु वासवं मरुतामपि।
दैत्यानां दानवानाञ्च प्रह्लादमधिपं ददौ॥ ४॥
पितृणां धर्मराजं तं यमं राज्येऽभ्यषेचयत्।
ऐरावतं गजेन्द्राणाम् अशेषाणां पतिं ददौ॥ ५॥
पतत्रिणाञ्च गरुडं देवानामपि वासवम्।
उच्चैःश्रवसमश्वानां वृषभन्तु गवामपि॥ ६॥
शेषन्तु नागराजानं मृगाणां सिंहमीश्वरम्।
वनस्पतीनां राजानं प्लक्षमेवाभ्यषेचयत्॥ ७॥
एवं विभज्य राज्यानि दिशां पालाननन्तरम्।
प्रजापतिपतिर्ब्रह्मा स्थापयामास सर्वतः॥ ८॥

एवं तावद् देवादीनां सृष्टिरुक्ता, इदानीं तत्तदधिपकथनमुखेन विष्णोर्विभूतीर्वक्तुमाह—'यदे'त्यादिना यावत्समाप्तिः॥ १॥
नक्षत्रादीनां तपोऽन्तानां राज्ये सोममदधात्॥ २॥
राज्ञां राज्ये वैश्रवणं कुवेरमदधादित्यनुषङ्गः॥ ३॥
मरुतां दितिपुत्राणां वासवमधिपं ददौ॥ ४-५॥
अन्येषामपि देवानां वासवमेव ददौ॥ ६॥
सिंहमीश्वरं पतिम्॥ ७॥ दिशां पालान् दिक्पालकान्॥ ८-१०॥

पूर्वस्यां दिशि राजानं वैराजस्य प्रजापतेः।
दिशः पालं सुधन्वानं सुतं वै सोऽभ्यषेचयत्॥ ९॥
दक्षिणस्यां दिशि तथा कर्द्दमस्य प्रजापतेः।
पुत्रं शङ्खपदं नाम राजानं सोऽभ्यषेचयत्॥ १०॥
पश्चिमस्यां दिशि तथा रजसः पुत्रमच्युतम्।
केतुमन्तं महात्मानं राजानमभिषिक्तवान्॥ ११॥
तथा हिरण्यरोमाणं पर्ज्जन्यस्य प्रजापतेः।
उदीच्यां दिशि दुर्द्धर्षं राजानमभ्यषेचयत्॥ १२॥
तैरियं पृथिवी सर्वा सप्तद्वीपा सपत्तना।
यथाप्रदेशमद्यापि धर्मतः परिपाल्यते॥ १३॥
एते सर्वे प्रवृत्तस्य स्थितौ विष्णोर्महात्मनः।
विभूतिभूता राजानो ये चान्ये मुनिसत्तम॥ १४॥
ये भविष्यति ये भूताः सर्वे भूतेश्वरा द्विज।
ते सर्वे सर्वभूतस्य विष्णोरंशा द्विजोत्तम॥ १५॥
ये तु देवाधिपतयो ये च दैत्याधिपास्तथा।
दानवानाञ्च ये नाथा ये नाथाः पिशिताशिनाम्॥ १६॥
पशूनां ये च पतयः पतयो ये च पक्षिणाम्।
मनुष्याणाञ्च सर्पाणां नागानाञ्चाधिपाश्च ये॥ १७॥
वृक्षाणां पर्वतानाञ्च ये भविष्यन्ति येऽधिपाः।
अतीता वर्त्तमानाश्च ये भविष्यन्ति चापरे॥ १८॥
ते सर्वे सर्वभूतस्य विष्णोरंशसमुद्भवाः।
न हि पालनसामर्थ्यमृते सर्वेश्वरं हरिम्॥ १९॥
स्थितौ स्थिरं महाप्राज्ञ भवत्यन्यस्य कस्यचित्॥ २०॥

अच्युतमिति केतुमतो विशेषणम्॥ ११॥

पर्जन्यस्य प्रजापतेः पुत्रमित्यनुषङ्गः॥ १२-१३॥

उक्तानामनुक्तानाञ्च तत्तत्पतीनां भगवद्-विभूतित्वमाह—'एत' इति सार्द्धैः पञ्चभिः। स्थितौ प्रवृत्तस्य विष्णोर्विभूतिभूताः॥ १४-१९॥

अत्र हेतुर्न हीति॥ २०॥

सृजत्येषु जगत्सृष्टौ स्थितौ पाति सनातनः।
हन्ति चैवान्तकत्वे च रजःसत्त्वादिसंश्रयः॥ २१॥
चतुर्विभागः संसृष्टौ चतुर्धा संस्थितः स्थितौ।
प्रलयञ्च करोत्यन्ते चतुर्भेदो जनार्दनः॥ २२॥
एकेनांशेन ब्रह्मासौ भवत्यव्यक्तमूर्तिमान्।
मरीचिमिश्राः पतयः प्रजानामन्यभागतः॥ २३॥
कालस्तृतीयस्तस्यांशः सर्वभूतानि चापरः।
इत्थं चतुर्धा संसृष्टौ वर्त्ततेऽसौ रजोगुणः॥ २४
एकांशेन स्थितौ विष्णुः करोति प्रतिपालनम्।
मन्वादिरूपश्चान्येन कालरूपोऽपरेण च॥ २५॥
सर्वभूतेषु चान्येन संस्थितः कुरूते रतिम्।
सत्त्वं गुणं समाश्रित्य जगतः पुरुषोत्तमः॥ २६॥
आश्रित्य तमसो वृत्तिमन्तकाले तथा पुनः।
रुद्रस्वरूपो भगवानेकांशेन भवत्यजः॥ २७॥
अग्न्यन्तकादिरूपेण भागेनान्येन वर्त्तते।
कालस्वरूपो भागोऽन्यः सर्वभूतानि चापरः॥ २८॥
विनाशं कुर्वतस्तस्य चतुर्धैवं महात्मनः।
विभागकल्पना ब्रह्मन् कथ्यते सार्वकालिकी॥ २९॥
ब्रह्मा दक्षादयः कालस्तथैवाखिलजन्तवः।
विभूतयो हरेरेता जगतः सृष्टिहेतवः॥ ३०॥
विष्णुर्मन्वादयः कालः सर्वभूतानि च द्विज!

अत एव मुख्यः सृष्ट्यादिकर्त्ता स एवेत्याह—'**सृजत्येष**' इति॥ २१॥

तदेव सृष्ट्यादिकर्त्तृत्वं चतुर्धा विभजते—'**चतुर्विभाग**' इत्यष्टभिः। संसृष्टौ सम्यक् सृष्टौ चतुर्विभागः सन्निति क्वचित् पाठः॥ २२॥

रज एव गुणो यस्य स एव रजोगुणः॥ २४-२९॥

एते च ब्रह्मादयो हरेरेव विभूतय इत्याह—'**ब्रह्मे**' ति त्रिभिः। सार्वकालिकी सर्वकल्पगता॥ ३०॥

स्थितेर्निमित्तभूतस्य विष्णोरेता विभूतयः॥ ३१॥
रुद्रकालान्तकाद्याश्च समस्ताश्चैव जन्तवः।
चतुर्धा प्रलयायैता जनार्द्दनविभूतयः॥ ३२॥
जगदादौ तथा मध्ये सृष्टिरा प्रलयाद् द्विज।
धात्रा मरीचिमिश्रैश्च क्रियते जन्तुभिस्तथा॥ ३३॥
ब्रह्मा सृजत्यादिकाले मरीचिप्रमुखास्ततः।
उत्पादयन्त्यपत्यानि जन्तवश्च प्रतिक्षणम्॥ ३४॥
न कालेन विना ब्रह्मा सृष्टिनिष्पादको द्विज।
न प्रजापतयः सर्वे न चैवाखिलजन्तवः॥ ३५॥
एवमेव विभागोऽयं स्थितावप्युपदिश्यते।
चतुर्धा देवदेवस्य मैत्रेय प्रलये तथा॥ ३६॥
यत्किञ्चित् सृज्यते येन सत्त्वजातेन वै द्विज।
तस्य सृज्यस्य सम्भूतौ तत् सर्वं वै हरेस्तनुः॥ ३७॥
हन्ति वा यत् क्वचित् किञ्चिद् भूतं स्थावरजङ्गमम्।
जनार्दनस्य तद् रौद्रं मैत्रेयान्तकरं वपुः॥ ३८॥
एवमेव जगत्स्रष्टा जगत्पाता तथैव च।
जगद् भक्षयता चेशः समस्तस्य जनार्दनः॥ ३९॥
सर्गस्थित्यन्तकालेषु त्रिधैवं सम्प्रवर्त्तते।
गुणप्रवृत्त्या परमं पदं तस्यागुणं महत्॥ ४०॥

ब्रह्मादिभगवद्विभूतीनां कालभेदेन स्रष्टृत्वमाह— '**जगदादा**'विति द्वाभ्याम्॥ ३३-३४॥

कालाख्यविभूतेस्तु सर्वदा सृष्टिनिमित्तत्वमाह—'**न कालेने**'ति॥ ३५॥

एतदेव स्थितिप्रलययोरप्यतिदिशति—'**एवमेवे**'ति॥ ३६॥

उत्पादयन्त्यपत्यानीत्यपहरणं सृज्यमात्रोपलक्षणमिति दर्शयन्नाह— '**यत्किञ्चि**' दिति। सत्त्वजातेन प्राणिमात्रेण पालनेऽप्येतद् द्रष्टव्यम्॥ ३७-३८॥

उक्तं ब्रह्मादीनां विष्णुविभूतित्वमुपसंहरन्नाह— '**एव**'मिति द्वाभ्याम्॥ ३९॥

गुणप्रवृत्त्या गुणानां क्षोभेण त्रिविधः ब्रह्मादिरूपः सन् सृष्ट्यादौ सम्प्रवर्त्तते॥ ४०॥

तत्त्वज्ञानमयं वापि स्वसंवेद्यमनौपमम्।
चतु-प्रकारं तदपि स्वरूपं परमात्मनः॥४१॥

मैत्रेय उवाच

चतुःप्रकारतां तस्य ब्रह्मभूतस्य वै मुने।
ममाचक्ष्व यथान्यायं यदुक्तं परमं पदम्॥४२॥

पराशर उवाच

मैत्रेय कारणं प्रोक्तं साधनं सर्ववस्तुषु।
साध्यञ्च वस्त्वभिमतं यत्साधयितुमात्मनः॥४३॥
योगिनो मुक्तिकामस्य प्राणायामादिसाधनम्।
साध्यञ्च परमब्रह्म पुनर्नावर्त्तते यतः॥४४॥
साधनालम्बनं ज्ञानं मुक्तये योगिनो हि यत्।
स भेदः प्रथमस्तस्य ब्रह्मभूतस्य वै मुने॥४५॥
युञ्जतः क्लेशमुक्त्यर्थं साध्यं यद् ब्रह्म योगिनः।
तदालम्बनज्ञानं द्वितीयोऽंशो महामुने॥४६॥

तस्य तु परमं पदमगुणम् अतो महत् पूर्णं तत्स्वरूपप्राप्तिप्रकारोपदेशार्थं चातुर्विध्यमुपक्षिपति,—'**तत्त्वे**'ति॥४१॥

अगुणस्य ज्ञानस्य निर्भेदत्वात् कथं चातुर्विध्यमिति पृच्छति—'**चतुःप्रकार**'-मिति॥४२॥

निर्गुणः ब्रह्मप्राप्तेः प्रागेव तत्प्राप्त्युपायभूतसाधनाद्यालम्बनमनोवृत्त्यभिव्यङ्गावस्था-भेदाज्ज्ञानस्य चातुर्विध्यं न स्वरूपेणेति वक्तुमाह—**मैत्रेयेत्यष्टभिः**। सर्वेष्वपि वस्तुषु यत् कारणं तत्साधनं प्रोक्तं, तच्चात्मनः साधयितुमभिमतं वस्तु तत्साध्यं प्रोक्तमित्यन्वयः॥४३॥

प्रस्तुते च मुक्तिकामस्य योगिनो मुक्तेः साधनं देहात्मविवेकात्मरूपं, त्वम्पदार्थशुद्धिं विना मुक्तेरसम्भवात्। साध्यञ्च तत्पदलक्ष्यं परमं ब्रह्म नित्यसुखात्मकत्वात्॥४४॥

ततः किमत आह—'**साधने**'ति साधनं देहात्मविवेकेन त्वम्पदार्थशुद्धिः। तदालम्बनं शुद्धत्वं पदार्थविषयं ज्ञानं स एवं चतुर्भेदज्ञानभूतस्य ब्रह्मणः प्रथमो भेदः॥

क्लेशमुक्त्यर्थं युञ्जतः योगमभ्यस्यतो योगिनो यत्साध्यं ब्रह्म, तद्विषयं सच्चिदानन्दं ब्रह्मेति तत्पदलक्ष्यार्थस्य विशेषणज्ञानं द्वितीयोऽंशः॥४५॥ उभयोस्त्वविभागेन परस्परैक्येन ब्रह्मैवाहम् अहमेव ब्रह्मेति विशिष्टं यज्ज्ञानं सोऽन्यस्तृतीयो भागो मयोदितः॥४६॥

उभयोस्त्वविभागेन साध्य-साधनयोर्हि यत्।

विज्ञानमद्वैतमयं तद्भागोऽन्यो मयोदितः॥४७॥

ज्ञानत्रयस्य चैतस्य विशेषो यो महामुने।

तन्निराकरणद्वारा दर्शितात्मस्वरूपवत्॥४८॥

निर्व्यापारमनाख्येयं व्याप्तिमात्रमनौपमम्।

आत्मसम्बोधविषयं सत्तामात्रमलक्षणम्॥४९॥

प्रशान्तमभयं शुद्धमविभाव्यमसंश्रितम्।

विष्णोर्ज्ञानमयस्योक्तं तज्ज्ञानं परमं पदम्॥५०॥

तत्रान्यज्ञानरोधेन योगिनो यान्ति ये लयम्।

एतस्य त्वम्पदार्थ-तत्पदार्थ-तदैक्यविषयस्य ज्ञानत्रयस्य यो विशेषः देहादिविलक्षणोऽहमिति सच्चिदानन्दरूपं ब्रह्माहमिति यस्तत्र तत्र विशेषः, तस्य निराकरणं परित्यागः, तद्द्वारेणदर्शितं यन्निर्विशेषमात्मस्वरूप तद्वत्। तदेका-कारं समाध्यवस्थं विष्णोर्ज्ञानमयस्य परमपदाख्यं ज्ञानं चतुर्थमुक्तमिति तृतीयेनान्वयः॥४७॥

तदेव द्वादशभिः पदैर्विशिनष्टि,-निर्व्यापारं ध्यानादिसर्वव्यापरशून्यम्, अत एव अनाख्येयं निर्देशानर्हं, किन्तु व्याप्तिमात्रं मनसा ब्रह्मकारतामात्ररूपम्। अनौपमं निरुपमं सर्वज्ञानलक्षणत्वात्। तदेवाह-आत्मनः सम्बोधः प्रकाशस्तद्विषयं स्वप्रकाशमित्यर्थः। तत्रापि सत्तामात्रम् आत्मस्वरूपभूत-सत्यज्ञानानन्दादिविशेषशून्यं, तत्र हेतुः,- अलक्षणं लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणंमनो-वृत्तिस्तद्रहितम। यदुक्तं योगप्रदीपे-''मनसो वृत्तिशुन्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः। या सम्प्रज्ञातनामासौ समाधिरभिधीयते'' इति॥४८॥

मनोवृत्त्यभावादेव प्रशान्तं रागादिशून्यम्, अत एवाभयं द्वैतास्फूर्तेः। शुद्धं निर्विषम्, अत एव दुर्विभाव्यम् अवितर्क्यं निर्विषयत्वादेव। असंश्रयम् आश्रयशून्यम्। असंश्रितमिति पाठेऽपि स एवार्थः। वृत्तिप्रतियोगित्वादाश्रय-विषययोः। तदुक्तं कापिलयोगे-''मुक्ताश्रयं (?) निर्विषयं विरक्तं निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथाब्धिः। आत्मानमत्र पुरुषो व्यवधान-मेकमन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः'' इति॥४९॥

एवम्भूतज्ञानस्वरूपे लीनाः कृतार्था भवन्तीत्याह-'तत्रे'ति। तत्र चतुर्थ ज्ञानस्वरूये ब्रह्मणि ज्ञाननिरोधेन अविद्यानाशेन ये लयम् ऐक्यं यान्ति। अज्ञाननिराधेनति पाठे पूर्वोक्तज्ञानत्रयविशेषतिरस्कारेणेत्यर्थः॥५०॥

संसारकर्षणोप्तौ ते यान्ति निर्बीजतां द्विज॥५१॥
एवम्प्रकारममलं नित्यं व्यापकमक्षयम्।
समस्तभेदरहितं विष्णवाख्यं परमं पदम्॥५२॥
तद् ब्रह्म परमं योगी यतो नावर्त्तते पुनः।
अपुण्यपुण्योपरमे क्षीणक्लेशोऽतिनिर्मलः॥५३॥
द्वे रूपे ब्रह्मणस्तस्य मूर्त्तञ्चामूर्त्तमेव च।
क्षराक्षरस्वरूपे ते सर्वभूतेष्ववस्थिते॥५४॥
अक्षरं तत् परं ब्रह्म क्षयं सर्वमिदं जगत्।
एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा॥५५॥
परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तदेतदखिलं जगत्।
तत्राप्यासन्नदूरत्वाद् बहुत्वस्वल्पतामयः।
ज्योत्स्नाभेदोऽस्ति तच्छक्तेस्तद्वन्मैत्रेय विद्यते॥५६॥
ब्रह्म-विष्णु-शिवा ब्रह्मन् प्रधाना ब्रह्मशक्तयः।

संसारकर्षणोप्तौ-संसार एव कृष्यते इति कर्षणं क्षेत्रं तस्मिन्नुप्तिर्बीजा-वापकर्मकरणं तस्मिन्निर्बीजतां निर्वासनतां यान्ति निरहङ्कारैर्ज्ञानोत्तरकालीनैः कर्मभिर्भोगैश्च न संसरन्तीत्यर्थः॥५१॥

तर्हि योगी किं भवतीत्यत आह- '**एव**'मिति द्वाभ्याम्। एवम्प्रकारं परमं ब्रह्मैव योगी प्राप्नोतीति शेष॥५२-५३॥

तत्प्राप्तिसाधनभूतोपासनार्थमाह- '**द्वे रूपे**' इति। मूर्त्तामूर्त्ते एव दर्शयन्नाह- 'क्षराक्षरे'ति॥५४॥

क्षराक्षरे रूपे व्याचष्टे-'**अक्षर**'मिति। क्षरं सर्वमिदम् अचेतनात्मकं जगत्। वक्ष्यति हि- ''आश्रयश्चेतसो ब्रहान् द्विधा तच्च स्वभावतः। रूपं मूर्त्तममूर्त्तञ्च परञ्चापरमेव च।'' इति। नन्वक्षरस्य परब्रह्मणस्तद्विलक्षणं क्षरं रूपं कथं स्यादित्याशङ्क्य दृष्टान्तेनोपपादयति- 'एकदेशे'ति। प्रादेशिक स्याप्यग्नेर्दीपादेदहिकस्यापि तद्विलक्षणा ज्योत्स्ना प्रभा यथा तत्प्रकाशशक्तिविस्तारः॥५५॥

तथा ब्रह्मणः शक्तिकृतो विस्तार इदमखिलं ब्रह्मादिरूपं जगत्। अग्निदृष्टान्तेनैव ब्रह्मादिजीवतारतम्यमपि सङ्गच्छत इत्याह। तत्रापि दृष्टान्तभूतेऽग्नावपि आसन्नत्वाद् बहुत्वम्, दूरत्वादल्पत्वमित्येवंरूपो यथा ज्योत्स्नाया भेदोऽस्ति॥५६॥

ततश्च देवा मैत्रेय न्यूना दक्षादयस्ततः॥५७॥
ततो मनुष्याः पशवो मृग-पक्षि-सरीसृपाः।
न्यूना न्यूनतराश्चैव वृक्ष-गुल्मादयस्ततः॥५८॥
तदेतदक्षरं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्।
आविर्भाव-तिरोभाव-जन्म-नशा-विकल्पवत्॥५९॥
सर्वशक्तिमयो विष्णुः स्वरूपं ब्रह्मणोऽपरम्।
मूर्त्तं यद् योगिभिः पूर्वं योगारम्भेषु चिन्त्यते॥६०॥
सालम्बनो महायोगः सबीजो यत्र संस्थितः।
मनस्यव्याहते सम्यग् युञ्जतां जायते मुने॥६१॥
स परः सर्वशक्तीनां ब्रह्मणः समनन्तरः।
मूर्त्तं ब्रह्म महाभाग सर्वब्रह्ममयो हरिः॥६२॥

तद्वद् ब्रह्मशक्तेरपि क्षेत्ररूपाया ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु क्षेत्रेष्वविद्यावरणस्याल्पत्व-बहुत्ववशात् तारतम्यं विद्यत इत्यर्थः। वक्ष्यति च- 'तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः' क्षेत्रज्ञसंज्ञिता। सर्वभूतेषु भूपाल! तारतम्येन लक्षितः। इति। तदेवाह-'ब्रह्मे' ति द्वाभ्याम्॥५७-५८॥

अस्य च तारतम्यौस्यपाधिकत्वात् सर्वमिदं जगद् ब्रह्मे त्येवोपासितव्यम् इत्याशयेनाह-'तदेत' दिति। आविभार्ववतिरोभावौ आधिक्यन्यूनभावौ जन्मनाशौ च उपाधिवशादेवम्भूतविकल्पवदपि तदेतज्जगद्वस्तुतोऽक्षरं न्यूनाधिकत्वशून्यं नित्यञ्च ब्रह्मैवेत्यर्थः॥५९॥

तदेवं स्थूलविश्वरूपोपासनया शुद्धचित्तस्य तत्कारणभूतपरमेश्वरोपासनं प्रस्तौति-'**सर्वशक्तिमय**' इति। स्रष्टादिसर्वशक्त्याश्रयो विष्णुर्मूर्त्तं विशुद्धोर्जितसत्त्वात्मकं ब्रह्मण एव। अपरं न विद्यते परं यस्मात् तदपरं श्रेष्ठं रूपम्, तदेवाह— यद् योगिभिः समाधेः पूर्वं योगारेम्भेषु चिन्त्यते॥६०॥

तच्चिन्ताप्रयोजनमाह-'**सालम्बन**' इति। यत्र यस्मिन् सम्यङ् मनस्यव्याहते एकाग्रे सति सालम्बनो वैष्णवः। सबीजो मन्त्रजपादिसहितो महायोगो युञ्जतां योगिनां संस्थितः संस्थिरः समाधिपर्यन्तो जायत इत्यन्वयः॥६१॥

यत्रेत्यनेन यच्छब्देनोक्तस्य हरेः सर्वश्रेष्ठत्वमाह-'**स पर**' इति द्वाभ्याम्। ब्रह्मणः शक्तीनां मध्ये स परः श्रेष्ठः। यतः समनन्तरः अतिनिकटः। यतो मूर्त्तं घतीभूतं ब्रह्मैव सः। तत्र हेतुः-सर्वब्रह्ममयः कृत्स्नब्रह्मरूपः, न तु ब्रह्मादिवत् तदंशः॥६२॥

तत्र सर्वमिदं प्रोतमोतञ्चैवाखिलं जगत्।
ततो जगज्जगत् तस्मिन् स जगच्चाखिलं मुने॥ ६३॥
क्षराक्षरमयो विष्णुर्विभर्त्त्येखिलमीश्वरः।
पुरुषाव्याकृतमयं भूषणास्त्रस्वरूपवत्॥ ६४॥

मैत्रेय उवाच

भूषणास्त्रस्वरूपस्थं यच्चैतदखिलं जगत्।
बिभर्ति भगवान् विष्णुस्तन्ममाक्ष्यातुमर्हसि॥ ६५॥

पराशर उवाच

नमस्कृत्वाप्रमेयाय विष्णवे प्रभविष्णवे।
कथयामि यथाख्यातं वशिष्ठेन ममाभवत्॥ ६६॥
आत्मानमस्य जगतो निर्लेपमगुणामलम्।
बिभर्ति कौस्तुभमणिस्वरूपं भगवान् हरिः॥ ६७॥
श्रीवत्ससंस्थानधरमनन्ते च समाश्रितम्।
प्रधानं बुद्धिरप्यास्ते गदारूपेण माधवे॥ ६८॥

तत्र हेतुमाह-'तत्रे' ति। तस्मिन् अखिल जगत् ओतञ्च प्रातञ्च तन्तुषु पटवत् सर्वतोऽनुस्यूतम्। कुत इत्यत्राह-ततो जगत् तस्मिंस्तिष्ठति, जगच्चाखिलं स एव, कारणात्मकत्वात् कार्यस्य॥६३॥

तदेवं हरेः श्रैष्ठ्यमुक्त्वेदानीं तदुपासनाप्रकारमुपक्षिपति-'क्षराक्षरमय'इति। कार्यकारणात्मको विष्णुः पुरुषप्रकृत्यात्मकमिदं जगद् भूषणास्त्रस्वरूपेण बिभर्ति॥६४॥

अतिरहस्यत्वाद् विशेषतो बुभत्सुः पृच्छति-'भूषणे'ति॥६५॥

प्रभविष्णवे प्रभवनशीलाय भक्तचिन्तनमात्रेण सर्वपुरुषार्थदानसमर्थायेत्यर्थः। यथा मम विशिष्टेनाख्यातमभवत्, तथा तव कथयिष्यामि॥६६॥

अस्य जगत आत्मानं पुरुषं शुद्धं क्षेत्रज्ञम्॥६७॥

प्रधानञ्च श्रीवत्ससंस्थानधरं सत् अनन्ते समाश्रितम् आस्त इत्यन्वयः। श्रीवत्सरुपञ्च गारुडपुराणे प्रोक्तम्। ''प्रदक्षिणावर्त्तविचित्ररोम श्रीवत्समद्-विम्बविभूषितान्तम्। वक्षो विचिन्त्यम्'' इति। बुद्धिसहितं प्रधानमपि गदारूपेणास्ते॥६८॥

भूतादिमिन्द्रियादिञ्च द्विधाहंकारमीश्वरः।
बिभर्ति शङ्खरुपेण शार्ङ्गरूपेण च स्थितम्॥६९॥
बलस्वरूपमत्यन्तजवेनान्तरितानिलम्।
चक्रस्वरूपञ्च मनो धत्ते विष्णुः करे स्थितम्॥७०॥
पञ्चरूपा तु या माला वैजयन्ती गदाभृतः।
सा भूतहेतुसंघातो भतूमाला च वै द्विज॥७१॥
यानीन्द्रियाण्यशेषाणि बुद्धिकर्मात्मकानि वै।
शररूपाण्यशेषाणि तानि धत्ते जनार्दनः॥७२॥
बिभर्ति यच्चासिरत्नमच्युतोऽत्यन्तनिर्मलम्।
विद्यामयन्तु तज्ज्ञानमविद्याकोशसंस्थितम्॥७३॥
इत्थं पुमान् प्रधानञ्च बुद्ध्यहङ्कारमेव च।
भूतानि च हृषीकेशे मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
विद्याविद्ये च मैत्रेय सर्वमेतत् समाश्रितम्॥७४॥
अस्त्रभूषणसंस्थानस्वरूपं रूपवर्जितः।
बिभर्ति मायारूपोऽसौ श्रेयसे प्राणिनां हरिः॥७५॥

भूतादिंतामसम्, इन्द्रियादिञ्च राजसं, द्विधा अंहकारं यथाक्रमं शङ्खस्वरूप्ण शार्ङ्गवरूपेण च स्थितं बिभर्ति॥६९॥

वातस्वरूपम् अतिशीघ्रगम् अत एव जवेनान्तरितः अतिक्रान्तोऽनिलो येन तन्मनः सात्त्विकाहङ्कारात्मकं चक्रस्वरूपं धत्ते॥७०॥

पञ्चरूपा मुक्तामाणिक्यमरकतेन्द्रनील वज्रसमानवर्णा हरेर्या वैजयन्त्याख्या माला सा भूतहेतूनां पञ्चतन्मात्राणां संघातः पङ्क्तिः, भूतमाला च महाभूतपङ्क्तिश्च सूक्ष्मस्थलभूतमपीत्यर्थः। पाठान्तरेऽप्ययमेवार्थः॥७१॥

अविद्यैव धर्मज्ञानावरकः कोशः तत्र संस्थितम्॥७३॥

उक्तमेव भूषणादिस्वरूपमनुवदन् तद्धारणे प्रयोजनमाह-'इत्थ'मिति सार्द्धद्वाभ्याम्॥७४॥

अस्त्रभूषणसंस्थानस्वरूपं समाश्रितमेतत् सर्वं बिभर्त्तीत्यन्वयः। श्रेयसे उपासकानां सर्वपुरुषार्थसिद्धये॥७५॥

सविकारं प्रधानञ्च पुमांश्चैवाखिलं जगत्।
बिभर्ति पुण्डरीकाक्षस्तदेवं परमेश्वर :॥७६॥
या विद्या या तथाऽविद्या यत् सद् यच्चासदव्ययम्।
तत् सर्वं सर्वभूतेशे मैत्रेय मधुसूदने॥७७॥
कला-काष्ठा-निमेषादि-दिनर्त्वयन-हायनैः।
कालस्वरूपो भगवानपरो हरिरव्ययः॥७८॥
भूर्लोकोऽथ भुवर्लोकः स्वर्लोको मुनिसत्तम!
महर्जनस्तपः सत्यं सप्तकोला इमे विभुः॥७९॥
लोकात्ममूर्तिः सर्वेषां पूर्वेषामपि पूर्वजः।
आधारः सर्वविद्यानां स्वयमेव हरिः स्थितः॥८०॥
देव-मानुष-पश्वादिस्वरूपैर्बहुभिः स्थितः।
ततः सर्वेश्वरोऽनन्तो भूतमूर्त्तिरमूर्त्तिमान्॥८१॥
ऋचो यजूंषि सामानि तथैवाथर्वणानि वै।
इतिहासोपवेदास्तु वेदान्तेषु तथोक्तयः॥८२॥
वेदाङ्गानि समस्तानि मन्वादिगदितानि च।
शस्त्राण्यशेषाण्याख्यानान्यनुवाकाश्च ये क्वचित्॥८३॥
काव्यालापाश्च ये केचिद् गीतकान्यखिलानि च।
शब्दमूर्त्तिधरस्यैतद् वपुर्विष्णोर्महात्मनः॥८४॥

उक्तं भूषणाद्युपासनं निगमयति-'सविकार'मिति द्वाभ्याम्॥७६/७७

इदानीं हरौ सर्वात्मदृष्टिदार्ढ्याय तच्छक्तिकालरूपेण तत्सृष्टलोकरूपेण तत्तल्लोकस्थभूतरूपेण च चतुर्धोपासनामाह-'कला काष्ठे'ति सप्तभिः॥७८॥

सप्तलोकानिति पाठे व्याप्येति शेषः॥७९॥

लोकात्मिका मूर्त्तिर्यस्य स लोकात्ममूर्त्तिः॥८०॥

ऋगादयो वेदाः। इतिहासो भारतादिः। उपवेदाः आयुर्वेदादयः॥८२॥

मन्वादिगदितानि धर्मशास्त्राणि। आख्यानानि पुराणानि। अनुवाकाः कल्पसूत्रादयः॥८३॥

किं बहुनोक्तेन, सर्वाणि वस्तुजातानि तन्मूर्त्तिरेसेत्याह-'सन्ती'ति॥८४॥

यानि मूर्त्तान्यमूर्त्तानि यान्यत्रान्यत्र वा क्वचित्।
सन्ति वै वस्तुजातानि तानि सर्वाणि तद्वपुः॥८५॥

अहं हरिः सर्वमिदं जनार्द्दनो
नान्यत् ततः कारणकार्यजातम्।
ईदृङ्मनो यस्य न तस्य भूयो
भवोद्भवा द्वन्द्वगदा भवन्ति॥८६॥

इत्येष तेऽंशः प्रथमः पुराणस्यास्य वै द्विज!
यथावत् कथितो यस्मिन् श्रुते पापैः प्रमुच्यते॥८७॥

कार्त्तिक्यां पुष्करस्नाने द्वादशाब्देन यत् फलम्।
तदस्य श्रवणात् सर्वं मैत्रेयाप्नोति मानवः॥८८॥

देवर्षिपितृगन्धर्वयक्षादीनाञ्च सम्भवम्।
भवन्ति शृण्वतः पुंसो देवाद्या वरदा मुने॥८९॥

इति श्रीविष्णुपुराणे प्रथमांशे द्वाविंशोऽध्यायः।

प्रथमांशः सम्पूर्णः

उपदेशसर्वस्वं तत्फलञ्चाह-'अह'मिति। भवतीति भवो देहस्तस्माद् भवन्तीति भवोद्भवाः द्वन्द्वगदाः रागद्वेषादयो हृद्रोगा न भवन्ति॥८५॥

स्पष्टमन्यत्॥८९॥

संश्रितश्रीपरानन्दनृहरिः श्रीधरो यतिः।
अंशं प्राथमिकं व्याख्यत् स्वप्रकाशाख्यटीकया॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाभिधायां स्वप्रकाशाख्यायां वा
विष्णुपुराणटीकायां प्रथमांशे द्वाविंशोऽध्यायः

॥प्रथमांशः सम्पूर्णः॥

द्वितीयांशः

प्रथमोऽध्यायः

(प्रियव्रतस्य पुत्राणां विवरणं, भरतवंशकथनञ्च)

मैत्रेय उवाच

भगवन् सम्यगाख्यातं ममैतदखिलं त्वया।
जगतः सर्गसम्बन्धि यत् पृष्टोऽसि गुरो मया॥ १॥
योऽयमंशो जगत्सृष्टिसम्बद्धो गदितस्त्वया।
तत्राहं श्रोतुमिच्छामि भूयोऽपि मुनिसत्तम॥ २॥
प्रियव्रतोत्तानपादौ सुतौ स्वायम्भुवस्य यौ।
तयोरुत्तानपादस्य ध्रुवः पुत्रस्त्वयोदितः॥ ३॥
प्रियव्रतस्य नैवोक्ता भवता द्विज सन्ततिः।
तामहं श्रोतुमिच्छामि प्रसन्नो वक्तुमर्हसि॥ ४॥

पराशर उवाच

कर्द्दमस्यात्मजां कन्यामुपयेमे प्रियव्रतः।
सम्राट कुक्षी च तत्कन्ये दश पुत्रास्तथापरे॥ ५॥
महाप्राज्ञा महावीर्या विनीता दयिताः पितुः।
प्रियव्रतसुताः ख्यातास्तेषां नामानि मे श्रृणु॥ ६॥

संश्रितश्रीपरानन्दनृहरिः श्रीधरो यतिः।
पुराणं वैष्णवं व्याख्यत् स्वप्रकाशाख्यटीकया॥ १॥

द्वितीयेऽंशे सृष्टिशेषप्रसङ्गेनानुवर्ण्यते। भूमण्डलं सपातालज्योतिश्चक्रादिलक्षणम्॥ २॥

उक्तानुवादपूर्वकं प्रागुक्तं प्रियव्रतवंशं पृच्छति-'भगवन्नि'ति चतुर्भिः। सर्गसम्बन्धि यथा जगद् बभूवेत्यादि यत् पृष्टोऽसि॥ १॥

जगत्सृष्टौ वाच्यायां वाचकत्वेन सम्बन्धः॥ २॥

ध्रुवो वंशप्रवर्त्तकस्त्वयोक्त॥ ३-४॥

अग्नीध्रश्चाग्निबाहुश्च वपुष्मान् द्युतिमांस्तथा।
मेघा मेधातिथिर्भव्यः सवनः पुत्र एव च॥७॥
ज्योतिष्मान् दशमस्तेषां सत्यनामा सुतोऽभवत्।
प्रियव्रतस्य पुत्राणां प्रख्यातो बलवीर्यतः॥८॥
मेधाग्निबाहु-पुत्रास्तु त्रयो योगपरायणाः।
जातिस्मरा महाभाग न राज्याय मनो दधुः॥९॥
निर्ममाः सर्वकालन्तु समस्तार्थेषु वै मुने।
चक्रुः क्रिया यथान्यायमफलाकाङ्क्षिणो हि ते॥१०॥
प्रियव्रतो ददौ तेषां सप्तानां मुनिसत्तम!
विभज्य सप्त द्वीपानि मैत्रेय सुमहात्मनाम्॥११॥
जम्बूद्वीपं महाभाग सोऽग्नीध्राय ददौ पिता।
मेधातिथेस्तथा प्रादात् प्लक्षद्वीपमथापरम्॥१२॥
शाल्मले च वपुष्मन्तं नरेन्द्रमभिषिक्तवान्।
ज्योतिष्मन्तं कुशद्वीपे राजानं कृतवान् प्रभुः॥१३॥
द्युतिमन्तञ्च राजानं क्रौञ्चद्वीपे समादिशत्।
शाकद्वीपेश्वरञ्चापि भव्यञ्चक्रे च स प्रभुः॥१४॥
सवनं पुष्करद्वीपे राजानं समकारयत्॥१५॥
जम्बूद्वीपेश्वरो यस्तु अग्नीध्रो मुनिसत्तम।
तस्य पुत्रा बभुवुस्ते प्रजापतिसमा नव॥१६॥
नाभिः किम्पुरुषश्चैव हरिवर्ष इलावृतः।
रम्यो हिरण्वान् षष्ठश्च कुरुर्भद्राश्व एव च॥१७॥
केतुमालस्तथैवान्यः साधुचेष्टो नृपोऽभवत्।
जम्बूद्वीपविभागांश्च तेषां विप्र निशामय॥१८॥
पित्रा दत्तं हिमाह्वन्तु वर्षं नाभेस्तु दक्षिणम्।
हेमकूटं तथा वर्षं ददौ किम्पुरुषाय सः॥१९॥

आत्मजाम् औरसीं कन्यां कन्यासंज्ञामिति वा॥५-६-७॥

तेषां मध्ये ज्योतिष्मान् सत्यनामा अन्वर्थसंज्ञः तेजस्वीत्यर्थः॥८-१०॥

तृतीयं नैषधं वर्षं हरिवर्षाय दत्तवान्।
इलावृताय प्रददौ मेरुर्यत्र तु मध्यगः॥ २०॥
नीलाचलाश्रितं वर्षं रम्याय प्रददौ पिता।
श्वेतं तदुत्तरं वर्षं पित्रा दत्तं हिरण्वते॥ २१॥
यदुत्तरं शृङ्गवतो वर्ष तत् कुरवे ददौ।
मेरोः पूर्वेण यद् वर्षं भद्राश्वाय प्रदत्तवान्॥ २२॥
गन्धमादनवर्षन्तु केतुमालाय दत्तवान्।
इत्येतानि ददौ तेभ्यः पुत्रेभ्यः स नरेश्वरः॥ २३॥
वर्षेष्वेतेषु तान् पुत्रानभिषिच्य स भूमिपः।
शालग्रामं महापुण्यं मैत्रेय तपसे ययौ॥ २४॥
यानि किम्पुरुषादीनि वर्षाण्यष्टौ महामुने।
तेषां स्वाभाविकी सिद्धिः सुखप्राया ह्ययत्नतः॥ २५॥
विपर्ययो न तेष्वस्ति जरामृत्युभयं न च।
धर्माधर्मौ न तेष्वास्तां नोत्तमाधममध्यमाः॥ २६॥
न तेष्वस्ति युगावस्था क्षेत्रेष्वष्टासु सर्वदा।

तेषां विरक्तव्यतिरिक्तानां विभज्य द्वीपानि ददौ रथचक्रेण परिखातैः परिखाभूतैः समुद्रैर्द्वीपानि स्वयं विभक्तानि कृत्वा ददाविति भागवतोक्तरीत्या द्रष्टव्यम्। जम्बूद्वीपादिसन्निवेशश्चोत्तराध्याये वक्ष्यति॥ ११-१७॥

हिमाह्वं हिमवतो दक्षिणं भारतं वर्षं नाम। तच्च यथासुखं वासस्थानम्। तदुक्तं मात्स्ये- '**वसत्पृषन्त्यो वर्षेषु प्रजा येषु चतुर्विधाः। वर्षमित्येव रमणं वर्षत्वं तेन तेषु च**'। इति॥ १८॥

हेमकूटं हिमवदुत्तरम्। हेमकूटादुत्तरं नैषधं निषधगिरेर्दक्षिणम्॥ १९॥

निषधादुत्तरम् इलावृतं वर्षम् इलावृताय प्रददौ। यत्र मध्ये मेरुस्तिष्ठति। इलावृतादुत्तरो नीलाचलस्तदाश्रितं तदुत्तरम्॥ २०॥

तस्मात् श्वेतगिरेरुत्तरं वर्षम्॥ २१॥

गन्धमादनवर्षं मेरोः पश्चिमम्॥ २३॥

हिमाह्वं यस्य वै वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः॥ २७॥
तस्यर्षभोऽभवत् पुत्रो मेरुदेव्यां महाद्युतिः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः॥ २८॥
कृत्वा राज्यं स्वधर्मेण तथेष्ट्वा विविधान् मखान्।
अभिषिच्य सुतं ज्येष्ठं भरतं पृथिवीपतिम्॥ २९॥
तपसे स महाभागः पुलस्त्यस्याश्रमं ययौ।
वानप्रस्थविधानेन तत्रापि कृतनिश्चयः॥ ३०॥
तपस्तेपे यथान्यायं यदा च स महीपतिः।
तपसा कर्शितोऽत्यर्थं कृशो धमनिसन्ततः॥ ३१॥
नग्नो वीटां मुखे दत्त्वा वीराध्वानं ततो गतः।
ततश्च भारतं वर्षमेतल्लोकेषु गीयते॥ ३२॥
भरताय यतः पित्रा दत्तं प्रातिष्ठता वनम्।
सुमतिर्भरतस्याभूत् पुत्रः परमधार्मिकः॥ ३३॥
कृत्वा सम्यग् ददौ तस्मै राज्यमिष्टमखः पिता।
पुत्रसङ्क्रामितश्रीस्तु भरतः स महीपतिः॥ ३४॥
योगाभ्यासरतः प्राणान् शालग्रामेऽत्यजन्मुने!
अजायत च विप्रोऽसौ योगिनां प्रवरे कुले॥ ३५॥
मैत्रेय! तस्य चरितं कथयिष्यामि ते पुनः।

विपर्ययोऽसुखमकालमृत्युश्च। तेषु धर्माधर्मौ नास्तां न स्तः, तेषां भौमस्वर्गत्वेन धर्माद्यनधिकारात्। युगावस्था देहादिह्रासलक्षणा॥ २६-२७॥

स ऋषभो राज्यं कृत्वा तपस्तसुं पुलहस्याश्रमं शालग्रामक्षेत्रं ययावित्युत्तरेणान्वयः॥ २९-३०॥

धमनिभिः शिराभिः सन्ततो व्यासः, तपसा कृशदेहत्वात्। बीटां कन्दुकसदृशाश्मकबलम्॥ ''**आस्ये कृताश्मकबलः**'' इति **भागवतोक्तेः**। वीराध्वानं महाप्रस्थानम्॥ ३१-३२॥

ततश्च ऋषभानन्तरं भरतेन पालितत्वाद् भारतमेतद् वर्षं गीयते। प्रातिष्ठता प्रस्थानं कुर्वतेत्यर्थः

इष्टमखः पूजितयज्ञः सम्यक् राज्यं कृत्वा पश्चात् तस्मै पुत्राय तद् राज्यं ददौ॥ ३३॥

सुमतेस्तेजसस्तस्मादिन्द्रद्युम्नो व्यजायत॥ ३६॥
परमेष्ठी ततस्तस्मात् प्रतिहारस्तदन्वयः।
प्रतिहर्त्तेति विख्यात उत्पन्नस्तस्य चात्मजः॥ ३७॥
भुवस्तस्मात् तथोद्गीथः प्रस्तारस्तत्सुतो विभुः।
पृथुस्ततोऽभवन्नक्तो नक्तस्यापि गयः सुतः॥ ३८॥
नरो गयस्य तनयस्तत्पुत्रोऽभूद् विराट् ततः।
तस्य पुत्रो महावीर्यो धीमांस्तस्मादजायत॥ ३९॥
महान्तस्तत्सुतश्चाभून्मनस्युस्तस्य चात्मजः।
त्वष्टा त्वष्टुश्च विरजो रजस्तस्याप्यभूत् सुतः॥ ४०॥
शतजिद्रजसस्तस्य जज्ञे पुत्रशतं मुने!
विश्वग्ज्योतिः प्रधानास्ते यैरिमां वर्द्धिताः प्रजाः॥ ४१॥

पुत्रे सङ्क्रामिता श्रीः राज्यश्रीर्येन सः॥ ।३३-३४॥

पुनः कथयिष्यामि इत्यस्य अयं भावः-स्थूलत्वेन सुग्रहत्वात् प्रस्तुतभुवनकोशं शृणु। ततश्च **''स्थूले निर्जितमात्मानं शनैः सूक्ष्मं धिया नयेत्''** इति भागवतोक्तक्रमेण ग्रहणयोग्यं सूक्ष्मात्मतत्त्वसम्बद्धभरतस्य चरितं पश्चाद् वक्ष्यामीति॥

तस्माद् भरतानन्तरं सुमतेस्तेजसो वीर्यादिन्द्रद्युम्नो जातः॥ ३६॥

तदन्वयः प्रतिहारस्य पुत्रः प्रतिहर्त्ता॥ ३७॥

शतजितः पुत्रशतम्। विश्वज्योतिःप्रधाना विश्वज्योतिः प्रधानो मुख्यो येषां ते॥ ४१॥

नवभेदं नव भेदा यस्मिंस्तत्। भेदांस्तृतीयाध्याये वक्ष्यति॥ ४२॥

ननु त्वया पूर्वमुत्तानपादादयोऽपि सार्वभौमाः प्रोक्ताः इदानीं प्रियव्रतादयोऽपि सार्वभौमा एवोच्यन्ते, तच्च समकाले न सङ्गच्छते, अतः क्रमो वक्तव्य इत्यत्राह-'तेषा'मिति। तेषां प्रियव्रतान्वयप्रसूतानां वंशे प्रसूतैः पुरा प्रथममियं भारती भूमिर्भुक्ता, पश्चादुत्तानपादादिभिः कियन्तं कालमियं भुक्तेत्यत आह-कृतत्रेतादीनां सर्गेण प्रवृत्त्या युगाख्या चतुर्युगैराख्यायते या एकसप्ततिमन्वन्तराख्यः कालः। तावन्तं कालमित्यर्थः। कृतत्रेतादिसंज्ञेयमिति पाठेऽप्येवमेव योज्यम्। युगाख्यामेकसप्तति पाठे स्फुटोऽयमर्थः॥ ४३॥

एतदेवमेव स्पष्टयति-**'एष'** इति। वाराहेऽस्मिन् कल्पे यदा स्वायम्भुवः पूर्वस्य प्रथममन्वन्तरस्याधिपोऽभूत्, तदा एष प्रियव्रतवंशानां राज्ञां सर्गः, ततः

तैरिदं भारतं वर्षं नवभेदमलङ्कृतम्।
तेषां वंशप्रसूतैश्च भुक्तेयं भारती पुरा॥४२॥
कृतत्रेतादिसर्गेण युगाख्या ह्येकसप्ततिः॥४३॥
एष स्वायम्भुवः सर्गो येनेदं पूरितं जगत्।
वाराहे तु मुने! कल्पे पूर्वमन्वन्तराधिपः॥४४॥

इति श्रीविष्णुपुराणे द्वितीयांशे प्रथमोऽध्यायः।

स्वारोचिषादावुत्तानपादवंश्यानामित्यर्थः। अत एव उत्तानपादवंश्यस्य प्राचेतसदक्षकन्यायामादित्यानां जन्म वैवस्वतमन्वन्तरे प्रोक्तम्। ससम्यन्तपाठे प्रथममन्वन्तराधिपे स्वायम्भुवे वर्त्तमाने स्वायम्भुवोऽशभूतात् तस्मादेव मनोरेष प्रियव्रतादिसर्गः प्रथमं प्रवृत्त इत्यर्थः। यद्वा पूर्वोक्तसर्वसृष्टिनिगमनमेतत् 'एष' इति॥४४॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाभिधायां स्वप्रकाशाख्यायां वा
विष्णुपुराणटीकायां द्वितीयांशे प्रथमोऽध्यायः॥

द्वितीयोऽध्यायः

(जम्बूद्वीपवर्णनम्)

मैत्रेय उवाच

कथितो भवता ब्रह्मन्! सर्गः स्वायम्भुवश्च मे।
श्रोतुमिच्छाम्यहं त्वत्तः सकलं मण्डलं भुवः॥१॥
यावन्तः सागरा द्वीपास्तथा वर्षाणि पर्वताः।
वनानि सरितः पुर्यो देवादीनां तथा मुने॥२॥
यत्प्रमाणमिदं सर्वं यदाधारं यदात्मकम्।
संस्थानमस्य च मुने! यथावद् वक्तुमर्हसि॥३॥

पराशर उवाच

मैत्रेय श्रूयतामेतत् संक्षेपाद् गदतो मम।
नास्य वर्षशतेनापि वक्तुं शक्यो हि विस्तरः॥४॥
जम्बू-प्लक्षाह्वयौ द्वीपौ शाल्मलिश्चापरो द्विज।
कुशः क्रौञ्चस्तथा शाकः पुष्करश्चैव सप्तमः॥५॥
एते द्वीपाः समुद्रैस्तु सप्त सप्तभिरावृताः।
लवणेक्षु-सुरा-सर्पिर्दधि-दुग्ध-जलैः समम्॥६॥
जम्बूद्वीपः समस्तानां एतेषां मध्यसंस्थितः।
तस्यापि मेरुर्मैत्रेय! मध्ये कनकपर्वतः॥७॥

उक्तानुवादेन भुवनकोशं सविशेषं बुभूत्सुः पृच्छति-**'कथित'** इति। स्वयम्भुवोऽंशत्वान्मनुरत्र स्वयंम्भुः। तदीयः प्रियव्रतादिसर्गः कथितः। तत्कथनेन च द्वीपवर्षादिविभागोक्त्या सचितं भूमण्डलादिकं श्रोतुमिच्छामि॥१॥

देवादीनां पुर्यो नगर्यो यावत्यः॥२॥

इदं मण्डलं संस्थानं रचनाविशेषम् आकारमिति यावत्। एवमेते द्वादश प्रश्नाः। एतेषाञ्च यत्प्रमाणैस्तत्तत्संख्यासंस्थानादिभिर्यथायोगमुत्तराणि द्रष्टव्यानि॥३-५॥

जम्ब्वादिसप्तद्वीपाः सप्तभिर्लवणादिसंज्ञैः समुद्रैः समं यथा भवत्येवं सर्वत आवृताः॥६

चतुराशीतिसाहस्त्रो योजनैरस्य चोच्छ्रयः।
प्रविष्टः षोडशाधस्ताद् द्वात्रिंशन्मूर्ध्नि विस्तृतः॥ ८॥
मूले षोडशसाहस्त्रो विस्तारस्तस्य सर्वशः।
भूपद्मस्यास्य शैलेशः कर्णिकाकारसंस्थितः॥ ९॥
हिमवान् हेमकूटश्च निषधश्चास्य दक्षिणे।
नीलः श्वेतश्च शृङ्गी च उत्तरे वर्षपर्वताः॥ १०॥
लक्षप्रमाणौ द्वौ मध्यौ दशहीनास्तथापरे।
सहस्त्रद्वितयोच्छ्रायास्तावद्विस्तारिणश्च ते॥ ११॥
भारतं प्रथमं वर्षं ततः किम्पुरुषं स्मृतम्।
हरिवर्षं तथैवान्यन्मेरोर्दक्षिणतो द्विज॥ १२॥
रम्यकञ्चोत्तरे वर्षं तस्यैवानु हिरणमयम्।
उत्तराः कुरवश्चैव यथा वै भारतं तथा॥ १३॥

अशीतिरेव आशीतिः सहस्त्रमेव साहस्त्रम्। चतुरधिकान्यशीति सहस्त्राणि प्रमाणं यस्य स मेरोरुच्छ्रयः लक्षयोजनप्रमाणो मेरुतस्योच्छ्रयो बहिश्चतुरशीतियोजनसहस्त्रो दृश्यते। षोडशसहस्त्राणि अधस्तः, द्वात्रिंशद् योजनसहस्त्राणि मूर्ध्नि विस्तृतः॥८॥

अत एव मूर्ध्नि विस्तृतत्वान्मूले सङ्कुचितत्वाद् भूमध्यावस्थानाच्च भूरूपस्य पद्मस्य कर्णिकाकारेण संस्थितः॥९॥

भारतं वर्षमारभ्य मेरोर्दक्षिणोत्तरतः स्तितानां षण्णां वर्षाणां मर्यादापर्वतानाह—**'हिमवा'** निति। वर्षाणां व्यवच्छेदकाः पर्वताः॥१०॥

लक्षप्रमाणौ द्वौ प्राक्पश्चिमतो दैर्घ्यैण निषधनीलौ। यद्यपि जम्बूद्वीपस्य मण्डलाकारस्य लक्षयोजनप्रमाणत्वात् तन्मध्ये रेखायामेव मुख्यलक्षप्रमाणत्वं निषधनीलौ तु तन्मध्यरेखातो दक्षिणश्चोत्तरश्च सलक्षयोजनसहस्त्रान्तरितत्वादीषन्न्यूनौ तथापि स्थूलदृष्ट्या लक्षप्रमाणावित्युक्तम्। अपरे तु हेमकूटादयो दशहीनाः हेमकूटश्वेतौ नवतियोजनसहस्त्रप्रमाणौ। हिमवच्छ्रङ्गिणे चैकाशीतियोजनसहस्त्रप्रमाणौ। तदुक्तं वाराहे—**'दीपस्य मण्डलीभादह्रासवृद्धी प्रकीर्तिते'**। इति॥११॥

यथा वै भारतमिति द्वीपमण्डलप्रान्तवर्त्तित्वाद् धनुराकारकुरुवर्षमित्यर्थः॥१३॥

नवसाहस्रमेकैकमेतेषां द्विजसत्तम!
इलावृतञ्च तन्मध्ये सौवर्णो मेरुरुच्छ्रितः॥ १४॥
मेरोश्चतुर्दिशं तत्तु नवसाहस्रविस्तृतम्।
इलावृतं महाभाग! चत्वारश्चात्र पर्वताः॥ १५॥
विष्कम्भा रचित मेरोर्योजनायुतमुच्छ्रिताः॥ १६॥
पूर्वेण मन्दरो नाम दक्षिणो गन्धमादनः।
विपुलः पश्चिमे पार्श्वे सुपार्श्वश्चोत्तरे स्मृतः॥ १७॥
कदम्बस्तेषु जम्बूश्च पिप्पलो वट एव च।
एकादशशतायामाः पादपा गिरिकेतवः॥ १८॥
जम्बूद्वीपस्य सा जम्बूर्नामहेतुर्महामुने।
महागजप्रमाणानि जम्ब्वास्तस्याः फलानि वै॥ १९॥
पतन्ति भूभृतः पृष्ठे शीर्यमाणानि सर्वतः।
रसेन तेषां प्रख्याता तत्र जम्बूनदीति वै॥ २०॥
सरित् प्रवर्त्तते सा च पीयते तन्निवासिभिः।
न स्वेदो न च दौर्गन्ध्यं न जरा नेन्द्रियक्षयः॥ २१॥

एतेषां हिमवदयावस्थितानां भारतादीनां मध्ये एकैकं वर्षं विस्तरतो नवसहस्रयोजनप्रमाणं इलावृतञ्च नवसाहस्रम्। विस्तारसाम्येऽपि तत्र कश्चिद् विशेषमाह—**तन्मध्ये** इति। तदाह,—**वायुः धनुः संस्थिते ज्ञेये द्वे वर्षे दक्षिणोत्तरे! दीर्घाणि तत्र चत्वारि चतुरस्रगिलावृतम्** इति॥ १४॥

किञ्च इलावृते अन्ये चत्वारः पर्वता मेरोश्चतुर्दिशम्॥ १५॥

विष्कम्भा दाढयार्थमवष्टम्भा ईश्वरेण रचिताः। अन्या मूलभागादूर्ध्वभागस्य द्विगुणविस्ताराद् गौरवेण भङ्गप्रसङ्गः॥ १६॥

तेष्ववष्टम्भपर्वतेषु पूर्वादिक्रमेण चत्वारः पादपा एकादशशतयोजनाच्छाया गिरेः केतवो ध्वजा इव रचिताः॥ १८॥

नामहेतुर्नामप्रवृत्तिहेतुः। फलप्रमाणे विशोषञ्च **वायु**-नोक्तः,—अरत्रीनां शतान्यष्टरेकषष्ट्यधिकानि तु। फलप्रमाणं संख्यातमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः इति॥ १९-२०॥

तत्पानात् स्वच्छमनसां जनानां तत्र जायते।
तीरमृत् तद्रसं प्राप्य सुखवायुविशोषिता।
जाम्बूनदाख्यं भवति सुवर्णं सिद्धभूषणम्॥ २२॥
भद्राश्वं पूर्वतो मेरोः केतुमालञ्च पश्चिमे।
वर्षे द्वे तु मुनिश्रेष्ठ! तयोर्मध्ये इलावृतम्॥ २३॥
वनं चैत्ररथं पूर्वे दक्षिणे गन्धमादनम्।
वैभ्राजं पश्चिमे तद्वदुत्तरे नन्दनं स्मृतम्॥ २४॥
अरुणोदं महाभद्रमसितोदं समानसम्।
सरांस्येतानि चत्वारि देवभोग्यानि सर्वदा॥ २५॥
शीतान्तश्चक्रमुञ्जश्च कुररी माल्यवांस्तथा।
वैकङ्कप्रमुखा मेरोः पूर्वतः केशराचलाः।
त्रिकूटः शिशिरश्चैव पतङ्गो रुचकस्तथा॥ २६॥
निषधाया दक्षिणतस्तस्य केसरपर्वताः।
शिखिवासाः सवैदूर्यः कपिलो गन्धमादनः।
जारुधिप्रमुखास्तद्वत् पश्चिमे केसराचलाः॥ २७॥
मेरोरनन्तराङ्गेषु जठरादिष्ववस्थिताः।
शङ्खकूटोऽथ ऋषभो हंसो नागस्तथापरः।
कालञ्जराद्याश्च तथा उत्तरे केशराचलाः॥ २८॥
चतुर्दशसहस्राणि योजनानां महापुरी।
मेरोरुपरि मैत्रेय! ब्रह्मणः प्रथिता दिवि॥ २९॥

सुखस्पर्शो वायुः सुखवायुः तेन विशोषिता सती तत्तीरमृत्तिका सिद्धानां भूषणं सुवर्णं भवति॥ २२॥

तयोर्मध्ये इत्यनुवादः तत्रस्थ-विष्कम्भादिसानुषु चैत्ररथादिवनानामरुणोदादिसरसाञ्च कथनार्थः॥ २३॥

उक्तानां वक्ष्यमाणानाञ्च केसराचलानां स्थानान्याह—'मेरो' रिति। मेरोरनन्तराणि सन्निहितानि यान्यङ्गानि मूलसमीपस्थानानि तान्येव जठरादीनि पूर्व-

तस्याः समन्ततश्चाष्टौ दिशासु विदिशासु च।
इन्द्रादिलोकपालानां प्रख्याताः प्रवराः पुरः॥ ३०॥
विष्णुपादविनिष्क्रान्ता प्लावयित्वेन्दुमण्डलम्।
समन्ताद् ब्रह्मणः पुर्यां गङ्गा. पतति वै दिवः॥ ३१॥
सा तत्र पतिता दिक्षु चतुर्धा प्रतिपद्यते।
सीता चालकनन्दा च चक्षुर्भद्रा च वै क्रमात्॥ ३२॥
पूर्वेण शैलात् सीता तु शैलं यात्यन्तरिक्षगा।
ततश्च पूर्ववर्षेण भद्राश्वेनैति सार्णवम्॥ ३३॥
तथैवालकनन्दापि दक्षिणेनैत्य भारतम्।
प्रयाति सागरं भूत्वा सप्तभेदा महामुने॥ ३४॥

दक्षिणपश्चिमोत्तरदेशवर्त्तितया जठर-दक्षिणपार्श्व-पृष्ठ-वामपार्श्वसाम्यात्, **'तेष्ववस्थिता मेरोः कर्णिकाया इव केसरभूताः मूलदेशे परितः उपक्लप्ता'** इति शुकोक्तेः॥ २८-२९॥

लोकपालानां पुरः सार्द्धद्विसहस्रयोजनाः **''तामनुपरितो लोकपालानाम् अष्टानां यथादिशं यथारूपं तुरीयमानेन पुरोऽष्टा उपक्लप्ताः।'** इति शुकोक्तेः॥ ३०॥

तत्र गङ्गागमनमाह— **'विष्णुपादे'**ति। त्रिद्या विक्रामतो विष्णोर्वामपादाङ्गुष्ठनखनिर्भिन्नोर्ध्वाण्डकटाहविवरेणान्तः प्रविष्टा बाह्यजलधारा हि ब्रह्मदत्तार्घ्यजलधर्मद्रवसंयुता गङ्गा, सा च विष्णोः पादाद् विनिष्क्रान्ता सती दिवोऽन्तरीक्षाद् ब्रह्मणः पुर्यां पतति॥ ३१॥

सा तत्र पतिता सती चतुर्धा भेदं प्राप्नोति॥ ३२॥

शैलाच्छैलं यातीत्यत्र शुकोक्तिः— **'सीता तु ब्रह्मसदनात् केसराचलादिशिखरेभ्योऽधः पतन्ती'** इत्यादि। **वायुनोक्तं** 'सीता तु शिखरपृष्ठे'त्युपक्रम्य 'एवं शतसहस्राणि दारयन्ती महानदी। निपपात तदा सीता जठरे सिद्धसेविते। तस्मादुपगता शैलं देवकूटं तरङ्गिणी' इत्यादि॥ ३३॥

'तथैवालकनन्दापी' ति—केसराचलादिक्रमेण निषधहेमकूटहिमवतोऽतिक्रम्येत्यर्थः। सप्तभेदा भूत्वेति—ते च भेदा मात्स्ये प्रोक्ताः—**'नलिनी ह्लादिनी चैत्र प्लाविनी चैव प्राच्यगाः। सीता च चक्षुः सिन्धुश्च तिस्रस्ता वै प्रतीच्यगाः** सप्तमी त्वन्वगाद् गङ्गा दक्षिणेन **भगीरथम्'**। इति॥ ३४॥

चक्षुश्च पश्चिमगिरीनतीत्य सकलांस्ततः।

पश्चिमं केतुमालाख्यं वर्षं गत्वेति सागरम्॥ ३५॥

भद्रा तथोत्तरगिरीनुत्तरांश्च तथा कुरून्।

अतीत्योत्तरमम्भोधिं समभ्येति महामुने॥ ३६॥

आनीलनिषधायामौ माल्यवद्-गन्धमादनौ।

तयोर्मध्यगतो मेरुः कर्णिकाकारसंस्थितः॥ ३७॥

भारताः केतुमालाश्च भद्राश्वाः कुरवस्तथा।

पत्राणि लोकपद्मस्य मर्यादा शैलबाह्यतः॥ ३८॥

जठरो देवकूटश्च मर्यादापर्वतावुभौ।

तौ दक्षिणोत्तरायामावानीलनिषधायतौ॥ ३९॥

एवं तावद् दक्षिणोत्तरतो हिमादिभिः षड्भिर्मर्य्यादागिरिभिर्विभक्तानि भारतादीनि सप्तवर्षाण्युक्तानि इलावृतमेरुमूर्द्धाचलाविशेषगङ्गागमनप्रकाराश्चोक्ताः, इदानीं तु **'भद्राश्वं पूर्वतो मेरोः केतुमालञ्च पश्चिमे'** इति पूर्वोत्तरयोर्वर्षयोर्मर्यादापर्वतावाह—**'आनीले'** ति। उत्तरो नीलः,—दक्षिणो निषधः, तत्पर्यन्त आयामो दैर्घ्यं ययोस्तौ आनीलनिषधायामौ। **'तत्र पश्चिमे माल्यवान् पूर्वे गन्धमादनः तथैवेलावृतम् अपरेण पूर्वेण च माल्यवद्गन्धमादना वानीलनिषधायतौ'** इति शुकोक्तेः। केचित् त्वनयोर्वैपरीत्यमाहुः—तयोर्मध्यगतो मेरुरिलावृतेन सहितः इति द्रष्टव्यम्। **'मेरोश्चतुर्दिशं तत्र नवसाहस्रविस्तृतम् इलावृतम्' इत्युक्तत्वात्।** अनेन चतुस्त्रिंशद्योजनसहस्रायामौ तावित्युक्तं भवति। तदाह **वायुः**—''चतुस्त्रिंशत् सहस्राणि गन्धमादनपर्वतः। उदग् दक्षिणतश्चैव आनीलनिषधायतः'' इत्यादि॥ ३७॥

लोको जम्बूद्वीपं तदेव पद्मं तस्य पत्राणि। भारतकुरुवर्षयोर्भद्राश्वकेतुमालयोश्च परस्परं समानत्वादाभिमुख्येनावस्थानाच्च पत्रसादृश्यम्॥ ३८॥

इदानीं मेरोश्चतुर्दिक्षु द्वौ द्वौ परिधिपर्वतौ प्रमाणसंस्थानाभ्यां दर्शयति—**'जठर'** इति पञ्चभिः। इलावृतवर्ष एवावान्तरविभागहेतुत्वान्मर्यादापर्वताविति चोक्तं नववर्षमर्यादापर्वतानां पूर्वमुक्तत्वात्। अन्यस्य वर्षस्यात्रासम्भवाच्च॥ ३९॥

गन्धमादन-कैलासौ पूर्वपश्चायतावुभौ।
अशीतियोजनायामावर्णवान्तर्व्यवस्थितौ॥ ४०॥
निषधः पारिपात्रश्च मर्यादापर्वतावुभौ।
मेरोः पश्चिमदिग्भागे यथा पूर्वौ तथा स्थितौ॥ ४१॥
त्रिशृङ्गो जारुधिश्चैव उत्तरौ वर्षपर्वतौ।
पूर्वपश्चायतावेतावर्णवान्तर्व्यवस्थितौ॥ ४२॥
इत्येते मुनिवर्योक्ता मर्यादापर्वतास्तव।
जठराद्याः स्थिता मेरोस्तेषां द्वौ द्वौ चतुर्दिशम्॥ ४३॥
मेरोश्चतुर्दिशं ये तु प्रोक्ताः केसरपर्वताः।
शीतान्ताद्या मुने! तेषामतीव हि मनोरमाः॥ ४४॥
शैलानामन्तरे द्रोण्यः सिद्धचारणसेविताः।
सुरम्याणि तथा तासु काननानि पुराणि च॥ ४५॥
लक्ष्मी-विष्णवग्निसूर्यादिदेवानां मुनिसत्तम।
तास्वायतनवर्षाणि जुष्टानि वरकिन्नरैः॥ ४६॥
गन्धर्वयक्षरक्षांसि तथा दैतेयदानवाः।
क्रीडन्ति तासु रम्यासु शैलद्रोणीष्वहर्निशम्॥ ४७॥
भौमा ह्येते स्मृताः स्वर्गा धर्मिणामालया मुने!
नैतेषु पापकर्माणो यान्ति जन्मशतैरपि॥ ४८॥
भद्राश्वे भगवान् विष्णुरास्ते हयशिरा द्विज!
वराहः केतुमाले तु भारते कूर्मरूपधृक्॥ ४९॥

अशीतियोजनानि आयामो विस्तारो ययोस्तौ माल्यवद्गन्धमादनयोर्मध्यादर्णव-स्यान्तव्यर्यवस्थितौ॥ ४०॥

पूर्वौ जठरदेवकूटौ यथा आनीलनिषधायतौ तथैव उभावपि स्थितौ॥ ४१॥

त्रिशृङ्गो जारुधिश्चैव उत्तरौ यथा दक्षिणौ तथा स्थितौ। तदाह शुकः—''**अष्टाभिरेतैः परिस्तृतोऽग्निरिव परितश्चकास्ति काञ्चनगिरिः॥**'' इति॥ ४२-४४॥

मत्स्यरूपश्च गोविन्दः कुरुष्वास्ते जनार्दनः।
विश्वरूपेण सर्वत्र सर्वः सर्वेश्वरो हरिः॥५०॥
सर्वस्याधारभूतोऽसौ मैत्रेयास्तेऽखिलात्मकः।
यानि किम्पुरुषादीनि वर्षाण्यष्टौ महामुने!
न तेषु शोको नायासो नोद्वेगः क्षुद्भयादिकम्॥५१॥
सुस्थाः प्रजा निरातङ्काः सर्वदुःखविवर्जिताः।
दशद्वादशवर्षाणां सहस्राणि स्थिरायुषः॥५२॥
न तेषु वर्षते देवो भौमान्यम्भांसि तेषु वै।
कृत-त्रेतादिका नैव तेषु स्थानेषु कल्पना॥५३॥
सर्वष्वेतेषु वर्षेषु सप्त सप्त कुलाचलाः।
नद्यश्च शतशस्तेभ्यः प्रसूता या द्विजोत्तम॥५४॥

इति श्रीविष्णु पुराणे द्वितीयांशे द्वितीयोऽध्यायः।

तेषां शैलानामन्तरे मध्ये द्रोण्यः दरीविशेषाः सन्ति। सिद्धाः अणिमाद्यैश्वर्ययुक्ताः, चारणा देवगायकाः, तैः सेवितः॥४७-५१॥

निरातङ्काः नीरोगाः। वर्षाणां सहस्राणि दश वा द्वादश वा स्थिरायुष इति किलोक्तिरिलावृतादिदेशभेदव्यवस्थायाम्॥५२॥

तेषु देवो न वर्षति यतो भौमान्येवाम्भांसि नित्यं सन्ति॥५३॥

कुलाचला मुख्याः पर्वतास्तेभ्यः प्रसूता या नद्यस्ताश्च शतशः सन्ति॥५४॥

इति श्रीधरस्वाभिकृतायामात्मप्राकशाभिधायां स्वप्रकाशाख्यायां वा श्रीविष्णुपुराणटीकायां द्वितीयांशे द्वितीयोऽध्यायः॥

तृतीयोऽध्यायः

(भारतवर्षवर्णनम्)

पराशर उवाच

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥ १॥
नवयोजनसाहस्रो विस्तारोऽस्य महामुने!
कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गञ्च गच्छताम्॥ २॥
महेन्द्रो मलयः सह्यः शक्तिमान् ऋक्षपर्वतः।
विन्ध्यश्च पारिपात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः॥ ३॥
अतः सम्प्राप्यते स्वर्गो मुक्तिमस्मात् प्रयान्ति वै।
तिर्यक्त्वं नरकञ्चापि यान्त्यतः पुरुषा मुने॥ ४॥
इतः स्वर्गश्च मोक्षश्च मध्यश्चान्तश्च गम्यते।
न खल्वन्यत्र मर्त्त्यानां कर्म भूमौ विधीयते॥ ५॥

जम्बूद्वीपस्य संस्थानमुक्तं वर्षविभागतः, तत्रापि भारतं श्रेष्ठमाह, तत्र च पुंवपुः। भारती भरतस्य सन्ततिः॥ १॥

अत्रैव श्रेयःसाधनमनुष्ठेयमन्यत्र तदसम्भवादिति दर्शयन्नाह— **'कर्मभूमि'**-रिति। स्वर्गमपवर्गञ्च गच्छतां पुंसामुभयसाधनभूतानां प्रवृत्तनिवृत्तकर्मणां भूमिरियम् किम्पुरुषादिवर्षाष्टके पुष्करद्वीपे च कर्मण एवाभावात्।

प्लक्षादिद्वीपपञ्चके केवलं निवृत्तमेव कर्म, नान्यत् वक्ष्यति हि— **'यथोक्तकर्मकर्तृत्वात् स्वाधिकारक्षयाय हि। तत्र ते तु कुशद्वीपे ब्रह्मभूतं जनार्द्दनम्। यजन्तः क्षपयन्त्यग्रमधिकारं फलप्रदम्'**। इति॥ २॥

समस्तपुरुषार्थसाधनगङ्गादिपुण्यनदीनां जन्मभूमयः शैलाश्चात्रैव सन्तीत्याह—**'महेन्द्र'** इति॥ ३॥

तस्मात् सर्वं शुभाशुभमत्रेति अनेनैव कर्मण प्राप्यत इत्याह— **'अत'** इति। अतोऽस्माद् वर्षात् स्वर्गलोकः सम्प्राप्यते। क्रममुक्तिश्चास्मात् प्रयान्ति॥ ४॥

भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदान् निशामय।
इन्द्रद्वीपः कशेरुमान् ताम्रवर्णो गभस्तिमान्।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारूणः॥ ६॥
अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः।
योजनानां सहस्रन्तु द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरात्॥ ७॥
पूर्वे किराता यस्य स्युः पश्चिमे यवनाः स्थिताः।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मध्ये शूद्राश्च भागशः॥ ८॥
इज्या-युद्ध-वाणिज्याद्यैर्वर्त्तयन्तो व्यवस्थिताः।
शतद्रूचन्द्रभागाद्या हिमवत्पादनिर्गताः॥ ९॥
सेद-स्मृतिमुखाद्याश्च पारिपात्रोद्भवा मुने।
नर्मदा सुरसाद्याश्च नद्यो विन्ध्याद्रिनिर्गताः॥ १०॥
तापी-पयोष्णी-निर्विन्ध्याप्रमुखा ऋक्षसम्भवाः।
गोदावरी भीमरथी कृष्णवेण्यादिकास्तथा॥ ११॥
सह्यपादोद्भवा नद्यः स्मृताः पापभयापहाः।
कृतमाला-ताम्रपर्णीप्रमुखा मलयोद्भवाः॥ १२॥
त्रिसामाचार्यकुल्याद्या महेन्द्रप्रभवाः स्मृताः।
ऋषिकुल्या-कुमार्याद्याः शुक्तिमत्पादसम्भवाः॥ १३॥
आसां नद्युपनद्यश्च सन्त्यन्याश्च सहस्रशः।
तास्विमे कुरुपाञ्चाला मध्यदेशादयो जनाः॥ १४॥

स्वर्गश्च भौम इलावृतादिः। मोक्षश्च सद्योमुक्तिः। मध्यमान्तरीक्षलोकाः। अन्तः पातालादिरित एव गम्यते, नान्यतः, तत्साधनस्यात्रैव सुलभत्वात्। यस्मादन्यत्र भूमौ वर्षान्तरादौ शास्त्रेण कर्म न विधीयते॥५-६॥

अयन्त्विति। समुद्रप्रान्तवर्त्ती द्वीपः समुद्रेणैकीभूतेन सागरेण सगरसुतखातेन संवृत इति ज्ञेयम्। 'सामान्यतः सगरसुतखातसागरसंवृतत्वम् सहस्रयोजनान्तरतः प्रत्येकम् ऋते इलावृतमन्येषामपि अस्त्येव। यदाह वायुः—''भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदान् निबोधत। पर्वतान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम्'' इति॥७-१२॥

क्रमाविवक्षया शक्तिमत्यादिनिःसृतानां नदीनां पश्चान्निर्देशः॥१३॥

पूर्वदेशादिकाश्चैव कामरूपनिवासिनः।
पुण्ड्राः कलिङ्गा मगधा दाक्षिणात्याश्च सर्वशः॥ १५॥
तथापरान्ताः सौराष्ट्राः शूराभीरास्तथार्बुदाः।
कारूषा माल्यवांश्चैव पारिपात्रनिवासिनः॥ १६॥
सौवीराः सैन्धवा हूणाः शाल्वाः शाकलवासिनः।
मद्रारामास्तथाम्बष्ठाः पारसीकादयस्तथा॥ १७॥
आसां पिबन्ति सलिलं वसन्ति सरितां सदा।
समीपतो महाभागा हृष्टपुष्टजनाकुलाः॥ १८॥
चत्वारि भारते वर्षे युगान्यत्र महामुने।
कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिश्चान्यत्र न क्वचित्॥ १९॥
तपस्तप्यन्ति मुनयो जुह्वते चात्र यज्विनः।
दानानि चात्र दीयन्ते परलोकार्थमादरात्॥ २०॥
पुरुषैर्यज्ञपुरुषो जम्बूद्वीपे सदेज्यते।
यज्ञैर्यज्ञमयो विष्णुरन्यद्वीपेषु चान्यथा॥ २१॥
अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने।
यतो हि कर्मभूरेषा ततोऽन्या भोगभूमयाः॥ २२॥
अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम।
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसञ्चयात्॥ २३॥

'तास्वि' ति—इमे कुरुपाञ्चालादिनानादेशवर्त्तिनो जनास्तासु नदीषु वसन्ति, आसां जलानि पिबन्ति चेति चतुर्थेनान्वयः॥१४-१८॥

'चत्वारी' ति—कृते युगे चतुष्पाद् धर्मः, त्रेतायां पादन्यूनः, द्वापरे द्विपात्। कलौ पदावशेष इत्यादिचतुर्युगव्यवस्था नान्यत्रेत्यर्थः॥१९-२०॥

यज्ञपुरुषरूपो विष्णुरत्रेज्यते। अन्यद्वीपेषु प्लक्षादिषु अन्यथा सोमवायुसूर्यादिरूपः॥२१-२२॥

स्वर्गदेवत्वप्राप्तेरपि अत्र मनुष्यत्वं दुर्लभमित्यस्मिन्नर्थे देवगीतं प्रमाणयति—'गायन्ती' ति।

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥ २४॥
कर्माण्यसङ्कल्पिततत्फलानि संन्यस्य विष्णौ परमात्मभूते।
अवाप्य तां कर्ममहीमनन्ते तस्मिँल्लयं ये त्वमलाः प्रयान्ति॥ २५॥
जानीम नैतत् क्व वयं विलीने स्वर्गप्रदे कर्मणि देहबन्धम्।
प्राप्स्याम धन्याः खलु ते मनुष्या ये भारते नेन्द्रियविप्रहीणाः॥ २६॥
नववर्षं तु मैत्रेय! जम्बूद्वीपमिदं मया।
लक्षयोजनविस्तारं संक्षेपात् कथितं तव॥ २७॥
जम्बूद्वीपं समावृत्य लक्षयोजनविस्तरः।
मैत्रेय! वलयाकारः स्थित क्षारोदधिर्बहिः॥ २८॥

इति श्रीविष्णुपुराणे द्वितीयेऽंशे तृतीयोऽध्यायः।

स्वर्गश्चापवर्गश्च आस्पदं स्थानं तस्य मार्गभूते भारताख्ये भूमिभागे ये पुरुषा भवन्ति, ते तु सुरत्वात् सुरत्वं प्राप्तानस्मानपि अपेक्ष्य भूयोऽधिकं धन्याः सुकृतिन इत्यर्थः॥ २४॥

तत्र हेतुमाहुः— '**कर्माणि**'ति। तां कर्ममहीम् अवाप्य। न सङ्कल्पितानि तानि प्रसिद्धानि दृष्टादृष्टानि फलानि येषां तान्यसङ्कल्पिततत्फलानि निष्कामाणि कर्माणि विष्णौ सन्न्यस्य समर्प्य ये अमलाः सन्तस्तमेवालयं स्थानं प्रयान्ति। पाठान्तरे तस्मिन् लयमैक्यं प्रयान्ति ते धन्या इति पूर्वेण सम्बन्धः॥ २५॥

युष्माकमपि स्वर्गभोगानन्तरं भारते जन्म भविष्यतीति चेत् तत् तु न ज्ञायत इत्याहुः—'जानीमे'ति। स्वर्गप्रदे कर्मणि भोगेन विलीने सति कुत्रदेहबन्धं जन्म प्राप्स्याम इति न जानीम। ये त्वद्य भारते मनुष्या जाताः सन्तिः, ते खल्वनिश्चितधन्याः अनायासेन मोक्षप्राप्ताः। तदाहुः—नेन्द्रियविप्रहीनाः अन्धपङ्ग्वादयो यदि न भवन्ति इति इन्द्रियवत्त्वमात्रेण तत्र मोक्षः सुसाध्य इति भावः॥ २६-२८॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायां स्वप्रकाशाख्यायामात्मप्रकाशाख्यायां वा विष्णुपुराणटीकायां द्वितीयांशे तृतीयोऽध्यायः

चतुर्थोऽध्यायः

(षड्द्वीपवर्णनम्, लोकालोकपर्वतकथनञ्च)

पराशर उवाच

क्षारोदेन यथा द्वीपो जम्बूसंज्ञोऽभिवेष्टितः।
संवेष्ट्य क्षारमुदधिं प्लक्षद्वीपस्तथा स्थितः॥ १॥
जम्बूद्वीपस्य विस्तारः शतसाहस्रसम्मितः।
स एव द्विगुणो ब्रह्मन्! प्लक्षद्वीप उदाहृतः॥ २॥
सप्त मेधातिथेः पुत्राः प्लक्षद्वीपेश्वरस्य वै।
ज्येष्ठः शान्तभयो नाम शिशिरस्तदनन्तरम्॥ ३॥
सुखोदयस्तथानन्दः शिवः क्षेमक एव च।
ध्रुवश्च सप्तमस्तेषां प्लक्षद्वीपेश्वरा हि ते॥ ४॥
पूर्वं शान्तभयं वर्षं शिशिरं सुखदं तथा।
आनन्दञ्च शिवञ्चैवं क्षेमकं ध्रुवमेव च॥ ५॥
मर्यादाकारकास्तेषां तथान्ये वर्षपर्वताः।
सप्तैव तेषां नामानि शृणुष्व मुनिसत्तम॥ ६॥
गोमेदश्चैव चन्द्रश्च नारदो दुन्दुभिस्तथा।
सोमकः सुमनाश्चैव वैभ्राजश्चैव सप्तमः॥ ७॥

अथ प्लक्षादिकान् द्वीपान् वर्षाद्रिसरिदब्धिभिः। वर्णरूपादिभेदेन वर्णयत्याकटाहतः॥ १॥

तथा बलयत्वेन॥ २-३॥

अत्र च जम्बूद्वीपो लवणाब्धिश्च विस्तारतो लक्षयोजनप्रमाणौ। एतमुत्तरोत्तरं द्वीपाब्धियुग्मं पूर्वस्माद् द्वितीयाब्धियुग्माद् द्विगुणं द्रष्टव्यम्। प्लक्षादिद्वीपपञ्चके च द्वीपविस्तारप्रमाणैरुभयतः समुद्रस्पर्शिभिः सप्तसप्तभिर्मर्यादागिरिभिर्भक्तान्युभयतः समुद्रस्पर्शानि सप्त सप्त वर्षाणि। पुष्करद्वीपे तु मध्यतो बलयाकारेण मानसोत्तरेण विभक्ते द्वे वर्षे। सर्वत्र वर्षाधिपतिसंज्ञाभिरेव वर्षाणां संज्ञा। शैलनद्यादयश्च स्व-स्व-संज्ञाभिरेव सर्वत्र स्पष्टं निर्दिष्टाः। तदेवं स्थिते तत्र किञ्चिद् व्याख्यायते प्लक्षद्वीपेश्वराः पूर्वादिवर्षक्रमेण॥ ४॥

वर्षाचलेषु रम्येषु सर्वेष्वेतेषु चानघाः।
वसन्ति देवगन्धर्वसहिताः सततं प्रजाः॥८॥
तेषु पुण्या जनपदाश्चिराच्च म्रियते जनः।
नाधयो व्याधयो वापि सर्वकालसुखं हि तत्॥९॥
तेषां नद्यस्तु सप्तैव वर्षाणाञ्च समुद्रगाः।
नामतस्ताः प्रवक्ष्यामि श्रुताः पापं हरन्ति याः॥१०॥
अनुतप्ता शिखी चैव विपाशा त्रिदिवा क्रमुः।
अमृता सुकृता चैव सप्तैतास्तत्र निम्नगाः॥११॥
एते शैलास्तथा नद्यः प्रधानाः कथितास्तव।
क्षुद्रशैलास्तथा नद्यस्तत्र सन्ति सहस्रशः॥१२॥
ताः पिबन्ति सदा हृष्टा नदीर्जनपदास्तु ते।
अपसर्पणी न तेषां वै न चैवोत्सर्पिणी द्विज॥१३॥
न त्वेवास्ति युगावस्था तेषु स्थानेषु सप्तसु।
त्रेतायुगसमः कालः सर्वदैव महामते॥१४॥
प्लक्षद्वीपादिषु ब्रह्मन्! शाकद्वीपान्तिकेषु वै।
पञ्चवर्षसहस्राणि जना जीवन्त्यनामयाः॥१५॥
धर्माः पञ्च त्वथैतेषु वर्णाश्रमविभागजाः।
वर्णाश्च तत्र चत्वारस्तान् निबोध वदामि ते॥१६॥
आर्यकाः कुरवश्चैव विविंशा भाविनश्च ये।
विप्र-क्षत्रिय-वैश्यास्ते शूद्राश्च मुनिसत्तम॥१७॥
जम्बूवृक्षप्रमाणस्तु तन्मध्ये सुमहांस्तरुः।

तदाह—'पूर्व' मिति॥५-८॥

चिरात् पञ्चवर्षसहस्रान्ते म्रियते॥९-१२॥

अपसर्पिणी ह्रासावस्था उत्सर्पिणी वृद्धावस्था। भारते हि कृतादित्रेतान्तं प्रजा उत्तरोत्तरं वर्द्धते। ततो द्वापरादिकलियुगान्तं ह्रसन्ति, तत् तेषां नास्तीत्यर्थः। युगावस्थेति कृतादीनां व्यवस्थेयं धर्मपादव्यवस्थया इति सूर्यसिद्धान्तादिप्रोक्ता युगावस्था च तेषु नास्ति। त्रिपाद् धर्मः शस्यादिसमृद्धिः यागाद्यनुष्ठानमित्यादिना त्रेतायुगसमः कालः॥१४-१७॥

प्लक्षस्तन्नामसंज्ञोऽयं प्लक्षद्वीपो द्विजोत्तम॥ १८॥
इज्यते तत्र भगवांस्तैर्वर्णैरार्यकादिभिः।
सोमरूपी जगत्स्रष्टा सर्वः सर्वेश्वरो हरिः॥ १९॥
प्लक्षद्वीपप्रमाणेन प्लक्षद्वीपः समावृतः।
तथैवेक्षुरसोदेन परिवेशानुकारिणा॥ २०॥
इत्येवं तव मैत्रेय! प्लक्षद्वीप उदाहृतः।
संक्षेपेण मया भूयः शाल्मलं मे निशामय॥ २१॥
शाल्मलस्येश्वरो वीरो वपुष्मांस्तत्सुतान् शृणु।
तेषान्तु नामसंज्ञानि सप्त वर्षाणि तानि वै॥ २२॥
श्वेतोऽथ हरितश्चैव जीमूतो रोहितस्तथा।
वैद्युतो मानसश्चैव सुप्रभश्च महामुने॥ २३॥
शाल्मलेन समुद्रोऽसौ द्वीपेनेक्षुरसोदकः।
विस्ताराद्द्विगुणेनाथ सर्वतः संवृतः स्थितः॥ २४॥
तत्रापि पर्वताः सप्त विज्ञेया रत्नयोनयः।
वर्षान्तव्यञ्जका ये तु तथा सप्त च निम्नगाः॥ २५॥
कुमुदश्चोन्नतश्चैव तृतीयश्च बलाहकः।
द्रोणो यत्र महौषध्यः स चतुर्थो महीधरः॥ २६॥
कङ्कस्तु पञ्चमः षष्ठो महिषः सप्तमस्तथा।
ककुद्मान् पर्वतवरः सरिन्नामानि मे शृणु॥ २७॥
योनी तोया वितृष्णा च चन्द्रा शुक्ला विमोचनी।
निवृत्तिः सप्तमी तासां स्मृतास्ताः पापशान्तिदाः॥ २८॥
श्वेतञ्च हरितञ्चैव वैद्युतं मानसं तथा।
जीमूतरोहिते चैव सुप्रभञ्चातिशोभनम्॥ २९॥
सप्तैतानि तु वर्षाणि चातुर्वर्ण्ययुतानि वै।

तस्य प्लक्षस्य नाम्ना संज्ञा यस्य स तन्नामसंज्ञः॥ १८-२५॥

'विशल्यकरणी चैव मृतसञ्जीवनी तथा। सुवर्णकरणी चान्या सन्धिनी च महौषधिः'। इत्याद्या महौषध्यो यत्र सन्ति यश्च हनुमता आनीय प्रतिनीतः स द्रोणश्चतुर्थः॥ २६॥

शाल्मले ये तु वर्णाश्च वसन्त्येते महामुने॥ ३०॥
कपिलाश्चारुणाः पीताः कृष्णाश्चैव पृथक् पृथक्।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव यजन्ति ते॥ ३१॥
भगवन्तं समस्तस्य विष्णुमात्मानमव्ययम्।
वायुभूतं मखैः श्रेष्ठैर्यज्विनो यज्ञसंस्थितिम्॥ ३२॥
देवानामत्र सान्निध्यमतीव सुमनोहरे।
शाल्मलिः सुमहान्वृक्षो नाम्ना निर्वृतिकारकः॥ ३३॥
एष द्वीपः समुद्रेण सुरोदेन समावृतः।
विस्ताराच्छाल्मलस्येव समेन तु समन्ततः॥ ३४॥
सुरोदकः परिवृतः कुशद्वीपेन सर्वतः।
शाल्मलस्य तु विस्ताराद् द्विगुणेन समन्ततः॥ ३५॥
ज्योतिष्मतः कुशद्वीपे सप्त पुत्राः शृणुष्व तान्।
उद्भिदो वेणुमांश्चैव वैरथो लम्बनो धृतिः॥ ३६॥
प्रभाकरोऽथ कपिलस्तन्नामा वर्षपद्धतिः।
तस्मिन् वसन्ति मनुजाः सह दैतेयदानवैः॥ ३७॥
तथैव देव-गन्धर्व-यक्ष-किम्पुरुषादयः।
वर्णास्तत्रापि चत्वारो निजानुष्ठानतत्पराः॥ ३८॥
दमिनः शुष्मिणः स्नेहा मन्देहाश्च महामुने।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राश्चानुक्रमोदिताः॥ ३९॥
यथोक्तकर्मकर्तृत्वात् स्वाधिकारक्षयाय ते।
तत्रैव तं कुशद्वीपे ब्रह्मरूपं जनार्दनम्।
यजन्तः क्षपयन्त्युग्रमधिकारं फलप्रदम्॥ ४०॥
विद्रुमो हेमशैलश्च द्युतिमान् पुष्पवांस्तथा।
कुशेशयो हरिश्चैव सप्तमो मन्दराचलः।

यज्ञानां सम्यक् स्थितिर्यस्मिन् तं यज्ञसंस्थितिम्॥ ३२-३६॥

तेषां नामान्येव नामानि यस्याः सा तन्नासा वर्षपद्धतिर्वर्षाणां पङ्क्तिः॥ ३७-३९॥

वर्षाचलास्तु तत्रैते सप्त द्वीपे महामुने॥४१॥
नद्यस्तु सप्त तासान्तु शृणु नामान्यनुक्रमात्।
धूतपापा शिवा चैव पवित्रा सम्मतिस्तथा॥४२॥
विद्युदम्भा मही चान्या सर्वपापहरास्त्विमाः।
अन्याः सहस्रशस्तत्र क्षुद्रनद्यस्तथाचलाः॥४३॥
कुशद्वीपे कुशस्तम्बः संज्ञया तस्य तत् स्मृतम्।
तत्प्रमाणेन स द्वीपो घृतोदेन समावृतः॥४४॥
घृतोदश्च समुद्रो वै क्रौञ्चद्वीपेन संवृतः।
क्रौञ्चद्वीपो महाभाग! श्रूयताञ्चापरो महान्॥४५॥
कुशद्वीपस्य विस्ताराद् द्विगुणो यस्य विस्तरः।
क्रोञ्चद्वीपे द्युतिमतः पुत्राः सप्त महात्मनः॥४६॥
तन्नामानि च वर्षाणि तेषां चक्रे महीपतिः॥४७॥
कुशलो मन्दगश्चोष्णः पीवरोऽप्यन्धकारकः।
मुनिश्च दुन्दुभिश्चैव सप्तैते तत्सुता मुने॥४८॥
तत्रापि देवगन्धर्वसेविताः सुमनोहराः।
वर्षाचला महाबुद्धे! तेषां नामानि मे शृणु॥४९॥
क्रौञ्चश्च वामनश्चैव तृतीयश्चान्धकारकः।
देवावृत् पञ्चमश्चात्र तथान्यः पुण्डरीकवान्।
दुन्दुभिश्च महाशैलो द्विगुणास्ते परस्परम्॥५०॥
द्वीपा द्वीपेषु ये शैला यथा द्वीपानि ते तथा॥५१॥
वर्षेष्वेतेषु रम्येषु तथा शैलवरेषु च।

स्वाधिकारक्षयाय सत्त्वशुद्ध्यात्मज्ञानेन कर्माधिकारनिवृत्त्यर्थमधिकारम् अधिक्रियतेऽनेनेत्यधिकारोऽहङ्कारस्तम् उग्रं रागद्वेषादिहेतुं क्षपयन्ति। एतच्च प्लक्षादिषु पञ्चस्वपि द्रष्टव्यम्। '**धर्मः पञ्चस्वथैतेषु**' इति पञ्चानां साधर्म्यस्योक्तत्वात्॥४०-४३॥

तत् कुशद्वीपनाम॥४४॥

प्रथमः शैलः क्रौञ्चस्तेनैव द्वीपः प्रोक्त इत्यप्यनुसन्धेयम्। अन्योऽपरः पुण्डरीकः पञ्चमः, सप्तमो महाशैलः। पञ्चमश्चैत्ररथ इति पाठे महाशैल इति दुन्दुभेर्विशेषणम्। पूर्वस्मात् परस्परमुत्तरोत्तरं द्वीपाद् द्विगुणाः॥५०॥

निवसन्ति निरातङ्काः सह देवगणैः प्रजाः॥५२॥
पुष्कारा: पुष्कला धन्यास्तिष्याख्याश्च महामुने।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चानुक्रमोदिताः॥५३॥
ते तत्र नदी मैत्रेय! याः पिबन्ति शृणुष्व ताः।
सप्तप्रधाना शतशस्तत्रान्याः क्षुद्रनिम्नगाः॥५४॥
गौरी कुमुद्वती चैव सन्ध्या रात्रिर्मनोजवा।
क्षान्तिश्च पुण्डरीका च सप्तैता वर्षनिम्नगाः॥५५॥
तत्रापि विष्णुर्भगवान् पुष्कराद्यैर्जनार्द्दनः।
यागै रुद्रस्वरूपश्च इज्यते यज्ञसन्निधौ॥५६॥
क्रौञ्चद्वीपः समुद्रेण दधिमण्डोदकेन च।
आवृतः सर्वतः कौञ्चद्वीपतुल्येन मानतः॥५७॥
दधिमण्डोदकश्चापि शाकद्वीपेन संवृतः।
क्रौञ्चद्वीपस्य विस्ताराद् द्विगुणेन महामुने॥५८॥

शाकद्वीपेश्वरस्यापि भव्यस्य सुमहात्मनः।
सप्तैव तनयास्तेषां ददौ वर्षाणि सप्त सः॥५९॥
जलदश्च कुमारश्च सुकुमारो मनीचकः।
कुसुमोदश्च मौदाकिः सप्तमश्च महाद्रुमः॥६०॥
तत्संज्ञान्येव तत्रापि सप्त वर्षाण्यनुक्रमात्।
तत्रापि पर्वताः सप्त वर्षविच्छेदकारिणः॥६१॥
पूर्वस्तत्रोदयगिरिर्जलाधारस्तथापरः।
तथा रैवतकः श्यामस्तथैवास्तो गिरिर्द्विज:॥६२॥
आम्बिकेयस्तथा रम्यः केसरी पर्वतोत्तमः।
शाकस्तत्र महावृक्षः सिद्ध-गन्धर्वसेवितः॥६३॥
यत्रत्यवातसंस्पर्शादाह्लादो जायते परः।

तेषु द्वीपेषु ये शैलास्तेऽपि यथा द्वीपानि तथोत्तरोत्तरं द्विगुणा इत्यर्थः॥५१-५७॥

दध्नोः मण्डः सारस्तदेवोदकं यस्मिंस्तेन॥५८-६२॥

तत्र पुण्या जनपदाश्चातुर्वर्ण्यसमन्विताः॥६४॥
नद्यश्चात्र महापुण्याः सर्वपापभयापहाः।
सुकुमारी कुमारी च नलिनी धेनुका च या॥६५॥
इक्षुश्च वेणुका चैव गभस्ती सप्तमी तथा।
अन्यास्त्वयुतशस्तत्र क्षुद्रनद्यो महामुने॥६६॥
महीधरास्तथा सन्ति शतशोऽथ सहस्रशः।
ताः पिबन्ति मुदा युक्ता जलदादिषु ये स्थिताः॥६७॥
वर्षेषु ते जनपदाः स्वर्गादभ्येत्य मेदिनीम्।
धर्महानिर्न तेष्वस्ति न संघर्षः परस्परम्॥६८॥
मर्यादाव्युत्क्रमो नास्ति तेषु देशेषु सप्तसु।
मृगाश्च मागधाश्चैव मानसामन्दगास्तथा॥६९॥
मृगा ब्राह्मणभूयिष्ठा मागधाः क्षत्रियास्तथा।
वैश्यास्तु मानसास्तेषां शूद्रास्तेषान्तु मन्दगाः॥७०॥
शाकद्वीपे तु तैर्विष्णुः सूर्यरूपधरो मुने।
यथोक्तैरिज्यते सम्यक् कर्मभिर्नियतात्मभिः॥७१॥
शाकद्वीपस्तु मैत्रेय! क्षीरोदेन समन्ततः।
शाकद्वीपप्रमाणेन बलयेनेव वेष्टितः॥७२॥
क्षीराब्धि सर्वतो ब्रह्मन्! पुष्कराख्येन वेष्टितः।
द्वीपेन शाकद्वीपात्तु द्विगुणेन समन्ततः॥७३॥
पुष्करे सबलस्यापि महावीरोऽभवत् सुतः।
धातकिश्च तयोस्तत्र द्वे वर्षे नामचिह्निते॥७४॥
महावीरं तथैवान्यं धातकीखण्डसंज्ञितम्।
एकश्चात्र महाभाग प्रख्यातो वर्षपर्वतः॥७५॥

शाको वृक्षविशेषः यस्य पत्राण्यन्तःखरस्पर्शानि बहिर्मृहुस्पर्शानि। **''अन्तःस्वरा बहिः स्निग्धाः स्त्रियः शाकदलोपमाः''** इति वशिष्ठोक्तेः॥६३-६७॥

स्वर्गादभ्येत्येति स्वर्गभोगानन्तरं पुण्यशेषेण मेदिनीम् अभ्येत्य ये जलदिदावर्षेषु स्थिता जाता जनपदा लोकास्ते ता नदीः पिबन्तीत्यन्वयः। संघर्षः कलहः॥६८-६९॥

मानसोत्तरसंज्ञो वै मध्यतो बलयाकृतिः।
योजनानां सहस्राणि ऊर्ध्वं पञ्चाशदुच्छ्रितः॥७६॥
तावदेव च विस्तीर्णः सर्वतः परिमण्डलः।
पुष्करद्वीपवलयं मध्येन विभजन्निव॥७७॥
स्थितोऽसौ तेन विच्छिन्नं जातं तद्वर्षकद्वयम्।
बलयाकारमेकैकं तयोर्वर्षं तथा गिरिः॥७८॥
दशवर्षसहस्राणि तत्र जीवन्ति मानवाः।
निरामया विशोकाश्च रागद्वेषादिवर्जिताः॥७९॥
अधमोत्तमौ न तेष्वास्तां न वध्यवधकौ द्विज।
नेर्ष्यासूया भयं द्वेषो दोषो लोभादिको न च॥८०॥
महावीरं बहिर्वर्षं धातकीखण्डमन्त्रतः।
मानसोत्तरशैलस्य देवदैत्यादिसेवितम्॥८१॥
सत्यानृते न तत्रास्तां द्वीपे पुष्करसंज्ञिते।
न तत्र नद्यः शैला वा द्वीपे वर्षद्वयान्विते॥८२॥
तुल्यवेशास्तु मनुजा देवास्तत्रैकरूपिणः।
वर्णाश्रमाचारहीनं धर्माहरणवर्जितम्॥८३॥
त्रयीवार्त्तादण्डनीतिशुश्रूषारहितञ्च तत्।
वर्षद्वयन्तु मैत्रेय! भौमस्वर्गोऽयमुत्तमः॥८४॥
सर्वस्य सुखदः कालो जरारोगादिवर्जितः।
धातकीखण्डसंज्ञेऽथ महावीरे च वै मुने॥८५॥
न्यग्रोधः पुष्करद्वीपे ब्रह्मणः स्थानमुत्तमम्।

ब्राह्मणभूयिष्ठाः पूर्वोक्तेषु सर्वेषु ब्राह्मणेषु मध्ये श्रेष्ठाः॥७०-८०॥

अन्ततो मानसोत्तराद्रि रन्तरित्यर्थः॥८१-८२॥

'तुल्यवेशा' इति पाठे वेशो भोगः, तुल्यसुखा इत्यर्थः। नित्यनैमित्तिकैरावश्यकैर्वर्णाश्रमाचारैर्हीनं धर्माचरणं काम्यधर्मानुष्ठानं तेन वर्जितम्॥८३-८५॥

तस्मिन्निवसति ब्रह्मा पूज्यमानः सुरासुरैः॥८६॥
स्वादूदकेनोदधिना पुष्करः परिवेष्टितः।
समेन पुष्करस्यैव विस्तारान्मण्डलं तथा॥८७॥
एवं द्वीपाः समुद्रैश्च सप्त सप्तभिरावृताः।
द्वीपश्चैव समुद्रैश्च समानौ द्विगुणौ परौ॥८८॥
पयांसि सर्वदा सर्व-समुद्रेषु समानि वै।
न्यूनातिरिक्तता तेषां कदाचिन्नैव जायते॥८९॥
स्थालीस्थमग्निसंयोगादुद्रेकि सलिलं यथा।
तथेन्दुवृद्धौ सलिलमम्भोधौ मुनिसत्तम॥९०॥
न न्यूना नातिरिक्ताश्च वर्द्धन्त्यापो ह्रसन्ति च।
उदयास्तमयेष्विन्दोः पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः॥९१॥
दशोत्तराणि पञ्चैव अन्दुलानां शतानि वै।
अपां वृद्धिक्षयौ द्रष्टौ सामुद्रीणां महामुने॥९२॥
भोजनं पुष्करद्वीपे तत्र स्वयमुपस्थितम्।

न्यक् तिर्यक् समन्ताद् भूमिं रुणद्धीति न्यग्रोधो बृहत्, पुष्करमेव स प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत् इति श्रुतेः। **''न्यग्रोधः पुष्करद्वीपे पुष्करस्तेन संस्मृत''** इति मत्स्योक्तेश्च। यस्मिन् बृहत्पुष्करं ज्वलनशिखामलकनकपात्रायुतायुतं भगवतः कमलासनस्याध्यासनं परिकल्पितम् इति शुकोक्तेश्च॥८६-८७॥

'द्वीपश्चे' ति। जम्बूद्वीपश्च लवणसमुद्रश्च समानौ लक्षयोजनविस्तारौ, ततः परौ द्वीपसमुद्रौ उत्तरोत्तरं द्विगुणावित्यर्थः॥८८-८९॥

यथा स्थालीस्थं प्रस्थादिपरिमितमेव सलिलं तीव्राग्निसंयोगादुद्रेकि विरलावयवं समुद्रेकयुक्तं भवति, अग्निसंयोगोपरमे च यथापूर्वं तिष्ठति, तथेन्दुवृद्धौ पौर्णमास्यामम्भोधौ सलिलमत्यन्तमुद्रिच्यते। अमावस्यायाञ्च यथापूर्वं तिष्ठति॥९०॥

तथा शुक्लकृष्णयोः पक्षयोः प्रत्यहम् इन्दोरुदयेषु अनतिरिक्ता एवापः किञ्चित् किञ्चिद् वर्द्धन्ते। इन्दोरस्तमयेषु चान्यूना एवं किञ्चित् ह्रसन्तीत्यर्थः॥९१॥

परमवृद्धिह्रासयोः प्रमाणमाह— **'दशे'** ति— सार्द्धद्विचत्वारिंशद्वितस्तिपरिमितौ सामुद्रीणामपां वृद्धिक्षयौ शास्त्रतो दृष्टौ यद्वा तीरस्थान्वयव्यतिरेकाभ्यां दृष्टौ॥९२॥

षड्रसं भुञ्जते विप्र! प्रजाः सर्वाः सदैव हि॥ ९३॥
स्वादूदकस्य परतो दृश्यतेऽलोकसंस्थितिः।
द्विगुणा काञ्चनी भूमिः सर्वजन्तुविवर्जिता॥ ९४॥
लोकालोकस्तथा शैलो योजनायुतविस्तृतः।
उच्छ्रायेणापि तावन्ति सहस्राण्यचलो हि सः॥ ९५॥
ततस्तमः समावृत्य तं शैलं सर्वतः स्थितम्।
तमश्चाण्डकटाहेन समन्तात् परिवेष्टितम्॥ ९६॥

भुज्यते इति भोजनं भक्ष्यभोज्यादिचतुर्विधमन्नशाकादिकं तत् प्रयत्नं विना स्वयमेवोपस्थितं भुञ्जते। षड्रसं मधुरकट्वम्ललवणतिक्तकषाया इति प्रसिद्धाः षड्रसा यस्मिन् तत्॥ ९३॥

अलोकसंस्थितिरिति च्छेदः। न विद्यते लोकस्य जननिवासभूतस्य संस्थितिर्यस्यां सा समस्तप्राणिविवर्जिता। ससागरसप्तद्वीपवत्याः पूर्वोक्ताया भूमेर्द्विगुणा शुद्धोदकसमुद्रात् परतः काञ्चनी भूमिर्योगिभिर्दृश्यते॥ ९४॥

तावन्ति तावत्संख्यापूरकाणि सहस्राणि योजनायुतमेवोच्छ्रित इत्यर्थः। यद्वा तावन्ति अयुतसंख्यानि सहस्राणीत्यर्थः "**यस्मात् सूर्यादीनां ध्रुवापवर्गाणां ज्योतिर्गणानां गभस्तयोऽर्वाचीनांस्त्रीन् लोकानावितन्वाना न कदाचित् पराचीना भवितुमुत्सहन्ते। तावदुन्नहनायाम्**" इति शुकोक्तेः अत्रायं गणनात् क्रमः।

"पूर्वोक्तद्वीपाद् हि द्वैगुण्यक्रमेण मेरोः सर्वतः सप्तलक्षाधिकपञ्चकोटिप्रमाणा साब्धिसप्तद्वीपवती भूमिः, ततो द्विगुणाचतुर्दशलक्षोत्तरदशकोटिप्रमाणा काञ्चनी भूमिर्मेरोरेकत उभयतस्त्वष्टाविंशतिलक्षाधिकविंशतिकोटिप्रमाणा, तदेवं साब्धिद्वीपभूम्या सह काञ्चनी भूमिः पञ्चत्रिंशल्लक्षोत्तरपञ्चविंशतिकोटिप्रमाणा सम्पद्यते। ततो लोकालोकः शैलः अयुतयोजनविस्तारः सर्वतो बलयाकृतिः॥ ९५॥

"ततस्तं शैलं सर्वतस्तम आवृत्य तिष्ठति, तच्च विंशतिसहस्राधिकपञ्चत्रिंशल्लक्षन्यूनपञ्चविंशतिकोटिपरिमितम्। एतेन द्युलोकपरिमाणञ्च व्याख्यातम्" इति शुकोक्तेः। तदेवं पञ्चात्कोटिविस्तारेयमुर्वी। ततोऽण्डकटाहः सर्वतः समवर्त्तुलोऽन्तः पञ्चाशत्कोटिविस्तारः। "अण्डमध्यगतः सूर्यो द्यावाभूम्योर्यदन्तरम्

पञ्चाशत्कोटिविस्तारा सेयमुर्वी महामुने।
सहैवाण्डकटाहेन सद्वीपाब्धिमहीधरा॥ ९७॥
सेयं धात्री विधात्री च सर्वभूतगुणाधिका।
आधारभूता सर्वेषां मैत्रेय! जगतामिति॥ ९८॥

इति श्रीविष्णुपुराणे द्वितीयांशे चतुर्थोऽध्यायः।

सूर्याण्डगोलयोर्मध्ये कोट्यः स्युः पञ्चविंशतिः।'' इति शुकोक्तेः क्वचित् क्वचित् पुराणेषु विरोधो यदि लक्ष्यते। कल्पभेदादिभिस्तत्र व्यवस्था सद्भिरिष्यते॥ ९६॥

सहैवाण्डकटाहेनेति तन्मध्यवर्त्तिनीत्यर्थः॥ ९७॥

धात्री पालयित्री, विधात्री जनयित्री, इत्येतैः पालनादिभिः सर्वेभ्यो भूतेभ्य आकाशादिभ्यो गुणाधिकाचेत्यर्थः॥ ९८॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायां स्वप्रकाशाख्यायामात्मप्रकाशाख्यायां वा विष्णुपुराणटीकायां द्वितीयांशे चतुर्थोऽध्यायः॥

पञ्चमोऽध्यायः

(सप्तपातालविवरणम्, अनन्तस्य गुणवर्णनञ्च)

पराशर उवाच

विस्तार एष कथितः पृथिव्या भवतो मया।
सप्ततिस्तु सहस्राणि द्विजोच्छ्रायोऽपि कथ्यते॥ १॥
दशसाहस्रमेकैकं पातालं मुनिसत्तम!।
अतलं वितलञ्चैव नितलञ्च गभस्तिमत्।
महाख्यं सुतलञ्चाग्र्यं पातालञ्चापि सप्तमम्॥ २॥
शुक्ला कृष्णारुणा पीता शर्करा शैलकाञ्चना:।
भूमयो यत्र मैत्रेय! वरप्रासादमण्डिता:॥ ३॥
तेषु दानवदैतेया यक्षाश्च शतशस्तथा।
निवसन्ति महानागजातयश्च महामुने॥ ४॥
स्वर्लोकादपि रम्याणि पातालानीति नारदः।
प्राह स्वर्गसदां मध्ये पातालेभ्यो गतो दिवि॥ ५॥
आह्लादकारिणः शुभ्रा मणयो यत्र सुप्रभाः।
नागैराभ्रियमाणासु पातालङ्केन तत् समम्॥ ६॥

सप्तभूमिकविस्तार-प्रासादवदधोभुवः। सप्तपातालपङ्क्तिस्तु वर्ण्यतेऽनन्तमस्तके॥ १-२॥

'दशसाहस्र' मिति—प्रत्येकं सहस्रयोजनोच्छ्रिता भूमिकाः। ततो नवसहस्रोच्छ्रितमेकैकं पातालं भूविवरमित्यर्थः। सहस्रयोजनान्येषां जलान्यन्तरनेमयः। प्रत्येकशोऽन्तराण्येषां। सहस्राणि नवाध्वानम् इति शिवरहस्योक्तेर्महाख्यं महातलम्॥ ३-४॥

पातालेभ्यो दिवमभ्यागतः सन् स्वर्गसदां देवानां मध्ये प्राह॥५॥

शुभाः शुद्धा मणयो नागैराभ्रियमाणासु धार्यमाणासु भूषासु यत्र तत् पातालं केन समं? न केनापि, निरूपममित्यर्थः॥ ६॥

दैत्यदानवकन्याभिरितश्चेतश्च शोभिते।
पाताले कस्य न प्रीतिर्विमुक्तस्यापि जायते॥७॥
दिवार्करश्मयो यत्र प्रभां तन्वन्ति नातपम्।
शशिनश्च न शीताय निशि द्योताय केवलम्॥८॥
भक्ष्यभोज्यमहापानमुदितैरतिभोगिभिः।
यत्र न ज्ञायते कालो गतोऽपि दनुजादिभिः॥९॥
वनानि नद्यो रम्याणि सरांसि कमलाकराः।
पुंस्कोकिलाभिलापाश्च मनोज्ञान्यपराणि च॥१०॥
भूषणान्यतिरम्याणि गन्धाढ्यञ्चानुलेपनम्।
वीणावेणुमृदङ्गानां स्वनास्तूर्याणि च द्विज॥११॥
एतान्यन्यानि चोदारभाग्यभोग्यानि दानवैः।
दैत्योरगैश्च भुज्यन्ते पातालान्तरगोचरैः॥१२॥
पातालानामधश्चास्ते विष्णोर्या तामसी तनुः।
शेषाख्या यद्गुणान् वक्तुं न शक्ता दैत्यदानवाः॥१३॥
योऽनन्तः पठ्यते सिद्धैर्देवी देवर्षिपूजितः।
स सहस्रशिरा व्यक्तस्वस्तिकामलभूषणः॥१४॥
फणामणिसहस्रेण यः स विद्योतयन् दिशः।
सर्वान् करोति निर्वीर्यान् हिताय जगतोऽसुरान्॥१५॥
मदाघूर्णितनेत्रोऽसौ यः सदैवैककुण्डलः।
किरीटी स्रग्धरो भाति साग्निः श्वेत इवाचलः॥१६॥

विमुक्तस्य वीतरागस्यापि॥७-९॥

पुंस्कोकिलानामभिलापाः कूजितानि॥१०॥

तूर्याणि नृत्यगीतवादित्राणि॥११॥

उदारैरुत्कृष्टैर्भाग्यैः पुण्यैर्भोग्यानि। पातालानामन्तरं मध्यं गोचरो विषयो येषां तैः॥११-१३॥

स्वस्तिकं फणस्य रेखाचिह्नविशेषः। व्यक्तं स्वस्तिकमेवामलं भूषणं यस्य सः॥१४-१७॥

नीलवासा मदोत्सिक्तः श्वेतहारोपशोभितः।
साभ्रगङ्गाप्रवाहोऽसौ कैलासाद्रिरिवोन्नतः॥ १७॥
लाङ्गलासक्तहस्ताग्रो बिभ्रन्मुषलमुत्तमम्।
उपास्यते स्वयं कान्त्या यो वारुण्या च मूर्त्तया॥ १८॥
कल्पान्ते यस्य वक्त्रेभ्यो विषानलशिखोज्ज्वलः।
सङ्कर्षणात्मको रुद्रो निष्क्रम्यात्ति जगत्त्रयम्॥ १९॥
स बिभ्रच्छेखरीभूतमशेषक्षितिमण्डलम्।
आस्ते पातालमूलस्थः शेषोऽशेषसुरार्चितः॥ २०॥
शेखरीभूतं मुकुटवत् स्थितम्॥ २०॥
तस्य वीर्यं प्रभावश्च स्वरूपं रूपमेव च।
न हि वर्णयितुं शक्यं ज्ञातुं वा त्रिदशैरपि॥ २१॥
यस्यैषा सकला पृथ्वी फणामणिशिखारुणा।
आस्ते कुसुममालेव कस्तद्वीर्यं वदिष्यति॥ २२॥
यदा विजृम्भतेऽनन्तो मदाघूर्णितलोचनः।
तदा चलति भूरेषा साद्रितोयाब्धिकानना॥ २३॥
गन्धर्वाप्सरसः सिद्धाः किन्नरोरगचारणाः।
नान्तं गुणानां गच्छन्ति तेनानन्तोऽयमव्ययः॥ २४॥
यस्य नागवधूहस्तैर्लेगितं हरिचन्दनम्।
मुहुः श्वासानिलापास्तं याति दिक्षूदवासताम्॥ २५॥

कान्त्या श्रिया वारुण्या च मदिराधिष्ठात्र्या देवतया॥ १८-१९॥

शेखरीभूतं मुकुटवत् स्थितम्॥ २०॥

वीर्यं बलं, प्रभावः प्रतापः, स्वरूपं तत्त्वम्। रूपमाकारः॥ २१-२४॥

लगितं चर्चितम् अनुलिप्तं, यस्य श्वासानिलैरपास्तं, विक्षिप्तं दिक्षु उदवासतां जलसुगन्धीकरणचूर्णतां यातीत्यर्थः। दिक्क्षोदवासतामिति पाठे दिशां क्षोदवासताम् अधिवासनचूर्णत्वम्। यद्वा क्षोदाः क्रीडापांशवस्तेषां वासतां स्थानताम् दिक्कन्यानां क्रीड़ार्थे हरिद्रादि रजःस्थानीयं भवतीत्यर्थः। दिक्पटवासतामिति पाठः॥ २५॥

यमाराध्य पुराणर्षिर्गर्गो ज्योतींषि तत्त्वतः।
ज्ञातवान् सकलञ्चैव निमित्तपठितं फलम्॥ २६॥
तेनेयं नागवर्येण शिरसा विधृता मही।
बिभर्त्ति मालां लोकानां सदेवासुरमानुषाम्॥ २७॥

इति श्रीविष्णुपुराणे द्वितीयांशे पञ्चमोऽध्यायः।

ज्योतींषि ग्रहनक्षत्रादीनि निमित्ते उत्पातशकुनादौ पठितं शुभाशुभलक्षणं फलञ्च ज्ञातवान्॥ २६॥

देवासुरमानुषैः सहितां लोकानां पातालादीनां मालां श्रेणीं तेन विधृता सतीयं मही बिभर्ति। लोकाधारभूताया भूमेरपि स आधार इत्यर्थः॥ २७॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाख्यायां स्वप्रकाशाख्यायां वा विष्णुपुराणटीकायां द्वितीयांशे पञ्चमोऽध्यायः

षष्ठोऽध्यायः

(नरकवर्णनम्, हरिस्मरणेन सर्वप्रायश्चित्तकथनञ्च)

पराशर उवाच

ततश्च नरकान् विप्र! भुवोऽधः सलिलस्य च।
पापिनो येषु पात्यन्ते तान् शृणुष्व महामुने॥ १॥
रौरवः शूकरो राधेस्तालो विशसनस्तथा।
महाज्वालस्तप्तकुम्भः श्वसनोऽथ विमोहनः॥ २॥
रुधिरान्धो वैतरणी क्रिमीशः क्रिमिभोजनः।
असिपत्रवनं कृष्णो लालभक्षश्च दारुणः॥ ३॥
तथा पूयवहः पापो वह्निज्वालो ह्यधःशिराः।
सन्दंशः कालसूत्रश्च तमश्चावीचिरेव च॥ ४॥
स्वभोजनोऽथाप्रतिष्ठश्चावीचिश्च तथापरः।
इत्येवमादयश्चान्ये नरका भृशदारुणाः॥ ५॥
यमस्य विषये घोराः शस्त्राग्निभयदायिनः।
पतन्ति येषु पुरुषाः पापकर्मरतास्तु ये॥ ६॥
कूटसाक्षी तथा सम्यक् पक्षपातेन यो वदेत्।
यश्चान्यदनृतं वक्ति स नरो याति रौरवम्॥ ७॥
भ्रूणहा पुरहर्त्ता च गोघ्नश्च मुनिसत्तम!
यान्ति ते नरकं रोधं यश्चोच्छ्रवासनिरोधकः॥ ८॥

भारते कृतपुण्यानामुक्ताः स्वर्गप्रदा भुवः। तत्रैव कृतपापानां यातना च तथोच्यते। सलिलस्य चेति तमोगर्त्तोदकस्याधः ब्रह्माण्डगतगर्भोदकादूर्द्धमेव। दिशि दक्षिणस्यामधस्ताद् भूमेरुपरिष्टाज्जलादिति शुकोक्तेः॥ १-३॥

जानन्नप्यवदन् अन्यथा वा वदन् कूटसाक्षी। यश्च धर्माधिकृतः सन् असम्यग् अन्यायं वदेत्। यश्चान्यदपि अनृतं वक्ति॥ ७॥

भ्रूणहा गर्भहन्ता पुरहर्त्ता पुरविलुम्पकः॥ ८॥

सुरापो ब्रह्महा स्तेयी सुवर्णस्य च शूकरे।
प्रयाति नरके यश्च तैः संसर्गमुपैति वै॥ ९॥
राजन्यवैश्यहा ताले तथैव गुरुतल्पगः।
तप्तकुण्डे स्वसृगामी हन्ति राजभटांश्च यः॥ १०॥
साध्वीविक्रयकृद्वद् बद्धपालः केशरिविक्रयी।
तप्तलोहे पतन्त्येते यश्च भक्तं परित्यजेत्॥ ११॥
स्नुषां सुताञ्चापि गत्वा महाज्वाले निपात्यते।
अवमन्ता गुरूणां यो यश्चाक्रोष्टा नराधमः॥ १२॥
वेददूषयिता यश्च वेदविक्रयिकश्च यः।
अगम्यगामी यश्च स्यात् ते यान्ति लवणं द्विज॥ १३॥
चौरो विमोहे पतति मर्यादादूषकस्तथा।
देवद्विजपितृद्वेष्टा रत्नदूषयिता च यः।
स याति क्रिमिभक्षे वै क्रिमीशे च दुरिष्टकृत्॥ १४॥
पितृदेवातिथीन् यश्च पर्यश्नाति नराधमः।
लालभक्षे स यात्युग्रे शरकर्त्ता च वेधके॥ १५॥
करोति कर्णिनो यश्च यश्च खड्गादिकृन्नरः।
प्रयान्त्येते विशसने नरके भृशदारुणे॥ १६॥

'तैः संसर्ग'मिति— संवत्सरेण पतित सह शय्यासनाशनैः। याजनाध्यापनाद् यौनात् सद्यः पतति तत्समः'। इति। तैः सह संसर्गम्॥ ९॥

राज्ञो भटान् दूतान्॥ १०॥

साध्वी भार्या तस्या विक्रयकर्ता। बद्धपालः कारागृहरक्षकः, केशरिविक्रयी अश्वानां विक्रेता॥ ११-१२॥

वेददूषयिता वेदनिन्दकः। यद्वा भृतकाध्यापकः॥ १३॥

मर्यादादूषकः शिष्टाचारनिन्दकः। दुरिष्टकृत् अभिचारकर्त्ता॥ १४॥

पर्यश्नाति परित्यज्य आदौ भुङ्क्ते॥ १५॥

कर्णिनो वाणविशेषान्॥ १६॥

असत्प्रतिग्रहीता तु नरके यात्यधोमुखे।
अयाज्ययाजकश्चैव तथा नक्षत्रसूचकः॥१७॥
क्रिमिपूयवहश्चैको याति मिष्टान्नभुङ् नरः।
लाक्षा-मांस-रसानाञ्च तिलानां लवणस्य च।
विक्रेता ब्राह्मणो याति तमेव नरकं द्विज॥१८॥
मार्जार-कुक्कुटच्छाग-श्व-वराह-विहङ्गमान्।
पोषयन्नरकं याति तमेव द्विजसत्तम॥१९॥
रङ्गोपजीवी कैवर्त्तः कुण्डाशी गरदस्तथा।
सूची माहिषिकश्चैव पर्वकारी च यो द्विजः॥२०॥
आगारदाही मित्रघ्नः शाकुनिर्ग्रामयाजकः।
रुधिरान्धे पतन्त्येते सोमं विक्रीणते च ये॥२१॥
मधुहा ग्रामहन्ता च याति वैतरणीं नरः!
रेतःपातादिकर्त्तारो मर्यादाभेदिनो हि ये।
ते कृष्णे यान्त्यशौचाश्च कुहकाजीविनश्च ये॥२२॥

नक्षत्रसूचकः नक्षत्रगणकः॥१७॥

पुत्रादीन् वञ्चयित्वा एक एव मिष्टान्नभुक्। वेगी साहसकी तमेव क्रिमियुक्तं पूयवहमेव॥१८-१९॥

रङ्गोपजीवी नटमल्लादिवृत्तिः। कैवर्त्तः धीवरवृत्तिः। पत्यौ जीवति जाराज्जातः कुण्डः, तदन्नभोजी कुण्डाशी। सूची पिशुनः। माहिषिको महिषोपजीवी। यद्वा ''**महिषोत्युच्यते भार्या भगेनोपार्जयेद्धनम्। उपजीवति यस्तस्याः स वै माहिषिकः स्मृतः**। इति स्मृतिप्रोक्तः। पर्वकारी धनादिलोभेनापर्वस्वसावास्यादिक्रियाप्रर्वतकः। पर्वगामीति पाठे पर्वसु स्त्रीगामी॥२०॥

शाकुनिः पक्षजीवी शुभाशुभनिमित्तशकुनोपजीवी वा। ग्रामयाजक ग्रामार्थे यष्टा॥२१॥

मर्यादाभेदिनः क्षेत्रादिसीमातिक्रमकारिणः। कुहकं परवञ्चनम् इन्द्रजालादिकं वा जीवो वृत्तिर्येषां ते। कृष्णे कालसूत्रे॥२२॥

असिपत्रवनं याति वनच्छेदी वृथैव यः।
औरभ्रिका मृगव्याधा वह्निज्वाले पतन्ति वै॥ २३॥
यान्त्येते द्विज! तत्रैव ये चापाकेषु वह्निदाः।
व्रतानां लोपको यश्च स्वाश्रमाद् विच्युतश्च यः॥ २४॥
सन्दंशयातनामध्ये पततस्तावुभावपि।
दिवास्वप्ने च स्कन्दन्ते ये नरा ब्रह्मचारिणः।
पुत्रैरध्यापिता ये च ते पतन्ति श्वभोजने॥ २५॥
एते चान्ये च नरकाः शतशोऽथ सहस्रशः।
येषु दुष्कृतकर्माणः पच्यन्ते यातनागताः॥ २६॥
यथैव पापान्येतानि तथान्यानि सहस्रशः।
भुज्यन्ते यानि पुरुषैर्नरकान्तरगोचरैः॥ २७॥
वर्णाश्रमविरुद्धञ्च कर्म कुर्वन्ति ये नराः।
कर्मणा मनसा वाचा निरयेषु पतन्ति ते॥ २८॥
अधःशिरोभिर्दृश्यन्ते नारकैर्दिवि देवताः।
देवाश्चाधोमुखान् सर्वानधः पश्यन्ति नारकान्॥ २९॥
स्थावराः क्रिमयोऽब्जाश्च पक्षिणः पशवो नराः।
धार्मिकास्त्रिदशास्तद्वन्मोक्षिणश्च यथाक्रमम्॥ ३०॥

यज्ञार्थे समित्पात्रादिकार्यं विना वृथैव वनच्छेदी च असिपत्रवनं याति। ओरभ्रिको मेषोपजीवी। मृगव्याधश्च॥ २३॥

आपाकेषुवह्निदाः वह्निज्वाले पतन्ति आपाकादाह्यमृद्भाण्डेष्टकादिसञ्चयाः। **'यान्त्ये ते'** इति—एते पूर्वोक्ता वक्ष्यमाणाश्च पापिनस्तत्तदसाधारणनरकभोगानन्तरं पापशेषेण वह्निज्वालं यान्तीत्यर्थः। शिवधर्मोत्तरादिषु पापाधिक्यात् पापिनां क्रमेणानेकनरकपातोक्तेः॥ २४॥

स्कन्दन्ते रेतो विकिरन्ति॥ २५-२७॥

वर्णाश्रमविरुद्धं गीतनृत्यादिव्यसनरूपं कर्म। निरयेषु तत्तन्नरकेषु॥ २८॥

नरकस्थानां दुःखातिशयं दर्शयितं स्वर्गस्थदेवदर्शनं देवानाञ्च वैराग्यार्थं नरकदर्शनमाह— **'अधःशिरोभि'** रिति॥ २९॥

पापिनां नरकभोगानन्तरं स्थावराद्यासु उत्तरोत्तरमुत्कृष्टासु नवधा भिन्नासु योनिषु जन्मक्रममाह— **'स्थावरा'** इति। अब्जा मत्सादयः। धार्मिकाः नरेष्वेन पुण्यविशेषेण केचित् मोक्षिणश्च मुमुक्षवो यथाक्रमं भवन्तीति शेषः॥ ३०॥

सहस्रभागाः प्रथमा द्वितीयानुक्रमास्तथा।
सर्वे ह्येते महाभाग! यावन्मुक्तिसमाश्रयाः॥ ३१॥
यावन्तो जन्तवः स्वर्गे तावन्तो नरकौकसः।
पापकृद् याति नरकं प्रायश्चित्तपराङ्मुखः॥ ३२॥
पापानामनुरूपाणि प्रायश्चित्तानि यद् यथा।
तथा तथैव संस्मृत्य प्रोक्तानि परमर्षिभिः॥ ३३॥
पापे गुरूणि गुरूणि स्वल्पान्यल्पे च तद्विदः।
प्रायश्चित्तानि मैत्रेय! जगुः स्वायम्भुवादयः॥ ३४॥

तेषाञ्च पूर्वपूर्वबाहुल्यम् उत्तरोत्तराल्पत्वञ्चाह—'**सहस्रे**' ति द्वितीयानुक्रमाः द्वितीयोऽनुक्रम उद्देशो येषां ते द्वितीयस्थानेऽनुक्रान्ता ये क्रिमयः ते सहस्रभागक्रिमयः प्रथमाः सहस्रभागाः सहस्रगुणाः प्रथमाः प्रथमं निर्दिष्टाः स्थावरा येषां ते क्रिमिभ्यः सहस्रगुणमधिकाः स्थावरास्तत्सहस्रतमभागाः क्रिमय इत्यर्थः।

पञ्चम्यन्तपाठेऽपि द्वितीयास्थानेऽनुक्रान्तात् क्रिमिवर्गात्सहस्रगुणमधिकाः स्थावरा इत्येवार्थः। तथा '**सर्वे ह्येते**' इति—यथा स्थावरा एवं पक्ष्यादिष्वपि द्रष्टव्यम्। मुक्ति सम्यगाश्रयन्त इति मुक्तिसमाश्रया मुमुक्षवो ज्ञाननिष्ठाः। तत्पर्यन्तमेव पूर्वपूर्वादुत्तरोत्तरन्यूनत्वे जन्मक्रमः, ततः परं मुक्तिः। एतच्च संसारजीवबाहुल्यकथनं मोक्षस्य दुर्लभतासूचनार्थम्। अयञ्च नवधा निर्दिष्टो जन्मक्रमः प्रायिक एव। तदुक्तमादित्यपुराणे—''**व्युत्क्रमेणापि मानुष्यं प्राप्यते पुण्यगौरवात्। विचित्रा गतयः पुंसां कर्मणां गुरुलाघवैः**'' इति॥ ३१॥

तदेवं नारकाः सर्वे तद्भोगानन्तरं स्थावरादिजन्मक्रमेण पापस्य क्षयात् पुण्यवशात् कदाचित् त्रिदशा भवन्तिं, इदानीं त्रिदशा अपि सर्वे पुण्यक्षयात् पापवशाच्च कदाचिन्नरका भवन्तिति। वैराग्यार्थमाह—'**यावन्त**' इति। नरकौकसः भवन्ति इति शेषः। इदानीं पापिनोऽपि नरकपरिह्लरोपायमाह—'**पापकृदि**' ति। प्रायश्चित्तं यो न करोति, स एव नरकं याति, न तु कृतप्रायश्चित्तः॥ ३२॥

तच्च प्रायश्चितं कर्मभक्तिज्ञानरूपेण त्रिविधम्। तत्र पापतारतम्येन कर्मात्मकप्रायश्चित्ततारतम्यमाह—'**पापाना**' मिति। यत् पापं महदल्पं वा यथा ज्ञात्वाज्ञात्वा वा तथैव तदनुरूपाणि प्रायश्चित्तानि वेदार्थं संस्मृत्य प्रोक्तानि महर्षिभिः॥ ३३-३४॥

प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्मात्मकानि वै।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम्॥ ३५॥
कृते पापेऽनुतापो वै यस्य पुंसः प्रजायते।
प्रायश्चित्तन्तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम्॥ ३६॥
प्रातर्निशि तथा सन्ध्या-मध्याह्नादिषु संस्मरन्।
नारायणमवाप्नोति सद्यः पापक्षयं नरः॥ ३७॥

मन्वादिभिर्विधेयैः प्रायश्चित्तैर्निःशेषसवपापक्षयाभावात् सर्वोत्कृष्टं सुकरञ्च श्रीकृष्णभक्तिरूपं सर्वप्रायश्चित्तमाह— **'प्रायश्चित्तानी'** ति। तपांसि कृच्छ्रादीनि, कर्माणि च दानजपादीनि' तदात्मकानि यानि प्रायश्चित्तानि तेभ्यः सर्वेभ्यः कृष्णस्यानुस्मरणं परं श्रेष्ठम्॥ ३५॥

श्रेष्ठत्वमाह—**'कृत'** इति। पापे कृते यस्य पुंसोऽनुतापः प्रकर्षेण जायते, तस्यैव मन्वाद्युक्तानां पोदानादीनां मध्ये एवं किञ्चित् तदनुरूपं प्रायश्चित्तम् अननुतप्तस्य तेष्वनधिकारात्। हरिसंस्मरणं तु परमनुतापमनपेक्ष्यापि निःशेषपापक्षयहेतुत्वात्। **'अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्त्तित'** इति वक्ष्यमाणत्वात्॥ ३६॥

किञ्च देशकालादिविशेषमनपेक्षं सद्यः पापक्षयहेतुत्वाच्च हरिसंस्मरणं श्रेष्ठमित्याह—'**प्रात**'रिति। प्रातर्वा निशि वा सन्ध्यायां वा मध्याह्ने वा आदिशब्दात् देशवयोऽवस्थादिनियमं वारयति। नर इत्याश्रमादिनियमञ्च, देशकालादिनियमं विनैव यथा कथञ्चित् नारायणं संस्मरन्नेव सद्यस्तत्क्षणं पापक्षयमवाप्नोति, न तु संस्मरणं कृत्वा। एतदुक्तं भवति—द्वादशाब्दादिकं हि देशकालाधिकारिनियमाद्यपेक्षं यथावदनुष्ठितं कालान्तरे पापक्षयहेतुः, इदं तु न तथा। अतः सर्वश्रेष्ठमिति। अयं भावः—शास्त्रगम्यं हि फलं यथाशास्त्रं देशकालादिनियमेन यथोक्तेनैवाधिकारिणानुष्ठितात् साधनान्निष्पद्यते, हरिसंस्मरणरणादिफलन्तु न वस्तुसामर्थ्यप्रभवत्वात् न देशकालाधिकारादिनियमापेक्षितमिति। तथा च विष्णुधर्मादिषु वस्तुशक्तिमेव पुरस्कृत्योक्तम्— ''चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्त्तयेत्। नाशौचं कीर्त्तने तस्य स पवित्रकरो यतः। हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः। अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः। अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्। सङ्कीर्त्तितमिदं पुंसो दहेदेधो यथानलः।' इत्यादि। न चैवं सति द्वादशाब्दादिस्मृतेरानर्थक्यं शङ्कनीयं नामादौ श्रद्धाशून्यानां तत्रैव प्रवृत्तेः। विस्पष्टञ्चैतद् भागवत भावार्थद्दीपिकायां प्रपञ्चितमित्युपरम्यते॥ ३७॥

विष्णुसंस्मरणात् क्षीणसमस्तक्लेशसञ्चयः।
मुक्तिं प्रयाति स्वर्गाप्तिस्तस्य विघ्नोऽनुमीयते॥ ३८॥
वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु।
तस्यान्तरायो मैत्रेय! देवेन्द्रत्वादिकं फलम्॥ ३९॥
क्व नाकपृष्ठगमनं पुनरावृत्तिलक्षणम्।
क्व जपो वासुदेवेति मुक्तिबीजमनुत्तमम्॥ ४०॥
तस्मादहर्निशं विष्णुं संस्मरन् पुरुषो मुने!
न याति नरकं मर्त्यः संक्षीणाखिलपातकः॥ ४१॥
मनःप्रीतिकरः स्वर्गो नरकस्तद्विपर्ययः।
नरक-स्वर्गसंज्ञे वै पापपुण्ये द्विजोत्तम॥ ४२॥

किञ्च हरिस्मरणं द्वादशाब्दादिवन्न पापक्षयमात्रोपक्षीणं, किन्तु मुक्तेरपि हेतुरित्याह—'**विष्णुसंस्मरणा**' दिति। क्षीणः समस्तक्लेशानां पापमूलानां रागादीनां सञ्चयः समूहो यस्य स नरो मुक्तिमवाप्नोति। स्वर्गप्राप्तिस्तु तस्यातितुच्छत्वाद् विघ्नप्रायैवेत्यर्थः॥ ३८॥

किञ्च जपहोमादि षाड्गुण्यार्थमपि कृतं हरिसंस्मरणादिकं मुक्तावेव पर्यवस्यतीत्याशयेनाह— '**वासुदेवे मन**' इति। तस्य मोक्षं प्राप्स्यतः पुंसो जपहोमादिसाध्यदेवेन्द्रत्वादिकं फलमतितुच्छत्वादन्तरायो विघ्न एव॥ ३९॥

तदेवाह—'**क्वे**' ति। नाकपृष्ठं स्वर्गलोकः, तद्गमनमपि पुनरावृत्तिकलङ्कित्वाद् वासुदेवेति जपस्य कीर्त्तितस्य नित्यपरमानन्दफलस्य नानुरूपं, किं पुनर्देवेन्द्रत्वादिकमित्यर्थः। अत्र च हरिसंस्मरणजपयोर्ग्रहणं श्रवणादिनवविधभक्त्युपलक्षणार्थम्। वक्ष्यति हि—'**हन्ति कलुषं श्रोत्रं स जातो हरि**'-रित्यादि॥ ४०॥

अतो मोक्षफलं विष्णुस्मरणं कुर्वन् नरकं न यातीति किं वक्तव्यमित्युपसंहरति—'**तस्मा**' दिति॥ ४१॥

तदेवं हरिभक्तिरूपं सर्वेषां सुलभं सर्वप्रायश्चित्तमुक्तम्। इदानीं विदुषामेव योग्यं ब्रह्मज्ञानात्मकं सर्वप्रायश्चित्तमुररीकृत्य पूर्वोक्तस्य स्वर्गनरकतत्साधनादिसर्वप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमाह—'**मनःप्रीती**' ति सार्द्धैः पञ्चभि। तद् विपर्ययः मनोदुःखकरः। अतः स्वप्नगतमनःप्रीतिदुःखकरवस्तुवत् स्वर्गनरकौ मिथ्यैवेति भावः।

मिथ्याभूतनरकस्वर्गहेतुत्वात् पापपुण्ये अपि मिथ्यैव इत्याशयेनाह—'**नरके**'ति। आयुर्घृतमिति साधने साध्यवदुपचारात् पापपुण्ये एव नरकस्वर्गसंज्ञे इत्युक्तम्॥ ४२॥

वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्योद्भवाय च।

कोपाय च यतस्तस्माद् वस्तु वस्त्वात्मकं कुतः॥४३॥

तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते।

तदेव कोपाय ततः प्रसादाय च जायते॥४४॥

तस्माद् दुःखात्मकं नास्ति न च किञ्चित् सुखात्मकम्।

मनसः परिणामोऽयं सुखदुःखादिलक्षणः॥४५॥

ज्ञानमेव परं ब्रह्म ज्ञानं बन्धाय चेष्यते।

ज्ञानात्मकमिदं विश्वं न ज्ञानाद् विद्यते परम्।

विद्याविद्येति मैत्रेय! ज्ञानमेवावधारय॥४६॥

सुखदुःखसाधनानां स्रक्चन्दनवनितादीनामस्थिरवस्तुत्वमाह—'**वस्त्वेक मेवे**' ति वस्तु स्रक्चन्दनादिकं, वस्त्वात्मकं नियतस्वभावम्। कुतःदेशकालभोक्तृभेदनियतस्वभावत्वान्न परमार्थतः सुखदुःखसाधनं किञ्चिदस्तीत्यर्थः॥४३-४४॥

मनसः परिणामः स्वप्नमनोरथादिवन्मनोविलासमात्र इत्यर्थः॥४५॥

किं तर्हि सत्यम् इत्यत्राह—'**ज्ञानमि**' ति। ज्ञानात्मकम् परं ब्रह्मैव परमार्थ इति शेषः। एवं चेत् कुतोऽस्य बन्धमोक्षौ? तत्राह—'**ज्ञान**' मिति। अविद्यया अहङ्कारादिरूपेण प्रतीतं ज्ञानमेव बन्धायेष्यते। च-शब्दात् ज्ञानमेव विद्यया तन्निरासेन मोक्षाय चेष्यत इत्यर्थः। न चाध्यसनीयं निरसनीयं वा अहङ्कारादि तद्ध्यतिरिक्तमस्तीत्याह—'**ज्ञानात्मक**' मिति। तदध्यासापवादहेतू विद्याविद्ये अपि न ततः पृथग् विद्यते इत्याह '**विद्याविद्ये**' ति। तदेवमविद्याध्यस्तकर्तृकर्मफलादिरहितात्मानुसन्धानं यावदपरोक्षज्ञानं परं प्रायश्चित्तम्। अपरोक्षज्ञाने तु न पापशङ्का, न च प्रायश्चित्तम्। ''यथा वै पुष्करपलाश आपो न शिलष्यन्ते, एवमेवैवं विदित्वा पापं कर्मणः शिलष्यते। ''**न कर्मणा लिप्यते पातकेन**'' इत्यादि श्रुतेः। यद्वा—मनःप्रीतिकरः स्वर्ग इत्यादेरेवं सम्बन्धः। यद्यपि स्वर्ग नरकौ धर्माधर्मौ प्राप्यौ विविधसुखदुःखभूयिष्ठौ, मयोक्तौ तथापि न प्राप्तिपरिहारयोरतीव यत्नः कार्यः, तयोस्तत्तत्साधनानाञ्चापरमार्थत्वात् ब्रैह्मवैकं सत्यम्। अतस्तत्प्राप्तये मनीषिभिर्ज्ञानाभ्यास एव यत्नः कार्य इति॥४६॥

एवमेतन्मया ख्यातं भवतो मण्डलं भुवः।
पातालानि च सर्वाणि तथैव नरका द्विज॥ ४७॥
समुद्राः पर्वताश्चैव द्वीपवर्षाणि निम्नगाः।
सङ्क्षेपात् सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥ ४८॥

इति श्रीविष्णुपुराणे द्वितीयांशे षष्ठोऽध्यायः।

तदेवं नरकप्रसङ्गप्राप्तं प्रायश्चित्तं समाप्य प्रकृतमेवोपसंहरन्नाह— 'एव'—मिति द्वाभ्याम्॥ ४७-४८॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाभिधायां स्वप्रकाशाख्यायां वा
विष्णुपुराणटीकायां द्वितीयांशे षष्ठोऽध्यायः॥

सप्तमोऽध्यायः

(सूर्यादिग्रहाणां सप्त-लोकानाञ्च संस्थानम्)

मैत्रेय उवाच

कथितं भूतलं ब्रह्मन् ममैतदखिलं त्वया।
भुवर्लोकादिकान् लोकान् श्रोतुमिच्छाम्यहं मुने॥ १॥
तथैव ग्रहसंस्थानं प्रमाणानि यथा तथा।
समाचक्ष्व महाभाग मह्यं त्वं परिपृच्छते॥ २॥

पराशर उवाच

रवि-चन्द्रमसोर्यावन्मयूखैरवभासते।
ससमुद्रसरिच्छैला तावती पृथिवी स्मृता॥ ३॥
वावत्प्रमाणा पृथिवी विस्तारपरिमण्डलात्।
नभस्तावत्प्रमाणं वै व्यासमण्डलतो द्विज॥ ४॥
भूमेर्योजनलक्षे तु सौरं मैत्रेय! मण्डलम्।
लक्षाद् दिवाकरस्यापि मण्डलं शशिनः स्थितम्॥ ५॥

ग्रहाणां संस्थानं कस्योपरि को ग्रहोऽस्तीति तेषां सन्निवेशं, प्रमाणानि तेषामन्तरान्तरयोजनसंख्याः॥ २॥

भूर्लोकमानेनैव भुवर्लोक इति वक्तुं संस्थानं तावदाह—'**रवी**'ति। पृथिवी स्मृतेति—भूर्लोकः स्मृत इत्यर्थः॥ ३॥

विस्तारो लोकालोकाचलावधिः, परिमण्डलं वृत्तगमनसंख्यानम्, तयोर्द्वन्द्वैक्यं तस्माद् व्यासमण्डलतः विस्तारमण्डलाभ्यां नभो भुवर्लोकाख्यं द्यावापृथिव्योर्लोकालोक-परिच्छिन्नयोरन्तरालवर्त्ती भुवर्लोकोऽपि तावानेवेत्यर्थः। यदाह शुकः। **''एतावानेव भूबलयस्य सन्निवेशः। एतेनैवहि दिवो मानं तद्विद उपदिशन्ति। यथा द्विदलयोर्निष्पारादीनां ते अन्तरेणान्तरीक्षं तदुपसन्धितम्''** इति॥ ४॥

स्वर्लोकमाह—'**भूमे**' रित्यादि—षड्भिः॥ ५॥

पूर्णे शतसहस्त्रे तु योजनानां निशाकरात्।
नक्षत्रमण्डलं कृत्स्नमुपरिष्टात् प्रकाशते॥ ६॥
द्वे लक्षे चोपरि ब्रह्मन् बुधो नक्षत्रमण्डलात्।
तावत्प्रमाणभागे तु बुधस्याप्युशना स्थितः॥ ७॥
अङ्गारकोऽपि शुक्रस्य तत्प्रमाणे व्यवस्थितः।
लक्षद्वयेन भौमस्य स्थितो देवपुरोहितः॥ ८॥
सौरिर्बृहस्पतेश्चोर्ध्वं द्विलक्षे सम्यगास्थितः।
सप्तर्षिमण्डलं तस्माल्लक्षमेकं द्विजोत्तम॥ ९॥
ऋषिभ्यस्तु सहस्त्राणां शतादूर्द्ध्वं व्यवस्थितः।
मेधीभूतः समस्तस्य ज्योतिश्चक्रस्य वै ध्रुवः॥ १०॥
त्रैलोक्यमेतत् कथितमुत्सेधेन महामुने!
इज्याफलस्य भूरेषा इज्या चात्र व्यवस्थिता॥ ११॥
ध्रुवादूर्द्ध्वं महर्लोको यत्र ते कल्पवासिनः।
एकयोजनकोटिस्तु यत्र ते कल्पवासिनः॥ १२॥

शतसहस्रे लक्षे पूर्णे॥ ६-८॥

सौरिः शनैश्वरः॥ ९॥

मेधीभूत इति धान्याक्रमणपशूनामाश्रयः। खनमध्यनिखातस्तम्भो मेधिः तद्वत् स्थितः॥ १०॥

उत्सेधेन उच्छ्रायेण पञ्चदशलक्षप्रमाणेन। इज्याफलस्य भोगस्य भूमिरेषा त्रैलोक्यरक्षणात्। त्वर्थे चकारः। इज्या त्वत्र भारतवर्ष एव प्रतिष्ठिता समाप्ता। उक्तं हि **''यतो हि कर्मभूरेषा अतोऽन्या भोगभूमया'**। अतोऽत्र लब्धजन्मना पंसा नित्यं धर्मे यतितव्यमिति भावः॥ ११॥

कल्पं ब्रह्मदिनपर्यन्तमेव महर्लोके वसन्ति। कल्पान्ते तु जनलोकं यान्तीति कल्पवासिनो भृग्वादयः। **''त्रिलोक्यां दह्यमानायां शक्त्या सङ्कर्षणाग्निना। यान्त्यूष्मणा महर्लोकाज्जनं भृग्वादयोऽर्दिताः,''** इति शुकोक्तेः। तस्योच्छ्रयमाणमाह—**'एके'** ति। यत्रेत्यादिपादस्य पुनरुक्तिः। ध्रुवतस्तदुच्छ्रयविधानार्था। पाठान्तरं सुगमम्॥ १२॥

द्वे कोट्यौ तु जनो लोको यत्र ते ब्रह्मणः सुताः।
सनन्दनाद्याः कथिता मैत्रेयामलचेतसः॥ १३॥
चतुर्गुणोत्तरे चोर्द्ध्वं जनलोकात् तपः स्मृतम्।
वैराजा यत्र ते देवाः स्थिता दाहविवर्जिताः॥ १४॥
षड्गुणेन तपोलोकात् सत्यलोको विराजते।
अपुनर्मारका यत्र ब्रह्मलोको हि स स्मृतः॥ १५॥
पादगम्यन्तु यत् किञ्चित् वस्त्वस्ति पृथिवीमयम्।
स भूर्लोकः समाख्यातो विस्तारोऽस्य मयोदितः॥ १६॥
भूमिमूर्यान्तरं यत्तु सिद्धादिमुनिसेवितम्।
भुवर्लोकस्तु सोऽप्युक्तो द्वितयो मुनिसत्तम॥ १७॥
ध्रुवसूर्यान्तरं यच्च नियुतानि चतुर्दश।
स्वर्लोकः सोऽपि गदितो लोकसंस्थानचिन्तकैः॥ १८॥
त्रैलोक्यमेतत् कृतकं मैत्रेय! परिपठ्यते।
जनस्तपस्तथा सत्यमिति चाकृतकं त्रयम्॥ १९॥

महर्लोकानन्तरमुच्छ्र्येण ध्रुवादेव द्वे कोटी जनलोकः। यत्र ते कथिताः प्रख्याताः सनन्दनाद्याः सन्ति॥ १३॥

जनलोकाच्चतुर्गुणोत्तरे अष्टकोट्युच्छ्र्ये आकाशे व्याप्तस्तपोलोकः स्मृतः॥ १४॥

जनलोकापेक्षयैव षड्गुणेन द्वादशकोट्युच्छ्र्येण तपोलोकादनन्तरं सत्यलोकः। न तु तपोलोकापेक्षयेति मन्तव्यम्। तथा सत्यष्टचत्वाशिंत्‌कोट्युच्छ्र्यत्वेन ब्रह्माण्डे तस्यावकाशाभावात्। अपुनर्मारकाः पुनर्मृत्युशून्याः। सत्यलोक एव कक्षाभेदेन ब्रह्मधिष्ण्यात् परं वैकुण्ठलोकादि ज्ञेयम्। एवञ्च भूतालादूर्द्ध्वं पञ्चदशलक्षोत्तरं त्रयोविंशतिकोटयो भवन्ति। सत्योकादूर्द्ध्वं षोडशलक्षोनकोटिद्वियादण्डकटाह इति ज्ञेयम्। **''सूर्याण्डगोलयोर्मध्ये कोट्यः स्युः पञ्चविंशतिः''**। इत्युक्तेः॥ १५॥

महर्लोकादीनामुत्सेधमानमुक्तम्। भूरादिलोकत्रयस्य प्रत्येकमुत्सेव्यवस्थामाह— **'पादगम्य'** मिति त्रिभिः। चरणसञ्चारयोग्यं गिरिशिखरादि यावत् तावदुत्सेधो भूर्लोक इत्यर्थः। विस्तारोऽस्य मयोदितः सर्वलोकालोकविधिः पञ्चविंशतिकोटिप्रमाणः॥ १६-१७॥

नियुतानि लक्षाणि॥ १८॥

त्रैलोक्यं कृतकं प्रतिकल्पं कार्यत्वात्। जनलोकादित्रयमकृतकं प्रतिकल्पमकार्यत्वात्॥ १९॥

कृतकाकृतयोर्मध्ये महर्लोक इति स्मृतः।
शून्यो भवति कल्पान्ते योऽत्यन्तं न विनश्यति॥ २०॥
एते सप्त मया लोका मैत्रेय! कथितास्तव।
पातालानि च सप्तैव ब्रह्माण्डस्यैव विस्तरः॥ २१॥
एतदण्डकटाहेन तिर्यक् चोर्द्ध्वमधस्तथा।
कपित्थस्य यथा बीजं सर्वतो वै समावृतम्॥ २२॥
दशोत्तरेण पयसा मैत्रेयाण्डञ्च तद् वृतम्।
सर्वोऽम्बुपरिधानोऽसौ वह्निना वेष्टितो बहिः॥ २३॥
वह्निश्च वायुना वायुर्मैत्रेय! नभसा वृतः।
भूतादिना नभः सोऽपि महता परिवेष्टितः॥ २४॥
दशोत्तराण्यशेषाणि मैत्रेयैतानि सप्त वै।
महान्तञ्च समावृत्य प्रधानं समवस्थितम्॥ २५॥
अनन्तस्य न तस्यान्तः संख्यानञ्चापि विद्यते।
तदनन्तमसंख्यातप्रमाणं व्यापि वै यतः॥ २६॥

महर्लोकस्य कृतकाकृतकत्वे हेतुमाह—'**शून्य**' इति' जनैः शून्यः॥ २०॥

एतच्चतुर्दशभुवनात्मकं जगत् अण्डकटाहेन समावृतं, तदेव च पृथिव्यावरणम्, स च कटाहः कोटियोजनविस्तारः। ''**सप्तसागरमानस्तु गर्त्तोदस्तदनन्तरम्। कोटियोजनमानस्तु कटाहः स व्यवस्थितः**'' इति स्वच्छन्दभैरवतन्त्रोक्तेः॥ २२॥

कटाहाद् दशोत्तरेण दशगुणेन। अम्बुपरिधानः पयोवेष्टितः॥ २३-२४॥

'**दशोत्तराणि सप्ते**' ति छत्रिन्यायेनोक्तम्, पृथिव्यावरणस्य दशोत्तरत्वाभावात्। ''**एतद् भगवतो रूपं स्थूलं ते व्याहृतं मया। मह्यादिभिश्चावरणैरष्टभिर्बहिरावृतम्**''। इति शुकाद्युक्तेः॥ २५॥

अष्टममप्यावरणं प्रसिद्धम्। उत्पत्तिनाशवन्ति परिच्छिन्नानि च पृथिव्यादिसप्तावरणानि,—प्रधानन्तु न तथेत्याह **अनन्तस्ये**' ति। सर्वगतस्य तस्यान्तो नाशो नास्ति। संख्यानञ्च दशगुणात्मकं यतस्तदनन्तं नित्यम् असंख्यातमप्रमाणञ्च, न विद्यते संख्यातं प्रमाणं यस्य तथाभूतञ्च वै प्रसिद्धम् ''**परास्य शक्तिः**'' इत्यादि श्रुतिपुराणेषु॥ २६॥

हेतुभूतमशेषस्य प्रकृतिः सा परा मुने!
अण्डानान्तु सहस्राणां सहस्राण्ययुतानि च।
ईदृशानां तथा तत्र कोटिकोटिशतानि च॥२७॥
दारुण्यग्निर्यथा तैलं तिले तद्वत् पुमानपि।
प्रधानेऽवस्थितो व्यापी चेतनात्मात्मवेदनः॥२८॥
प्रधानञ्च पुमांश्चैव सर्वभूतात्मभूतया।
विष्णुशक्त्या महाबुद्धे! वृतौ संश्रयधर्मिणौ॥२९॥
तयोः सैव पृथग्भावकारणं संश्रयस्य च।
क्षोभकारणभूता च सर्गकाले महामते॥३०॥
यथा शैत्यं जले वातो बिभर्त्ति कणिकाशतम्।
जगच्छक्तिस्तथा विष्णोः प्रधानपुरुषात्मिका॥३१॥
यथा च पादपो मूलस्कन्धशाखादिसंयुतः।
आदिबीजात् प्रभवति बीजान्यन्यानि वै ततः॥३२॥

अतः कार्यस्य समस्तस्य हेतुभूतम्। अनादित्वात् सर्वगतत्वं व्यनक्ति—**'अण्डानाञ्चे'** ति॥२७॥

तच्च पुरुषाधिष्ठितमेव जगतो हेतुरित्याह—'**दारुणी**' ति। काष्ठे यथा तत्प्रकाशकतया अग्निरवस्थितः, तिले च तैलं यथा। आत्मवेदनः स्वप्रकाशः॥२८॥

तयोरपि परमेश्वराधिष्ठितत्वमाह—'प्रधानञ्चे'ति द्वाभ्याम्। विष्णोः स्वरूपभूतया चिच्छक्त्यावृतौ अधिष्ठितौ संश्रयधर्मिणौ नियम्य नियन्तृभावेन स्थितौ॥२९॥

सैव कालात्मना स्थिता सती तयोः प्रलयकाले पृथग्भावे कारणम्। स्थितिकाले संश्रयस्य च कारणम्। सर्गकाले क्षोभकारणभूता चेत्यर्थः॥३०॥

एवञ्च प्रधानपुरुषद्वारा तत्कार्यभूतजगदाश्रयत्वेऽपि चिच्छक्तेर्निर्लेपत्वं दृष्टान्तेनाह—**'यथे'** ति। जले स्थितं कणिकाशतं परमाणुस्तोमः असक्तं यथा भवत्येवं वातो यथा बिभर्ति तथा प्रधानपुरुषात्मकं जगत्। तत्रैव स्थितत्वाद् आत्मन्यसक्तमेव विष्णु शक्तिर्बिभर्ति। पाठान्तरे तु जलस्थितं शैत्यं कणिकाद्वारेणागतं यथा वातो बिभर्त्ति तथा जलस्थानीयं जगत् कर्णिकास्थानीयमहदादि द्वारेणागतं वातस्थानीया विष्णोः शक्तिर्बिभर्त्तीत्यर्थः॥३१॥

एतदेव दृष्टान्तेन प्रपञ्चयन् सर्वेषां कार्याणां मूलकारणानुगतिमाह—**'यथा चे'** ति सार्धैस्त्रिभिः। अन्यानि बीजानि, ततः पादपात् प्रकर्षेण भवन्ति॥३२॥

प्रभवन्ति ततस्तेभ्यः सम्भवन्त्यपरे द्रुमाः।
तेऽपि तल्लक्षणद्रव्यकारणानुगता मुने॥ ३ ३॥
एवमव्याकृतात् पूर्वं जायन्ते महदादयः।
विशेषान्तास्ततस्तेभ्यः सम्भवन्त्यसुरादयः॥ ३ ४॥
तेभ्यश्च पुत्रास्तेषाञ्च पुत्राणामपरे सुताः।
बीजाद् वृक्षप्ररोहेण यथा नापचयस्तरोः।
भूतानां भूतसर्गेण नैवास्त्यपचयस्तथा॥ ३ ५॥
सन्निधानाद् यथाकाशकालाद्याः कारणं तरोः।
तथैव परिणामेन विश्वस्य भगवान् हरिः॥ ३ ६॥
व्रीहिबीजे यथा मूलं नालं पत्राङ्कुरौ तथा।
काण्डं कोषस्तथा पुष्पं क्षीरं तद्वच्च तण्डुलाः॥ ३ ७॥
तुषाः कणाश्च सन्तो वै यान्त्याविर्भावमात्मनः।
प्ररोहहेतुसामग्रीमासाद्य मुनिसत्तम॥ ३ ८॥
तथा कर्मस्वनेकेषु देवाद्याः समवस्थिताः।
विष्णुशक्तिं समासाद्य प्ररोहमुपयान्ति वै॥ ३ ९॥

तेभ्यो बीजेभ्योऽन्ये द्रुमाः प्रभवन्ति। तद्बीजेभ्यश्चापरे द्रुमाः, तल्लक्षणं पूर्वद्रुमसजातीयं यच्चूतादिद्रव्यं तदेव कारणं तेनानुगता व्याप्ताः॥ ३३॥

विशेषान्ताः पृथिव्यन्ताः॥ ३४॥

बहुकार्योत्पादकानानपि देवादीनामपक्षयाभावं दृष्टान्तेनाह—**'बीजाद् वृक्षे'** ति॥ ३५॥

सर्वकारणभूतस्यापि हरेर्निर्विकारत्वं दृष्टान्तेनाह—**'सन्निधाना'** दिति। उपादानत्वमपि हरेः प्रकृतिद्वारैव, न स्वरूपेणेति भावः॥ ३६॥

एवमव्याकृतात् पूर्वं जायन्त इत्यादिवाक्यात् प्राप्तामसत्कार्यवदशङ्कां दृष्टान्तेन वारयन्नाह—**'व्रीही'** ति त्रिभिः॥ ३७॥

व्रीहिबीजे सन्त एव मूलनालादय आत्मनः स्वस्य प्ररोहहेतु-सामग्रयम् अभिव्यक्तिकारणपौष्कल्यभूमिजलादिसंयोगं प्राप्य यथाविर्भावं यान्ति, न पुनरत्यन्तमसन्त एव जायन्ते, 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदित्यादिश्रुतेरित्यर्थः॥ ३९॥

स च ि्ष्णुः परं ब्रह्म यतः सर्वमिदं जगत्।
जगच्च यो यत्र चेदं यस्मिंश्च लयमेष्यति॥४०॥

तद् ब्रह्म तत् परं धाम सदसत् परमं पदम्।
यस्य सर्वमभेदेन यतश्चैतच्चराचरम्॥४१॥

स एव मूलप्रकृतिर्व्यक्तरूपी जगच्च सः।
तस्मिन्नेव लयं सर्वं याति तत्र च तिष्ठति॥४२॥

कर्त्ता क्रियाणां स च इज्यते क्रतुः
स एव तत्कर्मफलञ्च तस्य तत्।
स्रुगादि यत्साधनमप्यशेषतो-
हरेर्न किञ्चिद् व्यतिरिक्तमस्ति वै॥४३॥

इति श्रीविष्णुपुराणे द्वितीयांशे सप्तमोऽध्यायः।

ननु सर्वकारणं ब्रीह्मैव श्रुतिप्रसिद्धं, न तु विष्णुः, तत्राह 'स चे'ति। स विष्णुः परं ब्रह्मैव, तत् कुत इत्यपेक्षायां विष्णोः सकाशाद् उद्भूतं तज्जगत् तत्रैव स्थितमित्यादिना पूर्वोक्तं विष्णोः स्वरूपमनुस्मारयति—**'यतः सर्वमि'** ति॥४०॥

ब्रह्म च विष्णोरेव स्वरूपमित्याह—**'तद्ब्रह्मे'** ति। तत् श्रुतिप्रसिद्धं ब्रह्म, तस्य विष्णोः, परं धाम स्वरूपं, यतः सदसतोः परमं पदं यत् यस्य चाभेदेन सर्वमेतद् जगद् भवति तद् ब्रह्म। अतो विष्णुब्रह्मणोर्लक्षणाभेदाद् ब्रह्मैव विष्णु॥४१॥

अतः स एव सर्वकारणमित्येतत् सिद्धमित्याह—'स एवे'ति॥४२॥

सर्वकर्मफलं तत्साधनादिरूपञ्च स एवेति दर्शयन् उक्तं सर्वात्मत्वं निगमयति—'कर्त्ते'ति॥४३॥

इति श्रीविष्णुपुराणटीकायामात्मप्रकाशाख्यायां स्वप्रकाशाख्यायां वा द्वितीयांशे सप्तमोऽध्यायः॥

अष्टमोऽध्यायः

(सूर्यरथसंस्थानादिकथनम्, कालस्य निरूपणम्, गङ्गाया उत्पत्तिश्च)

पराशर उवाच

व्याख्यातमेतद् ब्रह्माण्डसंस्थानं तव सुव्रत!
ततः प्रमाणसंस्थाने सूर्यादीनां शृणुष्व मे॥ १॥

योजनानां सहस्राणि भास्करस्य रथो नव।
ईषादण्डस्तथैवास्य द्विगुणो मुनिसत्तम॥ २॥
सार्द्धकोटिस्तथा सप्त नियुतान्यधिकानि वै।
योजनानान्तु तस्याक्षस्तत्र चक्रं प्रतिष्ठितम्॥ ३॥
त्रिनाभिमति पञ्चारे षण्णेमिन्यक्षयात्मके।
संवत्सरमये कृत्स्नं कालचक्रं प्रतिष्ठितम्॥ ४॥
चत्वारिंशत्सहस्राणि द्वितीयोऽक्षो विवस्वतः।
पञ्चान्यानि तु सार्द्धानि स्पन्दनस्य महामते॥ ५॥

विवृतं विस्तरेणेदं ज्योतिश्चक्रं विचक्षणैः। मया तु स्वीयबोधाय संक्षेपेणोपर्वण्यते॥ १॥

ईषादण्डः अक्षयुगयोः सन्धानार्थो दण्डःद्विगुणः अष्टादशयोजनसहस्रः॥ २॥

'सार्द्धकोटि' रिति—मेरुमानसोत्तराचलयोर्यावदन्तं तावदेवाक्षस्य मानम्। **''तस्याक्षो मेरोमूर्द्धनि कृतो मानसोत्तरे कृतेतरभागो यत्र प्रोतं रविरथचक्रं तैलयन्त्रवन्मासोत्तरगिरौ परिभ्रमति''**। इति शुकोक्तेः॥ ३॥

चक्रमुपासनार्थं विशिनष्टि—**'त्रिनाभिमती'** ति। नाभिः ध्रुवः। यत्राक्षः प्रोतः स च त्रिमेखलः। अह्नः एवात्र नाभित्वेनोपास्यत्वात् मेखलारूपास्तिस्रो नाभयः पूर्वाह्न मध्याह्नापराह्नस्तदयुक्ते पञ्चारे पञ्च संवत्सरपरिवत्सरादयः अराः शलाका यस्मिन्। पण्णेमिनि षट् ऋतवो नेमयः प्रान्तबलयानि तद्वति। कालात्मकत्वात् अक्षयात्मके संवत्सरमये संवत्सरविकारत्वात् संवत्सरत्वेनोपास्यत्वाच्च तन्मयत्वम्। तदुक्तं मात्स्ये—**''अहस्त्रिनाभिसूर्यस्य एकचक्रस्य वै स्मृतम्। अराः संवत्सराः पञ्च नेम्यः षड् ऋतवः स्मृताः''** इति। तस्मिन् कालचक्रं कालोपमानभूतं कृत्स्नं ज्योतिश्चक्रं प्रतिष्ठितम् आश्रितम्, सूर्यगत्यधीनत्वात् कालचक्रपटलस्य॥ ४॥

अक्षान्तरमाह—**'चत्वारिंशदि'** ति। सार्द्धपञ्चचत्वारिंशत्सहस्रप्रमाण इत्यर्थः॥ ५॥

अक्षप्रमाणमुभयोः प्रमाणं तद्युगार्द्धयोः।
ह्रस्वोऽक्षस्तद्युगार्द्धेन ध्रुवाधारो रथस्य वै।
द्वितीयेऽक्षे तु तच्चक्रं संस्थितं मानसाचले॥६॥
हयाश्च सप्त च्छन्दांसि तेषां नामानि मे शृणु।
गायत्री स बृहत्युष्णिग् जगती त्रिष्टुबेव च।
अनुष्टुप् पंक्तिरित्युक्ताश्छन्दांसि हरयो रवेः॥७॥

महाक्षप्रमाणं युगेऽप्यतिदिशति—'**अक्षे**'ति। ईषाग्रे तिर्यङ् निबद्धोऽश्वयोजनार्थो दण्डो युगम्। अक्षस्य यत् प्रमाणं तदेव युगार्द्धयोः संहत्य प्रमाणम्। युगस्य प्रमाणमिति च वक्तव्ये युगार्द्धयोरित्युक्तम्। तत्रायं भावः—यस्मिन् उभयतोऽश्वा बध्यन्ते तद्युगमीषाग्रयुक्तमध्यस्थानादुभयतः समं भवति। अत्र त्वेकत एव सप्ताश्वाः, न तूभयतः, ''**असङ्गैस्तुरगैर्युक्ते यतश्चक्रं ततः स्थितैः**'' इति लिङ्गोक्तेः। अतोऽश्वयुक्ते भागे युगस्य दैर्घ्यम् अन्यतो ह्रस्वत्वमिति शङ्का मा भूदित्येतदर्थ युगार्द्धयोः समयोः संहत्य तत्प्रमाणमित्युक्तम्। युक्तञ्चाक्षयुगयोरेकप्रमाणत्वमिति। ह्रस्वोक्षस्योपयोगं दर्शयन्नाह—'**ह्रस्वोऽक्ष**' इति। सार्द्धपञ्चचत्वारिंशत्सहस्रो ह्रस्वाक्षस्तस्य रथस्य युगार्द्धेन सह वायुरश्मिनिबद्धो ध्रुवाधारोऽस्ति। तथा शुकः—''**तस्मिन्नक्षेकृतमूलो द्वितीयोऽक्षस्तैलयन्त्राक्षवद् ध्रुवे कृतोपरिभागः**'' इति—मात्स्ये चोक्तम्। ''**युगाक्षकोटिस्थौ तस्य दक्षिणे स्यन्दनस्य तु। ध्रुवेण च गृहीतौ तौ रश्मी यौ नयतो रविम्।**'' इति निरन्तरोक्तह्रस्वाङ्कपेक्षया द्वितीये तु महाक्षे तथा चात्र रथप्रक्रिया—भूतलाद् योजनलक्षे सूर्यः, पञ्चदशलक्षे ध्रुवः, चतुरशीतियोजनसहस्रोच्छ्रयो मेरुः, अर्द्धलक्षोच्छ्रायो मानसोत्तराचलः, तदुपर्यर्द्धलक्षोच्छ्रयो मेरोश्चोपरि षोडशयोजनसहस्रोच्छ्रये वायुस्कन्धे सार्द्धसप्तक्षोत्तरसार्द्धकोटिप्रमाणो रविरथस्याक्षो मानसीतरप्रान्तप्रौतैकचक्रस्तिर्यग् विततोऽस्ति। तमिंश्चाक्षे चक्रप्रान्ते निबद्धभूलो ह्रस्वोऽक्षो वायुरश्मियुक्तो ध्रुवाधारोऽस्ति। युगञ्च दक्षिणार्धे वायुरश्मिसंबद्धं ध्रुवाधारं तथैवास्ति। प्रवाहादिवायुवशाच्च द्वादशराश्यात्मकं ज्योतिश्चक्रं प्रत्यहं मेरुं प्रदक्षिणीकुर्वत् परिभ्रमति। तद्वेगवशाच्च सूर्यः प्रत्यहं मेरुं प्रदक्षिणीकुर्वन्नपि स्वगत्या राश्यभिमुखमपि किञ्चित् किञ्चित् प्रचलति। तत्र दक्षिणायनादिषु ध्रुवगृहीतवायुपाशप्रसारणाकर्षणाभ्यां रवेर्गतिवैचित्र्याद् यथायथमहोरात्राणि ह्रस्वदीर्घसमानि भवन्ति। एवं चन्द्रादीनामपि ज्योतिश्चक्रवशात् प्रत्यहं मेरुं प्रदक्षिणीकुर्वतामपि नक्षत्राभिमुखी स्वकीया गतिरन्यैव अश्विन्यां दृष्टानां भरण्यादौ दर्शनात्। एतच्च दर्शनात्। एतच्च तत्र श्लोकव्याख्याने स्फुटीभविष्यति॥६॥

तत्र त्र्यात्मनः सूर्यस्य गायत्र्यादिच्छन्दोरूपेणोपास्यान् हयानाह **हयाश्चेति**। पंक्तिरित्येतानि छन्दांसि रवेर्हरयो हया उक्ता इत्यन्वयः॥७॥

मानसोत्तरशैले तु पूर्वतो वासवी पुरी।
दक्षिणेन यमस्यान्या प्रतीच्यां वरुणस्य च।
उत्तरेण च सोमस्य तासां नामानि मे शृणु॥ ८॥
वस्वौकसारा शक्रस्य याम्या संयमनी तथा।
पुरी मुख्या जलेशस्य सोमस्य च विभावरी॥ ९॥
काष्ठां गतो दक्षिणतः क्षिप्तेषुरिव सर्पति।
मैत्रेय! भगवान् भानुर्ज्योतिषां चक्रसंयुतः॥ १०॥
अहोरात्रव्यवस्थानकारणं भगवान् रविः।
देवयानः परः पन्था योगिनां क्लेशसंक्षये॥ ११॥
दिवसस्य रविर्मध्ये सर्वकालं व्यवस्थितः।
सर्वद्वीपेषु मैत्रेय! निशार्द्धस्य च सम्मुखः॥ १२॥

मेरोश्चतुर्दिशमुदयास्तमयाद्युपलक्षणभूतं पुरचतुष्टयमाह—'**मानसोत्तरे**' ति। पूर्वत इत्यादि भारतवर्षस्थानापेक्षयोच्यते। पूर्वादिविभागस्य सूर्यदर्शनाद्यपेक्षत्वे नानियमस्य वक्ष्यमाणत्वात्। याम्या यमस्य पुरी॥ ८-९॥

तत्र तावदैन्द्रीमवधिं कृत्वा सूर्यस्य उदयास्तमनादिकं वक्ष्यन् उत्तरायणान्तेऽत्यन्तमुत्तरां दिशं गतस्य दक्षिणतः परावृत्तिमाह—'**काष्ठा**' मिति। दक्षिणतो या काष्ठा तां गतः दक्षिणायनं प्रविष्टः सन् क्षिप्त इषुर्यथा तथा शीघ्रं गच्छति॥ १०॥

ततश्चैन्द्रीप्रभृति तासु पुरीषु संसारिणाम् अहोरात्रव्यवस्थानकारणं रविर्भवति। क्लेशानां रागादीनां संक्षये सति योगिनां क्रममुक्तिभाजां देवयानः परः श्रेष्ठः अपुनरावृत्तिकरः पन्थाश्च स एव भवति। ''**सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति, स यावदिच्छेन् मनस्तावदादित्यं गच्छति**''। इत्यादिश्रुतेः॥ ११॥

येन प्रकारेण अहोरात्र्यादिव्यवस्थाकारणं रविस्तदाह 'दिवसस्ये'ति पञ्चभिः। यथास्मिन् द्वीपे भारतवर्षे मध्याह्ने लक्षयोजनोच्छ्रिते व्योम्नि तीव्रस्फुटशुक्लातपेन रविः प्रतपन् वर्त्तते, तथा सर्वकालम् उदयास्तमयादिष्वपि सर्वद्वीपेष्वपि नीचैर्भूलग्नवद्दर्शनस्य मन्दातपत्वादीनाञ्च दूरत्वादिनिबन्धनत्वात्। यथाह—''**वायुः विदूरभावाचार्कस्य प्रोद्यतस्य विरश्मिता रक्तता च, विरश्मित्वाद् रक्तत्वाद्याप्यनुष्णता**''। इति। यदा यस्मिन् द्वीपवर्षादौ मध्याह्ने वर्त्तते, तदा तत्समानसूत्रस्य द्वीपान्तरादिषु जायमानस्य निशार्द्धस्य अर्द्धरात्रस्य सम्मुखो भवति॥ १२॥

उदयास्तमने चैवं सर्वकालन्तु सम्मुखे।
विदिशासु त्वशेषासु तथा ब्रह्मन्! दिशासु च॥ १३॥
यैर्यत्र दृश्यते भास्वान् स तेषामुदयः स्मृतः।
तिरोभावञ्च यत्रैति तत्रैवास्तमनं रवेः॥ १४॥
नैवास्तमनमर्कस्य नोदयः सर्वदा सतः।
उदयास्तमनाख्यं हि दर्शनादर्शनं रवेः॥ १५॥
शक्रादीनां पुरे तिष्ठन् स्पृशत्येष पुरत्रयम्।
विकर्णौ द्वौ विकर्णस्थस्त्रीन् कोणान्द्वे पुरे तथा॥ १६॥

उदयास्तमने सर्वकालं भवतः। ते च परस्परं सम्मुखे रवेः समान सूत्रस्थे भवतः॥१३॥

तत्र हेतुमाह—**'यैर्यत्रे'** ति। सुखौ तु उदयास्तमयौ। सर्वदा मध्याह्ने एक सतोऽर्कस्य नास्त एव॥१४॥

अतो रवेरुदयास्तमनाख्यं दर्शनादर्शनमात्रमेव॥१५॥

दर्शनादर्शनयोरवधिमाह—**'शक्रादीनामि'** ति। इन्द्राद्यन्यतमस्य पुरे मध्याह्ने तिष्ठन् तदेकं पुरम् अभितः पुरद्वयञ्चेत्येवं पुरत्रयं तदन्तरालस्थौ द्वौ च विकर्णौ कोणौ उदयाद्यवस्थाभिः स्पृशति स्वरश्मिभिर्भासयति। तथा विकर्णस्थः अग्न्याद्यन्यतमस्य कोणे मध्याह्ने स्थितस्तत्कोणमभितः स्थितं कोणद्वयञ्चेत्वं त्रीन् कोणान् तन्मध्यवर्त्तिनी द्वे च पुरे तथैवोदयाद्यवस्थाभिः स्पृशति। भूवलयस्यार्द्धे प्रतपन् दृश्यते तावदाह। अर्धे तु न दृश्यते तावती रात्रीरित्यर्थः।

तथा हि ऐन्द्रे पुरे मध्याह्ने यदा तिष्ठति, तदा सौम्यपुरस्थानामस्तमयः, ईशानकोणस्थानां तृतीयो यामः।—

अग्निकोणस्थानां प्रथमो यामः। याम्यस्थितानामुदयः। एवं यदा याम्ये मध्याह्ने तिष्ठति, तदा ऐन्द्रेऽस्तमयः, अग्निकोणे तृतीयो यामः, निर्ऋतिकोणे प्रथमो यामः, वारुणे उदयः, यदा च वारुणे मध्याह्नस्तदा याम्ये अस्तमयः, निर्ऋतिकोणे तृतीयो यामः, वायव्ये प्रथमः सोम्ये उदयः। यदा च सौम्ये मध्याह्नस्तदा वारुणेऽस्तमयः, वायव्ये तृतीयो यामः, ईशकोणे प्रथमो यामः, ऐन्द्र उदयः। एवमग्निकोणे यदा मध्याह्नः तदा ईशानकोणे अस्तमयः, इन्द्रपुरे तृतीयो यामः। यमपुरे प्रथमः, निर्ऋतिकोणे उदय इत्यादि योज्यम्। एवं मेरोः सर्वतः परिभ्रमन् सूर्योऽर्द्धं भूवलयं प्रकाशयन् दर्शना दर्शनाद्यपेक्षायाहोरात्रव्यवस्थाकारणमित्युक्तं भवति॥१६॥

उदितो वर्द्धमानाभिरा मध्याह्नात् तपन् रविः।
ततः परं ह्रसन्तीभिर्गोभिरस्तं नियच्छति॥ १७॥
उदयास्तमनाभ्याञ्च स्मृते पूर्वापरे दिशौ।
यावत् पुरस्तात् तपति तावत् पृष्ठे च पार्श्वयोः॥ १८॥
ऋतेऽमरगिरेर्मेरोरुपरि ब्रह्मणः सभाम्।
ये ये मरीचयोऽर्कस्य प्रयान्ति ब्रह्मणः सभाम्।
ते ये निरस्तास्तद्भासा प्रतीपमुपयान्ति वै॥ १९॥
तस्माद्दिश्युत्तरस्यां वै दिवारात्रिः सदैव हि।
सर्वेषां द्वीपवर्षाणां मेरुरुत्तरतो यतः॥ २०॥
प्रभा विवस्वतो रात्रावस्तं गच्छति भास्करे।
विशत्यग्निमतो रात्रौ वह्निर्दूरात् प्रकाशते॥ २१॥

सन्निधानव्यवधानकृतमेव रश्मीनां वृद्धिह्रासतीव्रमन्दत्वादिकमपीत्याह—'**उदित**' इति। गोभिः रश्मिभिः॥ १७॥

दिग्विभागोऽपि उदयास्तमयनिमित्त एउवेत्याह—'**उदये**'ति। यत्र यस्योदेति, सा तस्य पूर्वा दिक्। यत्रास्तमेति सा परा प्रतीची। तथा च श्रुतिः—"तस्मादसावादित्यः सर्वाः प्रजाः प्रत्यगुदेति। तस्मात् सर्व एव मन्यते मां प्रत्युदगात्"। इति। पुरस्तादुद्यन्तं सूर्यं पश्यतश्च दक्षिणवामपार्श्वभागौ दक्षिणोत्तरे दिशाविति दर्शयन् रश्मिविस्तारावधिमाह—'**यावदि**'ति। चतुर्दिक्षु लोकालोकाचलपर्यन्तं तपतीत्यर्थः॥ १८॥

मेरो तु विशेषमाह—'**ऋत**' इति। ब्रह्मसभावर्ज्जं मेरोरुपर्यपि सर्वतस्तपति न तु ब्रह्मसभां भासयति। तत्र हेतुमाह—'**ये ये मरीचय**' इति॥ १९॥

मेरोः सर्वतोऽपि विशेषान्तरमाह—'**तस्मादि**' ति। यतो यस्मात् सर्वेषां द्वीपानां वर्षाणाञ्च मेरुरुत्तरत एव स्थितः। तस्मान्मेरोरुत्तरस्यां दिशि सदा दिवापि। अन्येषां दिनेऽपि नित्यं रात्रिरेव। अयं भावः,—मेरुं प्रदक्षिणीकुर्वन्तं सूर्यं ये यत्र पश्यन्ति, सा च तेषां प्राची, तेषाञ्च वामभाग एव मेरुः। अतः सर्वेषां सर्वदा मेरुरुत्तर एव। दक्षिणभागे च लोकालोकाचलः॥ तस्मादुत्तरस्यां दिशि सदा रात्रिः। दक्षिणस्याञ्च सदा दिनमिति। यद्वा भारतादिवर्षस्थानां सम्मुखे सूर्यमुद्यन्तं पश्यताम् उत्तरस्यां दिशि वामभागे मेरोरेकतः सदा दिनम्, अन्यतश्च सदा रात्रिः। दक्षिणभागे तु सदा दिनमेवेत्येतदर्थादुक्तं भवति॥ २०॥

उदयास्तमयनिर्णयप्रसङ्गात् तत्कालानुगाग्निहोत्रे मिश्रलिङ्गमन्त्रविशेष-ब्राह्मणोक्तमग्निसूर्ययोः परस्पराऽनुप्रवेशमुपासनार्थमाह—'**प्रभेति**' त्रिभिः॥ २१॥

वह्निपादस्तथा भान्तं दिनेष्वाविशति द्विज!
अतीव वह्निसंयोगादतः सूर्यः प्रकाशते॥ २२॥
तेजसी भास्कराग्नेये प्रकाशोष्णस्वरूपिणी।
परस्परानुप्रवेशादाप्यायेते दिवानिशम्॥ २३॥
दक्षिणोत्तरभूम्यर्द्धे समुत्तिष्ठति भास्करे।
अहोरात्रं विशत्यम्भस्तमः प्राकाश्यशीलवत्॥ २४॥
आताम्रा हि भवन्त्यापो दिवा नक्तप्रवेशनात्।
दिनं विशति चैवाम्भो भास्करेऽस्तमुपेयुषि।
तस्माच्छुक्लीभवन्त्यापो नक्तमम्भःप्रवेशनात्॥ २५॥
एवं पुष्करमध्ये तु यदा याति दिवाकरः।
त्रिंशद्भागन्तु मेदिन्यास्तदा मौहूर्तिकी गतिः॥ २६॥

वह्निः पादश्चतुर्थांशो दिनेषु भानुं विशति। अतस्तावन्मात्रप्रवेशाद् भानोरुष्णत्वेऽप्यदाहकत्वं, वह्नेश्चाह्नि दाहकत्वमविरुद्धम्। तथा च **''अग्नि ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेत्येव सायं होतव्यं, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातः''**। इत्येद्विधिविशेषे श्रूयते। **''अग्निं वावादित्यः सायं प्रविशति तस्मादग्निर्दूरान्नक्तम्। उद्यन्तं वावादित्यमग्निरनुसमारोहति तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे''**। इति॥ २२-२३॥

अहोरात्रप्रसङ्गात् तयोरप्सु प्रवेशमुपासनाद्यर्थमाह– **'दक्षिणे'** ति। मेरोर्दक्षिणभूम्यर्द्धे भास्करे समुत्तिष्ठति सति दिने तमःशीला रात्रिः अम्भः प्रविशति, मेरोरुत्तरभूम्यर्धे च भास्करे तिष्ठति रात्रौ प्राकाश्यशीलम् अहः अम्भो विशतीत्यर्थः। प्रकाश्यं प्राकाशकत्वम्॥ २४॥

एतदेवोपपादयति–**'आताम्राही'** ति सार्द्धेन। आ ईषत् ताम्राः दिवा दिने। नक्तप्रवेशनाद् रात्रेः प्रवेदादित्यर्थः। अस्तमुपेयुषि अस्तं गते सति। नक्तं रात्रौ। तथा च श्रुतिः,–''यद्वै दिवा भवत्यपो रात्रिं प्रविशति तस्मात् ताम्रा आपो दिवा ददृशे। यन्नक्तं भवत्यपोऽहः प्रविशति तस्मात् शुक्ला आपो नक्तं ददृशे'' इति॥ २५॥

एवं मेरुं प्रदक्षिणीकुर्वतो रवेर्मुहूर्त्तगम्यं मार्गं कथयन् उत्तरायणविषुवद्दक्षिणायनगति-भिरहोरात्राणां दैर्ध्यसाम्यलघुत्वानि निरूपयति–'एवमि'त्यादिना। उषा रात्रिरित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। पुष्करद्वीपमध्ये रथचक्राधारभूत मानसोत्तरपरिमण्डलोपलक्षिताया मेदिन्यास्त्रिंशत्तमं भागं रविर्यदा याति, तदा मुहूर्त्तसम्बन्धिनी गतिः। तदाह वायुः–**''नव**

कुलालचक्रपर्यन्तो भ्रमन्नेष दिवाकरः।
करोत्यहस्तथा रात्रिं विमुञ्चन्मेदिनीं द्विज॥ २७॥
अयनस्योत्तरस्यादौ मकरं याति भास्करः।
ततः कुम्भञ्च मीनञ्च राशे राश्यन्तरं द्विज॥ २८॥
त्रिष्वेतेष्वथ भुक्तेषु ततो वैषुवतीं गतिम्।
प्रयाति सविता कुर्वन्नहोरात्रं ततः समम्।
ततो रात्रिः क्षयं याति वर्द्धतेऽनुदिनं दिनम्॥ २९॥
ततश्च मिथुनस्यान्त्ये पराकाष्ठामुपागतः।
राशं कर्कटकं प्राप्य कुरुते दक्षिणायनम्॥ ३०॥
कुलालचक्रपर्यन्तो यथा शीघ्रं प्रवर्त्तते।
दक्षिणे प्रक्रमे सूर्यस्तथा शीघ्रं प्रवर्त्तते॥ ३१॥
अतिवेगितया कालं वायुवेगबलाच्चलन्।
तस्मात् प्रकृष्टां भूमिन्तु कालेनाल्पेन गच्छति॥ ३२॥

कोट्य समाख्याता योजनैः परिमण्डलम्। तथा शतसहस्राणि चत्वारिंशच्च पञ्च च। अहोरात्रात् पतङ्गस्य गतिरेषा विधीयते।'' चत्वारिंशच्च पञ्च चेति चकारात् षड्लक्षणानि ज्ञेयानि। अन्यथा परिमण्डलापूर्त्तेः। किञ्च ''पूर्णाः शतसहस्राणामेकत्रिंशत् तु ताः स्मृताः। पञ्चाशत् तु तथान्यानि सहस्राण्यधिकानि च। मौहूर्त्तिकी गतिर्ह्येषा सूर्यस्य त्वभिधीयते''। इति। अधिकानि चेति विंशतिसहस्राणीति ज्ञेयम्॥ २६॥

जन्तोः कुलालचक्रसंबद्धत्वात् कुलालचक्रपर्यन्ते स्थितो जन्तुर्यथेत्यर्थः। तद्वत् दक्षिणायनावसाने ज्योतिश्चक्रावसाने भ्रमंस्त्वेकैकमुहूर्तेन मेदिन्यास्त्रिंशद्भागं विमुञ्चन् क्रम उत्तरायणमारभ्याहश्च रात्रिञ्च पूर्ववैपरीत्येन करोति॥ २७॥

तदेव प्रत्यहमहर्वृद्ध्या रात्रिह्रासेन च दर्शयन्नाह— **'अयनस्ये'** ति सार्द्धद्वाभ्याम्॥ २८॥

उत्तरायणमध्य एव मेषराशिं विषुवत्सम्बन्धिनीं गतिं ततो विषुवदनन्तरम्॥ २९॥

दक्षिणायने तु अह्नो ह्रासं रात्रेश्च वृद्धिं दर्शयितुमाह—**'ततश्चे'** ति सार्द्धैश्चतुर्भिः। परां काष्ठाम् उत्तरायणस्यान्तम्॥ ३०॥

कुलालचक्रपर्यन्ते स्थिते जन्तुर्यथेत्यर्थः॥ ३१॥

कालं कालोपलक्षणं मार्गम्॥ ३२॥

सूर्यो द्वादशभिः शैघ्र्यान् मुहूर्त्तैर्दक्षिणायने।
त्रयोदशार्द्धमृक्षाणामह्ना तु चरति द्विज!
मुहूर्त्तैस्तावदृक्षाणि नक्तमष्टादशैश्चरन्॥ ३३॥
कुलालचक्रमध्यस्थो यथा मन्दं प्रसर्पति।
यथोदगयने सूर्यः सर्पते मन्दविक्रमः॥ ३४॥
तस्माद् दीर्घेण कालेन भूमिमल्पान्तु गच्छति।
अष्टादशमुहूर्त्तं यदुत्तरायणपश्चिमम्।
अहर्भवति तच्चापि चरते मन्दविक्रमः॥ ३५॥
त्रयोदशार्द्धमह्ना तु ऋक्षाणां चरते रविः।
मुहूर्त्तैस्तावदृक्षाणि रात्रौ द्वादशभिश्चरन्॥ ३६॥
अथो मन्दतरं नाभ्यां चक्रं भ्रमति वै यथा
मृत्पिण्ड इव मध्यस्थो ध्रुवो भ्रमति वै तथा॥ ३७॥
कुलालचक्रनाभिस्तु यथा तत्रैव वर्त्तते।
ध्रुवस्तथा हि मैत्रेय! तत्रैव परिवर्त्तते॥ ३८॥

ऋक्षाणां त्रयोदशार्द्धं सार्धत्रयोदशनक्षत्रोपलक्षितं ज्योतिश्चक्रार्द्धमित्यर्थः। तावदृक्षाणि सार्द्धत्रयादशनक्षत्राणि नक्तं रात्रावष्टादशभिश्चरन् इदञ्च द्वादशाष्टादशमुहूर्त्तत्वमहोरात्रयोर्देशविशेषापेक्षयोक्तं, न सर्वत्रेति ज्ञेयम्॥ ३३॥

उत्तरायणे त्वहोरात्रयोः पूर्ववैपरीत्यं दर्शयति **'कुलालचक्रमध्यस्थ'** इति सार्धैस्त्रिभिः। मध्यस्थः नाभिनेम्यन्तरालस्थः॥ ३४॥

उत्तरायणे पश्चिममन्त्यदिनम्॥ ३५-३६॥

ध्रुवस्य तु तथा गतिवैषम्यं नास्तीत्याह—**'अथो'** इति द्वाभ्याम्। कुलालचक्रं नाभ्यां मन्दतरं यथा भ्रमति अतस्तत्रस्थो मृत्पिण्डोऽपि यथा मन्दतरमेव भ्रमति, तथा ज्योतिश्चक्रनाभिस्तत्रस्थो ध्रुवश्च॥ ३७॥

यथा च नाभिस्तत्रैव परिवृत्तेर्नाभिस्थो मृत्पिण्डस्तत्स्थानं न त्यजति, तथैव ध्रुवः परिभ्रमन्नपि तत्स्थानं न त्यजतीत्यर्थः॥ ३८॥

उभयोः काष्ठयोर्मध्ये भ्रमतो मण्डलानि तु।
दिवा नक्तञ्च सूर्यस्य मन्दा शीघ्रा च वै गतिः॥ ३९॥
मन्दाह्नि यस्मिन्नयने शीघ्रा नक्तं तदा गतिः।
शीघ्रा निशि यदा चास्य तदा मन्दा दिवा गतिः॥ ४०॥
एकप्रमाणमेवैष मार्गं याति दिवाकरः।
अहोरात्रेण यो भुङ्क्ते समस्ता राशयो द्विज॥ ४१॥
षडेव राशयो भुङ्क्ते रात्रावन्यांश्च षड् दिवा।
राशिप्रमाणजनिता दीर्घह्रस्वात्मता दिने।
तथा निशायां राशीनां प्रमाणैर्लघुदीर्घता॥ ४२॥
दिनादेर्दीर्घह्रस्वत्वं तद्भोगेनैव जायते।
उत्तरे प्रक्रमे शीघ्रा निशि मन्दा गतिर्दिवा।
दक्षिणे त्वयने चैव विपरीता विवस्वतः॥ ४३॥
उषा रात्रिः समाख्याता व्युष्टिश्चाप्युच्यते दिनम्।
प्रोच्यते च तथा सन्ध्या उषा-व्युष्ट्योर्यदन्तरम्॥ ४४॥

एवं तावन्नक्षत्रमुहूर्त्तभेदैरहोरात्रवैचित्र्यमुक्तम्। इदानीं तदेव राशिभागवशात् प्रपञ्चयन्नाह—'**उभयोरि**' ति षड्भिः॥ ३९॥

अहोरात्रगम्यमार्गस्य समानत्वेऽपि राशिप्रमाणभेदात् तद्वैचित्र्यं घटत इत्याह—'**एकप्रमाणमेवे**' ति। राशयः राशीनित्यर्थः॥ ४१-४२॥

राशिप्रमाणभेदस्याहोरात्रवैचित्र्ये हेतुत्वमाह— '**दिनाने**'देरिति। तद्भोगेनैव ज्योतिश्चक्रद्वादशोऽंशः सपादनक्षत्रद्वयात्मक एकैको राशिः। तत्र च प्रायशो मीन-मेषौ ह्रस्वौ। वृक्ष-कुम्भौ ततः किञ्चिदधिकौ। मकर-मिथुने ततः किञ्चिद्दीर्घे। सिंह-वृश्चिकौ दीर्घतरौ। कर्कट-चापे दीर्घतमे। समे कन्या-तुले। तत्रार्काक्रान्तराशिं समारभ्य षड्राशिक्षेत्रदर्शनकालो दिनम्। इतरराशिषट्कदर्शनकालो रात्रिः। तदात्र राशिप्रमाणाधीनौ दिनरात्रिवृद्धिह्रासावित्यादि—ज्योतिःशास्त्रप्रक्रियापि पुराणाविरुद्धा चानुसन्धेयेति। 'मन्दाह्नि यस्मिन्ननयन्' इत्यने नोक्तं गतिवैचित्र्यं विशेषतो दर्शयति—'**उत्तर**' इति॥ ४३॥

अहोरात्रप्रसङ्गात्तयोः सन्धौ कार्यं सन्ध्योपास्त्यादिकं वक्तुमाह—'**उषा रात्रिरि**' त्यादिना 'पालनोद्यत' इत्यन्तेन। यत्र श्रुतिप्रयुक्तौ उषाव्युष्टिशब्दौ प्रस्तुतरात्रिदिनपरावित्याह—'उषा' इति। '**रात्रिर्वा उषा अहर्व्युष्टिः**'। इति श्रुतेः॥ ४४॥

सन्ध्याकाले तु सम्प्राप्ते रौद्रे परमदारुणे।
मन्देहा राक्षसा घोराः सूर्यमिच्छन्ति खादितुम्॥४५॥
प्रजापतिकृतः शापस्तेषां मैत्रेय! रक्षसाम्।
अक्षयत्वं शरीराणां मरणञ्च दिने दिने॥४६॥
ततः सूर्यस्य तैर्युद्धं भवत्यत्यन्तदारुणम्।
ततो द्विजोत्तमास्तोयं यत् क्षिपन्ति महामुने॥४७॥
ओङ्कारब्रह्मसंयुक्तं गायत्र्या चाभिमन्त्रितम्।
तेन दह्यन्ति ते पापा वज्रभूतेन वारिणा॥४८॥
अग्निहोत्रे हूयते या समन्त्रा प्रथमाहुतिः।
सूर्यो ज्योतिःसहस्रांशुस्तया दीप्यति भास्करः॥४९॥
ओङ्कारो भगवान् विष्णुस्त्रिधामा वचसां पतिः।
तदुच्चारणतस्ते तु विनाशं यान्ति राक्षसाः॥५०॥
वैष्णवोऽंशः परं सूर्यो योऽन्तर्ज्योतिरसंप्लवम्।
अभिधायक ओङ्कारस्तस्य तत्प्रेरकः परः॥५१॥

तत्र सन्ध्योपास्तिमकुर्वतः सूर्यहत्यादोषः स्यादिति निन्दार्थवादपूर्वकं सन्ध्योपास्तिप्रकारमाह—'सन्ध्याकाले त्वि'ति चतुर्भिः॥४५॥

प्रजापतिदत्तो वरोऽपि दुःखफलत्वात् शाप उच्यते। तथा च श्रुतिः,— रक्षांसि ह वा पुरोनुवाके तपोग्रमतिष्ठन्त, तान् प्रजापतिर्वरेणोपामन्त्रयत तानि वरं वृणीतादित्यो नो योद्धा हति तान् प्रजापतिरब्रवीद् योधयध्वमे इत्यादि॥४६-४७॥

दह्यन्ति दह्यन्ते। द्विजैः प्रक्षिप्तेन वारिणा॥४८॥

रवेर्वैरिजयमुक्त्वा होमादीप्तिप्रकर्षमाह—'अग्निहोत्र' इति। सूर्यो ज्योतिरिति प्रातरग्निहोत्रमन्त्रप्रतीकोक्तिः॥४९॥

त्रिधामा त्रीणि ऋग्-यजुः-सामरूपाणि धामानि तेजांसि स्वरूपाणि वा यस्य सः, अत एव वचसां वेदानां पतिः। तथा च श्रुतिः,—'सैषा त्रय्येव विद्या तत्पतिर्य एष आदित्यो **हिरणमयः पुरुषः**' इति॥५०॥

ओंकारोच्चारणाद् राक्षसानां नाशे हेतुमाह—वैष्णवोंऽश' इति द्वाभ्याम्। असंप्लवं निर्विकारम्। तत्प्रेरकस्तस्य ज्योतिषो रक्षोवधे प्रवर्तकः। तत्प्रेरकमिति पाठे स ओंकारः प्रेरको यस्यान्तर्ज्योतिषः तत्तत्प्रेरकम्॥५१॥

तेन सम्प्रेरितं ज्योतिरोङ्कारेणाथ दीप्तिमत्।
दहत्यशेषरक्षांसि मन्देहाख्यानि तानि वै॥५२॥
तस्मान्नोल्लङ्घनं कार्यं सन्ध्योपासनकर्मणः।
स हन्ति सूर्यं सन्ध्यायां नोपास्तिं कुरुते तु यः॥५३॥
ततः प्रयाति भगवान् ब्राह्मणैरभिरक्षितः।
बालखिल्यादिभिश्चैव जगतः पालनोद्यतः॥५४॥
काष्ठा निमेषा दश पञ्च चैव।
त्रिंशच्च काष्ठा गणयेत् कलाञ्च।
त्रिंशत् कलाश्चैव भवेन्मुहूर्त्त-
स्तैस्त्रिंशता रात्र्यहनी समेते॥५५॥
ह्रासवृद्धी त्वहर्भागैर्दिवसानां यथाक्रमम्।
सन्ध्या मुहूर्त्तमात्रा वै ह्रासवृद्धौ समा स्मृता॥५६॥
लेखात् प्रभृत्यथादित्ये त्रिमुहूर्त्तगते तु वै।
प्रातः स्मृतस्ततः कालो भागश्चाह्नः स पञ्चमः॥५७॥
ततः प्रातस्तनात् कालात् त्रिमुहूर्त्तस्तु सङ्गवः।
मध्याह्नस्त्रिमुहूर्त्तस्तु तस्मात् कालात् तु सङ्गवात्॥५८॥
तस्मान्माध्याह्निकात् कालादपराह्ण इति स्मृतः।
त्रय एव मुहूर्त्तास्तु कालभागः स्मृतो बुधैः।
अपराह्णे व्यतीते तु कालः सायाह्न एव च॥५९॥

तेन हेतुना अघानीति पाठे पापात्मकानीत्यर्थः। रक्षोवधे सहकारित्वात्॥५२-५४॥

अथ कालगणनापूर्वकं सन्ध्याकालनिर्णयमाह—'**काष्ठे**' ति द्वाभ्याम्॥५५॥

अहर्भागैः प्रातरादिभिः सह दिवसानां ह्रासे वृद्धौ च तद्भागानामपि ह्रासवृद्ध्योरवश्यम्भावित्वात्। सन्ध्या तु मुहूर्त्तमात्रा अर्द्धोदयात् पूर्वं प्रातः, सन्ध्या नाड़ीद्वयप्रमाणा। अर्धास्तमयानन्तरं सायंसन्ध्या नाड़ीद्वयप्रमाणैवेत्यर्थः॥५६॥

प्रातराद्यहर्भागानां वृद्धिह्रासौ वक्तुंतेषां ध्रुवभूतं वैषुवतं मानं तावदाह—'**लेखे**'ति सार्द्धैस्त्रिभिः। अर्धोदयोऽत्र लेखा तामारभ्य प्रत्येकं तु मुहूर्त्तत्रयेण प्रातरादिरेकैकः कालः। तथा च स्मृतिः,—मुहूर्त्तत्रितयं प्रातस्तावानेव च सङ्गवः मध्याह्नस्त्रिमुहूर्त्तः स्यादपराह्णोऽपि तादृशः। सायाह्नस्त्रिमुहूर्त्तश्च सर्वकर्मसु गर्हितः'। इति॥५७-५८॥

दशपञ्चमुहूर्त्ताहे मुहूर्त्तास्त्रय एव च।
दशपञ्चमुहूर्त्तं वै अहर्वैषुवतं स्मृतम्॥ ६०॥
वर्द्धतेऽहो ह्रसेच्चैवाप्ययने दक्षिणोत्तरे।
अहस्तु ग्रसते रात्रिं रात्रिर्ग्रसति वासरम्॥ ६१॥
शरद्वसन्तयोर्मध्ये विषुवन्तु विभाव्यते।
तुलामेषगते भानौ समरात्रिदिनन्तु तत्॥ ६२॥
कर्कटावस्थिते भानौ दक्षिणायनमुच्यते।
उत्तरायणमप्युक्तं मकरस्थे दिवाकरे॥ ६३॥
त्रिंशन्मूहूर्तं कथितमहोरात्रन्तु यन्मया।
तानि पञ्चदश ब्रह्मन्! पक्ष इत्यभिधीयते॥ ६४॥
मासः पक्षद्वयेनोक्तो द्वौ मासौ चार्कजावृतुः।
ऋतुत्रयश्चाप्ययनं द्वेऽयने वर्षसंज्ञितम्॥ ६५॥
संवत्सरादयः पञ्च चतुर्मासविकल्पिताः।

एते च मुहूर्ताः पञ्चभागाः दशपञ्चमुहूर्त्ताहेर्त्रिशन्नाडिकेऽह्नि भवन्ति। अन्यदा तु मुहूर्त्तास्त्रिय एव हि क्रमेणवृद्धह्रासगोचरा भवन्तीति शेषः॥६०॥

एतत् प्रपञ्चयति—'**दशपञ्चमुहूर्त्तमि**'ति सार्धैस्त्रिभिः॥६१॥

'**सरद्वसन्तयोर्मध्य**' इति—आश्विन-कार्त्तिकौ शरत्। तयोर्मध्ये तुलाख्यविषुवं भवति। चैत्र-वैशाखौ वसन्तः तयोर्मध्ये मेषाख्यमित्यर्थः॥६२-६३॥

अथ सूर्यगतिप्रसङ्गात् तत्कृतं संवत्सरादिपञ्चकं चक्रमाह—'**त्रिंशदि**'ति सार्धैश्चतुर्भिः। लोकप्रसिद्धैः सावनैर्दिन-पक्ष-मासैरप्रसिद्धा अदूरविप्रकर्षादर्कजा एव दिनदयोलक्ष्यन्ते, अर्कगत्यैव ऋत्वयनाद्यभिधानात्॥६४-६५॥

चतुर्मासविकल्पिता इति। 'दर्शादर्शश्चान्द्रः त्रिंशद्दिवसस्तु सावनो मासः। सौरोऽर्कराशिः नाक्षत्रश्चेन्दुमण्डलतः।' इत्येवंलक्षणाश्चान्द्रसावनसौरनाक्षत्रै श्चातुर्विधैर्मासैर्विविधतया कल्पिताः पञ्च संवत्सरादयः एकं युगम्। 'सावनञ्चापि सौरञ्च चान्द्रं नाक्षत्रमेव च। चत्वार्येतानि नामानि यैर्युगं प्रविभज्यते।' इति **वृद्धगर्गोक्तेः**। सर्वकालस्य मलमासादेर्निश्चयः निर्णयहेतुः। तथा हि,—'यदा शुक्ले प्रतिपदि एकस्मिन्नक्षत्रे चन्द्रेण सह स्थिते सूर्यसंक्रान्तिर्भवति, तदा चतुर्विधा मासा युगपत् प्रवर्त्तन्ते। तथा च सौरमासे नववर्षे षड् दिनानि वर्द्धन्ते, ह्रसन्ति चन्द्रमासेन षड् दिनानि। एवं चन्द्रार्कयोर्व्यवधानतारतम्यात् पञ्चवर्षात्मके युगे सौराः षष्टिर्मासाः, सावना एकषष्टिः, चान्द्रा द्विषष्टिः, नाक्षत्राः सप्तषष्टिः।

निश्चयः सर्वकालस्य युगमित्यभिधीयते॥ ६६॥
संवत्सरस्तु प्रथमो द्वितीयः परिवत्सरः।
इद्वत्सरस्तृतीयस्तु चतुर्थश्चानुवत्सरः।
वत्सरः पञ्चमश्चात्र कालोऽयं युगसंज्ञितः॥ ६७॥
यः श्वेतस्योत्तरः शैलः श्रृङ्गवानिति विश्रुतः।
त्रीणि तस्य तु श्रृङ्गाणि यैरसौ श्रृङ्गवान् स्मृतः॥ ६८॥
दक्षिणञ्चोत्तरञ्चैव मध्यं वैषुवतं तथा।
शरद्वसन्तयोर्मध्ये तद्भानुः प्रतिपद्यते॥ ६९॥
मेषादौ च तुलादौ च मैत्रेय! विषुवत् स्थितः।
तदा तुल्यमहोरात्रं करोति तिमिरापहः।
दशपञ्चमुहूर्त्तं वै तदेतदुभयं स्मृतम्॥ ७०॥
प्रथमे कृतिकाभागे यदा भास्वांस्तथा शशी।
विशाखानां चतुर्थेऽंशे मुने! तिष्ठत्यसंशयम्॥ ७१॥
विशाखानां यदा सूर्यश्चरत्यंशं तृतीयकम्।
तदा चन्द्रं विजानीयात् कृत्तिकाशिरसि स्थितम्॥ ७२॥
तदैव विषुवाख्यो वै कालः पुण्योऽभिधीयते।
तदा दानानि देयानि देवेभ्यः प्रयतात्मभिः॥ ७३॥

तन्मध्ये च मलमासद्वयं भवतीत्येवं सर्वकानिश्चयो भवति। ततश्च षष्ठे वर्षे तथैव चन्द्रार्कयोर्योगाद्युगमित्यभिधीयत इत्यर्थः॥ ६६-६७॥

अथ श्रृङ्गवतः संस्थानकथनपूर्वक विषुवत्काल लक्षयति 'यः श्वेते'ति सार्द्धैस्त्रिभिः॥ ६८-६९॥

तदेति मेषतुलयोः प्रथमे दिने—उभयं 'अहश्च' रात्रिश्च॥ ७०॥

इदानीं मेषाख्यां विषुवाख्यं कालं तत्प्राशस्त्यं चाह। '**प्रथम**' इति चतुर्भिः। प्रथमे कृत्तिकाभागे मेषान्ते विशाखानां चतुर्थे अंशे वृश्चिकोपक्रमे तदा शशी असंशयं हि तिष्ठति॥ ७१॥

यदा चन्द्रार्कयोरपि षड्राशिव्यवधाने विषुवावस्थितरूपं महाविषुवं विशाखानां तृतीयमंशन्तु तुलान्तरम्। कृत्तिकाशिरसि मेषान्ते चन्द्रं तदा विजानीयात्॥ ७२॥

तर्हि तथैव महाविषुवाख्यः पुण्यकालः। अयञ्च कदाचिदेव भवति, न सर्वदा॥ ७३॥

ब्राह्मणेभ्य: पितृभ्यश्च मुखमेतत् तु दानजम्।
दत्तदानस्तु विषुवे कृतकृत्योऽभिजायते॥७४॥
अहोरात्राधिमासौ तु कलाकाष्ठाक्षणास्तथा।
पौर्णमासी तथा ज्ञेया अमावस्या तथैव च।
सिनीवाली कुहूश्चैव राका चानुमतिस्तथा॥७५॥
तपस्तपस्यौ मधुमाधवौ च
शुक्र: शुचिश्चायनमुत्तरं स्यात्।
नभो नभस्योऽथ इषश्च सोर्ज्ज:
सह: सहस्याविति दक्षिणं स्यात्॥७६॥
लोकालोकश्च य: शैल: प्रागुक्तो भवतो मया।
लोकपालास्तु चत्वारस्तत्र तिष्ठन्ति सुव्रता:॥७७॥
सुधामा शङ्खपाचैव कर्दमस्यात्मजो द्विज।
हिरण्यरोमा चैवान्यश्चतुर्थ: केतुमानपि॥७८॥
निर्द्वन्द्वा निरभिमाना निस्तन्द्रा निष्परिग्रहा:।
लोकपाला: स्थिता ह्येते लोकालोके चतुर्दिशम्॥७९॥

तस्मादतिविशिष्टमेतत्तु दानजं मुखं दानार्थजातं विवृतं देवादीनां मुखम्। **'मुखमेतत्तु दैवतमि'** ति वायूक्ते:। अस्मिन् काले दत्तं साक्षाद् देवादीनां मुखे हुतं भवतीत्यर्थ:॥७४॥

पुण्यकालप्रसङ्गात् यागादिपुण्यकालज्ञापनार्थम् अहोरात्रादिविभाग: सम्यक् ज्ञातव्य इत्याह। अहोरात्रेति सार्द्धेन। दृष्टचन्द्रा सिनिवाली, नष्टचन्द्रा कुहू: इत्येतावमावास्याभेदौ। पूर्णचन्द्रा राका कलाहीनचन्द्रानुमतिरिति पौर्णमासी भेदौ॥७५॥

ऋतुत्रयं चाप्ययनमित्यनन्तोक्तमयनद्वयं विविच्याह—तप इति। माघादिद्विद्विमासैर्ऋतुत्रयम् उत्तरायणम्। श्रावणादिद्विद्विमासैर्ऋतुत्रयम् दक्षिणायनमित्यर्थ:। एतच्च स्थूलदृष्ट्यैवोक्तम्॥७६॥

लोकालोकोत्तरशृङ्गादगस्त्यस्थानात् पितृयानादिकं कथयिष्यन् प्रथमं तावद्बुद्धिस्थान् लोकलोकस्यानुलोकपालानाह **लोकालोक** इति त्रिभि:। तदुक्तं **मात्स्ये—**लोकपाला: स्थिता ह्येते लोकालोके चतुर्दिशम्। उत्तरं यदगस्त्यस्य शृङ्गं देवर्षिपूजितम् इति॥७७-७९॥

उत्तरं यदगस्त्यस्य अजवीथ्याश्च दक्षिणम्।
पितृयानः स वै पन्था वैश्वानरपथाद्बहिः॥८०॥
तत्रासते महात्मान ऋषयो येऽग्निहोत्रिणः।
भूतारम्भकृतं ब्रह्म शंसन्त ऋत्विगुद्यताः॥८१॥
प्रारभन्ते तु ये लोकास्तेषां पन्थाः स दक्षिणः।
चलितं ते पुनर्ब्रह्म स्थापयन्ति युगे युगे॥८२॥

तत्र पितृयानमाह,—उत्तरमि' ति सार्द्धैः पञ्चभिः। तत्र ज्योतिश्चक्रे वीथीक्रमो वायुनोक्तः,—"सर्वग्रहाणां त्रीण्येव स्थानानि द्विजसत्तम। स्थानं जारोद्गवं मध्यं तथैरावतमुत्तरम्। वैश्वानरं दक्षिणतो निर्दिष्टमिह तत्त्वतः।" तदेवमध्यमोत्तरदक्षिणमार्गत्रयं प्रत्येकं व़ीथीत्रयेण त्रिधा भिद्यते। तथाहि। त्रिभिस्त्रिभिरश्विन्यादिनक्षत्रैर्नागवीथी गजवीथी ऐरावती चेत्युत्तरमार्गे वीथीत्रयम्। आर्षभागे वीथी जारोद्गवी चेति वैषुवतमध्यममार्गे वीथीत्रयम्। अजवीथी मृगवीथी वैश्वानरी चेति। दक्षिणमार्गे वीथीत्रयम्। तदुक्तं तत्रैव—"अश्विनी कृत्तिका याम्या नागवीथीति शब्दिता। रोहिण्यार्द्रा मृगशिरो गजवीथ्यभिधीयते। पुष्याश्लेषा तथादित्या वीथी चैरावती स्मृता। एतास्तु वीथयस्तिस्र उत्तरो मार्ग उच्यते। तथा द्वे चापि फल्गुन्यौ मघा चैवार्षभीमता। हस्ता चित्रा तथा स्वाती गोवीथीति तु शब्दिता। ज्येष्ठा विशाखानुराधा वीथी जारद्गवी मता। एतास्तु वीथयस्तिस्रो मध्यमो मार्ग उच्यते। मूलाषाढोत्तराषाढ़ा अजवीथ्यभिशब्दिता। श्रवणा च धनिष्ठा च मार्गो शतभिषक् तथा। वैशानरी भाद्रपदे रेवती चैव कीर्त्तिता। एतास्तु वीथयस्तिस्रो दक्षिणो मार्ग उच्यते'॥इति॥

याम्या भरणी आदित्या अदितिदेवताका पुनर्वसुः। मार्गी मृगवीथी एवं स्थिते आगस्त्यादुत्तरमजवीथ्याश्च दक्षिणम्। अगस्त्यस्य निकटवर्त्तिनो वैश्वानरपथाद् बहिः। वैश्वानरवीथीं वर्जयित्वा मृगवीथीमात्रं पितृयानमित्यर्थः॥८०॥

भूतारम्भः प्रजोत्पादनं कृतं कृतिः कार्यं यस्य तद्ब्रह्म शंसन्तः प्रवृत्तिकर्मविधायकवेदभागं स्तुवन्तः ऋत्विगुद्यताः युगान्तरे यज्ञविच्छेदे सति ऋत्विग्भावेन यज्ञानुष्ठानायोद्यताः कर्माणि प्रारभन्तेत्यर्थः॥८१॥

चलितं विच्छिन्नसम्प्रदायं ब्रह्मवेदं स्थापयन्ति।८२॥

सन्तत्या तपसा चैव मर्य्यादाभिः श्रुतेन च।
जायमानास्तु पूर्वे च पश्चिमानां गृहेषु वै॥ ८३॥
पश्चिमाश्चैव पूर्वेषां जायते निधनेष्विह।
एवमावर्त्तमानास्ते तिष्ठन्ति नियतव्रताः।
सवितुर्दक्षिणं मार्गं श्रिता ह्याचन्द्रतारकम्॥ ८४॥
नागवीथ्युत्तरं यच्च सप्तर्षिभ्यश्च दक्षिणम्।
उत्तरः सवितुः पन्था देवयानश्च स स्मृतः॥ ८५॥
तत्र ते वशिनः सिद्धा विमला ब्रह्मचारिणः।
सन्ततिं ते जुगुप्सन्ति तस्मान्मृत्युर्जितश्च तैः॥ ८६॥
अष्टाशीतिसहस्राणां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम्।
उदक्पन्थानमर्य्यम्णः स्थिता ह्याभूतसंप्लवम्॥ ८७॥
तेऽसम्प्रयोगाल्लोभस्य मैथुनस्य च वर्जनात्।
इच्छाद्वेषाप्रवृत्त्या च भूतारम्भविवर्ज्जनात्॥ ८८॥

सन्तत्या वंशप्रवर्त्तनेन मर्यादाभिः वर्णाश्रमादि— व्यवस्थाभिः, श्रुनेन शास्त्रप्रवर्त्तनेन च पूर्वे पितरः पश्चिमानां पुत्राणां, पश्चिमाः पुत्राश्च पूर्वेषां स्वपुत्रत्वेनोत्पन्नानां पितृणां निधनेषु गृहेषु केनचिदंशेन स्वाधिकारवशात् जायन्ते। ''**पिता पुत्रेण पितृमान्यो वियोनौ**'' इति श्रुतेः। तथा च वायुः। ''प्राप्ते त्रेतायुगे चैव पुनः सप्तशयस्त्यिह। प्रवर्त्तयन्ति नान् वर्णानाश्रमांश्च पृथक्-पृथक्। तेषामेवान्वये धीरा उत्पद्यन्ते पुनः पुनः। जायमानः पिता पुत्रे पुत्रः पितरि चैव हि॥ एवमावर्त्तमानास्ते द्वापरेषु पुनः पुनः। कल्पानां भाष्यविद्यानां ज्ञानशास्त्रकृतश्च ये'' इति॥८३॥

सवितुर्दक्षिणं धूमादिमार्गं श्रिताः। श्रुतिश्च अथ ये ग्राम इष्टापूर्त्तेर्दत्तामत्युपासते॥ ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रिरपक्षीयमाणपक्षम्'' इत्यादि॥८३॥

देवयानमाह—'**नागवीथी**' ति षड्भिः। उत्तरमार्गस्योत्तरावीथी नागवीथी तस्या उत्तरं सप्तर्षिभ्यश्च दक्षिणतः देवयानः पन्थाः॥८५॥

वशिनः जितेन्द्रियाः॥८६॥

चार्य्यम्णः सवितुरुदक् पन्थानम् उत्तरं मार्गं स्थिताः श्रितानि। आकारश्छान्दसः॥८७॥

लोभस्यासम्प्रयोगात् तृष्णावियोगात् इच्छाद्वेषाभ्यामप्रवृत्या च कर्माकरणेन॥८८॥

पुनश्चाकामसंयोगाच्छब्दादेर्दोषदर्शनात्।
इत्येभिः कारणैः शुद्धास्तेऽमृतत्वं हि भेजिरे॥८९॥
आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाव्यते।
त्रैलोक्यस्थितिकालोऽयमपुनर्म्मार उच्यते॥९०॥
ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यां पुण्यपापकृतो विधिः।
आभूतसंप्लवं स्थानं फलमुक्तं तयोर्द्विज॥९१॥
यावन्मात्रे प्रदेशे तु मैत्रेयावस्थितो ध्रुवः।
क्षयमायाति तावत् तु भूमेराभूतसंप्लवे॥९२॥
उर्ध्वोत्तरमृषिभ्यस्तु ध्रुवो यत्र व्यवस्थितः।
एतद् विष्णुपदं दिव्यं तृतीयं व्योम्नि भास्वरम्॥९३॥
निर्धूतदोषपङ्कानां यतीनां संयतात्मनाम्।
स्थानं तत् परमं विप्र पुण्यपापरिक्षये॥९४॥

पुनश्चाकामसंयोगात् योगभ्रंशाभावात् अमृतत्वममृतद्वारभूतं चिरकालावस्थायित्वं भेजिरे॥८९॥

तदाह—'**आभूतसम्प्लवमि**' ति। ब्रह्माहःपर्यन्तं यत् स्थानं तदेवामृतत्वमुपचारादुच्यते। उपचारबीजमाह '**त्रैलोक्येति**। अपुनर्मार पुनर्मृत्युरहितः। क्रममुक्तिस्थानत्वादिति भाव॥९०॥

भूतसंप्लवान्तस्थानोक्तिप्रसङ्गादन्यदप्याह—'**ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्याम् उपलक्षितं यत्पाप-पुण्यञ्च तत्कृतः तन्निमित्तो विधिः विधीयतेऽस्मिन्**'। फलविधिः फलभोगकालः। तमेवाह—'आभूतसंप्लवान्तमिति भूतसंप्लवो रूपो योऽन्तः प्रलयः तत्पर्यन्तं तयो पापपुण्ययोः फलमुक्तमित्यर्थः। यद्वा ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्याम् उपलक्षितं यत् पापं पुण्यञ्च तत्कृतः पुंसोऽयं फलभोगकाल इत्यर्थः। अवधिरिति पाठेऽपि तावानेवार्थः॥९१॥

सप्तर्षिभ्यो दक्षिणतो देवयानन्त्विति उक्तम्। तदूर्ध्वान्तरतो विष्णुपदस्थितिमाह उर्द्ध्वेति यावत् समाप्तिः। ऊर्ध्वं तदुपरि तदुत्तरञ्च। सप्तर्षिभ्यः उत्तरस्यां दिश्यूर्ध्वं यत्र ध्रुवस्तिष्ठति तद्ध्रुवस्याश्रयभूतं विष्णुपदाख्यं भूम्यपेक्षयादिव्यं तृतीयं स्थानमित्यर्थः॥९३॥

तद्धि वैराजस्य हृदयनाड़ीस्थानम् अतस्तदन्तर्यामिनोविष्णोः स्थानम्, अतः क्रममुक्तिस्थानमपि तत् साक्षान्मोक्षस्थानत्वेन वर्णयति—'**निर्धूतदोषे**' ति पञ्चभिः॥९४॥

अपुण्यपुण्योपरमे क्षीणाशेषार्त्तिहेतवः।
यत्र गत्वा न शोचन्ति तद् विष्णोः परमं पदम्॥९५॥
धर्म्मध्रुवाद्यास्तिष्ठन्ति यत्र ते लोकसाक्षिणः।
तत्साङ्ख्योत्पन्नयोगेऽङ्गस्तद्विष्णोः परमं पदम्॥९६॥
यत्रोतमेतत् प्रोतञ्च यद्भूतं सचराचरम्।
भव्यञ्च विश्वं मैत्रेय तद् विष्णोः परमं पदम्॥९७॥
दिवीव चक्षुराततं योगिनां तन्मयात्मनाम्।
विवेकज्ञानदृष्टञ्च तद् विष्णोः परमं पदम्॥९८॥
यस्मिन् प्रतिष्ठितो भास्वान् मेधीभूतः स्वयं ध्रुवः।
ध्रुवे च सर्वज्योतींषि ज्योतिःष्वम्भोमुचो द्विज॥९९॥
मेघेषु सन्तता वृष्टिर्वृष्टेश्चापोऽथ पोषणम्।
आप्यायनञ्च सर्वेषां देवादीनां महामुने॥१००॥
ततश्चाज्याहुतिद्वारा पोषितास्ते हविर्भुजः।
वृष्टेःकारणतां यान्ति भूतानां स्थितये पुनः॥१०१॥

क्षीणा अशेषार्त्तेर्नानादेहप्राप्तेर्हेतवो येषां ते॥९५॥

तत् साम्यात् तेन विष्णुना समानैश्वर्येण इन्द्रियादिवशीकारसामर्थ्येनोत्पन्नो यो योगःसमाधिः तेनेद्धाः दीप्ता। ऐश्वर्य्याद् विहितो योगो योगादैश्वर्यमिष्यते। कथञ्चिन्नोपपद्यते इति हरिवंशोक्तेः॥९६॥

दिवि आततं सर्वप्रकाशं सूर्यरूपं चक्षुरिव महात्मनां विततं सर्वभासकत्वेन प्रततं विवेकज्ञानेन प्रपञ्चवैलक्षण्यज्ञानेन वृद्धञ्च अपरिच्छिन्नतया ज्ञातमित्यर्थः। अनेन च तद्विष्णोरिति मन्त्रार्थः सूचितः॥९८॥

यत्रोतमेतत् प्रोतं चेत्यनेन विश्वस्य कारणमाश्रयश्चेत्युक्तम्। इदानीं ध्रुवाश्रयत्वेन तद्द्वारा विश्वपोषकत्वमाह। यस्मिन्निति चतुर्भिः। भास्वान् तेजस्वी। अम्भोमुचो मेघाः॥९९॥

वृष्टेर्हेतोः ओषधिद्वारा सृष्टेः पोषणं वृद्धिः आप्यायनञ्च तृप्तिः॥१००॥

वृष्टैः कारणतां यान्तीति। एतदुक्तं गीतासु। "**देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ**॥इति॥१०१॥

एवमेतत् पदं विष्णोस्तृतीयममलात्मकम्।
आधारभूतं लोकानां त्रयाणां वृष्टिकारणम्॥ १०२॥
ततः प्रवर्त्तते ब्रह्मन् सर्वपापहरा सरित्।
गङ्गा देवाङ्गनाङ्गनामनुलेपनपिञ्जरा॥ १०३॥
वामपादाम्बुजाङ्गुष्ठनखस्त्रोतोविनिर्गता।
विष्णोर्बिभर्ति यां भक्त्या शिरसाऽहर्निशं ध्रुवः॥ १०४॥
ततः सप्तर्षयो यस्याः प्राणायामपरायणाः।
तिष्ठन्ति वीचिमालाभिरुह्यमानजटा जले॥ १०५॥
वार्य्योघैः सन्ततैर्यस्याः प्लावितं शशिमण्डलम्।
भूयोऽधिकतमां कान्तिं वहत्येतदुपक्षयम्॥ १०६॥
मेरुपृष्ठे पतत्युच्चैर्निष्क्रान्ता शशिमण्डलात्।
जगतः पवनार्थाय या प्रयाति चतुर्द्दिशम्॥ १०७॥
सीता चालकनन्दा च चक्षुर्भद्रा च संस्थिता।
एकैव या चतुर्भेदा दिग्भेदगतिलक्षणा॥ १०८॥
भेदञ्चालकनन्दाख्यं यस्याः सर्वोऽपि दक्षिणम्।
दधार शिरसा प्रीत्या वर्षाणामधिकं शतम्॥ १०९॥

विश्वपावनत्वञ्च विष्णुपदस्य दर्शयन्नाह—'ततः' इत्यादिना। ततः विष्णुपदस्थानाद् गङ्गाप्रकर्षेण भवति। त्रिविक्रमपदोद्भिन्नब्रह्माण्डसुषिरोद्भवत्वात्ततः प्रागेव जातापि तत आरभ्य देवादिसेव्यत्वेन प्रकटी भवतीत्यर्थः।

तदेवाह—'देवाङ्गनानामङ्गानां जलकेलिषु क्षालितानि यान्यनुलेपनानि कंकुमादिनि तैः। पिञ्जरा पिषङ्गीभूता॥ १०२-१०३॥

विष्णोर्वामपादाम्बुजम् अम्बुजसदृशो यो वामपादः। तस्याङ्गुष्ठनखात् स्त्रोतोरूपेण विनिर्गताम्॥ १०४॥

सप्तर्षयो यस्य जले अघमर्षणं कुर्वन्तस्तिष्ठन्ति। उह्यमाना इतस्ततश्चाल्यमाना जटा येषां ते।१०५-१०७॥

दिक्षु चतसृषु भेदेन या गतिः सैव चतुर्भैदेन लक्षणं यस्याः सा॥ १०८-१०९॥

शम्भोर्जटाकलापाच्च विनिष्क्रान्तास्थिशर्करा:।
प्लावयित्वा दिवं निन्ये पापाढ्यान् सगरात्मजान्॥ ११०॥
स्नातस्य सलिले यस्या: सद्य: पापं प्रणश्यति।
अपूर्वपुण्यप्राप्तिश्च सद्यो मैत्रेय जायते॥ १११॥
दत्ता: पितृभ्यो यत्रापस्तनयै: श्रद्धयान्वितै:।
समात्रयं प्रयच्छन्ति तृप्तिं मैत्रेय दुर्लभाम्॥ ११२॥
यस्यामिष्ट्वा महायज्ञैर्यज्ञेशं पुरुषोत्तमम्।
द्विजभूता: परामृद्धिमवापुर्दिवि चेह च॥ ११३॥
स्नानाद्विधूतपापाश्च यज्जले यतयस्तथा।
केशवासक्तमनस: प्राप्ता निर्वाणमुत्तमम्॥ ११४॥
श्रुताऽभिलषिता दृष्टा स्पृष्टा पीताऽवगाहिता।
या पावयति भूतानि कीर्तिता च दिने दिने॥ ११५॥
गङ्गा गङ्गेति यैर्नाम योजनानां शतेष्वपि।
स्थितैरुच्चरितं हन्ति पापं जन्मत्रयार्जितम्॥ ११६॥
यत: सा पावनायालं त्रयाणां जगतामपि।
समुद्भूता परं तत्तु तृतीयं भगवत्पदम्॥ ११७॥

इति श्रीविष्णुपुराणे द्वितीयांशे अष्टमोऽध्याय:।

अस्थिशर्करा अस्थिचूर्णानि। पापाढ्यान् ब्रह्मदण्डहतानपि वर्णत्रयम्॥ ११०-१११॥

समात्रयं वर्षत्रयम्॥ ११२॥

प्रस्तुतं विष्णुपदं निगमयति—'यत' इति। यत: स्थानात् समुद्भ्रता प्राकट्यं प्राप्ता, तत् भगवत्पदम् इति॥ ११७॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायां स्वप्रकाशाख्यायामात्मप्रकाशाख्यायां वा
श्रीविष्णुपुराणटीकायां द्वितीयांशे अष्टमोऽध्याय:॥

नवमोऽध्यायः

(आधारभूतं लोकानां त्रयाणां वृष्टिकारणम्)

पराशर उवाच

तारामयं भगवतः शिशुमाराकृति प्रभोः।
दिवि रूपं हरेर्यत्तु तस्य पुच्छे स्थितो ध्रुवः॥ १॥
सैष भ्रमन् भ्रामयति चन्द्रादित्यादिकान् ग्रहान्।
भ्रमन्तमनु तं यान्ति नक्षत्राणि च चक्रवावत्॥ २॥
सूर्याचन्द्रमसौ तारा नक्षत्राणि ग्रहैः सह।
वातानीकमयैर्बन्धैर्ध्रुवे बद्धानि तानि वै॥ ३॥

विष्णुपदं ध्रुवादीनां सर्वेषामाश्रयो विष्ण्वादिकारणञ्चेत्युक्तम्—''**यस्मिन् प्रतिष्ठितो भास्वान् मेधीभूतः स्वयं ध्रुव**'' इत्यादिना। तदेव केन प्रकारेणेत्यपेक्षायां तत्प्रकारविशेषनिरूपणार्थमध्यायारम्भः। '**तारामयमि**' ति। नक्षत्रपुञ्जात्मकं शिशुमाराकृति, शिशुमारः सरट-गोधाद्याकारो जलचरसत्त्वविशेषः। तस्याकृतिरिवाकृतिर्यस्य तद्भगवतो रूपं तस्य प्रदक्षिणावर्तकुण्डलीभूतदेहस्योत्तम्भितपुच्छस्य पुच्छाग्रे ध्रुवः स्थित इत्यर्थः॥ १॥

'**सैष**' इति। सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणमिति सुलोपः। स एष ध्रुवः शिशुमारवशेन भ्रमन् ग्रहान् भ्रामयति। नक्षत्राणि च तं भ्रमन्तं ध्रुवमनुयान्ति॥ २॥

तत्र हेतुमाह—'**सूर्याचन्द्रमसा**' विति। नक्षत्राण्यश्विन्यादीनि इतरास्ताराः बुधादिभिः ग्रहैः सह वातसमूहमयैर्बन्धैः; बध्यन्ते एभिरितिबन्धाः पाशास्तैर्ध्रुवे बद्धानि वै यतस्तमनुयान्तीत्यर्थः। **वाताश्च कूर्मोक्ताः**—''आवहः प्रवहश्चैव तथैवानुवहः परः। संवहो विवहश्चैव तदूर्ध्वं स्यात् परावहः। तथा परिवहश्चोर्द्धं वायवः सप्त नेमयः''॥इति॥ स्थानानि च तेषामुक्तानि—''मध्ये भू-मेघयोर्वायुरावहः प्रवहस्ततः। मेघभास्करयोः सूर्य-शशिनोरुद्वहः स्थितः। चन्द्र-नक्षत्रगणयोः संवहो विवहस्ततः। नक्षत्रगृहमध्यरथो ग्रह-सप्तर्षिमध्यगः। परावहः परिवहः सप्तर्षि-ध्रुवमध्यगः। इत्येते वायवः सप्त वहन्ति **भुवनत्रयम्**''॥इति॥ ३॥

शिशुमाराकृतिं प्रोक्तं यद्रूपं ज्योतिषां दिवि।
नारायणः परं धाम्नां तस्याधारः स्वयं हृदि॥४॥
उत्तानपादपुत्रस्तु तमाराध्य प्रजापतिम्।
स ताराशिशुमारस्य ध्रुवः पुच्छे व्यवस्थितः॥५॥
आधारः शिशुमारश्च सर्वाध्यक्षो जनार्दनः।
ध्रुवस्य शिशुमारश्च ध्रुवे भानुर्व्यवस्थितः॥६॥
तदाधारं जगच्चेदं सदेवासुरमानुषम्।
येन विप्र! विधानेन तन्ममैकमनाः शृणु॥७॥
विवस्वानष्टभिर्मासैरादायापो रसात्मिकाः।
वर्षत्युम्बु ततश्चान्नमन्नादप्यखिलं जगत्॥८॥
विवस्वानंशुभिस्तीक्ष्णैरादाय जगतो जलम्।
सोमं पुष्यत्यथेन्द्रश्च वायुनाडीमयैर्दिवि॥९॥
नालैर्विक्षिपतेऽभ्रेषु धूमाग्न्यनिलमूर्तिषु।
न भ्रश्यन्ति यतस्तेभ्यो जलान्यभ्राणि तान्यतः॥१०॥
अभ्रस्थाः प्रपतन्त्यापो वायुना समुदीरिताः।
संस्कारं कालजनितं मैत्रेयासाद्य निर्मलाः॥११॥

शिशुमारस्याश्रमं दर्शयन्नाह—'शिशुमारे' ति। ज्योतिषां नक्षत्राणां धाम्नां च सूर्यादिस्थानानामयनं दिवि शिशुमाराकृति यद्रूपं प्रोक्तं तस्य हृदि स्थितः स्वयं नारायण एव तारारूपस्तस्याधार इत्यन्वयः। पाठान्तरे धाम यद्रूपं प्रोक्तं यन्नारायणाश्रयम्। कथमित्यत आह—हृदि स्थितः स्वयं नारायणस्तस्याधार इति॥४॥

स उत्तानपादपुत्रो ध्रुवस्तं प्रजापतिं नारायणमाराध्य तारामयस्य शिशुमारस्य पुच्छे व्यवस्थितः॥५॥

तदेतत् स्पष्टयति—''आधार'' इति॥६॥

'तदाधारं' भान्वाश्रयं, तदेवाह—येनेति सार्धेन॥७॥

सूर्यादन्ननिष्पादकवृष्टिप्रकारमाह—'विवस्वानष्टभि' रिति चतुर्भिः॥८-९॥

घूमाग्न्यनिलमयानामपि मेघानां जलाधारत्वमभ्रसमाख्य योपपादयति—'न भ्रश्यन्ती' ति॥१०॥

संस्कारं माधुर्यरूपमतिशयम्॥११॥

सरित्समुद्रभौमास्तु तथापः प्राणिसम्भवाः।
चतुःप्रकारा भगवानादत्ते सविता मुने॥ १२॥
आकाशगङ्गासलिलं तदादाय गभस्तिमान्।
अनभ्रगतमेवोर्व्यां सद्यः क्षिपति रश्मिभिः॥ १३॥
तस्य संस्पर्शनिर्धूतपापपङ्को द्विजोत्तम!
न याति नरकं मर्त्यो दिव्यस्नानं हि तत् स्मृतम्॥ १४॥
दृष्टसूर्यं हि यद्वारि पतत्यभ्रैर्विना दिवः।
आकाशगङ्गासलिलं तद् गोभिः क्षिप्यते रवेः॥ १५॥
कृत्तिकादिषु ऋक्षेषु विषमेष्वम्बु यद्दिवः।
दृष्टार्कं पतति ज्ञेयं तद् गाङ्गं दिग्गजोज्झितम्॥ १६॥
युग्मर्क्षेषु च यत्तोयं पतत्यर्कोज्झितं दिवः।
तत सूर्यरश्मिभिः सद्यः समादाय निरस्यते॥ १७॥
उभयं पुण्यमत्यर्थं नृणां पापापहं द्विज!
आकाशगङ्गासलिलं दिव्यस्नानं महामुने॥ १८॥
यत्तु मेघैः समुत्सृष्टं वारि तत् प्राणिनां द्विज!
पुष्णात्योषधयः सर्वा जीवनायामृतं हि तत्॥ १९॥
तेन वृद्धिं परां नीतः सलिलेनौषधीगणः।
साधकः फलपाकान्तः प्रजानां द्विज! जायते॥ २०॥
तेन यज्ञान् यथाप्रोक्तान् मानवाः शास्त्रचक्षुषः।
कुर्वन्त्यहरहस्तैश्च देवानाप्याययन्ति ते॥ २१॥

अभ्रगर्भावस्थानात् पूर्वं त्वापो नानारसा इत्यादि।—'सरित्-सरित्समुद्रभौमास्त्विति'—सरित्समुद्रगता भूमिगताश्चेत्यर्थः। प्राणिसम्भवा देहस्थाः॥ १२॥

प्रसङ्गाद् वृष्टिविशेषाद् दिव्यं स्नानमाह— 'आकाशगङ्गे' ति षड्भिः॥ १३॥

कृत्तिकामृगशीर्षादिविषमनक्षत्रेषु स्थितेऽर्के दृष्टार्कम् अनभ्रं यदम्बु पतति॥ १६॥

एवं 'युग्मर्क्षेषु' रोहिण्यार्द्रादिसमनक्षत्रेषु स्थितोऽर्क इति ज्ञेयम्। सूर्याक्रान्तनक्षत्रैरेव वृष्ट्यादिव्यवहारदर्शनात्॥ १७-१८॥

प्रासङ्गिकं समाप्य पूर्वोक्तां वृष्टिमनुवर्तयति। 'यत्त्विति' त्रिभिः॥ १९॥

साधकः दृष्टादृष्टहेतुः प्रजानां जायते॥ २०-२१॥

एवं यज्ञाश्च वेदाश्च वर्णाश्च द्विजपूर्वकाः।
सर्वे देवनिकायाश्च पशुभूतगणाश्च ये॥ २२॥
वृष्ट्या धृतमिदं सर्वमन्नं निष्पाद्यते यथा।
सापि निष्पाद्यते वृष्टिः सवित्रा मुनिसत्तम॥ २३॥
आधारभूतः सवितुर्ध्रुवो मुनिवरोत्तम!
ध्रुवस्य शिशुमारोऽसौ सोऽपि नारायणाश्रयः॥ २४॥
हृदि नारायणस्तस्य शिशुमारस्य संस्थितः।
बिभर्त्ता सर्वभूतानामादिभूतः सनातनः॥ २५॥

इति श्रीविष्णुपुराणे द्वितीयांशे नवमोऽध्यायः॥

अध्यायार्थमुपसंहरति-'एव' मिति चतुर्भिः॥ २२-२३॥

तस्य शिशुमारस्य हृदि स्थितो नारायणस्तद्द्वारा सर्वभूतानां बिभर्त्ता विधारकः। बिभर्तीति पाठे सर्वभूतानामिति कर्मणि षष्ठी॥ २५॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाख्यायां स्वप्रकाशाख्यायां वा श्रीविष्णुपुराणटीकायां द्वितीयांशे नवमोऽध्यायः समाप्तः॥

दशमोऽध्यायः

(सूर्यरथाधिष्ठातृणां देवादीनां विवरणम्।)

पराशर उवाच

साशीतिमण्डलशतं काष्ठयोरन्तरं द्वयोः।
आरोहणावरोहाभ्यां भानोरब्देन या गतिः॥ १॥
स रथोऽधिष्ठितो देवैरादित्यैर्ऋषिस्तथा।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च ग्रामणी-सर्प-राक्षसैः॥ २॥
धाता क्रतुस्थला चैव पुलस्त्यो वासुकिस्तथा।
रथकृद्ग्रामणीर्हेतिस्तुम्बुरुश्चैव सप्तमः॥ ३॥
एते वसन्ति वै चैत्रे मधुमासे सदैव हि।
मैत्रेय स्यन्दने भानोः सप्त मासाधिकारिणः॥ ४॥

अथ प्रतिमासं सूर्यरथपरिभ्रमणाधिकारिगणान् वक्ष्यन्नुत्तरायणदक्षिणायनयोरनुलोमप्रतिलोमगन्तव्यानि क्रान्तिवृत्तान्याह—'**साशीती**' ति। उत्तरदक्षिणकाष्ठयोर्मध्ये अशीत्युत्तरं मण्डलशतं भानोर्गतिर्गन्तव्यं वर्त्म आरोहणावरोहाभ्यामिति युगाक्षकटिबन्धौ वायुपाशौ ध्रुवो यदाकर्षति तदोत्तरायणे प्रत्यहमभ्यन्तरैकैकमण्डलप्रवेशे रथस्यारोहणं भवति, यदा तु तौ पाशौ ध्रुवः प्रसारयति दक्षिणायने तेष्वेव मण्डलेषु प्रतिलोमं बहिरेकैकमण्डलं प्रविशतो रथस्यावरोहणं भवति। तदुक्तं मात्स्ये—"**आकृष्यते यदा तौ तु ध्रुवेण समधिष्ठितौ। तदा सोऽभ्यन्तरं सूर्यो भ्रमते मण्डलानि तु। ध्रुवेण मुच्यमाने तु पुना रश्मियुगेन तु। तथैव वाक्षतः सूर्यो मण्डलानि च**" इति॥ १॥

देवैरादित्यैरादित्या एव देवास्तैः, ग्रामणीर्यक्षः॥ २॥

वानेवादित्यादीन् प्रतिमासं सप्त सप्तानुक्रामति '**धाते**' त्यादिना '**विष्णुशक्त्युपवृंहिता**' इत्यन्तेन। धाता सूर्यः रथकृत्संज्ञो ग्रामणीः यक्षः। हेती राक्षसः॥ ३॥

चैत्र एव मधुमासस्तस्मिन्॥ ४॥

अर्यमा पुलहश्चैव रथौजाः पुञ्जिकस्थला।
प्रहेतिः कच्छनीरश्च नारदश्च रथे रवेः।
माधवे निवसन्त्येते शुचिसंज्ञे निबोध मे॥५॥
मित्रोऽत्रिस्तक्षको रक्षः पौरुषेयोऽथ मेनका।
हाहा रथस्वनश्चैव मैत्रेयैते वसन्ति वै॥६॥
वरुणो वशिष्ठो रम्भा जहजन्या हूहूर्बुधः।
रथचित्रस्तथा शुक्रे वसन्त्याषाढसंज्ञके॥७॥
इन्द्रो विश्वावसुः स्रोत एलापत्रस्तथाङ्गिराः।
प्रम्लोचा च नभस्येते सर्पश्चार्के वसन्ति वै॥८॥
विवस्वानुग्रसेनश्च भृगुश्चापूरणस्तथा।
अनुम्लोचा शङ्खपालो व्याघ्रो भाद्रपदे तथा॥९॥
पूषा च सुरुचिर्धाता गौतमोऽथ धनञ्जयः।
सुषेणोऽन्यो घृताची च वसन्त्याश्वयुजे रवौ॥१०॥
विभावसुभरद्वाजौ पर्जन्यैरावतौ तथा।
विश्वाची-सेनजित्संज्ञौ कार्त्तिके चाधिकारिणः॥११॥

रथौजा यक्षः, प्रहेतिः राक्षसः। कच्छनीरः सर्पः, माधवे वैशाखे। शुचिसंज्ञ इति ज्यष्ठो विवक्षितः॥५॥

पौरुषेयो राक्षसः, रथस्वनो यक्षः॥६॥

वरुणः सूर्यः रम्भा च सहजन्येति पाठे फाल्गुने वक्ष्यमाण-रम्भाव्यावृत्त्यर्थं संज्ञान्तरेण तस्य विशेषणम्। रथचित्र इति यक्षसर्पयोरेकं नाम। नागश्च सहजन्येति पाठे नागसंज्ञकः सर्पः। आषाढसंज्ञक इति चाख्यानादाषाढ़ एव शुक्रः पूर्वोक्तशुचिसंज्ञो ज्यैष्ठ इति ज्ञेयम्॥७॥

इन्द्रः सूर्यः, एलापत्रो नागः, नभसि श्रावणे, सर्पो राक्षसः, अर्के सूर्यरथे॥८॥

उग्रसेनो गन्धर्वः, आपूरणो यक्षः, व्याघ्रो राक्षसः॥९॥

सुरुचिर्गन्धर्वः, वातो राक्षसः, धनञ्जयः सर्पः, सुषेणो यक्षः॥१०॥

विश्वावसुसंज्ञ एवापरो गन्धर्वः, पर्जन्य सूर्यः, ऐरावतः सर्पः, सेनाजित्संज्ञौ। सेनाजिच्चाप इति पाठे चापो राक्षसः॥११॥

अंशुकाश्यपताक्ष्र्यास्तु महापद्मस्तथोर्वशी।
चित्रसेनस्तथा विद्युन्मार्गशीर्षाधिकारिण:॥ १२॥
ऋतुर्भगस्तथोर्णायुः स्फूर्जः कर्कोटकस्तथा।
अरिष्टनेमिश्चैवान्या पूर्वचित्तिर्वराप्सरा:॥ १३॥
पौषमासे वसन्त्येते सप्त भास्करमण्डले।
लोकप्रकाशनार्थाय विप्रवर्याधिकारिण:॥ १४॥
त्वष्टाथ जमदग्निश्च कम्बलोऽथ तिलोत्तमा।
ब्रह्मापेतोऽथ ऋतजिद् धृतराष्ट्रोऽथ सप्तमः॥ १५॥
माघमासे वसन्त्येते सप्त मैत्रेय! भास्करे।
श्रुयन्ताञ्चापरे सूर्ये फाल्गुने निवसन्ति ये॥ १६॥
विष्णुरश्वतरो रम्भा सूर्यवर्चाथ सत्यजित्।
विश्वामित्रस्तथा रक्षो यज्ञापेतो महामुने॥ १७॥
मासेष्वेतेषु मैत्रेय! वसन्त्येते तु सप्तका:।
सवितुर्मण्डले ब्रह्मन्! विष्णुशक्त्युपबृंहिता:॥ १८॥
स्तुवन्ति मुनयः सूर्यं गन्धर्वैर्गीयते पुर:।
नृत्यन्त्योऽप्सरसो यान्ति सूर्यस्यानु निशाचरा:॥ १९॥
वहन्ति पन्नगा यक्षै: क्रियतेऽभीषुसङ्ग्रहः।
बालखिल्यास्तथैवैनं परिवार्य्य समासते॥ २०॥

अंशुः सूर्यः, ताक्ष्र्यो यक्षः, महापद्मः सर्पः, चित्रसेनो गन्धर्वः, विद्युद्रारक्षः॥ १२॥

ऋतुर्ऋषिः, भगः सूर्यः, ऊर्णायुर्गन्धर्वः स्फुर्ज्जो राक्षसः कर्कोटकः सर्पः, अरिष्टनेमिर्यक्षः॥ १३-१४॥

त्वष्टा सूर्यः, कम्बलः सर्पः, ब्रह्मापेतो राक्षसः, श्रुतजित् यक्षः, धृतराष्ट्रो गन्धर्वः॥ १५॥

विष्णुः सूर्यः, अश्वतरः सर्पः, सूर्यवर्चा गन्धर्वः सत्यजित् यक्षः, यज्ञापेतो राक्षसः॥ १६-१७॥

तेषां व्यापारविशेषानाह—'**स्तुवन्ती**'ति सार्धेन॥ १९॥

वहन्ति वहनानुकूलतया रथं सन्नह्यन्तीत्यर्थः, 'सन्नह्यन्ति रथं नागाः' इति शुकोक्तेः। अभीषुसङ्ग्रहः रश्मिसंयोजनम्। नित्यसेवकानाह—'**बालखिल्या**' इति॥ २०॥

सोऽयं सप्तगण: सूर्यमण्डले मुनिसत्तम!
हिमोष्ण-वारिवृष्टीनां हेतुत्वे समयं गत:॥२१॥

इति श्रीविष्णुपुराणे द्वितीयांशे दशमोऽध्याय:।

सप्तानां साधारणं कर्माह—'सोऽयमि' ति। स्वयमागत इति पाठे स्वस्वकाले हेमन्त-ग्रीष्मादावागत: सन् हिमादिवृष्टीनां हेतुरित्यर्थ:॥२१॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाख्यायां स्वप्रकाशाख्यायां वा श्रीविष्णुपुराणटीकायां द्वितीयांशे दशमोऽध्याय:॥

एकादशोऽध्यायः

(सूर्यरथस्थायास्त्रयीमय्या विष्णुशक्तेर्विवरणम्)

मैत्रेय उवाच

यदेतद्भगवानाह गणः सप्तविधो रवेः।
मण्डले हिम-तापादेः कारणं तन्मया श्रुतम्॥ १॥
व्यापाराश्चापि कथिता गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
ऋषीणां बालखिल्यानां तथैवाप्सरसां गुरो॥ २॥
यक्षाणाञ्च रथे भानोर्विष्णुशक्तिधृतात्मनाम्।
किन्त्वादित्यस्य यत्कर्म तन्नात्रोक्तं त्वया मुने॥ ३॥
यदि सप्तगणो वारि हिममुष्णं च वर्षते।
तत् किमत्र रवेर्येन वृष्टिः सूर्यादितीर्यते॥ ४॥
विवस्वानुदितो मध्ये यात्यस्तमिति किं जनाः।
ब्रतीत्येतत् समं कर्म यदि सप्तगणस्य तत्॥ ५॥

पराशर उवाच

मैत्रेय! श्रूयतामेतद् यद्भवान् परिपृच्छति।
यथा सप्तगणेऽप्येकः प्राधान्येनाधिको रविः॥ ६॥
सर्वा शक्तिः परा विष्णोर्ऋग्यजुःसामसंज्ञिता।
सैषा त्रयी तपत्यंहो जगतश्च हिनस्ति या॥ ७॥

उक्तानुवादपूर्वकं रवेर्विशेषं पृच्छति—**'यदेतदि'** ति पञ्चभिः॥ १-३॥

नन्वादित्यस्यापि वृष्टिकर्मोक्तमेव विवस्वानष्टभिर्मासैरित्यादिना अत आह—**'यदी'** ति। सोऽयं सप्तगणो हिमोष्णवारिवृष्टीनां हेतुरिति साधारण्यस्योक्तत्वादित्यर्थः॥ ४॥

ननु साधारणत्वात् रवेरपि तत् कर्म भवत्येव। तत्राह—**'विवस्वानि'** ति॥ ५॥

विष्णुशक्त्यधिष्ठानातिशयाद्रविप्राधान्येन सर्वोऽप्ययं व्यवहारो युक्त इति परिहारमाह—**'मैत्रेये'** त्यादिना॥ ६॥

यद् यस्माद् या परा सर्वार्थप्रकाशिका विष्णोस्त्रयीरूपा शक्तिः सैवैषा रविरूपेण तपति अंहश्च पापमुपासिता सती हिनस्ति, अतः प्राधान्येनाधिको रविः, **''सैषा त्रयेव विद्या तपति'** इति श्रुतेः। सर्वा शक्तिरिति पाठे सर्वा शक्तिः समग्रा शक्तिरित्यर्थः॥ ७॥

सैव विष्णुः स्थितः स्थित्यां जगतः पालनोद्यतः।
ऋग्यजुःसामभूतोऽन्तः सवितुर्द्विज! तिष्ठति॥ ८॥
मासि मासि रविर्यो यस्तत्र तत्र हि सा परा।
त्रयीमयी विष्णुशक्तिरवस्थानं करोति वै॥ ९॥
ऋचस्तपन्ति पूर्वाह्णे मध्याह्नेऽथ यजूंषि वै।
बृहद्रथन्तरादीनि सामान्यह्न क्षये रवौ॥ १०॥
अङ्गमेषा त्रयी विष्णोर्ऋग्यजुःसामसंज्ञिता।
विष्णुशक्तिरवस्थानं सदादित्ये करोति सा॥ ११॥
न केवलं रवौ शक्तिर्वैष्णवी सा त्रयीमयी।
ब्रह्माथ पुरुषो रुद्रस्त्रयमेतत् त्रयीमयम्॥ १२॥
सगादौ ऋङ्मयो ब्रह्मा स्थितौ विष्णुर्यजुर्मयः।
रुद्रः साममयोऽन्ताय तस्मात् तस्याशुचिर्ध्वनिः॥ १३॥
एवं सा सात्त्विकी शक्तिर्वैष्णवी या त्रयीमयी।
आत्मसप्तगणस्थं तं भास्वन्तमधितिष्ठति॥ १४॥
तया चाधिष्ठितः सोऽपि जाज्वलीति स्वरश्मिभिः।
तमः समस्तजगतां नाशं नयति चाखिलम्॥ १५॥

अत एव तस्य विष्णुना अभेदमेवाभिप्रेत्याह—'**सैवे**' ति। जगतः स्थित्यां स्थितः सन् पालनायोद्यतो विष्णुर्नाम सा शक्तिरेवेत्यन्वयः॥८-९॥

'ऋचस्तपन्ति' इत्यत्र श्रुतिः—'**ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्येऽह्नः। सामवेदेनास्तमये महीयते**' इत्यादि॥१०॥

अङ्गं मूर्तिः॥११॥

न केवलं रवेरेव सा शक्तिरधिष्ठात्री किन्तु ब्रह्मादीनामपीत्याह—'**ने**' ति। पुरुषो विष्णुस्त्रयीमयं त्रयीप्रधानं, तदधिष्ठितमित्यर्थः॥१२॥

यस्तस्मात् सामशक्त्वा रुद्रोऽन्तं करोति, तस्मान्नाशकरत्वात् तस्य साम्नो ध्वनिरशुचिः अशुचिदेशकालादिवद् वेदान्तरस्यानध्यायत्वापादक इत्यर्थः, ''**न सामध्वनावृग्यजुषी**'' इति गौतमस्मृतेः॥१३॥

आत्मसप्तगणस्थं स्वाधिष्ठेये सप्तगणे स्थितं भास्वन्तं सूर्यमतिशयेनाधितिष्ठति॥१४॥

जाज्वलीति अतिशयेन प्रकाशते॥१५॥

स्तुवन्ति तं वै मुनयो गन्धर्वैर्गीयते पुरः।
नृत्यन्त्योऽप्सरसो यान्ति तस्य चानु निशाचराः॥ १६॥
वहन्ति पन्नगा यक्षैः क्रियतेऽभीषुसङ्ग्रहः।
बालखिल्यास्तथैवैनं परिवार्य समासते॥ १७॥
नोदेता नास्तमेता च कदाचिच्छक्तिरूपधृक्।
विष्णुर्विष्णोः पृथक् तस्य गणः सप्तमयोऽप्ययम्॥ १८॥
स्तम्भस्थदर्पणस्येव योऽयमासन्नतां गतः।
छायादर्शनसंयोगं स तं प्राप्नोत्यथात्मनः॥ १९॥
एवं सा वैष्णवी शक्तिर्नैवापैति ततो द्विज!
मासानुमासं भास्वन्तमध्यास्ते तत्र संस्थितम्॥ २०॥
पितृ-देव-मनुष्यादीन् स सदाप्याययन् प्रभुः।
परिवर्त्तत्यहोरात्रकारणं सविता द्विज॥ २१॥

अतस्तस्य प्राधान्यात् पूर्वोक्तैः स्व-स्वव्यापारैर्ऋषिमुख्यास्तं सेवन्ते इत्याह—'**स्तुवन्ती**' ति द्वाभ्याम्॥ १६-१७॥

"**ऋग्यजुःसामभूतोऽन्तःसवितुर्द्विज! तिष्ठति। विष्णुशक्तिरवस्थानं सदादित्ये करोति सः**"। '**न केवलं रवौ शक्ति**' रित्यादिषु त्रयीशक्तिरूपस्य विष्णोः प्रतिमासं भिन्नेष्वागमापायिषु सूर्येष्ववस्थानोक्तेः सूर्यादिवत् प्रतिमासं विष्णोरप्यागमापायित्वं प्रतीतं वारयति,—नोदेता उदयं न गन्ता। नास्तमेता अतश्च न गन्ता। अधिष्ठाता विष्णुः प्रतिमासमागमापायी न भवति, किन्तु तदधिष्ठेयः सप्तमयः सप्तभिः सम्पाद्योऽयं सर्वोऽप्यागमापायी गणस्ततः पृथगेव॥ १८॥

एतदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति—**स्तम्भेति** द्वाभ्याम्। स्तम्भे निखातस्य दर्पणस्य सान्निध्यं यो यो जनः प्राप्नोति स सर्वोऽपि क्रमेण आत्मनः छायादर्शनसंयोगं प्रतिबिम्बभावेन सम्बन्धं यथा प्राप्नोति॥ १९॥

एवं स्तम्भस्थानीये सूर्यरथे स्थिता सा दर्पणस्थानीया वैष्णवीं शक्तिस्ततः स्थानान्नैवापगच्छति तत्रस्थैव तु भासानुमासं प्रतिमासि तत्र स्थितमार्गत्रिजगत्स्थानीयं भास्वन्तमध्यास्ते अधितिष्ठति॥ २०॥

एवं विष्णुशक्त्यधिष्ठितस्य रवेः पित्रादितर्पकत्वमाह— '**पितृदेवे**' ति। आप्याययन् तर्पयन् परिवर्त्तति परिभ्रमतीत्यर्थ॥ २१॥

सूर्यरश्मिः सुषुम्णो यस्तर्पितस्तेन चन्द्रमाः।
कृष्णपक्षेऽमरैः शश्वत् पीयते वै सुधामयः॥ २२॥
पीतं तद्द्विकलं सोमं कृष्णपक्षक्षये द्विज!
पिबन्ति पितरः शेषं भास्करात् तर्पणं तथा॥ २३॥
आदत्ते रश्मिभिर्यत्तु क्षितिसंस्थं रसं रविः।
तमुत्सृजति भूतानां पुष्ट्यर्थं शस्यवृद्धये॥ २४॥
तेन प्रीणात्यशेषाणि भूतानि भगवान् रविः।
पितृ-देव-मनुष्यादीनेवमाप्याययत्यसौ॥ २५॥
पक्षतृप्तिन्तु देवानां पितृणाञ्चैव मासिकीम्।
शश्वत्तृप्तिञ्च मर्त्यानां मैत्रेयार्कः प्रयच्छति॥ २६॥

॥इति विष्णुपुराणे द्वितीयांशे एकादशोऽध्यायः॥

तत्र देवपितृतर्पणे प्रकारमाह— **'सूर्यरश्मि'** रिति द्वाभ्याम्। तर्पितः शुक्लप्रतिपदमारभ्यापूरितः षोडशकलः सन् कृष्णपक्षे प्रतिपदादि प्रत्यहमेकैककलांशेनामरैः पीयते। **''प्रथमां पिबते वह्निर्द्वितीयां पिबते रविः''** इत्यादि स्मृतेः॥ २२॥

एवं प्रत्यहममरैरेकैककलायामंशेन पीतायां चतुर्दश्यन्ते द्विकलमवशिष्टं सन्तं कृष्णपक्षक्षये दर्शे पितरः किञ्चित् पिबन्ति। तथा तेन चन्द्रतर्पणप्रकारेण भास्करात् तेषां देवपितॄणां तर्पणं भवति॥ २३॥

मनुष्यादितर्पणप्रकारमाह—**'आदत्त'** इति द्वाभ्याम्॥ २४-२५॥

वृष्टिकृतायां तृप्तौ विशेषमाह—**'पक्षतृप्ति'** मिति। शश्वत्तृप्तिं स्वकृतवृष्टिनिष्पन्नैरन्नैः सकृद् भुक्तैः पक्षमासाहोरात्रपरिमितां तृप्तिं देवपितृमर्त्यानामर्कः करोतीत्यर्थः। अत एव श्रुतिः—**''तस्मादहरहर्मनुष्या अशनमिच्छन्तेऽर्धमासे देवा इत्यन्ते मासि पितृभ्यः क्रियते''** इति॥ २६॥

इति श्रीधरकृतायामात्मप्रकाशाख्यायां स्वप्रकाशाख्यायां वा श्रीविष्णुपुराणटीकायां द्वितीयांशे एकादशोऽध्यायः॥

द्वादशोऽध्यायः

(चन्द्रादिग्रहाणां रथादीनां, प्रवह-वायोः श्रीविष्णोर्माहात्म्यस्य च कथनम्।)

पराशर उवाच

रथस्त्रिचक्रः सोमस्य कुन्दाभास्तस्य वाजिनः।
वाम-दक्षिणतो युक्ता दश तेन चरस्त्यसौ॥ १॥
वीथ्याश्रयाणि ऋक्षाणि ध्रुवाधारेण वेगिना।
ह्रासवृद्धिक्रमंस्तस्य रश्मीनां सवितुर्यथा॥ २॥
अर्कस्येव हि तस्याश्वाः सकृद्युक्ता वहन्तिते।
कल्पमेकं मुनिश्रेष्ठ! वारिगर्भसमुद्भवाः॥ ३॥
क्षीणं पीतं सुरैः सोममाप्याययति दीप्तिमान्।
मैत्रेयैककलं सन्तं रश्मिनैकेन भास्करः॥ ४॥
क्रमेण येन पीतोऽसौ देवैस्तेन निशाकरम्।
आप्याययत्यनुदिनं भास्करो वारितस्करः॥ ५॥
सम्मृतश्चार्द्धमासेन तत्सोमस्थं सुधामृतम्।

उक्ता चतुर्भिरध्यायैरष्टमासै रवेः स्थितिः। अथ सोमादिसंस्थोक्त्या तत्प्रपञ्चोपसंहृतिः कुन्दाभाः श्वेताः रविरथाद् विशेषमाह—**'वामतो दक्षिणतश्च युक्तास्तस्य रथस्याश्वा दशे'** ति। तेन रथेन॥ १॥

नागवीथ्याद्याश्रयाण्यश्विन्यादीनि नक्षत्राणि प्रागुदित्याचरति। ह्रासवृद्धिक्रम इति। उदितो वर्द्धमानाभिरा मध्याह्नादित्यत्र सवितृरश्मीनां यथोक्तस्तथा तस्यापि॥ २॥

क्षीणस्य सोमस्य पुनः पूर्णस्य सतो देवतादितर्पकत्वमाह—**'क्षीण'** मिति चतुर्भिः। पञ्चदश्यां कलायां दर्शे पितृभिः पीतायाः षोडस्याः कलायाः अवशिष्टत्वादेककलं सन्तम् इत्युक्तम्। एकेन रश्मिना सुषुम्णाख्येन॥ ४॥

येन क्रमेण प्रतिपत्प्रभृति देवैर्वह्न्यादिभिरसौ पीतस्तेनैव प्रतिदिनं तं निशाकरमाप्याययति। अलक्षितं वारि तस्करवत् हरतीति तथा वारितस्करः। एवं गृहीतेन वारिणा सोममापूरयतीत्यर्थः॥ ५॥

सुधामृतं सुधारूपममृतं मृत्युभेषजम्॥ ६॥

त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रयस्त्रिशच्छतानि च।
त्रयस्त्रिंशत् तथा देवाः पिबन्ति क्षणदाकरम्॥७॥
कलाद्वयावशिष्टस्तु प्रविष्टः सूर्यमण्डलम्।
अमाख्यरश्मौ वसति अमावास्या ततः स्मृता॥८॥
अप्सु तस्मिन्नहोरात्रे पूर्वं वसति चन्द्रमाः।
ततो वीरुत्सु वसति प्रयात्यर्कं ततः क्रमात्॥९॥
छिनत्ति वीरुधो यस्तु वीरुत्संस्थे निशाकरे।
पत्रं वा पातयत्येकं ब्रह्महत्यां स विन्दति॥१०॥
शेषे पञ्चदशे भागे किञ्चिच्छिष्टे कलात्मके।
अपराह्ने पितृगणा जघन्यं पर्य्युपासते।
पिबन्ति द्विकलाकारं शिष्टा तस्य कला तु या।
सुधामृतमयी पुण्या तामिन्दोः पितरो मुने॥१२॥
निःसृतं तदमावस्यां गभस्तिभ्यः सुधामृतम्।
मासं तृप्तिमवाप्याग्र्यां पितरः सन्ति निर्वृताः।

क्षणदाकरं सोमम्॥७॥

पितृणां सोमपानप्रकारमाह—**'कलाद्वये'** ति सार्धैः षड्भिः॥८॥

सूर्यमण्डलप्रवेशक्रममाह—**'अप्स्वि'** ति॥९॥

प्रसङ्गाद् दर्शे वीरुधां छेदकर्त्तारं निन्दति—**'छिनत्ती'** ति॥१०॥

तदेवं दर्शाहोरात्रे अप्सु वीरुत्सु च प्रवेशादुपक्षीणप्राये कलात्मके पञ्चदशे भागे किञ्चिच्छिष्टे सति तं जघन्यं पश्चादवशिष्टं सोममपराह्ने पितृगणाः पर्युपासते पानार्थं परितः सेवन्ते॥११॥

ततश्च तस्येनोर्द्विकलाकारः शिष्टद्विकलो य आकारस्तत्र शिष्टा पञ्चदशी या कला तां पितरः पिबन्ति, न तु षोडशीम्। द्विकलं सोममिति पाठे द्विकलं पर्य्युपास्य तस्य शिष्टामेककलां पिबन्तीत्यर्थः। द्विलवमिति पाठे लवः सूक्ष्मः कलावयवः, द्विलवपरिमितं कालं तां शिष्टां कलां पिबन्तीत्यर्थः॥१२॥

अमावस्याम् अमावास्यायां तत् सोमस्य गभस्तिभ्यो निःसृतं सुधामृतं पीत्वेति शेषः॥१३॥

एवं देवान् सिते पक्षे कृष्णपक्षे तथा पितॄन्।
वीरुधश्चामृतमयैः शीतैरप्परमाणुभिः॥ १४॥
वीरुधोषधिनिष्पत्त्या मनुष्य-पशु-कीटकान्।
आप्याययति शीतांशुः प्रकाशाह्लादनेन तु॥ १५॥
वाय्वग्निद्रवसम्भूतो रथश्चन्द्रसुतस्य च।
पिशङ्गैस्तुरगैर्युक्तः सोऽष्टाभिर्वायुवेगिभिः॥ १६॥
सवरूथः सानुकर्षो युक्तो भूसम्भवैर्हयैः।
सोपासङ्गपताकस्तु शुक्रस्यापि रथो महान्॥ १७॥
अष्टास्त्रिः काञ्चनः श्रीमान् भौमस्यापि रथो महान्।
पद्मरागारुणैरश्वैः संयुक्तो वह्निसम्भवैः॥ १८॥
अष्टाभिः पाण्डरैर्युक्तो वाजिभिः काञ्चनो रथः।
तस्मिंस्तिष्ठति वर्षान्ते राशौ राशौ बृहस्पतिः॥ १९॥
आकाशसम्भवैरश्वैः शबलैः स्यन्दनं युतम्।
तमारुह्य शनैर्याति मन्दगामी शनैश्चरः॥ २०॥
स्वर्भानोस्तुरगा ह्यष्टौ भृङ्गाभा घूसरं रथम्।

तदेवममृतद्वारा सोमाद् देवादीनां तर्पणमुक्त्वा तन्निष्पादितान्नादिनापि तेषां तर्पणमाह—'एव' मिति। सिते पक्षे देवानाप्याययति '**देवानां शुक्लपक्षे यजनात् स्नानात् तस्मादापूर्यमाणपक्षे यजन्ते**' इति श्रुतेः। कृष्णपक्षे पितॄन् अपरपक्षे पितॄणाम्'' इति श्रुतेः॥ अपपरमाणुभिरपां सूक्ष्मैरंशैः॥ १४॥

वीरुधो लताद्याः, ओषध्यो व्रीह्याद्याः, तासां निष्पत्त्या प्रकाशेन यदाह्लादनं तेन च॥ १५॥

तदेवं सोमस्य रथादिप्रकारमुक्त्वा बुधादीनामथाह—'**वाय्वग्नी**' त्यादिना '**प्रवहस्तेन स स्मृत**' इत्यन्तेन। पिषङ्गैः कपिलैः॥ १६॥

''वरूथो रथगुप्तिर्या तिरोधत्ते रथस्थितम्। रथस्याधः स्थितं काष्ठमनुकर्षो निगद्यते। उपसङ्गी रथोपस्थः''। पताका प्रसिद्धा तत्सहितः॥ १७॥

अष्टास्त्रिरष्टकोणः॥ १८।१९॥ शवलैश्चित्रवर्णैः॥ २०॥

स्वर्भानोः राहोः, भृङ्गाभाः कृष्णाः, घूषरम् ईषत् पाण्डरम् अविरतम् अनुपरतम्॥ २१॥

आदित्यान्नि:सृतो राहुः सोमं गच्छति पर्वसु।
आदित्यमेति सोमाच्च पुनः सौरेषु पर्वसु॥ २२॥
तथा केतुरथस्याश्वा अप्यष्टौ वातरंहसः।
पलालधूमवर्णाभा लाक्षारसनिभारुणाः॥ २३॥
एते मया ग्रहाणां वै तवाख्याता रथा नव।
सर्वे ध्रुवे महाभाग! प्रबद्धा वायुरश्मिभिः॥ २४॥
ग्रहर्क्षताराधिष्णानि ध्रुवे बद्धान्यशेषतः।
भ्रमन्त्युचितचारेण मैत्रेयानिलरश्मिभिः॥ २५॥
यावत्यश्चैव तारास्तास्तावन्तो वातरश्मयः।
सर्वे ध्रुवे निबद्धास्ते भ्रमन्तो भ्रामयन्ति तम्॥ २६॥
तैलापीडा यथा चक्रं भ्रमन्तो भ्रामयन्ति वै।
तथा भ्रमन्ति ज्योतींषि वाताविद्धानि सर्वशः॥ २७॥
अलातचक्रवद् यान्ति वातचक्रेरितानि तु।
यस्माज्ज्योतींषि वहति प्रवहस्तेन स स्मृतः॥ २८॥
शिशुमारस्तु यः प्रोक्तः स ध्रुवो यत्र तिष्ठति।
सन्निवेशञ्च तस्यापि शृणुष्व मुनिसत्तम॥ २९॥
यदह्ना कुरुते पापं तं दृष्ट्वा निशि मुच्यते।
यावत्यश्चैव तारास्ताः शिशुमाराश्रिता दिविता

सौम्येषु पर्वसु सोमं गच्छति॥ २२॥

पलालं वुसं तद्धूमवर्णवदाभा दीप्तिर्येषां ते, लाक्षारसवदरुणाश्च॥ २३-२४॥

प्रहर्क्षताराणां धिष्ण्यानि मण्डलानि। उचितचारेण स्वस्वोचितगत्या॥ २५-२६॥

तैलापीडास्तैलिकाः स्वयं भ्रमन्तो यथा चक्रं तैलयन्त्रं भ्रामयन्ति। वाताविद्धानि प्रवहाख्यवातचक्रप्रेरितानि॥ २७॥

यस्मात् ज्योतीषि प्रकर्षेण वहति तेन स वायुः प्रवहः स्मृतः। प्रवहस्यैव भेदाः सर्वे वायुस्कन्धाः॥ २८॥

'सर्वे ध्रुवे निबद्धास्त' इति प्रस्तुतध्रुवाद्याधारभूतं शिशुमारं नवमाध्यायोपक्षिप्तमेवोपासनार्थं विशेषतो वक्तुमाह— **'शिशुमार'** स्त्विति॥ २९॥

तद्दर्शनफलमाह—**'यदह्ने'** ति सार्द्धेन॥ ३०॥

तावन्त्येव तु वर्षाणि जीवत्यभ्यधिकानि च॥ ३०॥
उत्तानपादस्तस्याथ विज्ञेयो ह्युत्तरो हनुः।
यज्ञोऽधरश्च विज्ञेयो धर्मो मूर्द्धानमाश्रितः॥ ३१॥
हृदि नारायणश्चास्ते अश्विनौ पूर्वपादयोः।
वरुणश्चार्य्यमा चैव पश्चिमे तस्य सक्थिनी॥ ३२॥
शिश्नः संवत्सरस्तस्य मित्रोऽपानं समाश्रितः।
पुच्छेऽग्निश्च महेन्द्रश्च कश्यपोऽथ ततो ध्रुवः।
तारकाशिशुमारस्य नास्तमेति चतुष्टयम्॥ ३३॥
इत्येष सन्निवेशोऽयं पृथिव्या ज्योतिषां तथा।
द्वीपानामुदधीनाञ्च पर्वतानाञ्च कीर्त्तितः॥ ३४॥
वर्षाणाञ्च नदीनाञ्च ये च तेषु वसन्ति वै।
तेषां स्वरूपमाख्यातं संक्षेपः श्रूयतां पुनः॥ ३५॥
यदम्बु वैष्णवः कायस्ततो विप्र! वसुन्धरा।
पद्माकारा समुद्भूता पर्वताब्ध्यादिसंयुता॥ ३६॥
ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुर्वनानि विष्णुर्गिरयो दिशश्च।

तत्सन्निवेशमेवाह—'**उत्तानपाद**' इति सार्धैस्त्रिभिः। उत्तानपादः यज्ञादयो नक्षत्ररूपा देवास्तदवयवत्वेनोच्यन्ते। यज्ञोऽधरो हनुरित्यनुषङ्गः॥ ३१॥ सक्थिनी ऊरू॥ ३२॥

तारकामयस्य शिशुमारस्य पुच्छे तमग्न्यादि चतुष्टयं नास्तमेति, अत्युन्नतपुच्छस्थितमन्तर्धानाभावान्नित्यं दृश्यते। न्यस्तमिति पाठे तस्य पुच्छे चतुष्टयमेतन्न्यस्तं निहितमित्यर्थः। श्रुतिश्च **'अग्निः पुच्छस्य प्रथमं काण्डं तद् इन्द्रस्ततः प्रजापतिरभयं चतुर्थम्'**॥ ३३॥

उक्तं भुवनकोशमुपसंहरंस्तस्य विष्ण्वात्मतां दर्शयन्नाह—'**इत्येष**' इति यावत्समाप्ति॥ ३४-३५॥

यदम्बु वैष्णवः कायः विष्णोरेव मूर्त्तिस्ततोऽम्बुनः गर्भोदकात् पद्माकारा मेरुकर्णिका सर्वतः समवर्त्तुला नानापर्वतविभक्ताऽनेकतत्तद्द्वीपवर्षदला वसुन्धरा समुद्भूता। अतः सापि तन्मूर्त्तिरेव न ततः पृथगिति संक्षेपार्थः॥ ३६॥

एतदुपलक्षणीकृत्य सर्वस्यापि तदात्मतामाह—'**ज्योतींषी**' ति। यदस्ति यन्नास्ति च भावाभावरूपेण प्रतीतं वस्तु तत् सर्वं स एव॥ ३७॥

ज्ञानस्वरूपो भगवान् यतोऽसावशेषमूर्तिर्न च वस्तुभूतः।
ततो हि शैलाब्धिधरादिभेदान् जानीहि विज्ञानविजृम्भितानि॥ ३८॥
यदा तु शुद्धं निजरूपि सर्वं कर्मक्षये ज्ञानमपास्तदोषम्।
तदा हि सङ्कल्पतरोः फलानि भवन्ति नो वस्तुषु वस्तुभेदाः॥ ३९॥
वस्त्वस्ति किं कुत्रचिदादिमध्यपर्यन्तहीनं सततैकरूपम्।
यच्चान्यथात्वं द्विज! याति भूयो न तत्तथा कुत्र कुतो हि तत्त्वम्॥ ४०॥
मही घटत्वं घटतः कपालिका कपालिका चूर्ण-रजस्ततोऽणुः।
जनैः स्वकर्मस्तिमितात्मनिश्चयैरालक्ष्यते ब्रूहि किमत्र वस्तु॥ ४१॥
तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किञ्चित् क्वचित् कदाचिद् द्विज! वस्तुजातम्।

नन्वेकस्यानेकत्वं विरुद्धमित्याशङ्क्यानेकत्वस्यावास्तवत्वमाह—ज्ञानमेव स्वरूपं तत्त्वं यस्य स एवासौ भगवान् यतः अतोऽशेषमूर्तिः प्रपञ्चमूर्त्तिरसौ वस्तुभूतः परमार्थरूपो न भवति। कथं तर्हि प्रपञ्चस्य मूर्त्तित्वं तत्राह—ततो हीति। तस्मात् ज्ञानस्वरूपाच्छैलादिभेदात् विज्ञानेऽधिष्ठाने विजृम्भितानि स्वमायया विलसितानि रूपाणि जानीहि॥ ३८॥

अत्र हेतुमाह—**'यदा त्वि'** ति। यदा तु प्रतिबन्धककर्मक्षये सर्वमेतज्जगच्छुद्ध केवलं निजमात्मैव रूपमस्ति यस्य तथाभूतं निरस्तसम्भावनादिदोषं ज्ञानमेव भवति, तदा सङ्कल्पतरोः फलाभूताः वस्तुषु पृथिव्यादिषु तद्भेदेनोच्चावचविशेषा न स्फुरन्ति, **'तत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभत्तत् केन कं पश्येत्तत् केन कं जिघ्रत्'** इत्यादिश्रुतेः। अतस्तत्त्वज्ञानवाधितत्वान्न प्रपञ्चो वास्तव इत्यर्थः॥ ३९॥

'आदावन्तेऽपि यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा' इत्यादिन्यायेनागमापायित्वात् परिणामित्वाच्च न वास्तवत्वमस्येत्याह—**'वस्त्वि'** ति। यच्चान्यथात्वं परिणामान्तरं याति, तत् पुनस्तथा पूर्ववन्न भवति। अत्र तथाभूते कादाचित्के स्वरूपात् प्रच्युते च वस्तुनि शुक्तिरजतादिवत्, तत्त्वं परमार्थत्वं कुतः॥ ४०॥

अन्यथात्वमेवोदाहरन् मिथ्यात्वमाह—**'मही'** ति। मही पिण्डादिद्वारा घटत्वं प्राप्ता आलक्ष्यते, घटत्वानन्तरञ्च कपालिकाभूता लक्ष्यते। कपालिका च सती चूर्णं रजश्च लक्ष्यते। ततश्चाणुरतिसूक्ष्मा लक्ष्यते। स्वकर्मणा प्रतिबन्धकेन स्तिमितो मन्दीभूत आत्मनिश्चयो येषां तैर्जनैरत्र परिणामपरम्परायां किं वस्त्वालक्ष्यते ? न किञ्चित् पूर्वरूपप्रच्युतेरित्यर्थः। तथा च श्रुतिः **'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** इति॥ ४१॥

ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोकमशेषशोकादिनिरस्तसङ्गम्।
एवं सदैकं परमः परेशः स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति॥ ४३॥
सद्भाव एषो भवतो मयोक्तो ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत्।
एतत्तु यत् संव्यवहारभूतं तत्रापि चोक्तं भुवनाश्रितं ते॥ ४४॥
यज्ञः पशुर्वह्निरशेष ऋत्विक् सोमः सुराः स्वर्गमयश्च कामः।
इत्यादिकर्म्माश्रितमार्गदृष्टं भूरादिभोगाश्च फलानि तेषाम्॥ ४५॥
यच्चैतद्भुवनगतं मया तवोक्तं सर्वत्र व्रजति हि तत्र कर्मवश्यः।
ज्ञात्वैवं ध्रुवमचलं सदैकरूपं तत् कुर्य्याद्विशति हि येन वासुदेवम्॥ ४६॥

इति श्रीविष्णुपुराणे द्वितीयांशे द्वाद्वशोऽध्यायः।

वृत्तिज्ञानावच्छिन्नैः शोकादिभिर्निरस्तः सङ्गो यस्य तथाभूतं ज्ञानं सदैकमेव। स एव च परमः सर्वोत्तमः परमेश्वरो वासुदेवः, यतो व्यतिरिक्तं किञ्चिदपि नास्ति॥४३॥

उपसंहरति '**सद्भाव**' इति। सद्भावः परमार्थः। 'एषो भवत' इति सुलोपाभावस्त्वार्षः। ननु चान्यस्य सर्वस्यासत्यत्वे किमर्थमेतद्भुवनाद्याश्रितं बहु वर्णितं तत्राह—एतत्तु यज्ज्ञानव्यतिरिक्तं तत् सर्वं संव्यवहारभूतं सम्यक् परमार्थोपयोगिनि व्यवहारे भूतं स्थितं, नतु सतः सत्यं तत्रापि च विशेषतस्तुभ्यं यत् भुवनाश्रितमुक्तम्॥४४॥

'यज्ञः पशु' रित्यादिकर्माश्रितमार्गदृष्टञ्चोक्तं भूरादिभोगाश्च तत्फलानीत्युक्तम्॥४५॥

तेषु वैराग्योत्पादनेन स्वकर्मानुष्ठानद्वारा श्रीवासुदेवप्राप्त्यर्थमित्याह—'**यच्चैतदि**' ति। कर्मवश्यो जीवो नाना योनीर्ब्रजतीति ज्ञात्वा विरक्तः सन् ध्रुवं नित्यमचलं परिपूर्णम् अतः सर्वदैकरूपं वासुदेवं येनोपायेन स्वकर्मादिना तद्भजनात्तत्प्रसादाल्लब्धज्ञानेन विशति तदेव कुर्यादित्यर्थः॥४६॥

इति श्रीधरकृतायामात्मप्रकाशाभिधायां स्वप्रकाशाख्यायां वा श्रीविष्णुपुराणटीकायां द्वितीयांशे द्वादशोऽध्यायः॥

त्रयोदशोऽध्याय:

(जडभरतोपाख्यानं, सौवीरं राजानं प्रति भरतस्य तत्त्वोपदेशश्च)

श्रीमैत्रेय उवाच

भगवन्! सम्यगाख्यातं यत् पृष्टोऽसि मयाखिलम्।
भूसमुद्रादिसरितां संस्थानं ग्रहसंस्थितिम्॥ १॥
विष्ण्वाधारं तथा चैतत् त्रैलोक्यं समवस्थितम्।
परमार्थस्तु तेनोक्तो यथाज्ञानं प्रधानतः॥ २॥
यत्त्वेतद्भगवानाह भरतस्य महीपतेः।
कथयिष्यामि चरितं तन्ममाख्यातुमर्हसि॥ ३॥
भरतः स महीपालः शालग्रामेऽवसत् किल।
योगयुक्तः समाधाय वासुदेवे सदा मनः॥ ४॥
पुण्यदेशप्रभावेण ध्यायतश्च सदा हरिम्।
कथन्तु नाभवन्मुक्तिर्यदभूत् स द्विजः पुनः॥ ५॥
विप्रत्वे च कृतं तेन यद्भूयः सुमहात्मना।
भरतेन मुनिश्रेष्ठ! तत् सर्वं वक्तुमर्हसि॥ ६॥

पराशर उवाच

शालग्रामे महाभागो भगवन्न्यस्तमानसः।
स उवास चिरं कालं मैत्रेय! पृथिवीपतिः॥ ७॥

एवं तावद्धरेः स्थूले विश्वरूपे निरूपिते। तेन शुद्धमतिस्तस्य सूक्ष्मरूपं बुभुत्सते। 'तत् कुर्याद्विशति हिं येन वासुदेव'मित्युक्ते तत्प्रवेशोपायभूतज्ञानयोगाश्रयं प्रथमाध्याध्योपक्षिप्तमेव भरतचरितमुक्तानुवादपूर्वकं पृच्छति— **भगवन्निति**' षड्भिः॥ १॥

प्रधानत इति प्रधानमित्यर्थः। सार्वविभक्तिकत्वात् तसिल्प्रत्ययस्य॥ २॥

भरतस्य चरितं कथयिष्यामीति यद्भवानुक्तवान्, तत् ममेदानीं हरेः स्थूलरूपश्रवणध्यानादिना शुद्धचित्तस्याख्यातुमर्हसीत्यर्थः॥ ३-६॥

'**कथन्तु नाभवन्मुक्ति**' रित्यस्योत्तरत्वेन तस्मिन् जन्मनि जातं योगभ्रंशं वक्तुं तस्य प्राचीनं योगमनुवदति—'**शालग्राम**' इति पञ्चभिः। भगवति न्यस्तं मानसं येन सः॥ ७॥

अहिंसादिष्वशेषेषु गुणेषु गुणिनां वरः।
अवाप परमां काष्ठां मनसश्चापि संयमे॥८॥
यज्ञेशाच्युत गोविन्द माधवानन्त केशव!
कृष्ण विष्णो हृषीकेशेत्याह राजा स केवलम्॥९॥
नान्यज्जगाद मैत्रेय! किञ्चित् स्वप्नान्तरेऽपि च।
एतत्परं तदर्थञ्च विना नान्यदचिन्तयत्॥१०॥
समित्-पुष्प-कुशादानं चक्रे देवक्रियाकृते।
नान्यानि चक्रे कर्म्माणि निःसङ्गो योगतापसः॥११॥
जगाम सोऽभिषेकार्थमेकदा तु महानदीम्।
सस्नौ तत्र तदा चक्रे स्नानस्यानन्तरक्रियाः॥१२॥
अथाजगाम तत्तीर्थं जलं पातुं पिपासिता।
आसन्नप्रसवा ब्रह्मन्नेकैव हरिणी वनात्॥१३॥
ततः समभवत्तत्र पीतप्राये चले तया।
सिंहस्य नादः सुमहान् सर्वप्राणिभयङ्करः॥१४॥
ततः सा सहसा त्रासादाप्लुता निम्नगातटम्।
अत्युच्चारोहणेनास्या नद्यां गर्भः पपात सः॥१५॥
तमुह्यमानं वेगेन वीचिमालापरिप्लुतम्।
जग्राह स नृपो गर्भात् पतितं मृगपोतकम्॥१६॥

अहिंसादिषु यमनियमादिषु तत्साध्ये च मनसः संयमे समाधौ परमां काष्ठाम् उत्कर्षम् अवाप॥८॥

व्युत्थानमये यज्ञेशाच्युतेत्यादिभगवन्नामैवाह॥९॥

नान्यानि कर्माणि। योगयुक्तः तापसः॥१०॥

नान्यद्वाचा जगाद मनसा च एतद्भगवन्नामैव तदर्थञ्च केवलचिन्तयत् नान्यत् किमपि॥११॥

देहेन च समित् पुष्पकुशानाम् आदानं देवपूजार्थं चक्रे।

अथ तस्य हरिणसङ्गाद् योगभ्रंशं प्रस्तौति 'जगामे' त्यादिना 'निष्कृतिं ययावि' त्यन्तेन॥१२-१४॥

आप्लुता उत्पतिता॥१५-२०॥

गर्भप्रच्युतिदोषेण प्रोत्तुङ्गाक्रमणेन च।
मैत्रेय! सापि हरिणी पपात च ममार च॥ १७॥
हरिणीं तां विलोक्याथ विपन्नां नृपतापसः।
मृगपोतं समादाय निजमाश्रममागतः॥ १८॥
चकारानुदिनञ्चासौ मृगपोतस्य वै नृपः।
पोषणं पुष्यमाणश्च स तेन ववृधे मुने॥ १९॥
चचाराश्रमपर्यन्तं तृणानि गहनेषु सः।
दूरं गत्वा च शार्दूलत्रासादभ्याययौ पुनः॥ २०॥
प्रातर्गत्वातिदूरञ्च सायमायाद् यथाश्रमम्।
पुनश्च भरतस्याभूदाश्रमस्योटजाजिरे॥ २१॥
तस्य तस्मिन्मृगे दूर-समीपपरिवर्त्तिनि।
आसीच्चेतः समायुक्तं न ययावन्यतो द्विज॥ २२॥
विमुक्तराज्यतनयः प्रोज्झिताशेषबान्धवः।
ममत्वं स चकारोच्चैस्तस्मिन् हरिणबालके॥ २३॥
किं वृकैर्भक्षितो व्याघ्रैः किं सिंहेन निपातितः।
चिरायमाणे निष्क्रान्ते तस्यासीदिति मानसम्॥ २४॥
एषा वसुमति तस्य खुराग्रक्षत कर्वुरा।
प्रीतये मम जातोऽसौ क्व ममैणकबालकः॥ २५॥
विषाणाग्रेण मद्बाहुकण्डूयनपरो हि सः।
क्षेमेणाभ्यागतोऽरण्यादपि मां सुखयिष्यति॥ २६॥
एते लूनाशिखास्तस्य दशनैरचिरोद्गतैः।
कुशः काशा विराजन्ते वटवः सामगा इव॥ २७॥
इत्थं चिरगते तस्मिन् स चक्रे मानसं मुनिः।
प्रीतिप्रसन्नवदनः पार्श्वस्थे चाभवन् मृगे॥ २८॥

उटजाजिरे पर्णशालाङ्गने॥ २१॥
कृपया पुष्यमाणे तस्मिन् जायमानम् आसङ्गं प्रपञ्चयति 'तस्ये'-त्यादिना॥ २२-२४॥
खुराग्रक्षतैः कुर्वरा॥ २५॥

समाधिभङ्गस्तस्यासीत् तन्ममत्वादृतात्मनः।
सन्त्यक्तराज्यभोगर्द्धिस्वजनस्यापि भूपतेः॥ २९॥
चपलं चपले तस्मिन् दूरगं दूरगामिनि।
मृगपोतेऽभवच्चित्तं स्थैर्य्यवत्तस्य भूपतेः॥ ३०॥
कालेन गच्छता सोऽथ कालञ्चक्रे महीपतिः।
पितेव सास्त्रं पुत्रेण मृगपोतेन वीक्षितः॥ ३१॥
मृगमेव तदाद्राक्षीत् त्यजन् प्राणानसावपि।
तन्मयत्वेन मैत्रेय! नान्यत् किञ्चिदचिन्तयत्॥ ३२॥
ततश्च तत्कालकृतां भावनां प्राप्य तादृशीम्।
जम्बूमार्गे महारण्ये जातो जातिस्मरो मृगः॥ ३३॥
जातिस्मरत्वादुद्विग्नः संसारस्य द्विजोत्तम!
विहाय मातरं भूयः शालग्राममुपाययौ॥ ३४॥
शुष्कैस्तृणैस्तथा पर्णैः स कुर्वन्नात्मपोषणम्।
मृगत्वहेतुभूतस्य कर्मणो निष्कृतिं ययौ॥ ३५॥
तत्र चोत्सृष्टदेहोऽसौ जज्ञे जातिस्मरो द्विजः।
सदाचारवतां शुद्धे योगिनां प्रवरे कुले॥ ३६॥
सर्वविज्ञानसम्पन्नः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित्।
अपश्यत् स च मैत्रेय! आत्मानं प्रकृतेः परम्॥ ३७॥

कृपया तस्मिन् ममत्वे आदृतः सादरः आत्मा चित्तं यस्य सः। तन्मयत्वेति पाठे तन्मयत्वे तदाकारत्वे आदृतः आत्मा यस्य। हरिचित्तत्वं समाधिः॥ २९-३१॥

कालं चक्रे मृत्युं प्राप॥ ३१-३२॥

तत्कालकृतां भावनाम् अन्तकाले मृगचिन्ताम्। जम्बूमार्गे कालञ्जरे गिरौ 'कालञ्जरात् प्रत्याजगामे'ति शुकोक्तेः। हर्यनुग्रहात् जातिस्मरो मृगो जातः॥ ३३-३५॥

इदानीं मृगत्वे हेतुभूतकर्मणः अन्ते तस्य चरमदेहेन जडवत् चरितमाह—**'तत्र चे'** त्यादि **'बभूवाहारवेतन'** इत्यन्तेन॥ ३६॥

अधिगतज्ञानः प्राप्तज्ञानः, आत्मनः स्वस्मात् सकाशात् अभेदेन सर्वभूतानि ददर्श। ऋषभदेवोपदिष्टस्यैव ज्ञानस्य प्रतिबन्धापगमे सत्याविर्भूतत्वात् ३७॥

आत्मनोऽधिगतज्ञानो देवादीनि महामुने!
सर्वभूतान्यभेदेन स ददर्श महामतिः॥ ३८॥
न पपाठ गुरुप्रोक्तं कृतोपनयनः श्रुतिम्।
न ददर्श च कर्माणि शास्त्राणि जगृहे न च॥ ३९॥
उक्तोऽपि बहुशः किञ्चिज्जडवाक्यमभाषत।
तदप्यसंस्कारगुणं ग्राम्यवाक्योक्तिसंश्रितम्॥ ४०॥
अपध्वस्तवपुः सोऽपि मलिनाम्बरधृग् द्विजः।
क्लिन्नदन्तान्तरः सर्वैः परिभूतः स नागरैः॥ ४१॥
सम्मानना परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते यतः।
जनेनावमतो योगी योगसिद्धिञ्च विन्दति॥ ४२॥
तस्माच्चरेत वै योगी सतां मार्गमदूषयन्।
जना यथावमन्येरन् गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम्॥ ४३॥
हिरण्यगर्भवचनं विचिन्त्येत्थं महामतिः।
आत्मानं दर्शयामास जडोन्मत्ताकृतिं जने॥ ४४॥
भुङ्क्ते कुल्माषव्रीह्यादिशाकं वन्यं फलं कणान्।

ददर्श न च कर्माणि निवृत्तवर्णाश्रमाद्यभिमानत्वात्॥ ३९॥

असंस्कारगुणम्। संस्कारः व्याकरणोक्तः। गुणः यथोचितप्रियहितादिः, तद्रहितं यथा भवति एवम् अभाषत॥ ४०॥

अपध्वस्तवपुः मलीमसदेहः। क्लिन्नानि मलापूरितानि दन्तान्तराणि दन्तरन्ध्राणि यस्य सः॥ ४१॥

सम्माननेत्यादिश्लोकद्वयं हिरण्यगर्भोक्तयोगशास्त्रवचनं विचिन्त्य॥ ४२॥

सतां वर्त्म अदूषयन्, अवमानार्थमपि निषिद्धम् अकुर्वन्॥ ४३॥

कुल्माषः किञ्चित्पक्वमाषयावकादिः। **'स्याद् यावकस्तु कुल्माषः** इत्यमरसिंहः। वाद्यो माषादिविकार इन्दुकाख्यः। सुबहु असङ्कोचं यद्यदाप्नोति, तत्तदङ्गे लिम्पति देहाख्यं व्रणं लिम्पन्निव असक्तः सन् भुङ्क्ते इत्यर्थः। तथा च **स्मृतिः— 'शरीरं व्रणत् पश्येदन्नञ्च व्रणलेपवत्। व्रणशोधनवत् पानं वस्त्रञ्च चव्रणपट्टवदिति'** कालसंयमं कालक्षपणमात्रं यथा भवति तथा। तदत्त इति पाठे तस्याभावे कालसंयमं कालनियमं विना दिवा नक्तं वा यदृच्छाप्राप्तं यत् किमपि भुङ्क्ते इत्यर्थः॥ ४४-४५॥

यद् यदाप्नोति सुबहु तदत्ते कालसंयमम्॥ ४५॥
पितर्युपरते सोऽथ भ्रातृ-भ्रातृव्य-बान्धवैः।
कारितः क्षेत्रकर्मादि कदन्नाहारपोषितः॥ ४६॥
स तुक्षपीनावयवो जडकारी च कर्मणि।
सर्वलोकोपकरणं बभूवाहारवेतनः॥ ४७॥
तं तादृशमसंस्कारं विप्राकृतिविचेष्टितम्।
क्षत्ता पृषतराजस्य काल्यै पशुमकल्पयत्॥ ४८॥
रात्रौ तं समलङ्कृत्य वैशसस्य विधानतः।
अधिष्ठितं महाकाली ज्ञात्वा योगेश्वरं तथा॥ ४९॥
ततः खड्गं समादाय निशितं निशि सा तथा।
क्षत्तारं क्रूरकर्माणमच्छिनत् कण्ठमूलतः।
स्वपार्षदयुता देवी पपौ रुधिरमुल्वणम्॥ ५०॥
ततः सौवीरराजस्य प्रयातस्य महात्मनः।
विष्टिकर्ताथ मन्येत विष्टियोग्योऽयमित्यपि॥ ५१॥
तं तादृशं महात्मानं भस्मच्छन्नमिवानलम्।
तं तादृशमसंस्कारं विप्राकृतिविचेष्टितम्।
क्षत्ता सौवीरराजस्य विष्टियोग्यममन्यत॥ ५२॥
स राजा शिबिकारूढो गन्तुं कृतमतिर्द्विज।

भ्रातृव्याः भ्रातृपुत्राः॥४६॥

जडवत् करोतीति जडकारी। आहारमेव वेतनं भृतिर्यस्य सः॥४७॥

इदानीं तस्य आत्मवित्त्वं प्रख्यापयितुम् आख्यानमाह **'तं तादृशमि'** त्यादिना यावदध्यायसमाप्ति। क्षत्ता द्वाःस्थः सारथिर्वा। विष्टिर्निर्मूल्यं कर्म, तत्र योग्यम्। शिबिकावाहनादौ क्षमत्वात् असंस्कृतविप्राकृतित्वाच्च। स्मर्यते हि—**'सायं प्रातर्यदा सन्ध्यां ये विप्रा नो उपासते। तान् स्वेषु धार्मिको राजा शूद्रकर्मसु योजयेत्'** इति॥५२॥

शिबिका दारुमयं बहुपुरुषावाह्यं यानम्। ताम् आरूढो भूत्वा कपिलस्य वरम् आश्रमं गन्तुं कृतमतिः सन् स राजा शिबिकावाहपुरुषागमनं प्रतीक्षमाणः इक्षुमत्या नद्याः तीरे बभूव॥५३॥

बभूवेक्षुमतीतीरे कपिलर्षेर्वराश्रमम्॥५३॥

श्रेयः किमत्र संसारे दुःखप्राये नृणामिति।
प्रष्टुं तं मोक्षधर्मज्ञं कपिलाख्यं महामुनिम्॥५४॥

उवाह शिविकां तस्य क्षत्तुर्वचनचोदितः।
नृणां विष्टिगृहीतानामन्येषां सोऽपि मध्यगः॥५५।

गृहीतो विष्टिना विप्रः सर्वज्ञानैकभाजनम्।
जातिस्मरोऽसौ पापस्य क्षयकाम उवाह ताम्॥५६॥

ययौ जडगतिः सोऽथ युगमात्रावलोकनः।
कुर्वन् मतिमतां श्रेष्ठस्तदन्ये त्वरितं ययुः॥५७॥

विलोक्य नृपतिः सोऽथ विषमां शिविकागतिम्।
किमेतदित्याह समं गम्यतां शिबिकावहाः॥५८॥

पुनस्तथैव शिबिकां विलोक्य विषमां हि सः।
नृपः किमेतदित्याह भवद्भिर्गम्यतेऽन्यथा॥५९॥

भूपतेर्वदतस्तस्य श्रुत्वेत्थं बहुशो वचः।
शिबिकावाहकाः प्रोचुरयं यातीत्यसत्वरम्॥६०॥

राजोवाच

किं श्रान्तोऽयल्पमध्वानं त्वयोढा शिबिका मम।
किमायाससहो न त्वं पीवानसि निरीक्ष्यसे॥६१॥

तद्गमने प्रयोजनमाह—'श्रेय' इति॥५४॥

जडगतिः मन्दगतिः सन्॥५७॥

किमेतत् विषमम्? समं यथा भवति तथा गम्यतामित्याह॥५८॥

अयमसत्वरं मन्दं यातीति प्रोचुः॥६१॥

किं श्रान्तोऽसि त्वम्? नैव श्रान्तोऽसि, यतः अल्पमेव अध्वानं त्वया शिबिका ऊढा आनीता। किञ्च किं त्वम् आयाससहो न असि? अपि तु असि। यतः पीवान् स्थूलो बलवान् निरीक्ष्यसे दृश्यसे। पीवानिति नलोपाभाव आर्षः॥६१॥

ब्राह्मण उवाच

नाहं पीवान्न चैवोढा शिबिका भवतो मया।
न श्रान्तोऽस्मि न चायासः सोढव्योऽस्ति महीपते॥ ६२॥

राजोवाच

प्रत्यक्षं दृश्यसे पीवानद्यापि शिबिका त्वयि।
श्रमश्च भारोद्वहने भवत्येव हि देहिनाम्॥ ६३॥

ब्राह्मण उवाच

प्रत्यक्षं भवता भूप! यद् दृष्टं मम तद्वद।
बलवानबलश्चेति वाच्यं पश्चाद् विशेषणम्॥ ६४॥
त्वयोढा शिबिका चेति त्वय्यद्यापि च संस्थिता।
मिथ्यैतदत्र तु भवाञ्छृणोतु वचनं मम॥ ६५॥
भूमौ पादयुगस्यास्था जङ्घे पादद्वये स्थिते।
ऊरू जङ्घाद्वयावस्थौ तदाधारं तथोदरम्॥ ६६॥
वक्षःस्थलं तथा बाहू स्कन्धौ चौदरसंस्थितौ।
स्कन्धाश्रितेयं शिबिका मम भारोऽत्र किंकृतः॥ ६७॥
शिबिकायां स्थितं चेदं वपुस्त्वदुपलक्षितम्।

राजा लोकव्यहारविरोधम् उद्भावयन्नाह—'**प्रत्यक्षं दृश्यसे**' इति॥ ६३॥

ब्राह्मणस्तु लोकप्रतीतेर्मिथ्यात्वाभिप्रायेणाह—**प्रत्यक्षं भवता यद्दृष्टं देहो वा जीवो वा परमात्मा वा, तत् प्रथमं वद, विशेषणं पश्चाद्वाच्यं, विशेष्याश्रयत्वाद् विशेषणस्य**॥ ६४॥

देहपक्षे तावदात्मनो भाराभावमाह—'**त्वये**' ति त्रिभिः॥ ६५॥

आस्था स्थितिः। ऊर्वोर्जङ्घाद्वये अवस्थानम्। पादादिव्यतिरेकेण देहस्यानिरूप्यत्वात् पादादीनामेवोत्तरोत्तरं प्रति आधारत्वम्, अतो देहस्येव तावद्भारो दुर्वचः। मम तु साक्षिणो भारः किन्निमित्तः स्यादित्यर्थः॥ ६६॥

यच्चोक्तं 'त्वयोढा शिबिका ममे'ति, त्वदुपलक्षितं त्वया प्रीत्यैवात्मत्वेन दृष्टं शरीरमेव शिबिकायां स्थितं, न तु त्वम्, अतस्तत्र तस्यां शिबिकायां त्वम् अहम् अप्यत्र भूमौ इतीदमपि अन्यथा मिथ्यैव प्रोच्यते॥ ६७-६८॥

तत्र त्वमहमप्यत्र प्रोच्यते चेदमन्यथा॥६८॥
अहं त्वञ्च तथान्ये च भूतैरुह्याम पार्थिव।
गुणप्रवाहपतितो भूतवर्गोऽपि यात्ययम्॥६९॥
कर्मवश्या गुणाश्चैते सत्त्वाद्याः पृथिवीपते!
अविद्यासञ्चितं कर्म तच्चाशेषेषु जन्तुषु॥७०॥
आत्मा शुद्धोऽक्षरः शान्तो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
प्रवृद्ध्यपचयौ नास्य एकस्याखिलजन्तुषु॥७१॥
यदा नोपचयस्तस्य न चैवापचयो नृप!
तदा पीवानसीतीत्थं कया युक्त्या त्वयेरितम्॥७२॥
भू-पाद-जङ्घा-कट्यूरुजठरादिषु संस्थिते।
शिबिकेयं यथा स्कन्धे तथा भारः समस्त्वया॥७३॥
तदान्यैर्जन्तुभिर्भूप! शिबिकोढा न केवलम्।
शैल-द्रुम-गृहोत्थोऽपि पृथिवीसम्भवोऽपि वा॥७४॥

जीवपक्षे अप्याह—'अहं त्वञ्च' इति द्वाभ्याम्। सर्वेष्वपि जीवेषु अविद्यासञ्चितकर्माधीनाः सत्त्वाद्या गुणाः तद्वशश्च भूतवर्गो देहो याति। तदेवम्भूतैरेव देहाकारपरिणतैस्तदभिमानिनो वयं सर्वे जीवाः तं तं कर्मफलभोगदेशम् उह्याम् प्राप्यामहे, अतो न सत्यो वाह्यवाहकभाव इत्यर्थः॥६९-७०॥

परमात्मपक्षे तु त्वदुक्तं पीवत्वादिकमत्यन्तं निर्युक्तिकमित्याह—'आत्मे' ति। शुद्धः देहादिव्यतिरिक्त, अक्षरः अचलः शान्तः रागादिशून्यः, निर्गुणः सत्त्वादिगुणशून्यः, प्रकृतेरपि परश्च, अतोऽस्याखिलजन्तुष्वेकस्य परिपूर्णस्य प्रवृद्ध्यपचयौ न स्तः॥७१॥

यदा चैतौ न स्तः, तदा पीवेति भाषणमयुक्तमित्यर्थः॥७२॥

तदेवं मम देहादिव्यतिरिक्तत्वात् भारो नास्तीत्युक्तम्। इदानीं मद्व्यतिरिक्त स्कन्धे स्थितो भारो यदि मे स्यात्, तर्हि सर्वेषामपि किं न स्यात्। यदि वासंवद्धाया अपि शिबिकाया भारो ममोच्यते, तर्हि पर्वतादिभारोऽपि किं नोच्यते? इत्याह 'भूपादे'ति द्वाभ्याम्। भूपादादिषु स्थिते स्कन्धे स्थितेयं शिबिका मम यदि भारः स्यात् तदा स भारस्त्वया चान्यैश्च समः स्यादित्यर्थः तद्वत् तेषां चासौ भारः स्यादित्यर्थः॥७३॥

यदा पुंसः पृथग्भावः प्राकृतैः कारणैर्नृप!
सोढव्यस्तु तदायासः कथं वा नृपते! मया॥७५॥
यद्द्रव्या शिबिका चेयं तद्द्रव्यो भूतसङ्ग्रहः।
भवतो मेऽखिलस्यास्य ममत्वेनोपबृंहितः॥७६॥

पराशर उवाच

एवमुक्त्वाभवन्मौनी स वहञ्छिबिकां द्विज!
सोऽपि राजावतीर्य्योर्व्यां तत्पादौ जगृहे त्वरन्॥७७॥

राजोवाच

भो भो विसृज्य शिबिकां प्रसादं कुरु मे द्विज!
कथ्यतां को भवानत्र जाल्मरूपधरः स्थितः॥७८॥
यो भवान् यन्निमित्तं वा यदागमनकारणम्।
तत्सर्वं कथ्यतां विद्वन्! मह्यं शुश्रूषवे त्वया॥७९॥

ब्राह्मण उवाच

श्रूयतां कोऽहमित्येतद्वक्तुं भूप! न शक्यते।
उपभोगनिमित्तञ्च सर्वत्र गमनक्रिया॥८०॥
सुखदुःखोपभोगौ तु तौ देहाद्युपपादकौ।

अत एव च मया यः सोढव्यः सोऽपि नास्तीत्याह—**'यदे'** ति॥७५॥

किञ्च शिबिकायाः तव मम सर्वदेहानाञ्च भौतिकत्वे समाने किं तवेयं शिबिका, त्वं वा शिबिकायाः, किमहं तव, त्वं वा ममेति गुणप्रधानभावे नियामकं नास्तीत्याशयेनाह—**'यद्द्रव्ये'** ति। भूतसङ्ग्रहः देहः॥७६॥

जाल्मरूपधरः जडवेशधृक्॥७८॥

को भवानित्येतद्विवृण्वन्नाह— **'य'** इति। यः यज्जातीयः, यन्निमित्तं येन प्रयोजनेन, तव इहागमनं, कारणं हेतुः, तत् सर्वं कथ्यताम्॥७९॥

को भवानित्यस्योत्तरं वक्तुं न शक्यमित्याह—**'श्रूयता'** मिति। अहं स एवेति वाच्योऽर्थ क इति वक्तुमशक्यमित्यर्थः। यन्निमित्तमित्यस्योत्तरमाह—**'उपभोगे'** ति॥८०॥

उपभोगस्य देशान्तरादिगमनप्रयोजनत्वं स्फुटयति,—**'सुखदुःखे'** ति। नियतदेशकालादिभोग्यञ्च सुखःदुखयोः धर्माधर्मवशादित्याह—**'धर्माधर्मे'** ति॥८१॥

धर्माधर्मोद्भवौ भोक्तुं जन्तुर्देहादिमृच्छति॥८१॥
सर्वस्यैव हि भूपाल! जन्तोः सर्वत्र कारणम्।
धर्माधर्मौ यतः कस्मात् कारणं पृच्छ्यते त्वया॥८२॥

राजोवाच

धर्माधर्मौ न सन्देहः सर्वकार्येषु कारणम्।
उपभोगनिमित्तञ्च देहाद्देहान्तरागमः॥८३॥
यत्त्वेतद् भवता प्रोक्तं कोऽहमित्येतदात्मनः।
वक्तुं न शक्यते श्रोतुं तन्ममेच्छा प्रवर्त्तते॥८४॥
योऽस्ति सोऽहमिति ब्रह्मन्! कथं वक्तुं न शक्यते।
आत्मन्येष न दोषाय शब्दोऽहमिति यो द्विज॥८५॥

ब्राह्मण उवाच

शब्दोऽहमिति दोषाय आत्मन्येष तथैव तत्।

यदागमनकारणम् इत्यस्योत्तरमाह—'**सर्वस्ये**' ति। यतः सर्वत्र सुख-दुःख-भोगतत्साधनादौ धर्माधर्मावेव सर्वस्य कारणं ततो ममागमने विशेषतः का त्वया कस्मात् पृच्छ्यते इत्यर्थः॥८२॥

राजा तु तदागमनकारणप्रयोजनप्रश्नद्वयोत्तरमङ्गीकुर्वन् प्रथमप्रश्नोत्तरमाक्षिपति—'**धर्माधर्मावि**' ति त्रिभिः॥८३॥

कोऽहमित्येतदहंशब्दार्थत्वमात्मनो वक्तुं न शक्यते इति। यत्तु एतद्भवता प्रोक्तं, तत् श्रोतुमित्यन्वयः॥८४॥

खपुष्पादितुल्यश्चेदात्मा स्यात्, तर्हि वक्तुं न शक्यते, न तु तदस्तीत्याह—'**योऽस्ती**' ति। यदि च गुरौ हुङ्कार-त्वङ्कारादिवदात्मन्यहंशब्दो दोषाय स्यात्, तर्हि वक्तुं न शक्यते, तच्च नास्तीत्याह—'**आत्मनी**' ति॥८५॥

ब्राह्मणस्त्वात्मन्यहंशब्दप्रयोगे प्रत्यवायाभावमङ्गीकृत्य अहंशब्दस्य आत्मवाचकत्वासम्भवादशक्यत्वमुक्तमित्याह '**शब्दोऽहमि**' त्यादिना। अहमित्येष शब्द आत्मनि दोषाय न भवतीति त्वया यदुक्तं, तत्तथैव। किन्तु अहंशब्दादनात्मन्यात्मविज्ञानं स्यात्। अहंशब्दश्चात्मनि भ्रान्तिलक्षणो मोहमूलः स्यात्, अहंशब्दस्य मिथ्यात्वविषयत्वादनात्मन्यात्मज्ञानं दोषाय स्यादित्यर्थः। तथा हि अहं ब्रवीमीत्यादिषु

अनात्मन्यात्मविज्ञानं शब्दो वा भ्रान्तिलक्षणः॥ ८६॥
जिह्वा ब्रवीत्यहमिति दन्तोष्ठौ तालुकं नृप!
एते नाहं यतः सर्वे वाङ्निष्पादनहेतवः॥ ८७॥
किं हेतुभिर्वदत्येषा वागेवाहमिति स्वयम्।
तथापि वाग् नाहमेतद् वक्तुमित्थं न युज्यते॥ ८८॥
पिण्डः पृथग् यतः पुंसः शिरःपाण्यादिलक्षणः।
ततोऽहमिति कुत्रैतां संज्ञां राजन्! करोम्यहम्॥ ८९॥
यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि मत्तः पार्थिवसत्तम!
तदैषोऽहमयञ्चान्यो वक्तुमेवमपीष्यते॥ ९०॥
यदा समस्तदेहेषु पुमानेको व्यवस्थितः।
तदा हि को भवान् कोऽहमित्येतद् विफलं वचः॥ ९१॥
त्वं राजा शिबिका चेयमिमे वाहाः पुरःसुराः।
अयञ्च भवतो लोको न सदेतन्नृपोच्यते॥ ९२॥

युष्मदर्थविलक्षणेऽहंशब्दप्रयोक्तर्यहंशब्दः प्रयुज्यते। तत्प्रयोक्ता च किं जिह्वादिः वागिन्द्रियं वा देहो वा क्षेत्रज्ञो वा॥ ८६॥

तत्र जिह्वादेरनात्मतामाह—'**जिह्वे**' ति। एते जिह्वादयो नाहम् अहंशब्दवाच्या न भवन्ति, जिह्वाहमित्यादिप्रयोगाभावात् यतश्चैते वाक्यनिष्पादने हेतवः कारणानि, न तु कर्त्तारः, ततोऽप्येते नाहंशब्दवाच्याः॥ ८७॥

वागिन्द्रियपक्षेप्यनात्मत्वमाह—'**किमि**' ति हेतुभिर्जिह्वादिभिः सहकृता किं वागेव स्वयमहमिति वदतीति मतं, तथापि वागिन्द्रियमहं न भवामि, अत इत्यहमेतदुक्तं न युज्यते॥ ८८॥

इन्द्रियस्यानात्मत्वमाह—'**पिण्ड**' इति। पिण्डो देहः पुंस आत्मनः पृथगेव दृश्यत्वात् घटवदित्यर्थः॥ ८९॥

क्षेत्रज्ञपक्षेऽप्याह—'**यदी**' ति द्वाभ्याम्। मत्तोऽन्यः सजातीयः परो विजातीयो वा यदि कोऽप्यस्ति, तदा तच्छब्देनैषोऽहमिति वक्तुं युज्यते॥ ९०॥

यदा सर्वदेहेष्वेक एवात्मा साक्षितया व्यवस्थितः, तदा को भवानिति बहुषु निर्द्धारणरूपं प्रश्नवचः सोऽहमित्यन्यात्मव्यावृत्त्या मम प्रतिवचश्च विफलम्॥ ९१॥

वृक्षाद् दारु ततश्चेयं शिबिका त्वदधिष्ठिता।
किं वृक्षसंज्ञा वास्याः स्याद्दारुसंज्ञाथवा नृप॥ ९३॥
वृक्षारूढो महाराजो नायं वदति ते जनः।
न च दारुणि सर्वस्त्वां ब्रवीति शिबिकागतम्॥ ९४॥
शिबिका दारुसङ्घातो रचनास्थितिसंस्थितः।
अन्विष्यतां नृपश्रेष्ठ! तद्भेदे शिबिका त्वया॥ ९५॥
एवं छत्रशलाकानां पृथग्भागे विमृश्यताम्।
क्व यातं छत्रमित्येष न्यायस्त्वयि तथा मयि॥ ९६॥
पुमान् स्त्री गौरजो वाजी कुञ्जरो विहगस्तरुः।
देहेषु लोकसंज्ञेयं विज्ञेया कर्म्महेतुषु॥ ९७॥
पुमान्न देवो न नरो न पशुर्न च पादपः।
शरीराकृतिभेदास्तु भूपैते कर्मयोनयः॥ ९८॥

ननु शिबिकाद्यचेतनभेदस्य वाह्यवाहकादिचेतनभेदस्य च दृश्यमानत्वात् कथमात्मनः सजातीय-विजातीयभेदो नास्तीत्याशंक्य तद्भेदस्य मिथ्यात्वमाह—**'त्वं राजे'** त्यादिना। लोकः परिजनादिः, एतत् सर्वं सन्नोच्यते, अपि तु असदेव॥ ९२॥

तत्र तावच्छिबिकाकारणमाह,—**सरसो वृक्षः ततश्छिन्नं शुष्कं** काष्ठं दारु। ततः चतुरस्रा रचितेयं शिबिका। तथा च वृक्षदारुसंज्ञयोरभावाद् व्यभिचारित्वेन वृक्षदारुणोर्मिथ्यात्वमित्यर्थः॥ ९३॥

शिबिकावस्थायां वृक्षदारुसंज्ञानिवृत्तिं तद्व्यवहारनिवृत्त्योपपादयति—**वृक्षारूढ'** इति॥ ९४॥

शिबिकावस्थाया अपि मिथ्यात्वमाह—**'शिबिके'** ति। रचनास्थित्या संस्थितो दारुसंघात एव शिबिका। दारुभेदे काष्ठविभागे कृते शिबिका क्व गतेति त्वया तार्किकेणान्विष्यताम्॥ ९५॥

एवं छत्रारम्भकाणां शलाकानां विभागे छत्रं क्व गतमिति विमृश्यताम्। तदेवं शिबिकादेः अचेतनस्य सत्त्वं निराकृत्य तमेव न्यायं चेतनत्वेन गृहीतेष्वप्यतिदिशति **'एष'** इति। मयि मद्देहे त्वयि त्वद्देहे च विमृश्यतां शिरःपाण्यादिविभागे न त्वं न चाहमित्यर्थः॥ ९६॥

ननु तर्हि व्यवहारस्य किं मूलमित्यपेक्षया वाचारम्भणमात्रमित्याह—**'पुमान् स्त्री'** ति। कर्मैव हेतुर्येषां तेषु देहेष्वेवेयं लोके संज्ञा न त्वात्मनि॥ ९७॥

तस्य साक्षितया सर्वत्रैकरूप्यादिति दर्शयन्नाह—**'पुमानि'** ति॥ ९८॥

वस्तु राजेति यल्लोके यच्च राजभटात्मकम्।
तथान्यच्च नृपेत्थं तन्न सत्सङ्कल्पनामयम्॥ ९९॥
यत्तु कालान्तरेणापि नान्यां संज्ञामुपैति वै।
परिणामादिसम्भूतां तद्वस्तु नृप! तच्च किम्॥ १००॥
त्वं राजा सर्वलोकस्य पितुः पुत्रो रिपो रिपुः।
पत्न्याः पतिः पिता सूनो किं त्वां भूप! वदाम्यहम्॥ १०१
त्वं किमेतच्छिरः किं नु ग्रीवा तव तथोदरम्।
किमु पादादिकं त्वं वा तवैतत् किं महीपते॥ १०२॥
समस्तावयवेभ्यस्त्वं पृथग् भूप! व्यवस्थितः।
कोऽहमित्यत्र निपुणो भूत्वा चिन्तय पार्थिव॥ १०३॥
एवं व्यवस्थिते तत्त्वे मयाहमिति भाषितुम्।
पृथक् करणनिष्पाद्यं शक्यते नृपते! कथम्॥ १०४॥

इति श्रीविष्णुपुराणे द्वितीयांशे त्रयोदशोऽध्यायः।

अतो लोकव्यवहारास्पदं वस्तु सङ्कल्पमात्रविलसितमित्याह—**'वस्त्वि'** ति॥९९॥

एतदेव परमार्थवस्तुवैलक्षण्येन स्फुटीकरोति—**'यात्त्वि'** ति। परिणामादिना जातं संज्ञान्तरं कालान्तरेणापि यन्न प्राप्नोति, तत् परमार्थवस्तु। तच्चात्र किं? न किञ्चित्। राजादीनामपि बाल्ययौवनादिपरिणामादवस्तुत्वमित्यर्थः। तदुक्तं—**'मही घटत्व'** मित्यादि॥१००॥

वर्त्तमानकालेऽप्यव्यवस्थितिरूपत्वान्मिथ्यात्वमित्याह—**'त्वं राजे'** ति॥१०१॥

ननु राजादिरूपस्य प्रतियोगिभेदेन अव्यवस्थितत्वेऽपि शिरः पाण्यादिमानहमेकरूप एवेत्यत्राह **'त्वमि'** ति। अवयवावयविभावस्य निरुक्तेस्तदपि वक्तुमशक्यमिति भावः॥१०२॥

ननु तथापि वरूथवनादिवदवयवसमूहरूपोऽहं वस्तुभूतः किं न स्यात् तत्राह—**'समस्ते'** ति। अवयवानामुपचयेऽपि दृष्टत्वेन पृथगैक्यरूपेण त्वं व्यवस्थितः। द्रष्टुश्च स्वप्रकाशतया शब्दादिगोचरत्वासम्भवात्। त्वमेव स्वानुभवेन चिन्तयेत्याह—**'कोऽहमित्यत्रे'** ति॥१०३॥

अतो मया यदुक्तं **'कोऽहमित्येतद् वक्तुं न शक्यते'** इति, तत् सिद्धमित्युपसंहरति—**'एवमि'** ति। एवमभिन्ने व्यवस्थिते सति पृथक्करणेनान्यव्यवच्छेदेन निष्पाद्यमुच्चार्यमेषोऽहमित्युत्तरं कथं भाषितुं शक्यमित्यर्थः॥१०४॥

इति श्रीधरकृतायामात्मप्रकाशाख्यायां स्वप्रकाशाख्यायां वा श्रीविष्णुपुराणटीकायां द्वितीयांशे त्रयोदशोऽध्यायः

चतुर्द्दशोऽध्यायः

(राज्ञः सौवीरस्य प्रश्नः, भरतस्योत्तरदानञ्च)

पराशर उवाच

निशम्य तस्येति वचः परमार्थसमन्वितम्।
प्रश्रयावनतो भूत्वा तमाह नृपतिर्द्विजम्॥ १॥

राजोवाच

भगवान्! यत्त्वया प्रोक्तं परमार्थमयं वचः।
श्रुते तस्मिन् भ्रमन्तीव मनसो मम वृत्तयः॥ २॥
एतद्विवेकविज्ञानं यदशेषेषु जन्तुषु।
भवता दर्शितं विप्र! तत्परं प्रकृतेर्महत्॥ ३॥
नाहं वहामि शिबिकां न मयि स्थिता।
शरीरमन्यदस्मत्तो येनेयं शिबिका धृता॥ ४॥
गुणप्रवृत्त्या भूतानां प्रवृत्तिः कर्मचोदिता।
प्रवर्त्तन्ते गुणा ह्येते किं ममेति त्वयोदितम्॥ ५॥
एतस्मिन् परमार्थज्ञ! मम श्रोत्रपथं गते।
मनो विह्वलतामेति परमार्थार्थितां गतम्॥ ६॥
पूर्वमेव महाभागं कपिलर्षिमहं द्विज!
प्रष्टुमभ्युद्यतो गत्वा श्रेयः किं त्वत्र शंस मे॥ ७॥

नाहमित्यादिवाक्येन प्रमाणासम्भवे गते। प्रमेयासम्भवाशङ्की भूयो भूयोऽथ पृच्छति॥ १॥

नाहं पीवेत्यादिवाक्यश्रवणतः प्रमाणासम्भावनायां निवृत्तायामपि नानादर्शनप्रसिद्धश्रेयसां परमार्थत्वे सति आत्मैव परमार्थ इत्यस्य प्रमेयस्य असम्भावनया पृच्छति—**'भगवन्नि'** ति दशभिः॥ २॥

तर्हि मया किं सन्दिग्धमुक्तं येन तव मनसो वृत्तयो भ्रमन्तीत्यत आह—**'एतदि'** ति। यदेतत् विवेकविज्ञानं भवता दर्शितं, तत् प्रकृतेः परं महद्ब्रह्मैव दर्शितं; न तु तद्वाक्ये सन्देहः कश्चिदस्तीत्यर्थः॥ ३-६॥

तद्वाक्यमेवानुवदंस्तत्र सन्देहाद्यभावं दर्शयन्नाह—**'पूर्वमेवे'** ति। अत्र संसारे किं श्रेयः संश्रय इति कपिलमहर्षि गत्वा प्रष्टुमभ्युद्यतोऽस्मि॥ ७-८॥

तदन्तरे च भवता तदेतद्वाक्यमीरितम्।
तेनैव परमार्थार्थं त्वयि चेतः प्रधावति॥ ८॥
कपिलर्षिर्भगवतः सर्वभूतस्य वै द्विज!
विष्णोरंशो जगन्मोहनाशायोर्वीमुपागतः॥ ९॥
स एव भगवान् नूनमस्माकं हितकाम्यया।
प्रत्यक्षतामत्र गतो यथैतद् भवतोच्यते॥ १०॥
तन्मह्यं प्रणताय त्वं यच्छ्रेयः परमं द्विज!
तद्वदाखिलविज्ञानजलवीच्युदधिर्भवान्॥ ११॥

ब्राह्मण उवाच

भूप! पृच्छसि किं श्रेयः परमार्थं नु पृच्छसि।
श्रेयांसि परमार्थानि अशेषाणि च भूपते॥ १२॥
देवताराधनं कृत्वा धनसम्पदमिच्छति।
पुत्रानिच्छति राज्यञ्च श्रेयस्तस्यैव तन्नृप॥ १३॥
कर्म्म यज्ञात्मकं श्रेयः स्वर्लोकफलदायि च।
श्रेयः प्रधानञ्च फले तदेवानभिसंहिते॥ १४॥

यथैतद् भवतोच्यते तेन स एव प्रत्यक्षतां गत इति मन्ये, अन्यथैवंविधोक्तेरसम्भवादिति भावः॥ १०॥

अखिलानि यानि विज्ञानानि तत्तद्दर्शनानि तन्येव जलवीचयो यस्मिन् स उदधिः परमज्ञानार्णवो भवान्। अतः परमार्थभूतं श्रेयो वदेत्यर्थः॥ ११॥

तत्र शास्त्रान्तरसम्मतेभ्यः श्रेयोभ्य आत्मतत्त्वमेव परमार्थ इति निर्णेतुं श्रेयः परमार्थयोर्भेदं विकल्पपूर्वकमाह—'भूपे' ति। नु विकल्पे श्रेयांसि परमार्थभूतानि न वेति विकल्पे, 'अपरमार्थानी'ति पाठे न विद्यते परमार्थभूतोऽर्थो येषु तानि तथा॥ १२॥

तान्येव श्रेयांस्युत्तरोत्तरमुत्कृष्टानि सप्तोपन्यस्यति—'देवते' ति त्रिभिः। यो हि धनं पुत्रं राज्यं वेच्छति, तस्य तदेव श्रेय इत्यन्वय॥ १३॥

फले नाभिसंहिते असङ्कल्पिते तद्यज्ञादि कर्मैव प्रधानं मुख्यं श्रेयः। सङ्कल्पिते तु यज्ञादिसाध्यं स्वर्गादिकमेव श्रेय इत्यर्थः॥ १४॥

आत्मा ध्येयः सदा भूप! योगयुक्तैस्तथापरम्।
श्रेयस्तस्यैव संयोगः श्रेयो यः परमात्मना॥ १५॥
श्रेयांस्येवमनेकानि शतशोऽथ सहस्रशः।
सन्त्यत्र परमार्थस्तु तत्त्वतः श्रूयतां च मे॥ १६॥
धर्माय त्यज्यते किन्तु परमार्थो धनं यदि!
व्ययश्च क्रियते कस्मात् कामप्राप्त्युपलक्षणः॥ १७॥
पुत्रश्चेत् परमार्थः स्यात् सोऽप्यन्यस्य नरेश्वर!
परमार्थभूतः सोऽन्यस्य परमार्थो हि तत्पिता॥ १८॥
एवं न परमार्थोऽस्ति जगत्यस्मिंश्चराचरे।
परमार्थो हि कार्याणि कारणानामशेषतः॥ १९॥
राज्यादिप्राप्तिरत्रोक्ता परमार्थतया यदि।
परमार्था भवन्त्यत्र न भवन्ति च वै ततः॥ २०॥
ऋग्-यजुःसामनिष्पाद्यं यज्ञकर्म्म मतं तव।

'आत्मा ध्येय' इति—श्रेयः आत्मध्यानं श्रेय इत्यर्थः। तस्यैवात्मनः स्वस्य यः परमात्मना संयोगः स परं श्रेयः॥ १५॥

श्रेयांस्येवमनेकानीत्येतदुक्तं भागवते—'**धर्ममेके यशश्चान्ये** काम सत्यं श्रमं दमम्। अन्ये वदन्ति स्वार्थं वै ऐश्वर्य्यं त्यागभोजनम्। केचिद् यज्ञं तपो दानं व्रतानि नियमान् यमान्। आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्म्मिताः। दुःखोदर्कास्तपोनिष्ठा क्षुद्रानन्दाः शुचार्पिताः। इत्यादिना॥ १६॥

धनादीनाम् अपरमार्थत्वमुपपादयति—'**धर्माये**' त्यादिना '**संक्षेपाच्छ्रूयतां ममे**' त्यन्तेन। कामप्राप्तिरुपलक्षणं निमित्तं यस्य व्ययस्य सः। 'पुत्रश्चे'ति द्वाभ्याम्। यस्य पुत्रः परमार्थाख्यः स पिताप्यन्यपुत्रत्वात् परमार्थभूतः, सोऽन्यस्य, तत्पिताप्यन्यस्य॥ १८॥

इत्येवं परमार्थः कोऽपि नास्तीत्यतिप्रसङ्गः स्यात्। यस्मात् कार्याणि जन्यानि पुत्रादीनि कारणानां जनकानां परमार्थः स्यात्, तस्मादशेषः परमार्थः स्यात्॥ १९॥

अत्र पक्षे परमार्था भवन्ति न भवन्ति चेति काक्वा योज्यम्। आगमापायित्वाद्राज्यादिकं न परमार्थ इत्यर्थः॥ २०॥

परमार्थभूतं तत्रापि श्रूयतां गदतो मम॥ २१॥
यत्तु निष्पाद्यते कार्य्यं मृदा कारणभूतया।
तत् कारणानुगमनाज्ज्ञायते नृप! मृन्मयम्॥ २२॥
एवं विनाशिभिर्द्रव्यैः समिदाज्य-कुशादिभिः।
निष्पाद्यते क्रिया या तु सा भवित्री विनाशिनी॥ २३॥
अनाशी परमार्थस्तु प्राज्ञैरभ्युपगम्यते।
तत्तु नाशि न सन्देहो नाशिद्रव्योपपादितम्॥ २४॥
तदेवाफलदं कर्म परमार्थो मतस्तव।
मुक्तिसाधनभूतत्वात् परमार्थो न साधनम्॥ २५॥
ध्यानं चैवात्मनो भूप! परमार्थार्थशब्दितम्।
भेदकारि परेभ्यस्तु परमार्थो न भेदवान्॥ २६॥
परमात्मात्मनोर्योगः परमार्थ इतीर्य्यते।
मिथ्यैतदन्यद् द्रव्यं हि नैति तद्द्रव्यतां यतः॥ २७॥
तस्माच्छ्रेयांस्यशेषाणि नृपैतानि न संशयः।

यज्ञादिसाध्यस्य स्वर्गादेरप्यनित्यतां साधयन्नपरमार्थतामाह—'**ऋगि**' ति चतुर्भिः। यज्ञकर्मेति यज्ञैराप्तुमिष्टतमं स्वर्गादिकं परमार्थमतं यदि मतमित्यर्थः॥ २१-२२॥

या क्रिया निष्पाद्यते इति क्रिया द्वरा अपूर्वं स्वर्गादिकञ्च यन्निष्पाद्यते तद् विनाशि भवेदित्यर्थः॥ २३-२४॥

मुक्तिसाधनभूतत्वादफलदमित्येतन्नास्ति, यतश्चान्यार्थत्वात् परमार्थो न भवतीत्यर्थः॥ २५॥

परेभ्यो देहादिभ्यो विविच्यात्मनश्चित्तालम्बनीभूतस्य ध्येयत्वाद् ध्यानं भेदकारिपरमार्थश्च न भेदवान्, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेति श्रुतेः॥ २६॥

जीवपरमात्मनोरैक्योपासनया तादात्म्यलक्षणो योगः परमार्थ इत्येतऽपि मतं मिथ्यैव। तथा हि तयोर्भिन्नयोरभिन्नयोर्वा योगः स्यात्। भिन्नत्वे गवाश्वयोरिवैक्यासम्भवः, अभिन्नत्वे च विम्बप्रतिविम्बयोरिव उपाधिव्युदासमात्रं विना योगशब्दार्थो नास्तीत्यर्थः॥ २७॥

परमार्थस्तु भूपाल! सङ्क्षेपाच्छ्रूयतां मम॥ २८॥

एको व्यापी समः शुद्धो निर्गुणः प्रकृतेः परः।

जन्मवृद्ध्यादिरहित आत्मा सर्वगतोऽव्ययः॥ २९॥

परज्ञानमयोऽसद्भिर्नामजात्यादिभिर्विभुः।

न योगवान्न युक्तोऽभून्नैव पार्थिव! योज्यते॥ ३०॥

तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयं हि यत्।

विज्ञानं परमार्थोऽसौ द्वैतिनोऽतत्त्वदर्शिनः॥ ३१॥

वेणुरन्ध्रप्रभेदेन भेदः षड्जादिसंज्ञितः।

अभेदव्यापिनो वायोस्तथा तस्य महात्मनः॥ ३२॥

तस्मात् श्रेयांसि आपेक्षिकाणि भवन्ति, न तु परमार्थरूपाणि। परमार्थस्तु आत्मैवेत्यन्वयः॥ २८॥

स च एक एव, न तु प्रतिदेहभिन्नः, व्यापी साक्षितयासर्वव्यापकः, समः एकरूपः, न तु ज्ञानादिपरिणामैरनेकरूपः, शुद्धः कर्त्तृत्वादिकालुष्यशून्यः, अतो जन्मवृद्धादिभिर्देहादिविकारैरसंस्पृष्टः। अत एव सर्वगतः, न तु देहंपरिमाणः, अतो मध्यपरिमाणत्वाभावाद् अव्ययः॥ २९॥

परज्ञानमयः नित्यज्ञानरूपः, न तु क्षणिकज्ञानात्मा। असद्भिः अविद्यामयैः नामजात्यादिभिः वर्त्तमानभूतभविष्यत्कालेषु योगशून्यः। अतः विभुः ईश्वरः स्वतन्त्र इत्यर्थः॥ ३०॥

ननु प्रतिदेहमात्मनो भेदविकारादिप्रतीतेः कथमेकत्वसर्वगतत्वादि ? तत्राह—'**तस्ये**' ति। आत्मपरदेहेषु तद्देहाकारावच्छिन्तया सतः स्फुरतोऽप्येकाकारं यद्विशिष्टं स्वप्रकाशापरिच्छिन्नं ज्ञानं स एव परमार्थः, भेदप्रतीतेरुपाधिनिबन्धनत्वात्। द्वैतवादिनोऽपरमार्थदर्शिनः॥ ३१॥

एतद् दृष्टान्तेनोपपादयति—'**वेणुरन्ध्रे**' ति द्वाभ्याम्। अभेदस्य व्यापिनो वायोर्यथा वेणुरन्ध्रोपाधिभेदेन षड्जर्षभगान्धारादिस्वराभिव्यञ्जकत्वात् न तन्नादसंज्ञितो भेदस्तथा तस्य महतोऽपरिच्छिन्नस्य आत्मनः स्वत एकत्वम्॥ ३२॥

एकत्वं रूपभेदश्च बाह्यकर्मप्रवृत्तिजः।
देवादिभेदेऽपध्वस्ते नास्त्येवावरणे हि सः॥३३॥

इति श्रीविष्णुपुराणे द्वितीयांशे चतुर्दशोऽध्यायः।

रूपभेदस्तु देवमनुष्यादिलक्षणो बाह्यकर्मप्रवृत्तिजः बाह्यानामात्मनः पृथग्भूतानां देहेन्द्रियादीनां यत् कर्म तस्य प्रवृत्तिः फलं ततो जातः। पाठान्तरे बाह्यानां देहानां कर्मभिः या आवृतिः आवरणं ततः प्रजायते इति बाह्यकर्मावृतिप्रजो भेदः, न तु स्वतः। तत्र हेतुः,— यस्मात् देवादिभेदे अपध्वस्ते भिद्यते अनेनेति भेदः अहंकारः, देवादिभेदे देहे तावत् अहङ्कारावरणे सुषुप्त्यादौ विनष्टे स भेदो नास्त्येव। 'देवादिभेदमध्यास्ते' इति पाठे तु बाह्यकर्मावरणनिमित्तो रूपभेदोऽहङ्कार एव देवादिभेदम् अध्यास्ते अधिकृत्य वर्त्तते, स्वतस्तु भेदो नास्त्येव, यस्मात् आवरणे सति स भेदः नान्यदेवेत्यर्थः॥३३॥

इति श्रीधरकृतायामात्मप्रकाशाख्यायां स्वप्रकाशाख्यायां वा श्रीविष्णुपुराणटीकायां द्वितीयांशे चतुर्दशोऽध्यायः॥

पञ्चदशोऽध्यायः

(ऋभु-निदाघसंवादः)

पराशर उवाच

इत्युक्ते मौनिनं भूयश्चिन्तयानं महीपतिम्।
प्रत्युवाचाथ विप्रोऽसावद्वैतान्तर्गतां कथाम्॥ १॥

ब्राह्मण उवाच

श्रूयतां नृपशार्दूल! यद्गीतमृभुणा पुरा।
अवबोधं जनयता निदाघस्य महात्मनः॥ २॥
ऋभुर्नामाभवत् पुत्रो ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
विज्ञाततत्त्वसद्भावो निसर्गादेव भूपते॥ ३॥
तस्य शिष्यो निदाघोऽभूत् पुलस्त्यतनयः पुरा।
प्रादादशेषविज्ञानं स तस्मै परया मुदा॥ ४॥
अवाप्तज्ञानतत्त्वस्य न तस्याद्वैतवासनाम्।
स ऋभुस्तर्कयामास निदाघस्य नरेश्वर॥ ५॥
देविकायास्तटे वीरनगरं नाम वै पुरम्।
समृद्धमतिरम्यं च पुलस्त्येन निवेशितम्॥ ६॥
रम्योपवनपर्यन्ते स तस्मिन् पार्थिवोत्तम।
निदाघो नाम योगज्ञ ऋभुशिष्योऽवसत् पुरा॥ ७॥
दिव्ये वर्षसहस्रे तु समतीतेऽस्य तत्पुरम्।

प्रमाणतर्कतः सम्यङ् माने मेयेऽपि निश्चिते। बुद्ध्यसम्भावनोत्थित्यै निदाघाख्यानमीर्य्यते॥ इत्युक्ते प्रमाणोपपत्तिभ्यामात्यैक्ये निरूपितेऽपि विपरीते भावनादार्ढ्यात् बुद्ध्यसम्भावनया मौनिनं तुष्णीं चिन्तयानं भूयो विप्रः प्रत्युवाच॥ १-२॥

निसर्गात् स्वभावादेव विज्ञातः तत्त्वस्य सद्भावो यार्थार्थ्यं येन सः॥ ३-४॥

दृष्टादृष्टयोरासक्त्या तस्याद्वैतवासनां न तर्कयामास॥ ५॥ देविकाया नद्यास्तटे॥ ६॥

रम्यः उपवनपर्य्यन्तो यस्य तस्मिन्। योगज्ञः कर्मसु प्रवीणः॥ ७॥

जगाम स ऋभुः शिष्यं निदाघमवलोककः॥८॥
स तस्य वैश्वदेवान्ते द्वारालोकनगोचरे।
स्थितस्तेन गृहीतार्घ्यो निजवेश्म प्रवेशितः॥९॥
प्रक्षालिताङ्घ्रिपाणिं च कृतासनपरिग्रहम्।
उवाच स द्विजश्रेष्ठो भुज्यतामिति सादरम्॥१०॥

ऋभुरुवाच

भो विप्रवर्य्य! भोक्तव्यं यदन्नं भवतो गृहे।
तत् कथ्यतां कदन्नेषु न प्रीतिः सततं मम॥११॥

निदाघ उवाच

भक्त-यावक-वाट्यानामपूपानाञ्च मे गृहे।
यद् रोचते द्विजश्रेष्ठ! तत् त्वं भुङ्क्ष्व यथेच्छया॥१२॥

ऋभुरुवाच

कर्द्दन्नानि द्विजैतानि मृष्टमन्नं प्रयच्छ मे।
संयाव-पायसादीनि द्रप्स्यफाणितवन्ति च॥१३॥

निदाघ उवाच

हे हे शालिनि मद्गेहे यत् किञ्चिदतिशोभनम्।
भक्ष्योपसाधनं मृष्टं तेनास्यान्नं प्रसाधय॥१४॥

ब्राह्मण उवाच

इत्युक्ता तेन सा पत्नी मृष्टमन्नं द्विजस्य यत्।
प्रसाधितवती तद् वै भर्त्तुर्वचनगौरवात्॥१५॥

'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' इति ण्वुलि युवोरनाकावित्यकादेशे सत्यवलोकक इति रूपम् अवलोकयितुमित्यर्थः॥८॥

तच्चित्तपरीक्षार्थमाह—'भो विप्रवर्य्ये' त्यादि॥११॥

यावको यवविकारः। वाट्यं वाटीभवं कन्दमूलफलादि॥१२॥

मृष्टं मधुरम् संयावो गोधूमादिविकारस्तन्तुसन्निभः। 'द्रप्स्यं दधि घनेतरत्' इत्यमरसिंहः। 'फाणितं विकृतिर्गौडी' इति हलायुधः॥१३॥

शालिनि श्लाध्ये प्रिये, भक्ष्यस्योपसाधनमुपस्करः॥१४-१६॥

तं भुक्तवन्तमिच्छातो मृष्टमन्नं महामुनिम्।
निदाघः प्राह भूपाल! प्रश्रयावनतः स्थितः॥ १६॥

निदाघ उवाच

अपि ते परमा तृप्तिरुत्पन्ना तुष्टिरेव च।
अपि ते मानसं स्वस्थमाहारेण कृतं द्विज॥ १७॥
क्व निवासो भवान् विप्र! क्व च गन्तुं समुद्यतः।
आगमन्यते च भवता यतस्तच्च द्विजोच्यताम्॥ १८॥

ऋभुरुवाच

क्षुद् यस्य तस्य भुक्तेऽन्ने तृप्तिर्ब्राह्मण! जायते।
न मे क्षुन्नाभवत् तृप्तिः कस्मान्मां परिपृच्छसि॥ १९॥
वह्निना पार्थिवे धातौ क्षयिते क्षुत्समुद्भवः।
भवत्यम्भसि च क्षीणे नृणां तृडपि जायते॥ २०॥
क्षुत्तृषौ देहधर्माख्ये न ममैते यतो द्विज।
ततः क्षुत्सम्भवाभावात् तृप्तिरस्त्येव मे सदा॥ २१॥
मनसः स्वस्थता तुष्टिश्चित्तधर्माविमौ द्विज।
चेतसो यस्य तत् पृच्छ पुमानेभिर्न युज्यते॥ २२॥
क्व निवासस्तवेत्युक्तं क्व गन्तासि स यत् त्वया।
कुतश्चागम्यते तत्र त्रितयेऽपि निबोध मे॥ २३॥

तृप्ति क्षुत्तृषोः शान्ति, तुष्टिः सन्तोषः, स्वस्थं प्रकृतिस्थम्॥ १७॥

क्व निवासस्तवेति शेषः॥ १८-२०॥

देहधर्माख्ये देहस्य धर्माभ्यां पार्थिवाप्यधातुक्षयाभ्यामाख्यायेते। ते च तद्द्वारा प्राणधर्मौ, अशनाया पिपासे प्राणस्ये' ति श्रुतेः। मम प्रणव्यतिरिक्तस्यैते न स्तः। क्षुन्निमित्ते दुःखाभावसाम्यात् तृप्तिरस्त्येवेत्युपचारः॥ २१॥

मनसः स्वस्थता च तुष्टिश्चेति यत् पृष्टम्, इमौ तु चित्तस्य धर्मौ, अतो यस्य चेतसश्चित्तस्य इमौ धर्मौ तच्चित्तमेव पृच्छ, न त्वहं पुमान् प्रश्नार्हः। यतः पुमानेभिः प्राणचित्तधर्मैस्तृप्तिस्वास्थ्यैर्न युज्यते॥ २२-२३॥

पुमान् सर्वगतो व्यापी आकाशवदयं यतः।
कुतः कुत्र क्व गन्तासीत्येतदप्यर्थवत् कथम्॥ २४॥
नाहं गन्ता न चागन्ता नैकदेशनिकेतनः।
त्वं चान्ये च न च त्वं त्वं नान्ये नैवाहमप्यहम्॥ २५॥
मृष्टं न मृष्टमप्येषा जिज्ञासा मे कृता तव।
किं वक्ष्यसीति तत्रापि श्रूयतां द्विजसत्तम॥ २६॥
किमस्वाद्वथवा मृष्टं भुञ्जतोऽन्नं द्विजोत्तम!
मृष्टमेव यदामृष्टं तदैवोद्वेगकारकम्॥ २७॥
अमृष्टं जायते मृष्टं मृष्टादुद्विजते जनः।
आदिमध्यावसानेषु किमन्नं रुचिकारकम्॥ २८॥
मृन्मयं हि गृहं यद्वन्मृदा लिप्तं स्थिरं भवेत्।

वायुवत् क्रमेण सर्वगतत्वं व्यावर्त्तयितुं व्यापीत्युक्तम्॥ २४॥

न केवलम् अहमेवैम्भूतः किन्तु त्वञ्चान्ये च सर्वेऽपि। ननु मम चान्येषाञ्च तव च परिच्छेदगमनादिप्रतीतेः **कथं** प्रत्यक्षविरूद्धमुच्यते ? तत्राह—**'न च त्व'** मिति। यस्त्वलौकिकः परिच्छिन्नः प्रतीयसे एष त्वं न भवसि। ये चान्ये प्रादेशिकाः प्रतीयन्ते तथाविधास्तेऽन्ये न भवन्ति। अहमपि यादृशस्त्वया दृष्टो न तादृशोऽहम् किन्तु त्वमहमित्यादिव्यवहारगोचरः परमात्मैव वयं सर्वे, अतो न प्रत्यक्षविरोधः॥ २५॥

यद्येवं तर्हि मृष्टमेवान्नं त्वया किमर्थं याचितं ? तत्राह—**'मृष्ट'** मिति। एवं मयोक्ते त्वं किं वक्ष्यसीति तव जिज्ञासा कृता। किन्तु मृष्टामृष्टप्रस्तावे मया कृते तयोरवस्तुत्वोक्तिद्वारा किमप्यात्मतत्त्वाश्रितं वक्ष्यसि नवेति त्वत्परीक्षैव कृता, न तु मृष्टार्थितयोक्तम्, तद्भेदस्यावास्तवत्वात्॥ २६॥

तदेवाह, 'किमिति द्वाभ्याम्, किमस्वादु अमृष्टम् अथवा किं मृष्टमन्नं नियतमस्ति भुञ्जानस्य पुंसः ? न किञ्चिदस्ति। तदेवाह यत् मृष्टं तदेव यदा अतितृप्तस्योद्वेगकारकं तदा अमृष्टं भवति॥ २७॥

अतिक्षुधितस्य चामृष्टमेव यावकादि मृष्टं जायते, तदेवं यदा मृष्टादेव जनः कदाचिदुद्विजते, तदा आदिमध्यावसानेषु नियतं रुचिकारकं मृष्टं किमन्नमस्ति? न किञ्चिदित्यर्थः॥ २८॥

पार्थिवोऽयं तथा देहः पार्थिवैः परमाणुभिः॥ २९॥

यव-गोधूम-मुद्गादि घृतं तैलं पयो दधि।

गुडं फलादीनि तथा पार्थिवाः परमाणवः॥ ३०॥

तदेतद् भवता ज्ञात्वा मृष्टामृष्टविचारि यत्।

तन्मनः समतालम्बि कार्यं साम्यं हि मुक्तये॥ ३१॥

ब्राह्मण उवाच

इत्याकर्ण्य वचस्तस्य परमार्थाश्रितं नृप।

प्रणिपत्य महाभागो निदाघो वाक्यमब्रवीत्॥ ३२॥

निदाघ उवाच

प्रसीद मद्धितार्थाय कथ्यतां यस्त्वमागतः।

नष्टो मोहस्तवाकर्ण्य वचांस्येतानि मे द्विज॥ ३३॥

ऋभुरुवाच

ऋभुरस्मि तवाचार्यः प्रज्ञादानाय ते द्विज।

इहागतोऽहं यास्यामि परमार्थस्तवोदितः॥ ३४॥

एवमेकमिदं विद्धि न भेदि सकलं जगत्।

वासुदेवाभिधेयस्य स्वरूपं परमात्मनः॥ ३५॥

तर्हि किमिति त्वया मृष्टमेव भुक्तं? तत्राह— **'मृन्मयं ही'** ति। पार्थिवैः परमाणुभिः सूक्ष्मैरंशैरालिप्त उपवृंहितो देहः स्थिरो भवति॥ २९॥

प्रारब्धकर्मोपस्थापितं मृष्टमपि देहनिर्वाहयात्रोपयोगितया भुक्तं, न तु मृष्टबुद्ध्येति भावः। देहधारणे च तुल्या एव सर्वे मृष्टामृष्टाः परमाणव इत्याह—**'यवे'** ति॥ ३०॥

त्वयाप्यनयैव दृष्ट्या भोक्तव्यमित्याह—**'तदेत'** दिति। मृष्टामृष्टविचारशीलं यत् मनः तत् समतालम्बनशीलं कार्यं, यतो मृष्टं भुञ्जानस्यापि मनसः साम्यं मुक्तये भवति॥ ३१-३३॥

'प्रज्ञादानाये' ति—प्रज्ञा अत्र उपासनात्मिका, **'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीते'** ति श्रुतेः॥ ३४॥

ब्राह्मण उवाच

तथेत्युक्त्वा निदाघेन प्रणिपातपुरःसरम्।
पूजितः परया भक्त्या इच्छातः प्रययावृभुः॥३६॥

इति श्रीविष्णुपुराणे द्वितीयांशे पञ्चदशोऽध्यायः।

न भेदि भेदवन्न भवति॥३५-३६॥

इति श्रीधरकृतायामात्मप्रकाशाख्यायां स्वप्रकाशाख्यायां वा श्रीविष्णुपुराणटीकायां
द्वितीयांशे पञ्चदशोऽध्यायः॥

षोडशोऽध्यायः

(निदाघसमीपे ऋभोः पुनर्गमनम्, आत्मतत्त्वोपदेशश्च)

ब्राह्मण उवाच

ऋभुर्वर्षसहस्रे तु समतीते नरेश्वर।
निदाघज्ञानदानाय तदेव नगरं ययौ॥ १॥
नगरस्य बहिः सोऽथ निदाघं ददृशे मुनिः।
महाबलपरीवारे पुरं विशति पार्थिवे॥ २॥
दूरे स्थितं महाभागं जनसम्मर्दवर्ज्जकम्।
क्षुत्क्षामकण्ठमायान्तमरण्यात् ससमित्कुशम्॥ ३॥
दृष्ट्वा निदाघं स ऋभुरुपगम्याभिवाद्य च।
उवाच कस्मादेकान्ते स्थीयते भवता द्विज॥ ४॥

निदाघ उवाच

भो विप्र! जनसम्मर्द्दो महानेष जनेश्वरे।
प्रविविक्षौ पुरं रम्यं तेनात्र स्थीयते मया॥ ५॥

ऋभुरुवाच

नराधिपोऽत्र कतमः कतमश्चेतरो जनः।
कथ्यतां मे द्विजश्रेष्ठ! त्वमभिज्ञो मतो मम॥ ६॥

निदाघ उवाच

योऽयं गजेन्द्रमुन्मत्तमद्रिशृङ्गसमुच्छ्रितम्।

वषसहस्रे समतीते निदाघज्ञानदानाय ययाविति वदन्नात्मैक्यज्ञानस्य चिरकालबहूपदेशापेक्षितया दुर्लभतां दर्शयति॥ १॥

अस्पृश्यस्पर्शादिशङ्कया जनसंमर्दवर्ज्जकम्। क्षुधा क्षामः कृशः कण्ठो यस्य तम्॥ ३॥

आचार्य्यत्वं स्वीयं प्रच्छादयितुमभिवाद्य च॥ ४-६॥

परलोकः परिजनः॥ ६-१२॥

अधिरूढो नरेन्द्रोऽयं परलोकस्तथेतर:॥७॥

ऋभुरुवाच

एतौ हि गज-राजानौ युगपद् दर्शितौ मम।
भवता न विशेषेण पृथक्चिह्नोपलक्षणौ॥८॥
तत् कथ्यतां महाभाग! विशेषो भवतानयो:।
ज्ञातुमिच्छाम्यहं कोऽत्र गज: को वा नगाधिप:॥९॥

निदाघ उवाच

गजो योऽयमधो ब्रह्मन्! उपर्य्यस्यैष भूपति:।
वाह्य-वाहकसम्बन्धं को न जानाति वै द्विज॥१०॥

ऋभुरुवाच

जानाम्यहं यथा ब्रह्मंस्तथा मामवबोधय।
अध:शब्दनिगद्यं किं किञ्चोर्द्धमभिधीयते॥११॥

ब्राह्मण उवाच

इत्युक्त: सहसारुह्य निदाघ: प्राह तं ऋभुम्।
श्रूयतां कथयाम्येष यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥१२॥
उपर्य्यहं यथा राजा त्वमध: कुञ्जरो यथा।
अवबोधाय ते ब्रह्मन्! दृष्टान्तो दर्शितो मया॥१३॥

ऋभुरुवाच

त्वं राजेव द्विजश्रेष्ठ! स्थितोऽहं गजवद् यदि।
तदेतत् त्वं समाचक्ष्व कतमस्त्वमहं तथा॥१४॥

ब्राह्मण उवाच

इत्युक्त: सत्वरं तस्य प्रगृह्य चरणावुभौ।

तदुपरि आरोहापराधं परिहरति 'दृष्टान्तो दर्शित' इति॥१३॥

'तदेव त्वं समाचक्ष्व कतमस्त्वमहं तथे'ति साक्षेपोक्तया न त्वं त्वं, न चान्येऽन्ये, नाहमप्यहमिति॥१४॥

पूर्वं यदुक्तं त्वमहमित्यादिभेदो मिथ्येति तदेव स्मारित: तस्या चरणौ प्रगृह्यमापयन्निदाघ आह ध्रुवं ममाचार्य्य इति॥१५॥

निदाघः प्राह भगवानाचार्य्यस्त्वमृभुर्ध्रुवम्॥ १५॥
नान्यस्याद्वैतसंस्कारसंस्कृतं मानसं तथा।
यथाचार्य्यस्य तेन त्वां मन्ये प्राप्तमहं गुरुम्॥ १६॥
तवोपदेशदानाय पूर्व्वशुश्रूषणादृतः।
गुरुस्तेऽहमृभुर्नाम्ना निदाघ! समुपागतः॥ १७॥
तदेतदुपदिष्टं ते सङ्क्षेपेण महामते।
परमार्थसारभूतं यदद्वैतमशेषतः॥ १८॥

ब्राह्मण उवाच

एवमुक्त्वा ययौ विद्वान् निदाघं स ऋभुर्गुरुः।
निदाघोऽप्युपदेशेन तेनाद्वैतपरोऽभवत्॥ १९॥
सर्वमूतान्यभेदेन ददृशे स तदात्मनः।
यथा ब्रह्मपरो मुक्तिमवाप परमां द्विज॥ २०॥
तथा त्वमपि धर्मज्ञ! तुल्यात्मरिपुवान्धवः।
भव सर्वगतं जानन्नात्मानमवनीपते॥ २१॥
सितनीलादिभेदेन यथैकः दृश्यते नभः।
भ्रान्तिदृष्टिभिरात्मापि तथैकं सन् पृथक् पृथक्॥ २२॥
एकः समस्तं यदिहास्ति किञ्चित्
तदच्युतो नास्ति परं ततोन्यत्।
सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेत-
दात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम्॥ २३॥

अप्रत्यक्षेऽप्यात्मनि प्रत्यक्षभेदभ्रममाकाशदृष्टान्तेन सम्भावयन्नुपदिष्टमर्थं निगमयति—'सितनीले' ति द्वाभ्याम्॥ २२-२३॥

जातिस्मरणेन आप्तो बोधो येन। भरतजन्मस्मरणेन हि तदा ऋषभदेवेन यत् उपदिष्टं ज्ञानं तदेव योगभ्रंशहेतुभूतप्रारब्धकर्मावसाने सत्यस्मिन् द्विज जन्मन्याविर्भूँतम्। अतस्तत्रैव जन्मन्यपवर्गं प्राप॥ २४॥

पराशर उवाच

इतीरितस्तेन स राजवर्य्यस्तत्याज भेदं परमार्थदृष्टिः।
स चापि जातिस्मरणाप्तबोधस्तत्रैव जन्मन्यपवर्गमाप॥ २४॥
इति भरत-नरेन्द्रसारवत्तं कथयति यश्च श्रृणोति भक्तियुक्तः।
स विमलमतिरेति नात्ममोहं भवति च संसरणेषु मुक्तियोग्यः॥ २५॥

इति श्रीविष्णुपुराणे द्वितीयांशे षोडशोऽध्यायः।

॥इति श्रीविष्णुमहापुराणे द्वितीयांशः समाप्तः॥

तच्चारतवक्तृश्रोत्रोरपि तदेव फलमाह 'इती'ति॥ २५॥

इति श्रीधरकृतायामात्मप्रकाशाख्यायां श्री विष्णुपुराणटीकायां वा द्वितीयांशे षोडशोऽध्यायः॥

तृतीयांशः

प्रथमोऽध्यायः

(मन्वन्तरविवरणम्)

मैत्रेय उवाच

कथिता गुरुणा सम्यग् भूसमुद्रादिसंस्थितिः।
सूर्यादीनाञ्च संस्थानं ज्योतिषामपि विस्तरात्॥ १॥
देवादीनां तथा सृष्टिर्ऋषीणामपि वर्णिता।
चातुर्वर्ण्यस्य चोत्पत्तिस्तिर्य्यग्योनिगतस्य च॥ २॥
ध्रुवप्रह्लादचरितं विस्तराच्च त्वयोदितम्।
मन्वन्तराण्यशेषाणि श्रोतुमिच्छाम्यनुक्रमात्॥ ३॥
मन्वन्तराधिपांश्चैव शक्रदेवपुरोगमान्।
भवता कथितानेतान् श्रोतुमिच्छाम्यहं गुरो॥ ४॥

पराशर उवाच

अतीतानागतानीह यानि मन्वन्तराणि वै।
तान्यहं भवते सम्यक् कथयामि यथाक्रमम्॥ ५॥

परानन्दपदाम्भोज-श्रीधरः श्रीधरो यतिः।
पुराणे वैष्णवे व्याख्यात् तृतीयांशे यथामति॥
अंशद्वयेन सृष्ट्यादिद्विससभुवनोक्तिभिः।
अध्यारोप्य निषिद्धं तद् राजद्विजसदुक्तिभिः॥
तृतीयांशे मनुव्यासधर्माद्याः स्थितिहेतवः।
वर्ण्यन्तेऽत्र निषेधाय कौरव्यपृतना यथा॥ अत्रापि प्रथमेऽध्याये सप्तमन्वन्तराणि तु।
भवद्भूतानि कथितान्यवतारा हरेरपि॥
वृत्तकीर्त्तनपूर्वकं मन्वन्तराणां स्वरूपं पृच्छति— '**कथिता**' इति चतुर्भिः॥ १॥
इह वाराहकल्पे। यथाक्रममित्यनेन क्रमप्राप्तं वर्त्तमानमपि मन्वन्तरं ज्ञेयम्॥ ५॥

स्वायम्भुवो मनुः पूर्वो मनुः स्वारोचिषस्तथा।
उत्तमस्तामसश्चैव रैवतश्चाक्षुषस्तथा॥ ६॥
षडैते मनवोऽतीताः साम्प्रतन्तु रवेः सुतः।
वैवस्वतोऽयं यस्यैतत् सप्तमं वर्ततेऽन्तरम्॥ ७॥
स्वायम्भुवन्तु कथितं कल्पादावन्तरं मया।
दैवाः सप्तर्षयश्चैव यथावत् कथिता मया॥ ८॥
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि मनोः स्वारोचिषस्य तु।
मन्वन्तराधिपान् सम्यग् देवर्षींस्तत्सुतांस्तथा॥ ९॥
पारावताः सतुषिता देवाः स्वारोचिषेऽन्तरे।
विपश्चिच्चैव देवेन्द्रो मैत्रेयासीन्महाबलः॥ १०॥
ऊर्ज्जः स्तम्बस्तथा प्राणो दत्तोलिर्ऋषभस्तथा।
निश्चरश्चोर्वरीवांश्च तत्र सप्तर्षयोऽभवन्॥ ११॥
चैत्र-किम्पुरुषाद्याश्च सुताः स्वारोचिषस्य तु।
द्वितीयमेतत् कथितमन्तरं श्रृणु चोत्तमम्॥ १२॥
तृतीये त्वन्तरे ब्रह्मन्! औत्तमिर्नाम यो मनुः।
सुशान्तिर्नाम देवेन्द्रो मैत्रेयासीत् सुरेश्वर॥ १३॥
सुधामानस्तथा सत्याः शिवाश्चासन् प्रतर्दनाः।
वशवर्तिनश्च पञ्चैते गणा द्वादशकाः स्मृताः॥ १४॥
वसिष्ठतनयास्तत्र सप्त सप्तर्षयोऽभवन्।
अजः परशुदिव्याद्यास्तस्योत्तमिमनोः सुताः॥ १५॥
तामसस्यान्तरे देवाः सुरूपा हरयस्तथा।

कल्पस्य आदौ स्वायम्भुवमन्वन्तरन्तु कथितं, प्रथमांशे देवा यामाख्या ऋषयो मरीच्यादयः। चकारादिन्द्रो यज्ञः। मनुपुत्रौ प्रियव्रतोत्तानपादौ कथितौ॥८॥

देवर्षीन् देवान् ऋषींश्च तत्सुतान् मनुपुत्रान्॥९॥

पारावतास्तुषिताश्च देवगणौ विपश्चित् संज्ञो देवेन्द्रः॥१०॥

उत्तमम् उत्तमसम्बन्धि मन्वन्तरम्। उत्तम एवौत्तमिः॥१२-१३॥

द्वादशकाः द्वादशानां एकैको गणः इत्येवमेते पञ्च गणाः स्मृताः॥१४॥

सप्तविंशतिकाः सप्तविंशतीनां गणाः॥१६॥

सत्याश्च सुधियश्चैव सप्तविंशतिका गणाः॥ १६॥
शिबिरिन्द्रस्तथा चासीच्छतयज्ञोपलक्षणः।
सप्तर्षयश्च ये तेषां तत्र नामानि मे शृणु॥ १७॥
ज्योतिर्धामा पृथुः काव्यश्चैत्रोऽग्निर्वनकस्तथा।
पीवरश्चर्षयो ह्येते सप्त तत्रापि चान्तरे॥ १८॥
नरः ख्यातिः शान्तहयो जानुजङ्घादयस्तथा।
पुत्रास्तु तामसस्यासन् राजानः सुमहाबलाः॥ १९॥
पञ्चमे चापि मैत्रेय! रैवतो नाम नामतः।
मनुर्विभुश्च तत्रेन्द्रो देवांश्चैवान्तरे शृणु॥ २०॥
अमिताभा भूतरजोवैकुण्ठाः ससुमेधसः।
एते देवगणास्तत्र चतुर्दश चतुर्दश॥ २१॥
हिरण्यरोमा देवश्रीरूर्द्ध्वबाहुस्तथापरः।
वेदबाहुः सुधामा च पर्जन्यश्च महामुनिः।
एते सप्तर्षयो विप्र! तत्रासन् रैवतेऽन्तरे॥ २२॥
बलबन्धुः सुसम्भारुः सत्यकाद्याश्च तत्सुताः।
नरेन्द्राः सुमहावीर्य्या बभूवुर्मुनिसत्तम॥ २३॥
स्वारोचिषश्चौत्तमिश्च तामसो रैवतस्तथा।
प्रियव्रतान्वया ह्येते चत्वारो मनवस्तथा॥ २४॥
विष्णुमाराध्य तपसा स राजर्षिः प्रियव्रतः।
मन्वन्तराधिपानेतान् लब्धवानात्मवंशजान्॥ २५॥
षष्ठे मन्वन्तरे चासीच्चाक्षुषाख्यस्तथा मनुः।
मनोजवस्तथैवेन्द्रो देवानपि निबोध मे॥ २६॥

शतयज्ञोपलक्षणः शतक्रतुः। अत्र तामसे मन्वन्तरे ये सप्तर्षयः तेषां नामानि मे शृणु इत्यन्वयः॥ १७॥

ज्योतिर्धमेत्यन्वर्थकं नाम॥ १९॥

'रैवतो नाम नामत' इति—नाम-प्रसिद्धौ, नामतः संज्ञयैव, न तु रेवतपुत्रः॥ २०॥

प्रत्येकं चतुर्दशभूता एते गणाः॥ २२-२७॥

आद्याः प्रसूता भव्याश्च पृथुगाश्च दिवौकसः।
महानुभावा लेखाश्च पञ्चैतेऽप्यष्टका गणाः॥ २७॥
सुमेधा विरजाश्चैव हविष्मानुत्तमो मधुः।
अतिनामा सहिष्णुश्च सप्तासन्निति चर्षयः॥ २८॥
ऊरुः पुरुः शतद्युम्नप्रमुखाः सुमहाबलाः।
चाक्षुषस्य मनोः पुत्राः पृथिवीपतयोऽभवन्॥ २९॥
विवस्वतः सुतो विप्र! श्राद्धदेवो महाद्युतिः।
मनुः संवर्त्तते धीमान् साम्प्रतं सप्तमेऽन्तरे॥ ३०॥
आदित्य-वसु-रुद्राद्या देवाश्चात्र महामुने!
पुरन्दरस्तथैवात्र मैत्रेय! त्रिदशेश्वरः॥ ३१॥
वसिष्ठः काश्यपोऽथात्रिर्जमदग्निः सगौतमः।
विश्वामित्रो भरद्वाजः सप्त सप्तर्षयोऽभवन्॥ ३२॥
इक्ष्वाकुश्चैव नाभागो धृष्टः शर्यातिरेव च।
नरिष्यन्तश्च विख्यातो नाभ उद्दिष्ट एव च॥ ३३॥
करूशश्च पृषध्रश्च वसुमान् लोकविश्रुतः।
मनोर्वैवस्वतस्यैते नव पुत्राश्च धार्मिकाः॥ ३४॥
विष्णुशक्तिरनौपम्या सत्त्वोद्रिक्ता स्थितौ स्थिता।
मन्वन्तरेष्वशेषेषु देवत्वेनाधितिष्ठति॥ ३५॥
अंशेन तस्य जज्ञेऽसौ यज्ञः स्वायम्भुवेऽन्तरे।

वसुमान् लोकविश्रुत इति विशेषणद्वयम्। पृषध्रश्चैव वसुमान् वीर्य्यवान् वसिष्ठशापे ज्ञातेऽपि क्षोभाभावात्। लोकविश्रुतः सर्वसङ्गपरित्यागेन मुक्तिप्राप्तेः। तथा सति नव पुत्रा महाबला इति नवत्वम् उपपन्नं भवति॥ ३४॥

एवं तर्हि मनुपुत्रदेवेन्द्रर्षिभिः पञ्चभिरेव जगतः पालने सिद्धे कृतं विष्णोः पालकत्वेन इत्याशङ्क्य सर्वेष्वपि मन्वन्तरेषु पालने प्रवृत्तस्य विष्णोरधिष्ठातृत्वं दर्शयति—**'विष्णुशक्ति'** रित्यादिना यावदध्यायसमाप्तिः। देवयज्ञादिरूपदेवताभावेन विष्णोः स्वरूपभूता शक्तिः, तस्य विष्णोः अंशेन स्वायम्भुवमन्वन्तरे आकूत्यां मातरि यज्ञसंज्ञः उत्पन्नः जज्ञे बभूवेत्यर्थः यद्वा प्रथमे अन्तरे अवसरे ब्रह्मणो मानसः यः उत्पन्नो रुचिः तस्मात् पितुः जज्ञे इति॥ ३५-३६॥

आकूत्यां मानसो देव उत्पन्नः प्रथमेऽन्तरे॥ ३६॥
ततः पुनः स वै देवः प्राप्ते स्वारोचिषेऽन्तरे।
तुषितायां समुत्पन्नो ह्यजितस्तुषितैः सह॥ ३७॥
औत्तमे त्वन्तरे चैव तुषितस्तु पुनः स वै।
सत्यायामभवत् सत्यः सत्यैः सह सुरोत्तमैः॥ ३८॥
तामसस्यान्तरे चैव सम्प्राप्ते पुनरेव हि।
हर्य्यायां हरिभिः सार्ध हरिरेव बभूव ह॥ ३९॥
रैवतेऽप्यन्तरे देवः सम्भूत्यां मानसोऽभवत्।
सम्भूतो रैवतैः सार्द्धं देवैर्देववरो हरिः॥ ४०॥
चाक्षुषे चान्तरे देवो वैकुण्ठः पुरुषोत्तमः!
विकुण्ठायामसौ जज्ञे वैकुण्ठैर्दैवतैः सह॥ ४१॥
मन्वन्तरे तु सम्प्राप्ते तथा वैवस्वते द्विज!
वामनः कश्यपाद् विष्णुरदित्यां सम्बभूव ह॥ ४२॥
त्रिभिः क्रमैरिमाँल्लोकाञ्जित्वा येन महात्मना।
पुरन्दराय त्रैलोक्यं दत्तं निहतकण्टकम्॥ ४३॥
इत्येतास्तनवस्तस्य सप्तमन्वन्तरेषु वै।
सप्ताथवाभवन् विप्र! याभिः संवर्द्धिताः प्रजाः॥ ४४॥
यस्माद् विश्वमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः।
तस्माद् स प्रोच्यते विष्णुर्विशेर्धातोः प्रवेशनात्॥ ४५॥
सर्वे च देवा मनवः समस्ताः सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च।
इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतो विष्णोरशेषास्तु विभूतयस्ताः॥ ४६॥

इति श्रीविष्णुपुराणे तृतीयांशे प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

उक्तमेव अर्थं विष्णुपदनिरुक्त्या दर्शयन् मन्वादिषु च तदावेशमाह—**'यस्मा'** दिति द्वाभ्याम्। महात्मनः शक्त्या स्वरूपभूतया प्रवेशनात् प्रवेशनार्थात्॥ ४६-४७॥

इति श्रीधरकृतायामात्मप्रकाशाख्यायां स्वप्रकाशाख्यायां वा श्रीविष्णुपुराणटीकायां तृतीयांशे प्रथमोऽध्यायः॥

द्वितीयोऽध्यायः

(सावर्ण्यादिमन्वन्तरकथनम्, कल्पपरिमाणञ्च)

मैत्रेय उवाच

प्रोक्तान्येतानि भवता सप्तमन्वन्तराणि वै।
भविष्याण्यपि विप्रर्षे! ममाख्यातुं त्वमर्हसि॥ १॥

पराशर उवाच

सूर्यस्त पत्नी संज्ञाभूत्तनया विश्वकर्मणः।
मनुर्यमो यमी चैव तद्पत्यानि वै मुने॥ २॥
असहन्ती तु सा भर्तुस्तेजश्छायां युयोज वै।
भर्त्तुः शुश्रूषणेऽरण्यं स्वयं च तपसे ययौ॥ ३॥
संज्ञेयमित्यथार्कश्च छायायामात्मजत्रयम्।
शनैश्चरं मनुञ्चान्यं तपतीञ्चाप्यजीजनत्॥ ४॥
छायासंज्ञा ददौ शापं यमाय कुपिता यदा।
तदान्येयमसौ बुद्धिरित्यासीद् यम-सूर्ययोः॥ ५॥
ततो विवस्वानाख्याते तयैवारण्यसंस्थिताम्।
समाधिदृष्ट्या ददृशे तामश्वां तपसि स्थिताम्॥ ६॥
वाजिरूपधरः सोऽथ तस्यां देवावथाश्विनौ।

द्वितीये सप्त मन्वादीन् वक्ष्यन्नादौ रवेः सुतः। यथा सावर्णिरभवदितिहासं तमब्रवीत्॥ १॥

मनुः श्राद्धदेवः॥ २॥

छायां बिम्बतुल्यां स्वसदृशीमन्यां स्त्रियं सूर्यतेजःसहिष्णुं निर्माय भर्तुः शुश्रूषणे युयोज, स्वयञ्च तपसे ययावित्यर्थः॥ ३॥

अत्र मनुं सावर्णिम्। तपतीं संवरणस्य राज्ञो भार्याम्॥ ४॥

छायैव संज्ञारूपेण स्थिता छायासंज्ञा। सा कदाचित् स्वापत्यत्रयस्नेहवती आत्मनि पादप्रहारोद्यताय यमाय पादस्ते पतत्विति शापं ददौ। तदातिनिर्दयत्वमालक्ष्य नेयमसौ संज्ञा, किन्तु अन्येयं संहोति यमसूर्य्ययोर्बद्धिरभूदित्यर्थः॥ ५॥

जनयामास रेवन्तं रेतसोऽन्ते च भास्करः॥७॥
आनिन्ये च पुनः संज्ञां स्वस्थानं भगवान् रविः।
तेजसः शमनञ्चास्य विश्वकर्मा चकार ह॥८॥
भ्रमिमारोप्य सूर्यन्तु तस्य तेजोविशातनम्।
कृतवानष्टमं भागं न व्यशातयताव्ययम्॥९॥
यत् सूर्याद् वैष्णवं तेजः शातितं विश्वकर्मणा।
जाज्वल्यमानमपतत्तद् भूमौ मुनिसत्तम॥१०॥
त्वष्टैव तेजसा तेन विष्णोश्चक्रमकल्पयत्।
त्रिशूलञ्चैव रुद्रस्य शिबिकां धनदस्य च॥११॥
शक्तिं गुहस्य देवानामन्येषाञ्च यदायुधम्।
तत्सर्वं तेजसा तेन विश्वकर्मा व्यवर्द्धयत्॥१२॥
छायासंज्ञासुतो योऽसौ द्वितीयः कथितो मनुः।
पूर्वजस्य सवर्णोऽसौ सावर्णिस्तेन चोच्यते॥१३॥
तस्य मन्वन्तरं ह्येतत् सावर्णिकमथाष्टमम्।
तच्छृणुष्व महाभाग! भविष्यं कथयामि ते॥१४॥
सावर्णिस्तु मनुर्योऽसौ मैत्रेय! भविता ततः।
सुतपाश्चामिताभाश्च मुख्याश्चापि तदा सुराः॥१५॥
तेषां गणस्तु देवानामेकैको विंशकः स्मृतः।
सप्तर्षीनपि वक्ष्यामि भविष्यान् मुनिसत्तम॥१६॥

ततश्चातिनिर्बन्धं पृष्टया तया नाहं संज्ञा किन्तु तस्याश्छायेति आख्याते विवस्वान् सूर्यः समाधिनोत्तरकुरुष्वरण्ये अश्वां वडवारूपां तपसि स्थितां संज्ञां ददृशे ददर्श। ततः सोऽपि विवस्वानश्वरूपधरस्तस्यामश्विनौ देवौ रेवन्तञ्चेति त्रयमजीजनत्। रेतसोऽन्त इति रेवन्तनामनिरुक्तिः॥७॥

भ्रमिं चक्राकारं तक्षयन्त्रम्। तेजसो विशातनं कृतवान्। अष्टमं भागं न व्यशातयत् यतोऽव्ययम्॥९॥

धनदस्य शिबिकायन्त्रम्॥११॥

पूर्वजस्य श्राद्धदेवस्य सवर्णः मनुरिति समानवर्णत्वात् सूर्यपुत्रत्वात् तुल्यरूपत्वाद्वा॥१३॥

विंशकः विंशतिसंख्यकः॥१६॥

दीप्तिमान् गालवो रामः कृपो द्रोणिस्तथा परः।
मत्पुत्रस्तु तथा व्यास ऋष्यशृङ्गश्च सप्तमः॥ १७॥
विष्णुप्रसादानघः पातालान्तरगोचरः।
विरोचनसुतस्तेषां बलिरिन्द्रो भविष्यति॥ १८॥
विरजाश्चार्वरीवांश्च निर्मोहाद्यास्तथापरे।
सावर्णेस्तु मनोः पुत्रा भविष्यन्ति नरेश्वराः॥ १९॥
नवमो दक्षसावर्णो मैत्रेय! भविता मनुः।
पारा मरीचिगर्भाश्च सुधर्माणस्तथा त्रिधा॥ २०॥
भविष्यन्ति तदा देवा एकैको द्वादशो गणः।
तेषामिन्द्रो महावीर्यो भविष्यत्यद्भुतो द्विज॥ २१॥
सबलो द्युतिमान् भव्यो वसुर्मेधा धृतिस्तथा।
ज्योतिष्मान् सप्तमः सत्यस्तत्रैते च महर्षयः॥ २२॥
धृतकेतुर्दीप्तिकेतुः पञ्चहस्तो निरामयः।
पृथुश्रवाद्याश्च तथा दक्षसावर्णिकात्मजाः॥ २३॥
दशमो ब्रह्मसावर्णिर्भविष्यति मुने! मनुः।
सुधामानो विशुद्धाश्च शतसंख्यास्तथा सुराः॥ २४॥
तेषामिन्द्रश्च भविता शान्तिर्नाम महाबलः।
सप्तर्षयो भविष्यन्ति ये तदा तान् शृणुष्व च॥ २५॥
हविष्मान् सुकृतः सत्यो ह्यपांमूर्तिस्तथापरः।
नाभागोऽप्रतिमौजाश्च सत्यकेतुस्तथैव च॥ २६॥
सुक्षेत्रश्चोत्तमौजाश्च हरिसेनादयो दश।
ब्रह्मसावर्णपुत्रास्तु रक्षिष्यन्ति वसुन्धराम्॥ २७॥
एकादशश्च भविता धर्मसावर्णिको मनुः।
विहङ्गमाः कामगमा निर्वाणरतयस्तथा॥ २८॥
गणास्त्वेते तदा मुख्या देवानाञ्च भविष्यताम्।

अद्भुतसंज्ञः इन्द्रः॥ २१॥

सुक्षेत्रादयः ब्रह्मासावर्णिपुत्राः॥ २७॥

एकैकस्त्रिंशकस्तेषां गणश्चेन्द्रश्च वै वृषः॥२९॥

निश्चरश्चाग्नितेजाश्च वपुष्मान् विष्णुरारुणिः।

हविष्माननघश्चैते भाव्याः सप्तर्षयस्तथा॥३०॥

सर्वगः सर्वधर्मा च देवानीकादयस्तथा।

भविष्यन्ति मनोस्तस्य तनयाः पृथिवीश्वराः॥३१॥

रुद्रपुत्रस्तु सावर्णो भविता द्वादशो मनुः।

ऋतधामा च तत्रेन्द्रो भविता शृणु मे सुरान्॥३२॥

हरिता रोहिता देवास्तथा सुमनसो द्विज!

सुकर्माणश्च ताराश्च दशकः पञ्च वै गणाः॥३३॥

तपस्वी सुतपाश्चैव तपोमूर्तिस्तपोरतिः।

तपोधृतिर्द्युतिश्चान्यः सप्तमस्तु तपोधनः॥३४॥

देववानुपदेवश्च देवश्रेष्ठादयस्तथा।

मनोस्तस्य महावीर्या भविष्यन्ति सुता नृपाः॥३५॥

त्रयोदशो रौच्यनामा भविष्यति मुने! मनुः।

सुत्रामाणः सुधर्माणः सुकर्माणस्तथापराः॥३६

त्रयस्त्रिंशद्विभेदास्ते देवानां ये तु वै गणाः।

दिवस्पतिर्महावीर्यस्तेषामिन्द्रो भविष्यति॥३७॥

निर्मोहस्तत्त्वदर्शी च निष्प्रकम्प्यो निरुत्सुकः।

धृतिमानव्ययश्चान्यः सप्तमः सुतपा मुनिः॥३८॥

सप्तर्षयस्त्विमे तस्य पुत्रानपि निबोध मे।

चित्रसेनविचित्राद्या भविष्यन्ति महीक्षितः॥३९॥

भौत्यश्चतुर्दशश्चात्र मैत्रेय! भविता मनुः।

शुचिरिन्द्रः सुरगणास्तत्र पञ्च शृणुष्व तान्॥४०॥

चाक्षुषाश्च पवित्राश्च कनिष्ठा भ्राजिकास्तथा।

वचोवृद्धाश्च वै देवाः सप्तर्षीनपि मे शृणु॥४१॥

अग्निबाहुः शुचिः शुक्रो मागधोऽग्निध्र एव च।

युक्तस्तथाऽजितश्चान्यो मनुपुत्रानतः शृणु॥४२॥

ऊरुर्गभीरव्रघ्नाद्या मनोस्तस्य सुता नृपाः।
कथिता मुनिशार्दूल! पालयिष्यन्ति ये महीम्॥४३॥
चतुर्युगान्ते वेदानां जायते किल विप्लवः।
प्रवर्तयन्ति तानेत्य भुवि सप्तर्षयो: दिवः॥४४॥
कृते कृते स्मृतेर्विप्र! प्रणेता जायते मनुः।
देवा यज्ञभुजस्ते तु यावन्मन्वन्तरन्तु तत्॥४५॥
भवन्ति ये मनो: पुत्रा यावन्मन्वन्तरन्तु तैः।
तदन्वयोद्भवैश्चैव तावद्भूः परिपाल्यते॥४६॥
मनुः सप्तर्षयो देवा भूपालाश्च मनोः सुताः।
मन्वन्तरे भवन्त्येते शक्रश्चैवाधिकारिणः॥४७॥
चतुर्दशभिरेतैस्तु गतैर्मन्वन्तरैर्द्विज!
सहस्त्रयुगपर्यन्तः कल्पो निःशेष उच्यते॥४८॥
तावत्प्रमाणा च निशा ततो भवति सत्तम!
ब्रह्मरूपधरः शेते शेषाहावम्बुसम्प्लवे॥४९॥
त्रैलोक्यमखिलं ग्रस्त्वा भगवानादिकृद् विभुः।
स्वमायासंस्थितो विप्र सर्वभूतो जनार्दनः॥५०॥
ततः प्रबुद्धो भगवान् यथा पूर्वं तथा पुनः।

उक्तानां मन्वादीनां कृत्यभेदानाह—'**चतुर्युगान्त**' इति। कलौ वेदानां विप्लवे उच्छेदे जाते दिविष्ठा महर्षयो भुवमेत्य कृतयुगादौ तानेव सम्प्रवर्त्तयन्ति॥४४॥

वेदप्रवर्त्तनमुक्त्वा स्मृतिप्रवर्त्तनमाह—'**कृत**' इति। स्मृतेः धर्मशास्त्रस्य मनुसंज्ञस्य, तत्तदृषिप्रवर्त्तितानां स्मृतीनामुपलक्षणमेतत्। तत्तन्मन्वन्तरे ये देवाः कीर्त्तितास्ते तन्नामानः तत्तन्मन्वन्तरे यज्ञभुजो भवन्ति। यावन्मन्वन्तरं मन्वन्तरसमाप्तिपर्यन्तम्॥४५॥

अन्येऽपि मन्वादयस्तन्मन्वन्तराधिकारिण एव इत्याह '**मनुरि**' ति॥४७॥

'तावत्प्रमाणा च निशेति—तदा सूर्यादिपरिस्पन्दरूप कालोपाध्यभावेऽपि भगवतो योगनिद्रारूपमायोपाधिपरिच्छिन्नस्य कालस्य तावत्त्वं ज्ञेयम्। ब्रह्मेति—दिवा ब्रह्मरूपधरो यः स एव भगवान् रात्रौ श्रीनाराणरूपेण शेषाहौ अनन्तनाम्नि सर्पे शेते इत्यर्थः॥४९॥

सृष्टिं करोत्यव्ययात्मा कल्पे कल्पे रजोगुणः॥५१॥
मनवो भूभुजः सेन्द्रा देवाः सप्तर्षयस्तथा।
सात्त्विकोऽंशः स्थितिकरो जगतो द्विजसत्तम॥५२॥
चतुर्युगेऽप्यसौ विष्णुः स्थितिव्यापारलक्षणः।
युगव्यवस्थां कुरुते यथा मैत्रेय! तच्छृणु॥५३॥
कृते युगे परं ज्ञानं कपिलादिस्वरूपधृक्।
ददाति सर्वभूतानां सर्वभूतहिते रतः॥५४॥
चक्रवर्तिस्वरूपेण त्रेतायामपि स प्रभुः।
दुष्टानां निग्रहं कुर्वन् परिपाति जगत्त्रयम्॥५५॥
वेदमेकं चतुर्भेदं कृत्वा शाखाशतैर्विभुः।
करोति बहुलं भूयो वेदव्यासस्वरूपधृक्॥५६॥
वेदांस्तु द्वापरे व्यस्य कलेरन्ते पुनर्हरिः।
कल्किस्वरूपी दुर्वृत्तान् मार्गे स्थापयति प्रभुः॥५७॥
एवमेष जगत् सर्वं परिपाति करोति च।
हन्ति चान्तेष्वनन्तात्मा नास्त्यस्माद् व्यतिरेकि यत्॥५८॥
भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वभूतान्महात्मनः।
तदत्रान्यत्र वा विप्रः! सद्भावः कथितस्तव॥५९॥
मन्वन्तराण्यशेषाणि कथितानि मया तव।
मन्वन्तराधिपाश्चैव किमन्यत् कथयामि ते॥६०॥

इति श्रीविष्णुपुराणे तृतीयांशे द्वितीयोऽध्यायः॥

एवमेव सर्वकल्पमन्वन्तरादिस्थितिं सप्रपञ्चमाह—'ततः प्रबुद्धे' इत्यादिना यावदध्यायसमाप्तिः॥५१॥

स्थितये यो व्यापारः स एव लक्षणं उपाधिर्यस्य सः॥५३॥

उपसंहरति—एवमि' ति द्वाभ्याम्। अत्र वा अन्यत्र वा कल्पादौ तस्मात् व्यतिरेकि यत् भूतादि, तन्नास्ति, किन्तु भेदकल्पनाशून्यो भगवानेवास्तीत्येष एव सद्भावः परमार्थः कथित इति॥५८-५९॥

इति श्रीधरकृतायामात्मप्रकाशाख्यायां स्वप्रकाशाख्यायां वा श्रीविष्णुपुराणटीकायां तृतीयांशे द्वितीयोऽध्यायः॥

तृतीयोऽध्यायः

(वेदव्यासस्याष्टाविंशतिनामकथनम्)

मैत्रेय उवाच

ज्ञातमेतन्मया त्वत्तो यथापूर्वमिदं जगत्।
विष्णुर्विष्णौ विष्णुतश्च न परं विद्यते ततः॥ १॥
एतत्तु श्रोतुमिच्छामि व्यस्ता वेदा महात्मना।
वेदव्यासस्य रूपेण यथा तेन युगे युगे॥ २॥
यस्मिन् यस्मिन् युगे व्यासो यो य आसीन्महामुने।
तं तमाचक्ष्व भगवन्! शाखाभेदांश्च मे वद॥ ३॥

पराशर उवाच

वेदद्रुमस्य मैत्रेय! शाखाभेदैः सहस्रशः।
न शक्यो विस्तरो वक्तुं संक्षेपेण शृणुष्व तत्॥ ४॥
द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपी महामुने!
वेदमेकं स बहुधा कुरुते जगतो हितः॥ ५॥
वीर्यं तेजो बलञ्चाल्पं मनुष्याणामवेक्ष्य वै।
हिताय सर्वभूतानां वेदभेदान् करोति सः॥ ६॥

स्थितिहेतुप्रसङ्गेन मुनेः प्रश्नानुसारतः। वेदव्यासस्तृतीयेऽत्र सप्रपञ्चोऽनुवर्ण्यते। वेदव्यस्तिं प्रष्टुं सर्वग्रन्थतात्पर्यमनुवदति— '**ज्ञात**' मिति। यथा सर्वं जगत् विष्णुरेव, ततः परं न विद्यते, यथा च विष्णो तिष्ठति, विष्णौः सकाशात् यथा भवति, तथा त्वत्तो मया ज्ञातम्। अनेन सर्वोऽपि कारकाद्यर्थो विष्णावुपलक्ष्यते॥ १॥

यथा वेदा व्यस्ता इति प्रकारप्रश्नः॥ २॥

यस्मिन् यस्मिन्नित्यधिकरणप्रश्नः। यो य इति कर्तृ प्रश्नः। शाखाभेदानिति शाखासंख्यानाम्नोः प्रश्नः॥ ३॥

तत्र तावत् शाखाभेदानां संख्यातो नामतश्च विस्तारो वक्तुमशक्य इत्याह—'**वेदद्रुमस्ये**' ति॥ ४॥

अधिकरणकर्तृस्वरूपप्रश्नयोरुत्तरमाह—'**द्वापर**' इति द्वाभ्याम्॥ ५॥

वीर्यमुत्साहः, तेजः प्रागल्भ्यं, बलञ्चं ग्रहणसामर्थ्यमल्पमवेक्ष्य॥ ६॥

ययासौ कुरुते तन्वा वेदमेकं पृथक् प्रभुः।
वेदव्यासाभिधाना तु सा मूर्तिर्मधुविद्विषः॥७॥
यस्मिन् मन्वन्तरे ये ये व्यासा तांस्तान्निबोध मे।
यथा च भेदः शाखानां व्यासेन क्रियते मुने॥८॥
अष्टाविंशतिकृत्वो वै वेदा व्यस्ता महर्षिभिः।
वैवस्वतेऽन्तरे ह्यस्मिन् द्वापरेषु पुनः पुनः॥९॥
वेदव्यासा व्यतीता ये अष्टाविंशति सत्तम!
चतुर्द्धा यैः कृतो वेदो द्वापरेषु पुनः पुनः॥१०॥
द्वापरे प्रथमे व्यस्ताः स्वयं वेदाः स्वयम्भुवा।
द्वितीये द्वापरे चैव वेदव्यासः प्रजापतिः॥११॥
तृतीये चोशना व्यासश्चतुर्थे च बृहस्पतिः।
सविता पञ्चमे व्यासो मृत्युः षष्ठे स्मृतः प्रभुः॥१२॥
सप्तमे च तथैवेन्द्रो वसिष्ठश्चाष्टमे स्मृतः।
सारस्वतश्च नवमे त्रिधामा दशमे स्मृतः॥१३॥
एकादशे तु त्रिवृषा भरद्वाजस्ततः परम्।
एकादशे चान्तरीक्षो वप्री चापि चतुर्दशे॥१४॥
त्र्य्यारुणः पञ्चदशे षोडशे तु धनञ्जयः।
ऋतुञ्जयः सप्तदशे ऋणज्योऽष्टादशे स्मृतः॥१५॥
ततो व्यासो भरद्वाजो भरद्वाजात् तु गौतमः।
गौतमादुत्तमो व्यासो हर्यात्मा योऽभिधीयते॥१६॥

ननु अपर एव वेदव्यासाः, कथं भगवान् वेदभेदान् करोति इत्याशंक्य—सर्वे भगवत्तनव इत्याह—**'यये'** ति॥७॥

अत्र तावत् अतीतानागतमन्वन्तराणां व्यासान् अतिविस्तरत्वेन उपेक्ष्य वैवस्वते मन्वन्तरे व्यतीतान् व्यासान् भाविनश्चैकं तथा शाखाभेदांश्च वक्तुमाह—**'यस्मि'** न्निति॥८॥

अष्टाविंशतिर्व्यासा व्यतीता निवृत्ताधिकाराः जाता इत्यर्थः। विसर्गलोपश्छान्दसः॥१०॥

प्रजापतिर्मनुः, **''द्वापरे तु पुरा वृत्ते मनोः स्वायम्भुवेऽन्तरे। ब्रह्मा मनुमुवाचेदं वेदान् व्यस्य प्रजापते॥''** इति वायूक्तेः। इत एव वचनाद् द्वापरादिष्वित्यत्र द्वापर आदिर्येषां तेषु द्वापराणां सन्ध्यांशेष्वित्यर्थः कल्प्यते। शान्तनुसमकाल सत्यवत्यां कृष्णद्वैपायनोत्पत्तिप्रसिद्धेः॥११-२०॥

अथ हर्यात्मनो वेणः स्मृतो वाजश्रवान्वयः।
सोमशुष्मायनस्तस्मात् तृणबिन्दुरिति स्मृतः॥ १७॥
ऋक्षोऽभूद्भार्गवस्तस्माद् वाल्मीकिर्योऽभिधीयते।
तस्मादस्मात्पिता शक्तिर्व्यासस्तस्मादहं मुने॥ १८॥
जातूकर्णोऽभवन्मत्तः कृष्णद्वैपायनस्ततः।
अष्टाविंशतिरित्येते वेदव्यासाः पुरातनाः॥ १९॥
एको वेदश्चतुर्धा तु यैः कृतो द्वापरादिषु।
भविष्ये द्वापरे चापि द्रौणिर्व्यासो भविष्यति।
व्यतीते मम पुत्रेऽस्मिन् कृष्णद्वैपायने मुनौ॥ २०॥
ध्रुवमेकाक्षरं ब्रह्म ओमित्येवं व्यस्थितम्।
बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च तद्ब्रह्मेत्यभिधीयते॥ २१॥
प्रणवावस्थितं नित्यं भूर्भुवःस्वरितीर्य्यते।
ऋग्यजुःसामाथर्वाणं यत् तस्मै ब्रह्मणे नमः॥ २२॥
जगतः प्रलयोत्पत्त्योर्यत्तत् कारणसंज्ञितम्।
महतः परमं गुह्यं तस्मै सुब्रह्मणे नमः॥ २३॥

इदानीं वेदविभागं वक्ष्यमाणः प्रथमं तावत् प्रणवावच्छिन्नब्रह्मणो वेदाविर्भावं दर्शयितुमाह—'**ध्रुव**' मिति। ध्रुवं वेदादीनां प्रकृतिभूतं ओमित्येवंरूपं व्यवस्थितमेकमक्षरं ब्रह्मेत्यभिधीयते। तत्र हेतुमाह—**बृहत्त्वात्** अपरिच्छिन्न रूपब्रह्मात्मकत्वात्, बृंहणत्वात् वेदादीनां कारणत्वात् आविर्भावकर्तृत्वादिति यावत्। **''यस्मादुच्चार्यमाण एव बृंहति बृंहयति तस्मादुच्यते परब्रह्म''** इति श्रुतेः, ओमित्येकाक्षरं ब्रह्मेति गीतोक्तेश्च॥ २१॥

तस्यैव व्यापकत्वं प्रतिपादयन् ब्रह्मप्रकाशकत्वं ब्रह्मत्वेन प्रकाशत्वं ब्रह्मत्वेनोपास्यं प्रणमति प्रणवेति। भूर्भुवःस्वरिति व्याहृतित्रयं नित्यं प्रणवावस्थितमीर्य्यते। तेन व्याहृतित्रयात्मकं यदित्यर्थः। ऋग्यजुःसामाथर्वाणमिति प्रथमार्थे द्वितीया। एतद्वेदचतुष्टयात्मकञ्च यत् तस्मै ब्रह्मणे प्रणवाख्याय नम इति॥ २२॥

एवं वाचकप्रणवप्रणामानन्तरं तद्वाच्यं ब्रह्म प्रणमति 'जगत' इति सार्द्धैस्त्रिभिः। जगतः प्रलयोत्पत्त्योः यत् कारणसंज्ञितं महतश्च परमं गुह्यं मुख्यं कारणं तस्मै सुब्रह्मणे पूजितगुणाधिष्ठात्रे ब्रह्मणे नम इत्यन्वयः॥ २३॥

अगाधापारमक्षय्यं जगत् सम्मोहनालयम्।
सम्प्रकाशप्रवृत्तिभ्यां पुरुषार्थप्रयोजनम्॥ २४॥
सांख्यज्ञानवतां निष्ठा गतिः शमदमात्मनाम्।
यत्तदव्यक्तममृतं प्रवृत्तं ब्रह्म शाश्वतम्॥ २५॥
प्रधानमात्मयोनिश्च गुहासत्त्वञ्च शस्यते।
अविभागं तथा शुल्कमक्षरं बहुधात्मकम्॥ २६॥
परमब्रह्मणे तस्मै नित्यमेव नमो नमः।
यद्रूपं वासुदेवस्य परमात्मस्वरूपिणः॥ २७॥
एतद् ब्रह्म त्रिधाभेदमभेदमपि स प्रभुः।
सर्वभूतेष्वभेदोऽसौ भिद्यते भिन्नबुद्धिभिः॥ २८॥

तदेव विशिनष्टि,—अगाधं पूर्वपरकालावधिरहितम्, अपारं सर्वगतम्, अक्षय्यं क्षयितुमशक्यं, जगतः सम्मोहनं तमोगुणः तस्यायमालयः। किञ्च सम्प्रकाशप्रवृत्तिभ्यां सत्त्वरजोगुणाभ्यां पुरुषस्य योऽर्थो भोगापवर्गलक्षणः स प्रयोजनं कार्यं यस्य तत्॥ २४॥

तदेवाह,—सांख्यज्ञानं पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं तद्वतां निष्ठा प्राप्यं स्थानम्। शमः अन्तःकरणव्यापारोपरमः, दमः बाह्येन्द्रियव्यापारोपरमः, स एव आत्मा स्वभावो येषां तेषां गतिः आत्मानात्मविवेककारणं यत्तदव्यक्तमतीन्द्रियम् अमृतं अविनाशि, प्रवृत्तं ब्रह्मपरिणामवद् ब्रह्म शाश्वतं वस्तुतः सदैकरूपतया वर्त्तमानम्॥ २५॥

प्रधानं महदादिकार्यकर्तृत्वेन प्रतीयमानम्। यद्वा प्रधीयते अधीयते विश्वमिहेति प्रधानम्, आत्मयोनिः अनन्यकार्यं स्वतः सिद्धमिति यावत्। गुहायां हृदयकुहरे प्रकाशमानं सत्त्वं यस्य तत् शस्यते वेदादिषु। अविभागः निर्भेदम् पुंस्त्वमार्षम्। शुक्लं दीप्तिमत् स्वयम्प्रभम् इति यावत्। अक्षरं अपक्षयशून्यम्। बहुधात्मकम्॥ २६॥

यदेवम्भूतं तथापि परमब्रह्मणे कूटस्थपरिपूर्णाय तस्मै प्रणवगम्याय नित्यं नमो नम इति भक्त्यतिशयो द्योत्यते॥ २७॥

इदानीं वाच्यवाचकप्रणवब्रह्मण एव अभेदविवक्षया व्याहृत्यादिरूपतामाह— **'यद्रूप'** मिति सार्द्धैस्त्रिभिः। वासुदेवस्य यत् प्रणवाख्यं रूपमेतदभेदमपि त्रिधा व्याहृतिरूपेण भूरादिलोकत्रयरूपेण च भेदो यस्य तत्। तत्र हेतुमाह स प्रभुः प्रणवात्मा वासुदेव एव विभिन्नाभिर्बुद्धिभिः भिद्यते भिन्नतया प्रतीयते। दृश्यते भिन्नबुद्धिभिरिति पाठे विषमदृष्टिभिः सर्वभूतेष्वभेदोऽसौ दृश्यते अतः भेदमपि तत्स्वरूपम्। त्रिधा भिद्यते इति त्रिधा भेदं ज्ञानात्मभिन्नं त्रिधा भिन्नन्तु भूराद्यात्मनेत्यर्थः॥ २८॥

स ऋङ्मय: साममय: स चात्मा स यजुर्मय:।
ऋग्यजु:सामसारात्मा स एवात्मा शरीरिणाम्॥ २९॥
स भिद्यते वेदमय: स वेदं करोति भेदैर्बहुभि: सशाखम्।
शाखाप्रणेता स समस्तशाखाज्ञानस्वरूपो भगवाननन्त:॥ ३०॥

इति श्रीविष्णुपुराणे तृतीयांशे तृतीयोऽध्याय:॥ ६॥

किञ्च ऋगादिमय: ऋग्वेदादिरूप: ऋगादिसार: प्रणवस्तदात्मा च शरीरिणां वेदविभागकर्तृणामात्मा च स एव॥ २९॥

प्रणवाख्यवासुदेवस्य सर्वात्मत्वं निवेदयति—**'स भिद्यते'** इति। स एव भिद्यते ऋगादिरूपेण बहुभिर्भेदै: सशाखम् अनेकप्रकारकशाखाकं वेदमात्मानमेव तत्तत्प्रणेतृरूप: सन् स एव करोति स एव समस्तशाखारूपश्च। तत्र हेतुभूतविशेषणत्रयमाह—**'ज्ञानस्वरूपो भगवाननन्त'** इति। तेन अनन्तशाखारूपत्वं तत्प्रणेतृत्वञ्चोपपद्यते इति॥ ३०॥

इति श्रीधरकृतायामात्मप्रकाशाख्यायां स्वप्रकाशाख्यायां वा श्रीविष्णुपुराणटीकायां तृतीयांऽशे तृतीयोऽध्याय:॥

चतुर्थोऽध्यायः

(वेदव्यासमाहात्म्य वेदविभागवर्णनम्)

पराशर उवाच

आद्यो वेदश्चतुष्पादः शतसाहस्रसम्मितः।
ततो दशगुणः कृत्स्नो यज्ञोऽयं सर्वकामधुक्॥ १॥
ततोऽत्र मत्सुतो व्यासो ह्यष्टाविंशतिमेऽन्तरे।
वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्धा व्यभजत् प्रभुः॥ २॥
यथा तु तेन वै व्यस्ता वेदव्यासेन धीमता।
वेदास्तथा समस्तैस्तैर्व्यस्ता व्यासैस्तथा मया॥ ३॥
तदनेनैव वेदानां शाखाभेदान् द्विजोत्तम?
चतुर्युगेष्वारचितान् समस्तेष्ववधारय॥ ४॥
कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम्।
कोऽन्यो हि भुवि मैत्रेय! महाभारतकृद् भवेत्॥ ५॥

अष्टाविंशे द्वापरेऽत्र नान्यत्रापि प्रसङ्गतः कृष्णद्वैपायनेनैव वेदा व्यस्ता इतीर्य्यते। आद्य ईश्वराद् भूतश्चतुष्पाद ऋगादिचतुर्भेदसमूहरूपः शतसाहस्रसम्भित इत्यर्थः। ततः प्रवृत्तोऽयं कृत्स्नो ज्ञो दशगुणः दशविधः, अग्निहोत्रदर्शपौर्णमासचातुर्मास्यपशुसोमा इति पञ्चविधः, स एव प्रकृतिविकृतिभेदेन दशविध इति। यद्वा गृह्योक्तैः पञ्चयज्ञैः सह दशविधत्वम्॥ १॥

अत्र मन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे द्वापरे चतुष्पादमेकं सन्तं वेदं चतुर्द्धा ऋग्यजुःसामाथर्वरूपेण पृथग् व्यभजत। प्रभुः ईश्वरः अवताररूपः॥ २॥

तैः पूर्वैः समस्तैः मया च षड्विंशे वेदा व्यस्ताः॥ ३॥

तत् तस्मात् अनेन कृष्णद्वैपायनकृतेन वेदविभागेन दृष्टान्तेन चतुर्युगेषु सर्वेष्वपि वेदविभागान् पूर्वैः कृतान् अवधारय जानीहि॥ ४॥

तदेवं कृष्णद्वैपायनव्यासस्य मुख्यत्वमुक्त्वा तत्र हेतुमाह—'**कृष्णे**' ति। अतः अस्मिन् मन्वन्तर अष्टाविंशे एव द्वापरे भारताविर्भाव इति गम्यते॥ ५॥

तेन व्यस्ता यथा वेदा मत्पुत्रेण महात्मना।
द्वापरे ह्यत्र मैत्रेय! तस्मिन् शृणु यथार्थतः॥६॥
ब्रह्मणा चोदितो व्यासो वेदान् व्यस्तुं प्रचक्रमे।
अथ शिष्यान् स जग्राह चतुरो वेदपारगान्॥७॥
ऋग्वेदश्रावकं पैलं जग्राह स महामुनिः।
वैशम्पायननामानं यजुर्वेदस्य चाग्रहीत्॥८॥
जैमिनिं सामवेदस्य तथैवाथर्ववेदवित्।
सुमन्तुस्तस्य शिष्योऽभूद् वेदव्यासस्य धीमतः॥९॥
रोमहर्षणनामानं महाबुद्धिं महामुनिः।
सूतं जग्राह शिष्यं स इतिहास-पुराणयोः॥१०॥
एक आसीद् यजुर्वेदस्तं चतुर्धा व्यकल्पयत्।
चातुर्होत्रमभूद् यस्मिंस्तेन यज्ञमथाकरोत्॥११॥
आध्वर्यवं यजुर्भिस्तु ऋग्भिर्होत्रं तथा मुनिः।
औद्गात्रं सामभिश्चक्रे ब्रह्मत्वं चाप्यथर्वभिः॥१२॥
ततः स ऋचमुद्धृत्य ऋग्वेदं कृतवान् मुनिः।
यजूंषि च यजुर्वेदं सामवेदञ्च सामभिः॥१३॥

वेदपारगान् वेदस्य पारं गन्तुं समर्थान्॥७॥ ऋग्वेदश्रावकमिति—समासस्थमपि श्रावकपदमग्रेऽनुकृष्य योज्यं पारगमिति क्वचित् पाठः॥८॥

इतिहासपुराणयोरिति ''आर्ष्यादि बहुधाख्यानं देवर्षिचरिताश्रयम्। इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्याद्भुतधर्मयुक्। सर्गादिपञ्चलक्षणं सर्गाद्यवतारभेदविवक्षया दशलक्षणञ्च॥१०॥

एक आसीदिति यजुर्वेदिकाध्वर्य्यवक्रियाबाहुल्यात् प्रधानकर्मणश्च याजनस्य तद्विहितत्वात् यजुःप्राधान्यादेवमुक्तम् ''**यच्छिष्टञ्च यजुर्वेदे तेन यज्ञमयुञ्जत। याजनाद्धि यजुर्वेद इति शास्त्रस्य निश्चयः॥**'' इति वायुक्तेः। होत्रोपलक्षिताश्चत्वार ऋत्विजश्चत्वारो होतारः। तैः अनुष्ठेयं कर्म चातुर्होत्रम्, तत् यस्मिन्नभूत्, जातं, तेन चतुर्द्धा विभक्तेन वेदेन यज्ञम् अकरोत् प्रवर्त्तितवान्॥११॥ चातुर्होत्रमेवाह—'**आध्वर्यव**' मिति॥१२॥

चतुर्धा भेदमाह—'**तत**' इति। ततः वेदराशेः यजूंष्युद्धृत्येत्यनुषङ्गः। सामभिर्गीतात्मकैरुद्धृतैरित्यर्थः॥१३॥

राज्ञस्त्वथर्ववेदेन सर्वकर्माणि च प्रभुः।
कारयामास मैत्रेय! ब्रह्मत्वञ्च यथास्थिति॥ १४॥
सोऽयमेको महावेदस्तरुस्तेन पृथक्कृतः।
चतुर्धा तु ततो जातं वेदपादपकाननम्॥ १५॥
विभेदं प्रथमं विप्र पैल ऋग्वेदपादपम्।
इन्द्रप्रमितये प्रादाद् बास्कलाय च संहिते॥ १६॥
चतुर्धा स विभेदाथ बास्कलिर्द्विज! संहिताम्।
बौध्यादिभ्यो ददौ तास्तु शिष्येभ्यः स महामुनिः॥ १७॥
बौध्याग्निमाठरौ तद्वद् याज्ञवल्क्यपराशरौ।
प्रतिशाखास्तु शाखायास्तस्यास्ते जगृहुर्मुने॥ १८॥
इन्द्रप्रमतिरेकान्तु संहितां स्वसुतं ततः।
माण्डुकेयं महात्मानं मैत्रेयाध्यापयत् तदा॥ १९॥
तस्य शिष्यप्रशिष्येभ्यः पुत्रशिष्यान् क्रमाद् ययौ।
वेदमित्रस्तु शाकल्यः संहितां तामधीतवान्॥ २०॥
चकार संहिताः पञ्च शिष्येभ्यः प्रददौ च ताः।
तस्य शिष्यास्तु ये पञ्च तेषां नामानि मे शृणु॥ २१॥

राज्ञः सर्वकर्माणि शान्तिपुष्ट्यादीनि॥ १४॥

वेद एव पादपाः तेभ्यः काननं शाखा-प्रशाखासन्ततिः एव काननमिति वा॥ १५॥

प्रथमं ऋग्वेदपादपं द्विधा विभेद॥ १६॥

वास्कल एव वास्कलिः स्वार्थे इन्॥ १७॥

वास्कलये दत्तायाः शाखाया अवान्तरशाखास्ते बौध्यादयो जगुहुः॥ १८॥

तस्य पैलशिष्यस्य इन्द्रप्रमतेः शिष्यप्रशिष्येभ्यः शिष्यप्रशिष्याणां पुत्रान् शिष्यांश्च क्रमाद् ययौ॥ २०॥

भेदमित्राख्यः शाकल्य इन्द्रप्रमतिसंहिताम् अधीतवान्। ततश्च स एव तस्याः पञ्च संहिताश्चकार। ताश्च शिष्येभ्यः मुद्गलादिभ्यो ददौ॥ २१॥

मुद्गलो गोमुखश्चैव वात्स्यः शालीय एव च।
शिशिरः पञ्चमश्चासीन्मैत्रेय! सुमहामुनिः॥ २२॥
संहितात्रितयं चक्रे शाकपूर्णिरथेतरम्।
निरुक्तमकरोत् तद्वच्चतुर्थं मुनिसत्तम॥ २३॥
क्रौञ्चो वैतालिकस्तद्वद् बलाकश्च महामतिः।
निरुक्तकृच्चतुर्थोऽभूद् वेदवेदाङ्गपारगः॥ २४॥
इत्येताः प्रतिशाखाभ्योऽप्यनुशाखा द्विजोत्तम!
बास्कलिश्चापरास्तिस्रः संहिताः कृतवान् द्विज॥ २५॥
शिष्यः कालायनिर्गार्ग्यस्तृतीयश्च कथाजवः।
इत्येते बहुधा प्रोक्ताः संहिता यैः प्रवर्तिताः॥ २६॥

इति श्रीविष्णुपुराणे तृतीयांशे चतुर्थोऽध्यायः॥

शाकपूर्णिस्तु इन्द्रप्रमतिशिष्यस्तत्संहितायाः संहितात्रितयं निरुक्तञ्च वेदशब्दनिर्वचनरूपम् अकरोत्॥ २३॥

तच्च संहितात्रितयं क्रौञ्चादिभ्यः अदात्। चतुर्थो निरुक्तकृत् नामेति केचित् पठन्ति॥ २४॥

अनुशाखाः अवान्तरशाखाः। बास्कलिः पैलशिष्यः तिस्रः संहिताश्चके इत्युक्तं, स एवान्यास्तिस्रः संहिताः कृतवान्। अपर एव शाकल्यसतीर्थो बास्कलिः तच्छिष्याः कालायनिप्रमुखास्त्रयः॥ २६॥

इति श्रीधरकृतायामात्मप्रकाख्यायां वा स्वप्रकाशाख्यायां श्रीविष्णुपुराणटीकायां तृतीयांऽशे चतुर्थोऽध्यायः॥

पञ्चमोऽध्यायः

(यजुर्वेदशाखाविभागः, याज्ञवल्क्यकृत-सूर्य्यस्तुतिश्च)

पराशर उवाच

यजुर्वेदतरोः शाखाः सप्तविंशन्महामतिः।
वैशम्पायननामासौ व्यासशिष्यश्चकार वै॥ १॥
शिष्येभ्यः प्रददौ ताश्च जगृहुस्तेऽप्यनुक्रमात्।
याज्ञवल्क्यस्तु तत्राभूद् ब्रह्मरातसुतो द्विजः॥ २॥
शिष्यः परमधर्मज्ञो गुरुवृत्तिपरः सदा।
ऋषिर्योऽद्य महामेरोः समाजे नागमिष्यति॥ ३॥
तस्य वै सप्तरात्रात्तु ब्रह्महत्या भविष्यति।
पूर्वमेवं मुनिगणैः समयोऽभूत् कृतो द्विज॥ ४॥
वैशम्पायन एकस्तु तं व्यतिक्रान्तवांस्तदा।
स्वस्रीयं बालकं सोऽथ पदास्पृष्टमघातयत्॥ ५॥
शिष्यानाह स भोः शिष्या! ब्रह्महत्यापहं व्रतम्।

पञ्चमेऽथ यजुःशाखाः कथ्यन्तेऽत्र समासतः। सेतिहासं तैत्तिरीयं वाजिशाखाप्रवर्त्तनम्॥ सप्तविंशत् सप्तविंशतिः यजुषः प्रधानशाखाः। ब्रह्माण्डे तु एकाधिकशतमध्वर्युशाखा आपस्तम्बोक्ता उक्ताः॥ १॥

यजुःशाखान्तराणामुत्पत्तिं वक्तुं शिष्यान्तरमाह—**याज्ञवल्क्यस्त्विति**॥ २॥

तस्मादेव शाखाद्वयप्रवृत्तिं वक्तुं इतिहासमाह—'**ऋषि**' रिति। अद्य अस्मत्समाजे य ऋषिर्नागमिष्यति, तस्येतः सप्तरात्रात् ब्रह्महत्या भविष्यतीति यः समयोऽभूत् तत् वैशम्पायन एवातिक्रान्तवानिति द्वयोरन्वयः॥ ४॥

स्वस्रीयं स्वसुः सुतं पदा स्पृष्टं सन्तम् अघातयत्। ऋषिशापवशात् पदा स्पृष्टमात्रोऽसौ ममारेत्यर्थः॥ ५॥

चरध्वं मत्कृते सर्वे न विचार्यमिदं तथा॥ ६॥
अथाह याज्ञवल्क्यस्तु किमेभिर्भगवन्! द्विजैः।
क्लेशितैरल्पतेजोभिश्चरिष्येऽहमिदं व्रतम्॥ ७॥
ततः क्रुद्धो गुरुः प्राह याज्ञवल्क्यं महामतिः।
मुच्यतां यत् त्वयाधीतं मत्तो विप्रावमानक॥ ८॥
निस्तेजसो वदस्येनान् यस्त्वं ब्राह्मणपुङ्गवान्।
तेन शिष्येण नार्थोऽस्ति ममाज्ञाभङ्गकारिणा॥ ९॥
याज्ञवल्क्यस्ततः प्राह भक्त्यैतत्ते मयोदितम्।
ममाप्यलं त्वयाधीतं यन्मया तदिदं द्विज॥ १०॥

पराशर उवाच

इत्युक्तो रुधिराक्तानि सरूपाणि यजूंषि सः।
छर्दयित्वा ददौ तस्मै ययौ स स्वेच्छया मुनिः॥ ११॥
यजूंष्यथ विसृष्टानि याज्ञवल्क्येन वै द्विज!
जगृहुस्तित्तिरा भूत्वा तैत्तिरीयास्तु ते ततः॥ १२॥
ब्रह्महत्याव्रतं चीर्णं गुरुणा चोदितैस्तु यैः।
चरकाध्वर्यवस्ते तु चरणान्मुनिसत्तम॥ १३॥
याज्ञवल्क्योऽपि मैत्रेय! प्राणायामपरायणः।
तुष्टाव प्रयतः सूर्यं यजूंष्यभिलषंस्ततः॥ १४॥

समर्थेनान्येन महापातके कृतेऽन्येन कथं तत्प्रायश्चितं कर्त्तव्यमितीदं न विचार्य, किन्तु तथा साक्षाद् वधे शास्त्रोक्तमुख्यप्रकारेण मदर्थं व्रतं चरतेत्यर्थः॥ ६॥

विप्रावमानक विप्रावमन्तः॥ ८॥

सर्वान् शिष्यान् प्रत्युक्ते तन्निषिध्य मयैव कार्यमित्युक्तत्वादाज्ञाभङ्गकारिणेत्युक्तम्॥ ९॥

ममापि त्वया गुरुणा अलं त्वत्तो मया यदधीतं तदिदमिति छर्दनमनुचकार॥ १०॥

छर्दितानां साक्षाद् ग्रहणमनुचितमिति तित्तराः पक्षिणो भूत्वा जगृहुः ततो हेतोस्ते तैत्तिरीयाः प्रसिद्धाः॥ १२॥

ततोऽन्येषां चरकाध्वर्य्यसंज्ञा निर्वक्ति—'**ब्रह्महत्याव्रतमि**' ति॥ १३॥

ततोऽसौ सूर्य्यं स्तुत्वा तत्प्रसादाल्लब्धैर्यजुर्भिः काण्वाद्याः पञ्चदश शाखाः कृतवानिति दर्शयन्नाह—'याज्ञवल्क्योऽपी'त्यादिना यावदध्यायसमाप्तिः॥ १४॥

याज्ञवल्क्य उवाच

नमः सवित्रे द्वाराय विमुक्तेः सिततेजसे।
ऋग्यजुःसामभूताय त्रयीधामवते नमः॥ १५॥
नमोऽग्नीषोमभूताय जगतः कारणात्मने।
भास्कराय परं तेजः सौषुम्नमुरु बिभ्रते॥ १६॥
कलाकाष्ठानिमेषादिकालज्ञानात्मने नमः।
ध्येयाय विष्णुरूपाय परमाक्षररूपिणे॥ १७॥
बिभर्त्ति यः सुरगणानाप्याय्येन्दुं स्वरश्मिभिः।
सुधामृतेन च पितॄंस्तस्मै तृप्तात्मने नमः॥ १८॥
हिमाम्बुघर्मवृष्टीनां कर्ता हर्ता च यः प्रभुः।
तस्मै त्रिकालरूपाय नमः सूर्य्याय वेधसे॥ १९॥
यो हन्ति तिमिराण्येको जगतोऽस्य जगत्पतिः।
सत्त्वधामधरो देवो नमस्तस्मै विवस्वते॥ २०॥
सत्कर्मयोग्यो न जनो नैवापः शौचकारणम्।
यस्मिन्ननुदिते तस्मै नमो देवाय वेधसे॥ २१॥

विमुक्तेः द्वाराय त्रयीधामवते त्रयीरूपतेजःशालिने॥ १५॥

अग्नीसोमभूताय अतो जगतः कारणात्मने। तदेवाह—भास्कराय आतपवृष्टिद्वारा जगतकारणतिमि भावः। तदुपपादयति—तेजो बिभ्रत इत्यग्निरूपत्वम्। सौषुम्नं बिभ्रत इति सोमरूपत्वम्। उक्तञ्च 'सूर्यरश्मिः सौषुम्नो यस्तर्पितस्तेन चन्द्रमा इति॥ १६॥

कलाकाष्ठादिकालो ज्ञायते येन तथाभूतः आत्मा यस्य तस्मै ध्येयाय सर्वेषां ध्यानार्हाय, **'धीमही'** ति गायत्रीलिङ्गात्। परमाक्षरं ब्रह्म, **'अक्षरात् परतः परः'**। इति श्रुतेः। तद्रूपिणे ओंकाररूपिणे इति वा॥ १७॥

सुधामृतेन सुधैव अमृतम् अमरत्वसाधनत्वात् तेन। तृप्त्यात्मने तर्पकाय। धृतात्मन इति पाठे धारयित्रे॥ १८॥

हिमादीनां या वृष्टिः तत्कर्ता। हेमन्तवर्षाग्रीष्माख्यत्रिकालरूपाय, वेधसे स्रष्ट्रे॥ १९॥

सत्त्वधामधरः सत्त्वमूर्तिधर। सत्यधामधर इति पाठे सत्यम् अवाधितं धाम तेजो धरतीति पचाद्यच्॥ २०॥

सत्कर्म रात्रिसन्ध्येतरकालविहितं यत् कर्म तद्योग्यः॥ २१॥

स्पृष्टो यदंशुभिर्लोकः क्रियायोग्योऽभिजायते।
पवित्रताकारणाय तस्मै शुद्धात्मने नमः॥ २२॥
नमः सवित्रे सूर्याय भास्कराय विवस्वते।
आदित्यायादिभूताय देवादीनां नमो नमः॥ २३॥
हिरणमयं रथं यस्य केतवोऽमृतधायिनः।
वहन्ति भुवनालोकिचक्षुषं तं नमाम्यहम्॥ २४॥

पराशर उवाच

इत्येवमादिभिस्तेन स्तूयमानः स्तवै रविः।
वाजिरूपधरः प्राह व्रियतामिति वाञ्छितम्॥ २५॥
याज्ञवल्क्यस्तदा प्राह प्रणिपत्य दिवाकरम्।
यजूंषि तानि मे देहि यानि सन्ति न मे गुरौ॥ २६॥
एवमुक्तो ददौ तस्मै यजूंषि भगवान् रविः।
अयातयामसंज्ञानि यानि वेत्ति न तद्गुरुः॥ २७॥
यजूंषि यैरधीतानि तानि विप्रैर्द्विजोत्तम!
वाजिनस्ते समाख्याताः सूर्याश्वः सोऽभवद् यतः॥ २८॥
शाखाभेदास्तु तेषां वै दश पञ्च च वाजिनाम्।
काण्वाद्यास्तु महाभाग! याज्ञवल्क्या-प्रवर्तिताः॥ २९॥

इति श्रीविष्णुपुराणे तृतीयांऽशे पञ्चमोऽध्यायः॥

पूर्वोक्तमेवार्थं विधिमुखेनाह 'स्पृष्ट' इति॥ २२॥

भक्त्यतिशयेन पूर्वोक्तैः पर्य्यायैः सर्वैः प्रणमति—'नमः सवित्रे' इति॥ २३॥

हिरणमयं तेजोमयम्। केतवः वेदमयाः अश्वा अमृतधायिनः अमृताहाराः। **'उदुत्यं जातवेदस'** मित्यादि—ऋगर्थ उक्तः। हिरणमये रथ इति पाठे केतवः रश्मयः, अमृतं जलं तद्धातारः, वहन्ति गच्छन्तीत्यर्थः॥ २४॥

अयातयामसंज्ञानि अन्यैरनभ्यस्तानि॥ २७॥

वाजिनः समाख्याताः वाजिरूप-सूर्यप्रोक्तसंहिताध्यायित्वादित्यर्थः॥ २८॥

इति श्रीधरकृतायामात्मप्रकाशाख्यायां स्वप्रकाशाख्यायां वा श्रीविष्णुपुराणटीकायां तृतीयांऽशे पञ्चमोऽध्यायः॥

षष्ठोऽध्यायः

(सामाथर्व्ववेदशाखाविभागः, पुराणनाम-लक्षणादिनिरूपणञ्च)

पराशर उवाच

सामवेदतरोः शाखा व्यासशिष्यः स जैमिनिः।
क्रमेण येन मैत्रेय! बिभेद श्रृणु तन्मम॥ १॥
सुमन्तुस्तस्य पुत्रोऽभूत् सुकर्मास्याप्यभूत् सुतः।
अधीतवन्तावेकैकां संहितां महामुनी॥ २॥
साहस्त्रं संहिताभेदं सुकर्मा तत्सुतस्ततः।
चकार तञ्च तच्छिष्यौ जगृहाते महामती॥ ३॥
हिरण्यनाभः कौशल्यः पौष्पिञ्जिश्च द्विजोत्तम!
उदीच्यसामगाः शिष्यास्तेभ्यः पञ्चदश स्मृताः॥ ४॥
हिरण्यनाभात् तावत्यः संहिता यैर्द्विजोत्तमैः।
गृहीतास्तेऽपि चोच्यन्ते पण्डितैः प्राच्यसामगाः॥ ५॥
लोकाक्षिः कुथमिश्चैव कुसीदिर्लाङ्गलिस्तथा।
पौष्पिञ्जिशिष्यास्तद्भेदैः संहिता बहुलीकृताः॥ ६॥

साम्नोऽथाथर्वणः शाखाभेदाः पौराणिका अपि। अध्येतारश्च कर्त्तारस्तेषां षष्ठे निरूपिताः। तस्य जैमिनेः। अस्य जैमिनिपुत्रस्य सुमन्तो। तौ जैमिने पुत्रपौत्रौ जैमिनिना विभक्तामेकैकां संहितां स्व-स्वकालेऽधीतवन्तौ॥ २॥

तत्सुतः सुमन्तुसुतः तत्संहिताभेदम्॥ ३॥

सुकर्मणः शिष्यावाह—'**हिरण्यनाम**' इति कौशल्य इति हिरण्यनाभविशेषणम्। ये पञ्चदश शिष्यास्तेभ्यः पञ्चदश संहिता हिरण्यनाभेन दत्तास्त एव उदीच्यसामगाः स्मृताः॥ ४॥

यैरपरैर्द्विजोत्तमैस्तावत्यस्तेषां ग्रहीतृणां संख्यया संख्याताः संहिता हिरण्यनाभाद् गृहीताः, ते प्राच्यसामगा उच्यन्त इत्यन्वयः॥ ५॥

पौष्पिञ्जिशिष्यानाह—'**लोकाक्षि**' रिति। तद्भेदैः तच्छिष्यप्रशिष्यादिभिः॥ ६॥

हिरण्यनाभशिष्यश्च चतुर्विंशतिसंहिताः।
प्रोवाच कृतिनामासौ शिष्येभ्यः स महामतिः॥ ७॥
तैश्चापि सामवेदोऽसौ शाखाभिर्बहुलीकृतः।
अथर्वणामथो वक्ष्ये संहितानां समुच्चयम्॥ ८॥
अथर्ववेदं स मुनिः सुमन्तुरमितद्युतिः।
शिष्यमध्यापयामास कबन्धं सोऽपि तं द्विधा।
कृत्वा तु देवदर्शाय तथा पथ्याय दत्तवान्॥ ९॥
देवदर्शस्य शिष्यास्तु मौद्गो ब्रह्मबलिस्तथा।
शौक्तायनिः पिप्पलादस्तथान्यो मुनिसत्तम॥ १०॥
पथ्यस्यापि त्रयः शिष्याः कृता यैर्द्विज! संहिताः।
जाजालिः कुमुदादिश्च तृतीयः शौनको द्विज॥ ११॥
शौनकस्तु द्विधा कृत्वा ददावेकन्तु बभ्रवे!
द्वितीयां संहितां प्रादात् सुन्धवायनसंज्ञिने॥ १२॥
सैन्धवा मुञ्जिकेशाश्च द्विधा भिन्नास्त्रिधा पुनः।
नक्षत्रकल्पो वेदानां संहितानां तथैव च॥ १३॥
चतुर्थः स्यादाङ्गिरसः शान्तिकल्पश्च पञ्चमः।
श्रेष्ठास्त्वथर्वणामेते संहितानां विकल्पकाः॥ १४॥

हिरण्यनाभस्य उदीच्यसामगशिष्यमध्ये कृतिनामा शिष्यः॥७॥

तैः कृतिनाम्नः शिष्यैः॥८॥

देवदर्शः स्वसंहितां चतुर्धा चक्रे। तास्तु मौद् गादयः चत्वारो जगृहुरित्यर्थः॥ ११॥

पथ्यकृतास्तिस्रः संहिता जाजल्यादयो जगृहुः, यै, स्वसंहिता भिन्ना कृताः॥ १२॥

सैन्धवाः सैन्धवायनशिष्याः, मुञ्जिकेशा इति वभ्रोरेव नामान्तरं तच्छिष्या द्विधा द्विप्रकाराभिन्ना वेदाः स्व स्व संहिता यैः ते तथा। संहिताभेदानाह—**'नक्षत्रकल्प'** इति। वेदानां संहितानाञ्च कल्प इत्यन्वयः। तत्र नक्षत्रकल्पो नक्षत्रादिपूजाविधिः वेदकल्पो वैतालिक ब्रह्मत्वादिभिः संहिताकल्पः संहिताविधिः॥ १४॥

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पसिद्धिभिः।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः॥ १५॥
प्रख्यातो व्यासशिष्योऽभूत् सूतो वै रोमहर्षणः।
पुराणसंहितां तस्मै ददौ व्यासौ महामुनिः॥ १६॥
सुमतिश्चाग्निवर्चाश्च मित्रायुः शांशपायनः।
अकृतव्रणः सावर्णिः षट् शिष्यास्तस्य चाभवन्॥ १७॥
काश्यपः संहिताकर्ता सावर्णिः शांशपायनः।
रौमहर्षणिका चान्या तिसृणां मूलसंहिताः॥ १८॥
चतुष्टयेनाप्येतेन संहितानामिदं मुने!
आद्यं सर्वपुराणानां पुराणं ब्राह्ममुच्यते॥ १९॥
अष्टादश पुराणानि पुराणज्ञाः प्रचक्षते।
ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवञ्च शैवं भागवतं तथा॥ २०॥
अथान्यन्नारदीयञ्च मार्कण्डेयञ्च सप्तमम्।
आग्नेयामष्टमञ्चैव भविष्यं नवमं तथा॥ २१॥
दशमं ब्रह्मवैवर्तं लैङ्गमेकादशं स्मृतम्।
वाराहं द्वादशञ्चैव स्कान्दञ्चात्र त्रयोदशम्॥ २२॥
चतुर्दशं वामनञ्च कौर्मं पञ्चदशं स्मृतम्।

आङ्गिरसकल्पः अभिचारादिविधिः शान्तिकल्पः अश्व गजाद्यष्टादशमहाशान्त्यादिविधिः॥ १५॥

आख्यानादिभिः सह पुराणसंहिताञ्चक्रे व्यास इति शेषः। तत्र दृष्टोपलब्धकथनमुपाख्यानं प्रचक्षते, गाथा पितृपृथिव्यादिगीताः, कल्पसिद्धिः वाराहादिकल्पनिर्णयः॥ १६॥

सुमत्यादयस्तस्य रोमहर्षणस्य षट् शिष्याः तत्कृताः षट् संहिता जगृहुः॥ १८॥

काश्यपादिभिस्त्रिभिः कृतास्तिस्रः। अकृतव्रण एव काश्यपः काश्यपोऽप्यकृतव्रण इति वायुनोक्तः। रोमहर्षणिका च अन्या रोमहर्षणेन पुनः संक्षेपेण कृता॥ १८॥

एतासां संहितानां चतुष्टयेन सारोद्धाररूपमिदं विष्णुपुराणं मुने! मैत्रेय! मया कृतमिति शेषः।

व्यासकृतानि अष्टादशपुराणान्याह—**आद्यमिति** सार्धैश्चतुर्भिः। केचित् तु संहितानां चतुष्टयेन इदमाद्यं ब्राह्ममुच्यते इति वदन्ति॥ १९-२७॥

मात्स्यञ्च गारुडञ्चैव ब्रह्माण्डञ्च ततः परम्॥ २३॥

महापुराणान्येतानि ह्यष्टादश महामुने।

तथा चोपपुराणानि मुनिभिः कथितानि च॥ २४॥

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।

सर्वेष्वेतेषु कथ्यन्ते वंशानुचरितञ्च यत्॥ २५॥

यदेतत् तव मैत्रेय! पुराणं कथ्यते मया।

एतद् वैष्णवसंज्ञं वै पाद्मस्य समनन्तरम्॥ २६॥

सर्गे च प्रतिसर्गे च वंशमन्वन्तरादिषु।

कथ्यते भगवान् विष्णुरशेषेष्वेव सत्तम॥ २७॥

अङ्गानि चतुरो वेदा मीमांसा न्यायविस्तरः।

पुराणं धर्मशास्त्रञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥ २८॥

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चैव ते त्रयः।

अर्थशास्त्रं चतुर्थन्तु विद्या ह्यष्टादशैव ताः॥ २९॥

उक्तेष्वष्टादशपुराणेषु किमेतत् पुराणं त्वया कथ्यत इत्याह—यदेतदिति मया यदेतत् तव कथ्यते, तदेवानागताख्यानेन पद्मपुराणानन्तरं व्यासेन कृतमित्यर्थः। यथाह—मात्स्ये, वराहकल्पवृत्तान्तमधिकृत्य पराशरः। यान् प्राह धर्मानखिलांस्तदुक्तं वैष्णवं विदुः। इत्येवमेव ब्रह्मादिकथितं व्यासेन निबद्धं ब्रह्मपुराणादि कथ्यते। विष्णुपुराणञ्च क्वचित् दशसाहस्रं क्वचिदष्टसाहस्रमित्यादिविकल्पेऽपि अत्र षट् साहस्रमेव व्याख्यायते॥ २६॥

अस्य वैष्णवसंज्ञायां हेतुमाह—'**सर्गे चे**'ति॥ २७॥

पुराणानां वेदोपर्बृंहणत्वेन धर्मवेदतद्धेतुत्वात् धर्मविद्यास्थानेषु चतुर्दशस्वन्तर्भावमाह—'**अङ्गानी**' ति। अङ्गानि शिक्षाकल्पज्योतिश्छन्दोनिरुक्तव्याकरणानि षट्। चतुरश्चत्वारः। धर्मशास्त्रं मन्वादिप्रोक्तस्मृतिशास्त्रम्॥ २८॥

केवलं दृष्टार्थविद्यास्थानमायुर्वेदादिचतुष्कं ब्रुवन् धर्मविद्यास्थानैः सहाष्टादशविद्यास्थानान्याह—'**आयुरि**' ति। आयुर्वेदोऽष्टाङ्गचिकित्साशास्त्रम् धन्वन्तरिप्रोक्तम्। धनुर्वेदो भृगुप्रोक्तचतुर्विध आयुधसन्धानमोक्षादिविषयः। गान्धर्ववेदो भरतमुनिप्रणीतो नृत्यगीतादिविषयः। अर्थशास्त्रं वार्हस्पत्यादिनीतिशास्त्रम्। पूर्वोक्ताश्चतुर्दशेत्यष्टादशविद्या इति॥ २९॥

ज्ञेया ब्रह्मर्षयः पूर्वं तेभ्यो देवर्षयः पुनः।
राजर्षयः पुनस्तेभ्य ऋषिप्रकृतयस्त्रयः॥ ३०॥
इति शाखाः प्रसंख्याताः शाखाभेदास्तथैव च।
कर्तारश्चैव शाखानां भेदहेतुस्तथोदितः॥ ३१॥
सर्वमन्वन्तरेष्वेव शाखाभेदाः समाः स्मृतः।
प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या तद्विकल्पास्त्विमे द्विज॥ ३२॥
एतत् तवोदितं सर्वं यत् पृष्टोऽहमिह त्वया।
मैत्रेय! भेदसम्बद्धं किमन्यत् कथयामि ते॥ ३३॥

इति श्रीविष्णुपुराणे तृतीयांऽशे षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

वेदशाखप्रसङ्गात् कर्तॄणामष्टर्षीणां मेदानाह—**ज्ञेया**' इति॥ ३०॥

उपसंहरति—'**इती**' ति। प्रसंख्याताः संख्यया प्रोक्ताः शाखाभेदाश्च नाम उक्ताः। भेदहेतुः पुरुषाणामल्पप्रज्ञत्वादिः॥ ३१॥

शाखानां पुरुषप्रणीतत्वेन वेदस्य पौरुषेयत्वं स्यादित्यत आह—'**प्राजापत्ये**' ति कल्पादौ प्रजापतिना दृष्टा श्रुतिः। नित्यैव इमे तु शाखाभेदास्तस्या एव विकल्पः, ते ग्रहणसौकर्य्यार्थमवान्तरभेदाः, न त्वपूर्वाः पुरुषैः कृता इत्यर्थः॥ ३२॥

इति श्रीधरकृतायामात्मप्रकाशाख्यायां स्वप्रकाशाख्यायां वा श्रीविष्णुपुराणटीकायां तृतीयांऽशे षष्ठोऽध्यायः॥

सप्तमोऽध्यायः

(यमगीता)

मैत्रेय उवाच

यथावत् कथितं सर्वं यत् पृष्टोऽसि मया द्विज!
श्रोतुमिच्छाम्यहं त्वेकं तद् भवान् प्रब्रवीतु मे॥ १॥
सप्त द्वीपानि पाताल-वीथ्यश्च सुमहामुने!
सप्त लोका येऽन्तरस्था ब्रह्माण्डस्यास्य सर्वतः॥ २॥
स्थूलैः सूक्ष्मैस्तथा सूक्ष्मात् सूक्ष्मैः सूक्ष्मतरैस्तथा।
स्थूलैः स्थूलतरश्चैव सर्वप्राणिभिरावृतम्॥ ३॥
अङ्गुलस्याष्टभागोऽपि न सोऽस्ति मुनिसत्तम!
न सन्ति प्राणिनो यत्र कर्मबन्धनिबन्धनाः॥ ४॥
सर्वे चैते वशं यान्ति यमस्य भगवन्! किल।
आयुषोऽन्ते तथा यान्ति यातनास्तत्प्रचोदिताः॥ ५॥
यातनाभ्यः परिभ्रष्टा देवाद्यास्वथ योनिषु।
जन्तवः परिवर्तन्ते शास्त्राणामेष निर्णयः॥ ६॥
सोऽहमिच्छामि तच्छ्रोतुं यमस्य वशवर्त्तिनः।
न भवन्ति नरा येन तत् कर्म कथयामलम्॥ ७॥

पराशर उवाच

अयमेव मुने! प्रश्नो नकुलेन महात्मना।
पृष्टः पितामहः प्राह भीष्मो यत् तच्छृणुष्व मे॥ ८॥

वेदशाखाप्रणयनमुक्तं कर्त्रादिभेदतः। अथ तान्त्रिकधर्मश्च सेतिहासोऽत्र वर्ण्यते। भूतलादिप्रसङ्गानुप्रसङ्गादनुवर्ण्यते। सद्गतिस्तत्स्थजन्तूनां भगवद्धर्मसङ्गतः। उक्तमभिनन्दन् श्रुतिस्मृतिसारभूतं धर्मं पृच्छति—'यथाव' दिति सप्तभिः॥ १॥

पातालवीथी भूविवरपंक्तिः। सप्त लोकाः स्वर्गादया। एतत् सप्तद्वीपादिरूपं सर्वम्॥ २॥

अयमेव प्रश्नः प्रष्टव्योऽर्थो नकुलेन भीष्मं प्रति पृष्टः, ततश्च स भीष्मस्तं प्रति यत् प्राह तच्च शृणुष्व॥ ८॥

भीष्म उवाच

पुरा समागतो वत्स! सखा कालिङ्गको द्विजः।
स मामुवाच पृष्टो वै मया जातिस्मरो मुनिः॥ ९॥
तेनाख्यातमिदञ्चेनमित्थञ्चैतद् भविष्यति।
तथा च तदभूद् वत्स! यथोक्तं तेन धीमता॥ १०॥
स पृष्टश्च मया भूयः श्रद्दधानवतां द्विजः।
यद् यदाह न तद् दृष्टमन्यथा हि मया क्वचित्॥ ११॥
एकदा तु मया पृष्टं यदेतद् भवतोदितम्।
प्राह कलिङ्गको विप्रः स्मृत्वा तस्य मुनेर्वचः॥ १२॥
जातिस्मरेण कथितो रहस्यः परमो मम।
यम किङ्करयोर्योऽभूत् संवादस्तं ब्रवीम ते॥ १३॥

कालिङ्ग उवाच

स्वपुरुषमभिवीक्ष्य पाशहस्तं वदति यमः किल तस्य कर्णमूले।
परिहर मधुसूदनप्रपन्नान् प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम्॥ १४॥
अहममरगणार्चितेन धात्रा यम इति लोकहिताहिते नियुक्तः।

स कालिङ्गको द्विजो मामुवाच,—'**मया जातिस्मरो मुनिः पृष्ट**' इति॥ ९॥

तेन जातिस्मरेण इदमिदं वर्त्तमानमेतदित्थमेवंलक्षणं भविष्यतीति च कालिङ्गस्थाने यदाख्यातं, तेन च कालिङ्गकेन मह्यं यथोक्तं, तथैवं तदभूत्, हे वत्स नकुलेत्यन्वयः॥ १०॥

श्रद्दधानमनोयुक्तेन स कालिङ्गको द्विजो भूयः पुनः पृष्टः सन् जातिस्मरवाक्यं यद्यदाह, तदन्यथा व्यभिचारि मया न दृष्टमित्यतिविश्वासार्थमुक्तम्॥ ११॥

प्रकृतमाह '**एकदे**'ति। तस्य जातिस्मरस्य मुनेः॥ १२॥

तदेवाह—'**जाती**'ति। तं संवादं संवादविषयार्थम्॥ १३॥

तमेवाह—'**स्वपुरुष**' मित्यादिभिः '**सोऽन्यलोक्य**' इत्यन्तैरेकविंशत्या श्लोकैः। पापिजनानयनाय उद्यतं पाशहस्तं स्वपुरुषमभिवीक्ष्य विष्णुभक्तान् परित्यज्यान्यानानयेति स्वप्रतापभङ्गभिया अतिरहस्यतया च कर्णमूले वदति स्म॥ १४॥

हरिगुरुवशगोऽस्मि न स्वतन्त्रः प्रभवति संयमने ममापि विष्णुः॥ १५॥
कटकमुकुटकर्णिकादिभेदैः कनकमभेदमपीष्यते यथैकम्।
सुरपशुमनुजादिकल्पनाभिर्हररखिलाभिरुदीर्य्यते तथैकः॥ १६॥
क्षितिजलपरमाणवोऽनिलान्ते पुनरपि यान्ति यथैकतां धरित्र्याः।
सुरपशुमनुजादयस्तथान्ते गुणकलुषेण सनातनेन तेन॥ १७॥
हरिममरगणार्चिताङ्घ्रिपद्मं प्रणमति यः परमार्थतो हि मर्त्त्यः।
तमपगतसमस्तपापबन्धं व्रज परिहृत्य यथाग्निमाज्यसिक्तम्॥ १८॥
इति यमवचनं निशम्य पाशी यमपुरुषस्तमुवाच धर्मराजम्।
कथय मम विभो? समस्तधातुर्भवति हरेः खलु यादृशोऽस्य भक्तः॥ १९॥

न वैष्णवानां प्रभुरित्यत्र हेतुमाह—'**अह**'मिति। प्रजासंयमनाद् यम इति संज्ञया लोकहिताहिते शुभाशुभफलदानार्थे धात्रा नियुक्तोऽपि हरिरेव गुरुस्तद्वशगोऽस्मि, न स्वतन्त्रः। यतो ममापि संयमने दण्डे विष्णुः प्रभवति। हिताय स नियुक्त इति पाठे दण्डोऽपि पादक्षयार्थतया हित एव तस्मादपि॥ १५॥

तत्र हेतुमाह—'**कटके**' ति द्वाभ्याम्। सर्वोत्पत्तिप्रलयहेतुत्वेन सर्वात्मकत्वात् सर्वनियन्तृत्वमित्यर्थः, कटको वलयः, कर्णिका कर्णभूषणम्। कटकादिभेदैर्नानारूपैः कार्यैरुपलक्षितमपि अभेदं कारणात्मना एकमेवेष्यने यथा, तथैक एव जगत् कारणभूतो हरिः सुरादिभेदैरुदीर्य्यते॥ १६॥

किञ्च भेदस्य मायोपाधिकत्वान्मायानाशे तु विष्णुरेक एव इत्याह—'**क्षिती**'ति। अनिलोद्‌वृताः क्षितिजलपरमाणवो यथा अनिलस्यान्ते अवसाने धरित्र्यादिना सहैकतां यान्ति तथा गुणानां कलुषेण कालुष्येण क्षोभेण ये सुरादयो जाताः अन्ते गुणक्षोभोपरमे तेन विष्णुना सहैकतां यान्तीत्यन्वयः॥ १७॥

तर्हि यमस्यापि नियन्तुर्भक्तिः कथं मनुष्यसाधयेत्यत आह—'**हरि**'मिति। परमार्थतः सर्वात्मत्वेन हरिं यः प्रणमत्यपि तं परित्यज्य व्रज। यद्वा हरिप्रणतिमात्रेण परमार्थतः तमपगतसमस्तपापबन्धमित्यन्वयः। अनेन दृष्टान्तेन भक्तसंसर्गिणोऽपि त्याज्या इत्युक्तं, '**येऽन्ये च पापाः पदमाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ती**' ति शुकोक्तेः॥ १८॥

समस्तस्य धातुः पालकस्य॥ १९॥

यम उवाच

न चलति निजवर्णधर्मतो यः सममतिरात्मसुहृद् विपक्षपक्षे।
न हरति न च हन्ति किञ्चिदुच्चैः सितमनसं तमवैहि विष्णुभक्तम्॥२०॥
कलिकलुषमलेन यस्य नात्मा विमलमतेर्मलिनीकृतोऽस्तमोहे।
मनसि कृतजनार्दनं मनुष्यं सततमवैहि हरेरतीव भक्तम्॥२१॥
कनकमपि रहस्यवेक्ष्य बुद्ध्या तृणमिव यः समवैति वै परस्वम्।
भवति च भगवत्यनन्यचेताः पुरुषवरं तमवेहि विष्णुभक्तम्॥२२॥
स्फटिकगिरिशिलामलः क्व विष्णुर्मनसि नृणां क्व च मत्सरादिदोषः।
न हि तुहिनमयूखरश्मिपुञ्जे भवति हुताशनदीप्तिजः प्रतापः॥२३॥
विमलमतिविमत्सरः प्रशान्त शुचिचरितोऽखिलसत्त्वमित्रभूतः।
प्रियहितवचनोऽस्तमानमायोवसति सदा हृदि तस्य वासुदेवः॥२४॥
वसति हृदि सनातने च तस्मिन् भवति पुमान् जगतोऽस्य सौम्यरूपः।
क्षितिरसमतिरम्यमात्मनोऽन्तः कथयति चारुतयैव शालपोतः॥२५॥

न हरतीति यदुक्तं तद्विशेषमाह—'**कनक**' मिति। कनकमपि रहस्यापि दृष्ट्वा परस्वं तृणमिव यः समवैति जिघृक्षाविमुखो भवतीत्यर्थः। अथ च भगवति अनन्यचेताः भवति तम्॥२२॥

सितमनसमिति विशेषणं यदुक्तं तदेव क्वशब्दाभ्यां स्पष्टयति—'**स्फटिके**'ति। स्फटिकगिरिशिलेव अमलः तुहिनमयूखश्चन्द्रस्तस्य रश्मिपुञ्जे मत्सरादिदोषस्य विष्णुभक्तेश्च विरोधोक्त्या तद्दोषरहितस्यैव विष्णुभक्तत्वमित्युक्तं भवति॥२३॥

तदेव विधिमुखेन विवृणोति—'**विमलमति**'रिति। शुचि शुद्धं चरितं यस्य, अखिलानां सत्त्वानां मित्रभूतः, अस्ते निरस्ते मानमाये गर्वालीके येन सः॥२४॥

तस्य प्रसन्नतैव चिह्नमित्याह—'**वसती**' ति। उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन समर्थयति—'**क्षितिरस**'मिति। शालपोतो बालः शालतरुः चारुतया सुकुमारतयैव रम्यं क्षितिरसं स्वस्यान्तर्यथा कथयति अनुमापयति, एवं सर्वभूतेषु सौम्यतया विष्णुभक्तोऽपि विष्णुं हृदि वसन्तं सूचयतीत्यर्थः॥२५॥

किञ्च '**यमनियमे**' ति अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः, शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः, धनादिसम्पत्समुत्सिक्तो मनस उल्लासो मदः, आत्मनि पूज्यताबुद्धिर्मानः, परशुभद्वेषो मत्सरः॥२६॥

यमनियमविधूतकल्मषाणामनुदिनमच्युतसक्तमानसानाम्।
अपगतमद-मान-मत्सराणां त्यज भट! दूरतरेण मानवानाम्॥ २६॥
हृदि यदि भगवाननादिरास्ते हरिरसिशङ्खगदाधरोऽव्ययात्मा।
तदघमघविघातकर्तृभिन्नं भवति कथं सति चान्धकारमर्के॥ २७॥
हरति परधनं निहन्ति जन्तून् वदति तथानृतनिष्ठुराणि यश्च।
अशुभजनितदुर्मदस्य पुंसः कलुषमतेर्हृदि तस्य नास्त्यनन्तः॥ २८॥
न सहति परसम्पदं विनिन्दां कलुषमतिः कुरुते सतामसाधुः।
न यजति न ददाति यश्च सन्तं मनसि न तस्य जनार्दनोऽधमस्य॥ २९॥
परमसुहृदि बान्धवे कलत्रे सुततनयापितृमातृभृत्यवर्गे।
शठमतिरुपयाति योऽर्थतृष्णां तमधमचेष्टमवैहि नास्य भक्तम्॥ ३०॥
अशुभमतिरसत्प्रवृत्तिसक्तः सततमनार्य्यविशालसङ्गमत्तः।
अनुदिनकृतपापबन्धयत्नः पुरुषपशुर्नहि वासुदेवभक्तः॥ ३१॥
सकलमिदमहञ्च वासुदेवः परमपुमान् परमेश्वरः स एकः।
इति मतिश्चला भवत्यनन्ते हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरात्॥ ३२॥
कमलनयन वासुदेव विष्णो धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे!

अपगतकल्मषत्वमेवाह 'हृदी' ति। असिस्थाने अपीति क्वचित् पाठः। तत् तर्हि अघानां विघातकर्त्ता हरिस्तेन भिन्नं नाशितं सदघं कथं भवति बलवद्विरोधिन सति अपरं न तिष्ठतीत्यर्थान्तरेण स्पष्टयति-'कथ' मिति।।२७।।

इदानीमभक्तलक्षणान्याह—'हरती' ति चतुर्भिः॥ २८॥

सतां विनिन्दां कुरुते, सन्तमर्थं न ददाति। यद्वा सन्तं विष्णुं तद्भक्तं वा न यजति न पूजयति, न च तस्मै ददाति॥ २९॥

परमसुहृदादिषु शठमतिः सन्नर्थतृष्णां करोति, अर्थात् तेभ्य एवार्थं ग्रहीतुं वाञ्छति। यद्वा परमसुहृदादौ तेषां निमित्तमन्यायेनाप्यर्थतृष्णां करोति॥ ३०॥

अनार्यैः विशालो दीर्घकालो यः सङ्गस्तेन मत्तः। अनार्य्यकुशीलेति पाठे नीचैः दुःशीलैश्च यः सङ्गस्तेन मत्तः इत्यर्थः॥ ३१॥

उत्तमभक्तचिह्नं भक्तचिह्नमाह सकलमिति॥ ३२॥

तन्नामकीर्त्तनं तदेकशरणता चैकान्तभक्तचिह्नमित्याह 'कमलनयने'ति॥ ३३॥

वसति मनसि यस्य सोऽव्ययात्मा पुरुषवरस्य न तस्य दृष्टिपाते।
तव गतिरथवा ममास्ति चक्रप्रतिहतवीर्य्यबलस्य सोऽन्यलोक्य:॥ ३४॥

कालिङ्ग उवाच

इति निजभटशासनाय देवो रवितनय: स किलाह धर्मराज:।
मम कथितमिदञ्च तेन तुभ्यं कुरुवर! सम्यगिदं मयापि चोक्तम्॥ ३५॥

भीष्म उवाच

नकुलैतन्ममाख्यातं पूर्वं तेन द्विजन्मना।
कलिङ्गदेशादभ्येत्य प्रीयता सुमहात्मना॥ ३६॥
मयाप्येतद् यथान्यायं सम्यग् वत्स! तवोदितम्।
यथा विष्णुमृते नान्यत् त्राणं संसारसागरे॥ ३७॥
किङ्करा पाशदण्डाश्च न यमो न च यातना:।
समर्थास्तस्य यस्यात्मा केशवालम्बन: सदा॥ ३८॥

पराशर उवाच

एतन्मुने तवाख्यातं गीतं वैवस्वतेन यत्।
तत्प्रश्नानुगतं सम्यक् किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि॥ ३९॥

इति श्रीविष्णुपुराणे तृतीयांऽशे सप्तमोऽध्याय:॥ ७॥

दूरतरेण त्यजेति यदुक्तं तत्रहेतुमाह वसतीति। तस्य दृष्टिपातं यावच्चक्रभ्रमणादतस्तच्चक्रेण प्रतिहते वीर्यबले यस्य तस्य तव मम च तद्दृष्टिपातविषये पापिजनानयनेऽपि न गतिरस्ति स पुनरन्यलोक्य: वैकुण्ठवासार्ह: नास्मल्लोक योग्य:॥ ३४॥

मम मह्यं, तेन जातिस्मरणेन, करुवर! हे भीष्म॥ ३५॥

तस्य वशीकर्तुं न समर्था:। केशवालम्बन: केशवाश्रय:॥ ३८॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाख्यायां स्वप्रकाशाख्यायां वा श्रीविष्णुपुराणटीकायां तृतीयांऽशे सप्तमोऽध्याय:

अष्टमोऽध्यायः

(श्रीविष्णुपूजायां फलश्रुतिः, चातुर्वर्ण्यधर्मकथनञ्च)

मैत्रेय उवाच

भगवन् भगवान् देवः संसारविजिगीषुभिः।
मामाख्याहि जगन्नाथो विष्णुराराध्यते यथा॥ १॥
आराधिताच्च गोविन्दादाराधनपरैर्नरैः।
यत् प्राप्यते फलं श्रोतुं तवेच्छामि महामुने॥ २॥

पराशर उवाच

यत् पृच्छति भवानेतत् सगरेण महात्मना!
और्वः प्राह यथा पृष्टस्तन्मे कथयतः श्रृणु॥ ३॥
सगरः प्रणिपत्येदमौर्वं पप्रच्छ भार्गवम्।
विष्णोराराधनोपायसम्बद्धं मुनिसत्तम॥ ४॥
फलञ्चाराधिते विष्णौ यत् पुंसामभिजायते।
स चाह पृष्टो यत्तेन तन्मैत्रेयाखिलं श्रृणु॥ ५॥

और्व उवाच

भौमान् मनोरथान् स्वर्गान् स्वर्गिबन्ध्यं तथास्पदम्।
प्राप्नोत्याराधिते विष्णौ निर्वाणमपि चोत्तमम्॥ ६॥
यद् यदिच्छति यावच्च फलमाराधितेऽच्युते।
तत् तदाप्नोति राजेन्द्र! भूरि स्वल्पमथापि वा॥ ७॥

विष्णोराराधनोपायो निजधर्मप्रसङ्गतः। सगरौर्वीयसंवादं नवाध्यायैर्निरूप्यते। यथा यत्प्रकारेण धर्मेण॥ १॥

विष्णोराराधनपरैराज्ञानुष्ठानतत्परैः॥ २॥

स्वर्गिबन्धं ब्रह्मलोकादिपदम्॥ ३॥

यावत् यत्संख्यकं भूरि स्वल्पं वेति प्रमाणतः॥ ७॥

यत्तु पृच्छसि भूपाल! कथमाराध्यते हि सः।
तदहं सकलं तुभ्यं कथयामि निबोध मे॥८॥
वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्॥९॥
यजन् यज्ञान् यजत्येनं जपत्येनं नृप!
घ्नंस्तथान्यां हिनस्त्येनं सर्वभूतो यतो हरिः॥१०॥
तस्मात् सदाचारवता पुरुषेण जनार्दनः।
आराध्यते स्ववर्णोक्त-धर्मानुष्ठानकारिणा॥११॥
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्च धरणीपते!
स्वधर्मतत्परो विष्णुमाराधयति नान्यथा॥१२॥
परापवादं पैशुन्यमनृतञ्च न भाषते।
अन्योद्वेगकरञ्चापि तोष्यते तेन केशवः॥१३॥
परपत्नी-परद्रव्य-परहिंसासु यो मतिम्।
न करोति पुमान् भूप! तोष्यते तेन केशवः॥१४॥
न ताडयति नो हन्ति प्राणिनोऽन्यांश्च देहिनः।
यो मनुष्यो मनुष्येन्द्र! तोष्यते तेन केशवः॥१५॥

वर्णाश्रमाचारवतेत्यधिकारिविशेषणाद् वेदोक्ततदविरुद्धपुराणागमाद्युक्ताचारवानेव तत्राधिकारी, न विगीताचारः। अन्यः श्रुत्युक्तधर्मपरित्यागेन तद्व्रतधारणश्रवणकीर्तनादिरूपः पन्था न भवति॥९॥

यज्ञान् यष्टव्यान् इन्द्रादीन् यजन् विष्णुं यजति, यं कञ्चन जपन् विष्णुमेव जपति, अन्यं घ्नन् विष्णुमेव हन्ति॥१०॥

यतः पूज्य वध्यादिसर्वस्वरूपो विष्णुस्तस्मात् तदाज्ञया वर्णाश्रमधर्मान् यागादीन् सदाचारांश्च कुर्वता विष्णुराराध्यते तोष्यते। सदाचारः अविगीतशिष्टाचारः॥११॥

उक्तमर्थमेवाधिकारिदर्शनपूर्वकं व्यतिरेकमुखेन द्रढयति—'**ब्राह्मण**'इति॥१२॥

तत्र साधारणधर्मानाह षड्भिः। परस्यापवाढं समक्षनिन्दां, पैशुन्यं परोक्षे रहोदोषकथनम्॥१३॥

न हन्ति न प्राणान् वियोजयति। प्राणिनो जङ्गमानन्यान् देहिनः स्थावरान्। एतेषां नियमेनाक्रियमाणानां धर्मत्वेन हरितोषणत्वाच्चित्तशोधकत्वम्॥१५॥

देव-द्विज-गुरूणां यः शुश्रूषासू सदोद्यतः।
तोष्यते तेन गोविन्दः पुरुषेण नरेश्वर॥ १६॥
यथात्मनि च पुत्रे च सर्वभूतेषु यस्तथा।
हितकामो हरिस्तेन सर्वदा तोष्यते सुखम्॥ १७॥
यस्य रागादिदोषेण न दुष्टं नृप! मानसम्।
विशुद्धचेतसा विष्णुस्तोष्यते तेन सर्वदा॥ १८॥
वर्णाश्रमेषु ये धर्माः शास्त्रोक्ता नृपसत्तम!
तेषु तिष्ठन् नरो विष्णुमाराधयति नान्यथा॥ १९॥

सगर उवाच

तदहं श्रोतुमिच्छामि वर्णधर्मानशेषतः।
तथैवाश्रमधर्मांश्च द्विजवर्य? ब्रवीहि तान्॥ २०॥

और्व उवाच

ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां शूद्राणाञ्च यथाक्रमम्।
त्वमेकाग्रमना भूत्वा शृणु धर्मान् मयोदितान्॥ २१॥
दानं दद्याद् यजेद् देवान् यज्ञैः स्वाध्यायतत्परः।
नित्योदकी भवेद् विप्रः कुर्याच्चाग्निपरिग्रहम्॥ २२॥
वृत्त्यर्थं याजयेच्चान्यानन्यान् ध्यापयेत् तथा।
कुर्यात् प्रतिग्रहादानं गुर्वर्थं न्यायतो द्विजः॥ २३॥

इदानीं हरितोषकान् साधारणधर्मानाह—'वर्णे'ति। तिष्ठन्निति हेतौ शतृप्रत्ययः। तेषु स्थितिस्तदनुष्ठाननाराधनहेतुरित्यर्थः॥ १९॥

तत् तर्हि तान् श्रोतुमिच्छामि, ब्रवीहीत्यर्थः॥ २०॥

तत्र ब्राह्मणस्यावश्यकान् धर्मानाह—'दान'मिति। दद्यात् कुर्यात्, नित्योदकी नित्यं स्नानतर्पणादिकृत्, यथाधिकारमौपासनाग्नेस्त्रेतादीनां वा परिग्रहः॥ २२॥

धनोपार्जननियमानाह—'वृत्त्यर्थ' मिति। प्रतिग्रहादानं प्रतिग्राह्यस्य गवादेरादानं ग्रहणं, गुर्वर्थं गुरोरर्थो यस्मिन् तत् शुक्लार्थादिति पाठे तु शुक्लः शुद्धः अर्थो यस्य तस्माद् विप्रादेः। ''क्रमागतं प्रीतिदायं प्राप्तञ्च सह भार्यया। अविशेषेण सर्वेषां धनं शुक्लमुदाहृतम्''। इति विष्णुवचनात्। शुक्लार्थमिति पाठे शुक्लधनोपार्जननिमित्तमित्यर्थः। तत्रापि न्यायतः कालपुरुषादिप्रतिग्रहं विना, द्विजो ब्राह्मणः॥ २३॥

सर्वभूतहितं कुर्यान्नाहितं कस्यचिद् द्विजः।
मैत्री समस्तभूतेषु ब्राह्मणस्योत्तमं धनम्॥ २४॥
ग्रावे रत्ने च पारक्ये समबुद्धिर्भवेद् द्विजः।
ऋतावभिगमः पत्न्यां शस्यते चास्य पार्थिव॥ २५॥

ग्रावे इति। ग्रावे पाषाणे पारक्ये पारकीये रत्ने वा अस्य ब्राह्मणस्येत्युपलक्षणम्। पत्न्याम् ऋतौ चाभिगमः शस्यते श्रुत्याभ्यनुज्ञायते, न तु नियम्यते। ''**ऋतौ भार्यामुपेयात्**'' इति श्रुतौ परिसंख्याया उक्तत्वात् परिसंख्यानियमयोर्भेदात्। तथा हि भट्टपादः ''विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते''॥ इत्यस्यार्थः स्वर्गोपायभूतज्योतिष्टोमस्यात्यन्तमप्राप्तस्य प्रापणं विधिः, पथाग्निष्टोमेन यजेतेत्यादिः। पाक्षिकप्राप्तौ सत्यामप्राप्तांशस्य परिपूरणाय नियमेन प्रापणं नियमविधिः, यथा ब्रीहीनवहन्तीत्यत्र वितुषीकरणस्यावहननेन नखनिकृन्तनादिना च प्राप्तस्य नखनिकृन्तनादिपक्षेऽपि अवहननस्याप्राप्तस्यांशस्य नियमेन प्रापणं विधेयस्य, तत्र चान्यत्र च प्राप्तियोग्यतायां अन्यतरनिवृत्तये पुनः प्रापणं परिसंख्या। यथा ''**पञ्च पञ्च नखाभक्ष्याः**'' ''**ऋतौ भार्यामुपेयात्**'' इति। अत्र पञ्चनखभक्षणादेर्लोकत एव प्राप्तस्य अज्ञातत्वाभावात् तत्र स्मृतेरज्ञातज्ञापकत्वलक्षणस्य प्रामाण्यस्य असम्भवेन स्वार्थत्यागात् पञ्चारिरिक्त-पञ्चनखभक्षणनिषेधादिरूपान्यार्थकल्पनं युक्तम्, तत्र उक्तरूपप्रामाण्यसत्त्वात् तदनुरोधेन रागतः प्राप्तस्य बाधोऽपि न्याय्य एव। अत एव न स्वार्थत्यागान्यार्थकल्पननिषेधप्रतियोगिप्रापक प्रमाणबाधलक्षणदोषत्रयवत्त्वम्। एवं श्रौतोदाहरणेऽपि 'इमामगृभ्णन्‌रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्त इत्यत्र ऋतफलसाधारणाश्वमेधसम्बन्धिनः पशो रशनां गृहीतवन्त इत्येवमर्थकस्य मन्त्रस्यार्थप्रकाशनसामर्थ्यलक्षणंलिङ्गेनाश्वरशनाऽऽदाने गर्दभादिरशनादाने चोभयत्र श्रुत्यनुमानद्वारा प्राप्स्यतः प्रागेवाश्वरशनाऽऽदाने मन्त्रविनियोगलक्षणस्य श्रुत्यर्थस्य अप्राप्तस्य सत्त्वेन श्रुतेरप्राप्तप्रापकत्वलक्षणप्रामाण्यसम्भवान्न तदनुरोधेन स्वार्थत्यागस्ततश्चान्यार्थकल्पनाप्राप्तबाधश्च नास्तीति न दोषत्रयगन्धोऽपि। तर्हि अज्ञातज्ञापकत्वलक्षणप्रामाण्यस्य सर्वत्राविशेषादपूर्वनियमपरिसंख्याविधीनां को भेद इति चेन्न, प्रमाणान्तरायोग्ये उपाये अपूर्वविधिः, पाक्षिकप्राप्ते नियमविधिः, श्रुत्यपेक्षया विलम्बितप्रत्यायकप्रमाणेनोभयप्राप्तियोग्यतया परिसंख्याविधिरिति पूर्वमेवोक्तत्वात्। अथापूर्वविधिवत् परिसंख्याविधेरपि अप्राप्तप्रापकत्वेन चरितार्थत्वादन्यनिवृत्तिः फलं न स्यादिति चेन्न, लिङ्गेन प्राप्स्यतोऽर्थस्य श्रुत्या पूर्वप्रतिपादनवैयर्थ्यादन्यनिवृत्तिफल-

दानानि दद्यादिच्छातो द्विजेभ्यः क्षत्रियोऽपि हि।
यजेच्च विविधैर्यज्ञैरधीयीत च पार्थिव॥ २६॥
शस्त्राजीवो महीरक्षा प्रवरा तस्य जीविका।
तस्यापि प्रथमे कल्पे पृथिवीपरिपालनम्॥ २७॥
धरित्रीपालनेनैव कृतकृत्या नराधिपाः।
भवन्ति नृपतेरंशा यतो यज्ञादिकर्मणाम्॥ २८॥
दुष्टानां त्रासनाद् राजा शिष्टानां परिपालनात्।

स्यावश्यकत्वात्। तथापि श्रुत्या अश्वरशनाऽऽदाने विनियुक्तस्य मन्त्रस्य पश्चाल्लिङ्गेन विनियोगासम्भवादन्यनिवृत्तिः, सुतरां सिद्धैव रशनैव परिसंख्याफलम्। अपूर्वविधेस्तु अग्निष्टोमादिषु प्रवृत्तिजननस्य सम्भवान्नान्यफलाकाङ्क्षेति। अत एव **भट्टपादाः** स्वयमाहुस्तत्र वार्त्तिके, ''अज्ञातविधिरेवायमतो मन्त्रस्य निश्चितः। परिसंख्याफलेनोक्ता न विशेषः पुनः श्रुतेः''॥ इति परिसंख्यान्यवृत्तिः फलमित्यर्थः। तत् कुत इत्यत्राह—''**न विशेष पुनः श्रुतेः**'' इति, लिङ्गजन्यभविष्यत् पुनःश्रवणस्य तत् प्रथमभवश्रुतिजन्यश्रवणस्य प्रवृत्तिलक्षणफलमात्रे विशेषाभावात् श्रुतिजन्यश्रवणस्यान्यनिवृत्तिरूप—फलमस्त्येवेत्येव कल्पनीयमित्यर्थः। केचित्तु भट्टमते परिसंख्यायाः स्मार्त्तोदाहरणं नास्तीति वदन्ति, तन्न, ''**पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः**'' इत्यादिषु उक्तप्रकारेण दोषत्रयाभावात् परिसंख्योदाहरणत्वेऽपि अदोषाद् भेदेनैव परिसंख्यालक्षणस्य सामान्येनोक्तत्वाच्च। एवम् ऋतौ भार्यामुपेयात् इत्यत्र ऋतुकालानृतुकालयोर्नित्यवत् प्राप्ततया अप्राप्तांशपूरणलक्षणफलाभावान्नियमविध्यसम्भवेन परिसंख्यैव। तर्हि, 'ऋतुस्नातान्तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति। घोरायां भ्रूणहत्यायां पच्यते नात्र संशयः।'' इति दोषश्रवणं न स्यात्। नैष दोषः, मनसि कामे सत्यपि तस्य द्वेषादिना तामनुपगच्छतो दोषश्रवणोपपत्तेरिति संक्षेपः। ''लोके व्यवायामिषमद्यसेवा, नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना।' इत्यादिशुकोक्तेश्च॥ २५॥

क्षत्रियधर्मानाह—'**दानानी**'ति चतुर्भिः॥ २६॥

शस्त्राजीवो युद्धजीविका, तस्य प्रथमे कल्पे पक्षे पृथिवीपालनं कर्माभिधीयत इति शेषः॥ २७॥

अत्र हेतुः 'धरित्री'ति। 'भवन्ति नृपतेरंशाः'—''**पुण्यात् षड्गुणमादत्ते न्यायतः परिपालयन्**'' इत्यादिस्मृतेः स्वयमेकेनानुष्ठितधर्मात् प्रतिपालितविप्राद्यनुष्ठितधर्मषष्ठांशो भूयादिति भावः॥ २८॥

प्राप्नोत्यभिमताँल्लोकान् वर्णसंस्थाकरो नृपः॥ २९॥

पाशुपाल्यञ्च वाणिज्यं कृषिञ्च मनुजेश्वर!

वैश्याय जीविकां ब्रह्मा ददौ लोकपितामहः॥ ३०॥

तस्याप्यध्ययनं यज्ञो दानं धर्मश्च शस्यते।

नित्यनैमित्तिकादीनामनुष्ठानञ्च कर्मणाम्॥ ३१॥

द्विजातिसंश्रयं कर्म तादर्थ्यं तेन पोषणम्।

क्रयविक्रयजैर्वापि धनैः कारूद्भवेन वा॥ ३२॥

(शूद्रस्य सन्नतिः शौचं सेवा स्वामिन्यमायया।

अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्सङ्गो विप्ररक्षणम्)॥ ३३॥

दानञ्च दद्याच्छूद्रोऽपि पाकयज्ञैर्यजेत च।

पित्र्यादिकञ्च तत्सर्वं शूद्रः कुर्वीत तेन वै॥ ३४॥

भृत्यादिभरणार्थाय सर्वेषाञ्च परिग्रहः।

ऋतुकालेऽभिगमनं स्वदारेषु महीपते॥ ३५॥

दया समस्तभूतेषु तितिक्षानभिमानिता।

सत्यं शौचमनायासो मङ्गल्यं प्रियवादिता॥ ३६॥

मैत्रस्पृहा तथा तद्वदकार्पण्यं नरेश्वर!

वर्णानां संस्था मर्यादा तां करोतीति तथा। वर्णसंस्कारक इति पाठे संस्कारको गुणाधानकर्त्ता॥ २९॥

वैश्यधर्मानप्याह—'**पाशुपाल्य**'मिति द्वाभ्याम्॥ ३०॥

शूद्राणामप्याह—'**द्विजाती**' ति। द्विजातिसंश्रयं त्रैवर्णिकशुश्रूषालक्षणं कर्म, तादर्थ्यं तत्पारतन्त्र्यञ्च स्वधर्मः। तेन द्विजशुश्रूषालब्धेनात्मपोषणं मुख्यम्। आपदि तु क्रयविक्रयजैर्वाणिज्यलब्धैः तदसम्भवे तक्षादिकारुकर्मोद्भवेन द्रव्येण पोषणं शूद्रस्य। ''द्विजशुश्रूषया जीवन्न हीयते'' इति शुकोक्तेः॥ ३२॥

पाकयज्ञैर्वैश्वदेवाख्यैः। ''नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्च यज्ञान्न हापयेत्'' इति याज्ञवल्क्योक्तेः पित्र्यादिकं श्राद्धादि। तेन द्विजशुश्रूषालब्धेन द्रव्येण कुर्वीत॥ ३४॥

पुनः सर्वेषां साधारणधर्मानाह—'**भृत्यादी**' ति अक्षरद्वयाधिकैः सार्धैस्त्रिभिः एते। परिग्रहाद्याः सर्वेषां सामान्यलक्षणा इति चतुर्थेनान्वयः। परिग्रहोऽर्थसम्पादनम्॥ ३५॥

अनसूया च सामान्या वर्णानां कथिता गुणाः॥ ३७॥
आश्रमाणाञ्च सर्वेषामेते सामान्यलक्षणाः।
गुणोस्तथापद्धर्मांश्च विप्रादीनामिमाञ्छृणु॥ ३८॥
क्षात्रं कर्म द्विजस्योक्तं वैश्यं कर्म तथापदि।
राजन्यस्य च वैश्योक्तं शूद्रकर्म न वै तयोः॥ ३९॥
सामर्थ्ये सति तत्त्याज्यमुभाभ्यामपि पार्थिव!
ततेवापदि कर्त्तव्यं न कुर्यात् कर्मसङ्करम्॥ ४०॥
इत्येते कथिता राजन् वर्णधर्मा मया तव।
धर्ममाश्रमिणां सम्यग् ब्रुवतो मे निशामय॥ ४१॥

इति श्रीविष्णुपुराणे तृतीयांऽशे अष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

दया परदुःखप्रहरणेच्छा, तितिक्षा शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता, अनभिमानिता आत्मनि श्रेष्ठत्वाद्यभिमानशून्यता, सत्यं यथार्थकथनम्, शौचम् ''मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम्'' तत् द्विविधम्। ''शरीरं पीड्यते येन सुशुभेनापि कर्मणा। अत्यन्तं तत्र कुर्वीत अनायासः स उच्यते'' इत्यनायासः। मङ्गलम् ''शिरः सपुष्पं चरणौ सुपूजितौ'' इत्युक्तम्। मैत्री सर्वमित्रभावेन वर्त्तनम्, अस्पृहा प्राणयात्रामात्रनिमित्तादन्यत्रानभिलाषः। ''अत्युष्णात् सघृतादन्नादच्छिद्राच्चैव वाससः। अपरप्रेष्यभावाच्च नूय इच्छन् पतत्यधः॥'' इति। अकार्पण्यं यथाशक्ति दानम् अनसूया गुणेषु दोषारोपाभावः॥ ३७॥

उक्तरीत्या वैश्यशूद्रकर्मप्राप्तौ तन्निषेधमाह एतयोः क्षत्रियवैश्ययोः, ब्राह्मणस्याप्युपलक्षणम्॥ ३९॥

उभाभ्यां क्षत्रियवैश्याभ्यां, ब्राह्मणेनापि अत्र शक्तस्य मुख्यकल्पनिर्बन्धः, अशक्तस्यानुकल्पाश्रयः एव। कर्मसङ्करं वृत्त्योव्यतिकरम्॥ ४०॥

उक्तानुवादपूर्वकम् आश्रमधर्मान् वक्तुं प्रतिजानीते 'इती' ति॥ ४१॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाख्यायां स्वप्रकाशाख्यायां वा श्री विष्णुपुराणटीकायां तृतीयांऽशे अष्टमोऽध्यायः

नवमोऽध्याय:

(ब्रह्मचर्य्याद्याश्रमचतुष्टयवर्णनम्)

और्व उवाच

बाल: कृतोपनयनो वेदाहरणतत्पर:।
गुरुगेहे वसेद् भूप ब्रह्मचारी समाहित:॥ १॥
शौचाचारवता तत्र कार्यं शुश्रूषणं गुरो:।
व्रतानि चरता ग्राह्यो वेदश्च कृतबुद्धिना॥ २॥
उभे सन्ध्ये रविं भूप! तथैवाग्निं समाहित:।
उपतिष्ठेत्तदा कुर्याद् गुरोरप्यभिवादनम्॥ ३॥
स्थिते तिष्ठेद् व्रजेद् याते नीचैरासीत् तथासति।
शिष्यो गुरौ नृपश्रेष्ठ! प्रतिकूलं न सम्भजेत्॥ ४॥
तेनैवोक्त: पठेद् वेदं नान्यचित्त: पुर: स्थित:।
अनुज्ञातश्च भिक्षान्नमश्नीयाद् गुरुणा तत:॥ ५॥
अवगाहेदप: पूर्वमाचार्येणावगाहिता:।
समिज्जलादिकञ्चास्य कल्यं कल्यमुपानयेत्॥ ६॥
गृहीतग्राह्यवेदश्च ततोऽनुज्ञामवाप्य च।
गार्हस्थ्यमावसेत्प्राज्ञो निष्पन्नगुरुनिष्कृति:॥ ७॥

निरुच्य हरितोषार्थान् वर्णधर्मानशेषत:। तत्तदाश्रमधर्माश्च नवमेऽत्र निरूपिता:॥ १॥

व्रतानि ''प्राजापत्यं तथा सौम्यमाग्नेयं वैश्वदैविकम्'' इत्यादीनि मधुमांसवर्जनादीनि च चरता कुर्वता वेदो ग्राह्य:॥ २॥

स्थिते ऊर्ध्वीभूते गुरौ शिष्यस्तिष्ठेत् ऊर्ध्वीभवेत्, तथा आसति आसीने नीचै: हीनभावेनासीत, प्रतिकूलमेतद्विपरीतं न कुर्यात्॥ ४॥

तेनैवोक्त: पठेत् न तु शीघ्राध्यापनाय गुरुं नियुञ्जीत॥ ५॥

आचार्य्येणावगाहिता अपोऽवगाहे। कल्यं कल्यं प्रात: प्रात:॥ ६॥

गृहीतो ग्राह्यो ग्रहणार्हो वेदो येन स:। निष्पन्नगुरुनिष्कृति: दत्तगुरुदक्षिण:॥ ७॥

विधिनावाप्तदारस्तु धनं प्राप्य स्वकर्मणा।
गृहस्थकार्यमखिलं कुर्याद् भूपाल! शक्तितः॥ ८॥
निवापेन पितॄनर्चेद् यज्ञैर्देवांस्तथातिथीन्।
अन्नैर्मुनींश्च स्वाध्यायैरपत्येन प्रजापतिम्॥ ९॥
बलिकर्मणा भूतानि वाक्सत्येनाखिलं जगत्।
प्राप्नोति लोकान् पुरुषो निजकर्मसमर्जितान्॥ १०॥
भिक्षाभुजश्च ये केचित् परिव्राड्ब्रह्मचारिणः।
तेऽप्यत्रैव प्रतिष्ठन्ते गार्हस्थ्यं तेन वै परम्॥ ११॥
वेदाहरणकार्याय तीर्थस्नानाय च प्रभो!।
अटन्ति वसुधां विप्राः पृथिवीदर्शनाय च॥ १२॥
अनिकेता ह्यनाहारा यत्रसायङ्गृहाश्च ये।
तेषां गृहस्थः सर्वेषां प्रतिष्ठा योनिरेव च॥ १३॥
तेषां स्वागतदानादि वक्तव्यं मधुरं नृप।
गृहागतानां दद्याच्च शयनासनभोजनम्॥ १४॥
अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति॥ १५॥

विधिना ब्राह्मार्षादिना, स्वकर्मणा याजनादिना॥ ८॥

निवापेन पिण्डदानादिना, पितॄनिति पितृयज्ञो दर्शितः, यज्ञैर्देवानिति देवयज्ञः, अतिथीनन्नैरिति मनुष्ययज्ञः, मुनींश्च स्वाध्यायैरिति ब्रह्मयज्ञः, अपत्येन प्रजापतिमिति प्रसङ्गाद् गृहस्थस्यावश्यकं कर्त्तव्यमित्युक्तम्॥ ९॥

बलिकर्मणा भूतानीति भूतयज्ञः। वाक्सत्येन सत्यवचनेन। वात्सल्येनेति पाठे दातृत्वेनोपकर्त्तृत्वेन वा॥ १०॥

अटन्ति भ्राम्यन्ति॥ १२॥

अनिकेताः अगृहाः, आनाहाराः अहारार्थं सञ्चयरहिताः, यत्र सायं तत्रैव गृहं येषां ते, प्रतिष्ठा आश्रयः, योनिर्माता सस्नेहमन्नदानादिना देहपोषकत्वात्॥ १३॥

अतस्तेषां गृहागतानां स्वागतोक्तिपूर्वकं मधुरं प्रियं वक्तव्यम्॥ १४॥

स भग्नाशोऽतिथिस्तस्मै पापं दत्त्वेति नित्यकर्मरूपातिथिपूजाभावेन प्रत्यवायोत्पत्तेः। पुण्यमादायेति तत्पूजाजन्यपुण्यानुत्पत्तेरेवमुपचर्य्यते॥ १५॥

अवज्ञानमहङ्कारो दम्भश्चैव गृहे सतः।
परितापोपघातौ च पारुष्यञ्च न शस्यते॥ १६॥
यस्य सम्यक् करोत्येवं गृहस्थः परमं विधिम्।
सर्वबन्धविनिर्मुक्तो लोकानाप्नोत्यनुत्तमान्॥ १७॥
वयःपरिणतौ राजन्! कृतकृत्यो गृहाश्रमी।
पुत्रेषु भार्यां निक्षप्य वनं गच्छेत् सहैव वा॥ १८॥
पर्ण-मूल-फलाहारः केशश्मश्रुजटाधरः।
भूमिशायी भवेत्तत्र मुनिः सर्वातिथिर्नृप॥ १९॥
चर्मकाशकुशैः कुर्यात् परिधानोत्तरीयके।
तद्वत् त्रिसवनं स्नानं शस्तमस्य नरेश्वर॥ २०॥
देवताभ्यर्चनं होमः सर्वाभ्यागतपूजनम्।
भिक्षा बलिप्रदानञ्च शस्तमस्य नरेश्वर॥ २१॥
वन्यस्नेहेन गात्राणामभ्यङ्गश्चास्य शस्यते।
तपश्च तस्य राजेन्द्र! शीतोष्णादिसहिष्णुता॥ २२॥
यस्त्वेतां निहितश्चर्यां वानप्रस्थश्चरेन्मुनिः।
स दहत्यग्निवद्दोषान् जयेल्लोकांश्च शाश्वतान्॥ २३॥
चतुर्थश्चाश्रमो भिक्षोः प्रोच्यते यो मनीषिभिः।
तस्य स्वरूपं गदतो मम श्रोतुं नृपार्हसि॥ २४॥

अहङ्कार आत्मन्युत्कर्षबुद्धिः। दम्भो लाभाद्यर्थं धर्माचरणम्। परितापो वृथा दत्तमित्युरुतापः। उपघातः प्रतिघातः ताडनं वा। पारुष्यं निष्ठुरता॥ १६॥

सर्वबन्धैर्विमुक्तः सन्॥ १७॥

कृतं कृत्यं गृहोचितं येन सः॥ १८॥

सर्वातिथिः सर्वातिथिपूजकः। अतिथिरज्ञातपूर्वः॥ १९॥

त्रिसवनं त्रिकालस्नानम्, अभ्यागतोऽज्ञातपूर्वः॥ २०॥

वन्यस्नेहेन इङ्गु दीतैलादिना। तपस्यतस्तपश्चरतः॥ २२॥

जपेत् प्राप्नुयात्॥ २३॥

पुत्रद्रव्यकलत्रेषु त्यक्तस्नेहो नराधिप!
चतुर्थमाश्रमं स्थानं गच्छेन्निर्धूतमत्सरः॥ २५॥
त्रैवर्गिकांस्त्यजेत् सर्वानारम्भानवनीपते!
मित्रादिषु समो मैत्रः समस्तेष्वेव जन्तुषु॥ २६॥
जरायुजाण्डजादीनां वाङ्-मनः-कायकर्मभिः।
युक्तः कुर्वीत न द्रोहं सर्वसङ्गांश्च वर्जयेत्॥ २७॥
एकरात्रस्थितिर्ग्रामे पञ्चरात्रस्थितिः पुरे।
तथा तिष्ठेद् यथा प्रीतिर्द्वेषो वा नास्य जायते॥ २८॥
प्राणयात्रानिमित्तञ्च व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
काले प्रशस्तवणानां भिक्षार्थं पर्यटेद् गृहान्॥ २९॥
कामः क्रोधस्तथा दर्पमोहलोभादयश्च ये।
तांस्तु दोषान् परित्यज्य परिव्राड् निर्ममो भवेत्॥ ३०॥
अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः।
तस्यापि सर्वभूतेभ्यो न भयं विद्यते क्वचित्॥ ३१॥
कृत्वाग्निहोत्रं स्वशरीरसंस्थं शारीरमग्निं स्वमुखे जुहोति।
विप्रस्तु भैक्ष्योपगतैर्हविर्भिश्चिताग्निना स व्रजति स्म लोकान्॥ ३२॥

चतुर्थमाश्रमं स्थानं विश्रामहेतुः॥ २५॥

त्रैवर्गिकान् धर्मार्थकामहेतुभूतान् आरम्भान् लौकिकवैदिकोद्योगान् त्यक्त्वा ब्रह्मनिष्ठां कुर्यादिति भावः॥ २६॥

एकरात्रस्थित्यादावपि विशेषमाह—'तथे'ति॥ २८॥

विगताः शान्ता निर्वाणा अङ्गारा यस्मिन्। भुक्तवन्तो जना यस्मिन् तस्मिन् काले। प्रशस्ताः श्रेष्ठास्त्रयो वर्णा ये तेषाम्॥ २९॥

भिक्षान्नभक्षण एवोपासनामाह—'कृत्वे' ति। अग्निहोत्रं पूर्वं हूयमानं वह्निं शरीरसंस्थं कृत्वा प्राजापत्येष्ट्यनन्तरमात्मन्यग्नीनाधाय भिक्षारूपैर्हविर्भिः स्वमुखे कुण्डस्थानीये शारीरं प्राणादियुक्तं जाठरमग्निमुद्दिश्य 'चिताग्निना जाठरोऽग्निर्भुङ्क्ते नाह'मिति चिता चैतन्येनाग्निना अनुसन्धानेन यो जुहोति, स लोकानर्थादग्निहोत्रिणां व्रजतीत्युपासनाफलोक्तिः। यद्वा लोक्यते इति लोको ब्रह्मैव, बहुत्वमविवक्षितम्। चिताग्निनेति पाठे॥ ३२॥

मोक्षाश्रमं यश्चरते यथोक्तं शुचिः स्वसङ्कल्पितबुद्धियुक्तः।
अनिन्धनं ज्योतिरिव प्रशान्तः स ब्रह्मलोकं जयति द्विजातिः॥ ३३॥

इति श्रीविष्णुपुराणे तृतीयांशे नवमोऽध्यायः॥ ९॥

इदानीमाश्रमपालनस्य परमफलमाह—'**मोक्षे**'ति। स्वस्मिन् ब्रह्मणि सङ्कल्पितमिदं विश्वमिति बुद्धियुक्तः, ब्रह्मैव लोकस्तम्, अनिन्धनं विधूमं 'यथा ज्योतिर्विधूम'मित्यादिश्रुतेः। द्विजातिरिति पूर्वश्लोकोक्तस्य विप्रस्योक्तिः। 'गतिस्तुर्य्याश्रमे नास्ति बाहुजोरुजयोः क्वचित्। तुर्याश्रमे गतिः प्रोक्ता मुखजानां स्वयम्भुवा।'' इति दत्तात्रेयोक्ते, 'ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहा'दिति यमसंवर्त्तबौधायनवचनाच्च॥ ३३॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायां स्वप्रकाशाख्यायां वा श्रीविष्णुपुराणटीकायां तृतीयांशे नवमोऽध्यायः समाप्तः॥

दशमोऽध्यायः
(जातकर्मादिक्रियायाः कन्यायाश्च लक्षणनिरूपणम्)

सगर उवाच

कथितं चातुराश्रम्यं चातुर्वर्ण्यक्रियास्तथा।
पुंसः क्रियामहं श्रोतुमिच्छामि द्विजसत्तम॥ १॥
नित्यां नैमित्तिकीं काम्यां क्रियां पुंसामशेषतः।
समाख्याहि भृगुश्रेष्ठ सर्वज्ञो ह्यसि मे मतः॥ २॥

और्व उवाच

यदेतदुक्तं भवता नित्यनैमित्तिकाश्रितम्।
तदहं कथयिष्यामि शृणुष्वैकमना नृप॥ ३॥
जातस्य जातकर्मादिक्रियाकाण्डमशेषतः।
पुत्रस्य कुर्वीत पिता श्राद्धञ्चाभ्युदयात्मकम्॥ ४॥
युग्मांस्तु प्राङ्मुखान् विप्रा भोजयेन्मनुजेश्वर!
यथा वृत्तिस्तथा कुर्याद्दैवं पित्र्यं द्विजन्मनाम्॥ ५॥

पुंसः षोडशसंस्कारैर्वर्णाश्रमनिवेशनम्। अतस्तानाह दशमे बाहुल्येन द्विजातिषु। चत्वार आश्रमा एव चातुराश्रम्यं तद्धर्मः कथितः, एवञ्चातुर्वर्ण्यक्रिया अपि पुंसः क्रियां षोडशसंस्काररूपाम्॥ १॥

नित्यामहरहः क्रियमाणां प्रत्यवायपरिहारफलाम्, नैमित्तिकीं राहुदर्शादौ निमित्ते सति विहितानामकरणात् प्रत्यवायप्रदाम् काम्यां कामाय हिताम् अग्निष्टोमादिकाम्॥ २॥

नित्यनैमितिकाश्रितमिति काम्यस्याप्युपलक्षणम्॥ ३॥

जातस्य पुत्रस्य जातकर्म च आदिक्रियाकाण्डञ्च जन्मनः प्राचीनं गर्भाधानपुंसवनादिक्रियासमूहं पिता कुर्वीत इत्यर्थः। तदुक्तम् ''**गर्भाधानमृतौ पुंसः सवनं स्पन्दनात् पुरा**'' इति॥ ४॥

द्विजन्मनां ब्राह्मणानां यथावृत्ति यथोपचारं दैवं देवसम्बन्धिकर्म पित्र्यं पितृसम्बन्धिकर्म कुर्यात्। अभ्युदयश्राद्धोक्तेन विशेषेण प्रदक्षिणोपचारादिना दैवपित्र्यश्राद्धं कुर्यात् इत्यर्थः॥ ५॥

दध्ना यवैः सवदरैर्मिश्रान् पिण्डान् मुदा युतः।
नान्दीमुखेभ्यस्तीर्थेन दद्यान् दैवेन पार्थिव॥ ६॥
प्राजापत्येन वा सर्वमुपचारं प्रदक्षिणम्।
कुर्वीत तत्तथाशेषवृद्धिकालेषु भूपते॥ ७॥
ततश्च नाम कुर्वीत पितैव दशमेऽहनि।
देवपूर्वं नराख्यं हि शमवर्मादिसंयुतम्॥ ८॥
शर्मेति ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंश्रयम्।
गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्य-शूद्रयोः॥ ९॥
नार्थहीनं न चाशस्तं नापशब्दयुतं तथा।
नामङ्गल्यं वा जुगुप्स्यं नाम कुर्यात् समाक्षरम्॥ १०॥
नातिदीर्घं नातिह्रस्वं नातिगुर्वक्षरान्वितम्।
सुखोच्चार्य्यन्तु तन्नाम कुर्याद् यत् प्रवणाक्षरम्॥ ११॥
ततोऽनन्तरसंस्कारसंस्कृतो गुरुवेश्मनि।
यथोक्तविधिमाश्रित्य कुर्याद् विद्यापरिग्रहम्॥ १२॥

तदेवाह—'दध्ने'ति। दैवेन कराग्रेण॥ ६॥

प्राजापत्येन कनिष्ठामूलेन। तदुक्तम्, ''**कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ठमूलान्यग्रं करस्य च। प्रजापति-पितृ-ब्रह्म-देवतीर्थान्यनुक्रमात्।**'' इति। अशेषवृद्धिकालेषु कन्या पुत्रविवाहेष्वित्यादना वक्ष्यमाणेषु॥ ७॥

दशमेऽहनि अतीत इति शेषः। तच्चाशौचान्तोपलक्षणम्। अत्रैव कालान्तरमप्याह यथा—''**नामधेयं दशम्याञ्च केचिदिच्छन्ति पार्थिव। द्वादश्यामथवा रात्र्यां मासे पूर्णे तथापरे।**'' इति। देवपूर्वं कुलदेवतानामपूर्वकं 'कुलदेवतासम्बद्धं नाम कुर्यादिति **शंखोक्तेः**। नराख्यं पुरुषवाचकम्। तत्र प्रान्ते शर्मवर्मादिसंयुतम् यथा सोमशर्मा इन्द्रवर्मा, चन्द्रवर्मा, चन्द्रगुप्तः शिवदासः इत्यादि॥ ८॥

अर्थहीनं डित्थादि, अप्रशस्तं देवभाषायां लज्जावहम्, अपशब्दं गुह्यकेशादि, जुगुप्स्यं बीभत्सरूपम्, समाक्षरं द्व्यक्षरचतुरक्षरादि नाम कुर्यात्॥ १०॥

अतिदीर्घं बह्वक्षरं ह्रस्वम् अल्पाक्षरम् प्रणवाक्षरं लब्धान्तराक्षरम्॥ ११॥

अनन्तरसंस्कारैर्निष्क्रमणान्नप्राशन चूडो-पनयनाख्यैः संस्कृतः सन् यथोक्तं गुरुशुश्रूषादिलक्षणं विधिमाश्रित्य॥ १२॥

गृहीतविद्यो गुरवे दत्त्वा च गुरुदक्षिणाम्।
गार्हस्थ्यमिच्छन् भूपाल! कुर्याद् दारपरिग्रहम्॥ १३॥
ब्रह्मचर्येण वा कालं कुर्यात् सङ्कल्पपूर्वकम्।
गुरोः शुश्रूषणं कुर्यात् तत्पुत्रादेरथापि वा॥ १४॥
वैखानसो वापि भवेत् प्रव्रजेद् वा यथेच्छया।
पूर्वसङ्कल्पितं यादृक् तादृक् कुर्यान्नराधिप॥ १५॥
वर्षैरेकगुणां भार्यामुद्वहेत् त्रिगुणः स्वयम्।
नातिकेशामकेशां वा नातिकृष्णां न पिङ्गलाम्॥ १६॥
निसर्गतो विकलाङ्गीमधिकाङ्गींञ्च नोद्वहेत्।
नावशुद्धां सरोगां वाऽकुलजां वातिरोगिणीम्॥ १७॥
न दुष्टां दुष्टवाचाटां व्यङ्गिनीं पितृ-मातृतः।
न श्मश्रुव्यञ्जनवतीं न चैव पुरुषाकृतिम्॥ १८॥

मध्ये नैष्ठिकं ब्रह्मचर्यमाह—**ब्रह्मचर्येणे**' ति॥ वा गार्हस्थ्यानिच्छायामित्यर्थः कालं कुर्यात् नयेत्॥ १४॥

वैखानसो वानप्रस्थः। इच्छया आश्रमादाश्रमं गच्छेत्। यावज्जीवं ममायमेवाश्रम इति यदि पूर्वसङ्कल्पितं, तदा तत्रैव तिष्ठेत्, नाश्रमान्तरं गच्छेत्, एतच्च दृढवैराग्याभावे द्रष्टव्यम्। तत्रापि दृढविरक्तौ तु यतिः स्यादेव। **''यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्''**। इति श्रुतेः॥ १५॥

वर्षैरेकगुणामिति यवीयस्या एवोपलक्षणम्, अन्यथा साङ्गवेदाध्ययनासक्तस्य स्मृत्यनुमिताष्टचत्वारिंशद्वर्षावधिकब्रह्मचर्यस्य त्रिंशद्वर्षादूर्द्ध्वं विवाहे ''दशवर्षा भवेत् कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला'' इति निन्दितरजस्वलाविवाहापत्तेः, ''असपिण्डां यवीयसीम्'' इति स्मृतेश्च। अतिकेशां केशग्रस्ताम्, अकेशां निष्केशप्रायाम्॥ १६॥

निसर्गतो गर्भावस्थायामेव, अविशुद्धां पातकादिदुष्टाम्, सरोगां सहजरोगाम्, अकुलजां दुष्कुलाम्, अतिरोगिणीमुत्कटरोगिणीम्॥ १७॥

दुष्टां शूद्रादिसंवर्द्धिताम्, दुष्टवाचाटां बहुविरुद्धदुर्भाषिणीम् व्यङ्गिनीं पितृतो मातृतश्च कुष्ठिनीं कुष्ठिपितृमातृजामित्यर्थः, श्मश्रूण्येव व्यञ्जनं पुंस्त्वव्यञ्जकं तद्युक्ताम्॥ १८॥

न घर्घरस्वरां क्षाम-वाक्यां काकस्वरां न च।
नानिबद्धेक्षणा तद्वद् वृत्ताक्षीं नोद्वहेद् बुधः॥ १९॥
यस्याश्च रोमशे जङ्घे गुल्फौ यस्यास्तथोन्नतौ।
गण्डयोः कूपकौ यस्या हसन्त्यास्तां न चोद्वहेत्॥ २०॥
नोद्वहेत् तादृशीं कन्यां प्राज्ञः कार्यविशारदः।
नातिरूक्षच्छविं पाण्डु करजामरुणेक्षणाम्॥ २१॥
आपीनहस्तपादाञ्च न कन्यामुद्वहेद् बुधः।
न वामनां नातिदीर्घां नोद्वहेत् संहतभ्रुवम्॥ २२॥
न चातिच्छिद्रदशनां न करालमुखीं नरः।
पञ्चमीं मातृपक्षाच्च पितृपक्षाच्च सप्तमीम्॥ २३॥
गृहस्थश्चोदवहेत् कन्यां न्यायेन विधिना नृप!
ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः॥ २४॥

क्षामवाक्यां स्वभावत एवावसन्नवचनाम्, अनिबद्धेक्षणां पक्ष्मभिरसंवृतेक्षणां, निषिद्धेदऽपि अनिरुद्धदर्शनां वा, निद्रायामपि अर्द्धनिमीलितनेत्रामिति वा, वृत्ताक्षीं वर्त्तुलनयनाम्॥ १९॥

यस्या हसन्त्याः गण्डयोः कूपकौ गतौ भवतस्तां नोद्वहेत्। तादृशीमिति। पुनर्निषेधोऽतिदोषख्यापनाय। क्वचित् पुस्तकेऽयमर्द्धश्लोको नास्त्येव। 'हसन्त्याश्चैव जायते' इति पाठे एकवचनमार्षम्॥ २०॥

पाण्डुकरजां श्वेतनखाम्॥ २१॥ संहते भ्रुवौ यस्यास्ताम्॥ २२॥

करालमुखीं दन्तुरास्याम्। पञ्चमीमिति। मातृपक्षात् मातृसन्तानात् पञ्चमीं पितृपक्षात् पितृसन्तानात् सप्तमीं विहायेति शेषः।

''**पञ्चमात् सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा**'' इति वचनात्। तथा च मातरमारभ्य तत्पितृपितामहादिगणनायां पञ्चमपुरुषसन्तानवर्त्तिनी मातृपक्षे पञ्चमीत्युच्यते। सन्तानभेदेऽपि यतः सन्तानभेदमादाय गणयेत् यावत् पञ्चम इति। एवं पितृपक्षसप्तमीति ज्ञेयम्। तां नोद्वहेत् ततः परामुद्वहेदित्यर्थः॥ २३॥

तमेव न्याय्यं विधिं दर्शयितुं अष्टौ विवाहानाह—'**ब्राह्म**' इति। यथा, ब्राह्मो विवाह आहूय दीयते शक्त्यलङ्कृता। यज्ञस्य ऋत्विजे दैव आदायार्षस्तु गोद्वयम्। सहोभौ चरतां धर्मं प्राजापत्यो विधिः स्मृतः। आसुरो द्रविणादानाद् गान्धर्वः समयान्मिथः। राक्षसो युद्धहरणात् पैशाचः कन्यकाच्छलात्।'' इति॥ २५॥

गान्धर्वराक्षसौ चान्यौ पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥ २५॥

एतेषां यस्य यो धर्मो वर्णस्योक्तो महर्षिभिः।

कुर्वीत दाराहरणम् तेनान्त्यं परिवर्जयेत्॥ २६॥

सधर्मचारिणीं प्राप्य गार्हस्थ्यं सहितस्तया।

समुद्वहेद् ददात्येषा सम्यगूढा महाफलम्॥ २७॥

इति श्रीविष्णुपुराणे तृतीयांऽशे दशमोऽध्यायः॥ १॥

'एतेषा' मिति। यदाह देवलः—आद्या विवाहश्चत्वारो धर्म्यास्तोयप्रदानिकाः। अशुल्का ब्राह्मणार्हाश्च तारयन्ति द्वयोः कुलम्। गान्धर्व-राक्षसौ राज्ञ आसुरो वैश्य-शूद्रयोः। स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचः प्रथितोऽष्टमः'' इति। अन्त्यम् पैशाचम्॥ २६॥

समुद्वहेत् कुर्यात्, एषा पूर्वोक्तलक्षणा सम्यक् विधिवत् ऊढा सती महाफलं ददाति। एतत् सम्यगूढं महाफलमिति पाठे एतद्गार्हस्थ्यमूढं प्रतिपादितं सदित्यर्थः॥ २७॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायां श्रीविष्णुपुराणटीकायां

स्वप्रकाशाख्यायामात्मप्रकाशाख्यायां वा तृतीयांऽशे दशमोऽध्यायः॥

एकादशोऽध्यायः

(गृहस्थसदाचाराणां मूत्रपुरीषोत्सर्गादिविधेश्च वर्णनम्।)

सगर उवाच

गृहस्थस्य सदाचारं श्रोतुमिच्छाम्यहं मुने!
लोकादस्मात् परस्माच्च यमातिष्ठन्न हीयते॥ १॥

और्व उवाच

श्रूयतां पृथिवीपाल! सदाचारस्य लक्षणम्।
सदाचारवता पुंसा जितौ लोकावुभावपि॥ २॥
साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः।
तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते॥ ३॥
सप्तर्षयोऽथ मनवः प्रजानां पतयस्तथा।
सदाचारस्य वक्तारः कर्तारश्च महीपते॥ ४॥
ब्राह्मेमुहूर्ते सुस्थे च मानसे मतिमान् नृप!
विबुद्धश्चिन्तयेद् धर्ममर्थञ्चास्याविरोधिनम्॥ ५॥
अपीडया तयोः काममुभयोरपि चिन्तयेत्।
दृष्टादृष्टविनाशाय त्रिवर्गे समदर्शिता॥ ६॥
परित्यजेदर्थकामौ धर्मपीडाकरौ नृप!

गर्भाधानादिना पुंसः संस्कृतस्य कृतिं ब्रुवन्। एकादशे सदाचारान् प्राह श्रीहरितोषणान्। ब्राह्मे मुहूर्त्ते सूर्योदयात् पूर्वं तृतीये मुहूर्त्ते। अर्थश्चास्य धर्मस्याविरोधिनम्॥५॥

तयोर्धर्मार्थयोदृष्टार्दृष्टविनाशाय दृष्टादृष्टविनाशनिवृत्तये, तादर्थ्ये चतुर्थीत्यत्रार्थशब्दस्य निवृत्तेरपि वाचकत्वात्। यद्वा विनाशमपनेतुमित्यर्थः। क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिन इति चतुर्थी। यथा रघौ वनं गन्तुमित्यर्थे ''वनाय पीतप्रतिबद्धवत्साम्'' इति। दृष्टादृष्टविनाशायेति पाठः सुगमः। त्रिवर्गे समदर्शिता परस्पराविरोधेन भवत्विति समदृष्टिः॥६॥

'धर्ममपी' ति—व्याघ्रचौरादिसमाक्रान्ततीर्थगमनादि असुखोदर्कं दुःखोत्तरफलकं, लोकविद्विष्टं सौत्रामण्यादौ सुराग्रहादि॥७॥

धर्ममप्यसुखोदर्कं लोकविद्विष्टमेव च॥७॥
ततः कल्यं समुत्थाय कुर्यान्मैत्रं नरेश्वर!
नैर्ऋत्यामिषुविक्षेपमतीत्याभ्यधिकं भुवः॥८॥
दूरादावसथान्मूत्रं पुरीषञ्च विसर्जयेत्।
पादावसेचनोच्छिष्टे प्रक्षिपेन्न गृहाङ्गणे॥९॥
आत्मच्छायां तरुच्छायां गोसूर्याग्न्यनिलांस्तथा।
गुरुद्विजातींस्तु बुधो न मेहेत कदाचन॥१०॥
न कृष्टे शस्यमध्ये वा गोव्रजे जनसंसदि।
न वर्त्मनि न नद्यादितीर्थेषु पुरुषर्षभ॥११॥
नाप्सु नैवाम्भसस्तीरे श्मशाने न समाचरेत्।
उत्सर्गं वै पुरीषस्य मूत्रस्य च विसर्जनम्॥१२॥
उदङ्मुखो दिवा मूत्रं विपरीतमुखे निशि।
कूर्वीतानापदि प्राज्ञो मूत्रोत्सर्गञ्च पार्थिव॥१३॥
तृणैरास्तीर्य वसुधां वस्त्रप्रावृतमस्तकः।
तिष्ठेन्नातिचिरं तत्र नैव किञ्चिदुदीरयेत्॥१४॥
वल्मीकमूषिकोत्खातां मृदमन्तर्जलां तथा।
शौचावशिष्टां गेहाच्च नादद्याल्लेपसम्भवाम्॥१५॥
अन्तःप्राण्यवपन्नां च हलोत्खाताञ्च पार्थिव!
परित्यजेन्मृदो ह्येताः सकलाः शौचकर्मणि॥१६॥
एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथा वामकरे दश।

कल्यमुषसि, मैत्रं मित्राधिष्ठितपायूकृतं मलोत्सर्गादि ग्रामान्नैर्ऋत्यां, तदसम्भवेषु आवसथाद् दूरे॥८॥

गृहाङ्गणे सदासञ्चारदेशे॥९॥

'आत्मच्छाया'मिति। एतान् पुरस्कृत्य न मेहेत इत्यर्थः॥१०॥

लेपसम्भवां गृहलेपनगताम्॥१५॥

अन्तःप्राण्यवपन्नाञ्च कीटाद्युपहताम्, अणुप्राण्यवपन्नामिति पाठे अणुभिरतिसूक्ष्मैः प्राणिभिरवपन्नां युक्तामित्यर्थः॥१६॥

एकाद्या मृदः शौचोपपादिकाः॥१७॥

हस्तद्वये च सप्त स्युर्मृदः शौचोपपादिकाः॥ १७॥
अच्छेनागन्धफेनेन जलेनाबुद्बुदेन च।
आचामेच्च मृदं भूयस्तथा दद्यात् समाहितः॥ १८॥
निष्पादिताङ्घ्रिशौचस्तु पादावभ्युक्ष्य वै पुनः।
त्रि पिबेत् सलिलं तेन तथा द्विः परिमार्जयेत्॥ १९॥
शीर्षण्यानि ततः खानि मूर्द्धानञ्च समालभेत्।
बाहू नाभिञ्च तोयेन हृदयञ्चापि संस्पृशेत्॥ २०॥
आचान्तस्तु ततः कुर्यात् पुमान् केशप्रसाधनम्।
आदर्शाञ्जनमाङ्गल्यं दूर्वाद्यालम्भनानि च॥ २१॥
ततः स्ववर्णधर्मेण वृत्त्यर्थञ्च धनार्जनम्।
कुर्वीत श्रद्धासम्पन्नो यजेच्च पृथिवीपते॥ २२॥
सोमसंस्था हविःसंस्था पाकसंस्थाश्च संस्थिताः।
धने यतो मनुष्याणां यतेतातो धनार्जने॥ २३॥
नदी-नद-तडागेषु देवखातजलेषु च।
नित्यक्रियार्थं स्नायीत गिरिप्रस्रवणेषु च॥ २४॥

शीर्षण्यानि शिरःस्थानि खानि इन्द्रियाच्छिद्राणि आलभेत् स्पृशेत् हृदयञ्चाप्यसञ्जयन् इति पाठे मौनी भूत्वेत्यर्थः। अत्र विशेषमाह दक्षः—''**प्रक्षाल्य पादौ हस्तौ च त्रिः पिबेदम्बु वीक्षितम्। संवृत्याङ्गुष्ठमूलेन द्विः प्रमृज्यात् ततो मुखम्। संहताभिस्त्रिभिः पूर्वमास्यन्तु समुपस्पृशेत्। अङ्गुष्ठेन प्रदेशिन्या घ्राणं पश्चादनन्तरम्। अङ्गुष्ठानामिकाभ्यान्तु चक्षुःश्रोत्रे पुनः पुनः। कनिष्ठाङ्गुष्ठतो नाभिं हृदयन्तु तलेन वै। सर्वाभिस्तु शिरः पश्चाद् बाहू चाग्रेण संस्पृशेत्**''॥ २०॥

अथ प्रातःस्नानस्य मलापकर्षणरूपस्य शौचोक्ते च उक्तप्रायत्वात् 'नित्योदकी भवेद् विप्र' इति पूर्वं संक्षेपेणोक्तत्वात् सन्ध्योपासनहोमादीनाञ्च सूर्योदयास्तमयप्रसङ्गेनोक्तत्वात् तदुपरितनं क्रियाकाण्डमाह—'**आचान्त**' इति॥ २१॥

सोमसंस्था अग्निष्टोमादयः सप्त। हविःसंस्था अग्न्याधेयाद्याः। पाकसंस्थाः अष्टकाद्याः। यथाह गौतमः—, अष्टका पार्वणश्राद्धम् श्रावण्याग्रहायणी चैत्राश्वयुजीति सप्त पाकसंस्थाः। अग्न्याधेयमग्निहोत्रं दर्शपौर्णमास्याग्रयणं चातुर्मास्यानि निरूढपशुबन्धसौत्रामणी चेति सप्त सोमसंस्था इति॥ २३॥

कूपेषूद् धृततोयेन स्नानं कुर्वीत वा भुवि।
गृहेषूद् धृततोयेन ह्यथवा भुव्यसम्भवे॥ २५॥
शुचिवस्त्रधरः स्नातो देवर्षिपितृतर्पणम्।
तेषामेव हि तीर्थेन कुर्वीत सुसमाहितः॥ २६॥

त्रिरपः प्रीणनार्थाय देवानामपवर्जयेत्।
ऋषीणाञ्च यथान्यायं सकृच्चापि प्रजापतेः॥ २७॥
पितृणां प्रीणनार्थाय त्रिरपः पृथिवीपते!
पितामहेभ्यश्च तथा प्रीणयेत्प्रपितामहान्॥ २८॥
मातामहाय तत्पित्रे तत्पित्रे च समाहितः।
दद्यात् पैत्रेण तीर्थेन काम्यञ्चान्यच्छृणुष्व मे॥ २९॥
मात्रे प्रमात्रे तन्मात्रे गुरुपत्न्यै तथा नृप!
गुरवे मातुलादीनां स्निग्धमित्राय भूभुजे॥ ३०॥
इदञ्चापि जपेदम्बु दद्यादात्मेच्छया नृप!
उपकाराय भूतानां कृतदेवादितर्पणः॥ ३१॥
देवासुरास्तथा यथा नागगन्धर्वराक्षसाः।
पिशाचा गुह्यकाः सिद्धाः कुष्माण्डास्तरवः खगाः॥ ३२॥
जलेचरा भूनिलया वाय्वाहाराश्च जन्तवः।

माध्यन्दिनीयस्नानतर्पणान्याह—'नदी'ति। देवखातो मनुष्यादिकृतो ह्रदः। स्नायीत स्नायात्। कूपेषु कलसादिभिरुद्धृतेन तोयेन भुवि तत्तटभूमौ स्नायात्। तदसम्भवे नद्या उद्धृतेन शीतलोदकेन गृह एव स्नायात्। तत्राप्यशक्तौ उष्णोदकेन तत्राप्यशक्तौ मन्त्रस्नानादि कुर्यादित्यन्यस्मृतिभ्योज्ञेयम्॥ २५॥

तेषां देवादीनां तीर्थेन पूर्वोक्तेन॥ २६॥

त्रिरप इति शाखाभेदव्यवस्थितमिदम्। तत्र भूर्देवान् भुवर्देवान् स्वर्देवान् तर्पयामीति एवं त्रिरपो वर्जयेत् दद्यात्, तथर्षीणामपि भूरादिपदयोगेन त्रिरपो दद्यात् प्रजापतिं तर्पयामीति सकृत्॥ २७॥

पितृणामिति भूरादिपदयोगेन सामान्यपितृणां तत्प्रयोगं विना स्वपितृणाञ्चेत्यर्थः॥ २८॥

पैत्रेण तीर्थेन तर्जनीमूलेन काम्यं फलविशेषार्थम्॥ २९॥

तृप्तिमेतेन यान्त्वाशु मद्दत्तेनाम्बुनाखिला:॥ ३३॥
नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिता:।
तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया॥ ३४॥
येऽबान्धवा बान्धवा वा येऽन्यजन्मनि बान्धवा:।
ते सर्वे तृप्तिमायान्तु ये चास्मत्तोयकाङ्क्षिण:॥ ३५॥
यत्र क्वचन संस्थानां क्षुत्तृष्णोपहतात्मनाम्।
इदमप्यक्षयञ्चास्तु मया दत्तं तिलोदकम्॥ ३६॥
काम्योदकप्रदानन्ते मयैतत् कथितं नृप!
यद् दत्त्वा प्रीणयत्येतन्मनुष्य: सकलं जगत्॥ ३७॥
जगदाप्यायनोद्भूतं पुण्यमाप्नोति चानघ!
दत्त्वा काम्योदकं सम्यगेतेभ्य: श्रद्धयान्वित:॥ ३८॥
आचम्य च ततो दद्यात् सूर्याय सलिलाञ्जलिम्।
नमो विवस्वते ब्रह्मन् भास्वते विष्णुतेजसे।
जगत्सवित्रे शुचये सवित्रे कर्मदायिने॥ ३९॥
ततो गृहार्चनं कुर्यादभीष्टसुरपूजनम्।
जलाभिषेक-पुष्पाणां धूपादेश्च निवेदनै:॥ ४०॥
अपूर्वमग्निहोत्रञ्च कुर्यात् प्राग् ब्रह्मणे नृप।
प्रजापतिं समुद्दिश्य दद्यादाहुतिमादरात्॥ ४१॥
गुह्येभ्य: कश्यपायाथ ततोऽनुमतये क्रमात्॥ ४२॥
तच्छेषं मणिकेऽद्भ्योऽथ पर्जन्याय क्षिपेत्तत:।
द्वारे धातुर्विधातुश्च मध्ये च ब्राह्मण: क्षिपेत्।

"हे ब्रह्मन्! भास्वदादिरूपाय तुभ्यं नम:"। **'ब्रह्मभास्वत'** इति पाठे वेदै: प्रकाशमानायेत्यर्थ:। जगत्सवित्रे विश्वजनकाय, कर्मप्रवर्त्तकाय॥ ३८॥

अपूर्वमनन्यप्रकृतिकम् अग्निहोत्रं ब्रह्मादिपञ्चाहूतिकं देवयज्ञाख्यं हविर्होम कुर्यादित्यर्थ:। अप्पूर्वमिति पाठे प्रोक्षणपूर्वकामित्यर्थ:॥४१॥

भूतयज्ञमाह—तच्छेषं मणिके जलाधारसन्निधौ अद्भ्य: पर्जन्याय च क्षिपेत्। पृथ्वीपर्जन्याद्भ्य इति पाठान्तरम्॥४२॥

गृहस्य पुरुषव्याघ्र! दिग्देवानपि मे शृणु॥ ४३॥

इन्द्राय धर्मराजाय वरुणाय तथेन्दवे।

प्राच्यादिषु बुधो दद्याद्धुतशेषात्मकं बलिम्॥ ४४॥

प्रागुत्तरे च दिग्भागे धन्वन्तरिबलिं बुधः।

निर्वपेद् वैश्वदेवञ्च कर्म कुर्यादतः परम्॥ ४५॥

वायव्ये वायवे दिक्षु समस्तासु ततो दिशाम्।

ब्रह्मणे चान्तरिक्षाय भानवे च क्षिपेद् बलिम्॥ ४६॥

विश्वेदेवान् विश्वभूतानथ विश्वपतीन् पितॄन्।

यक्षाणाञ्च समुद्दिश्य बलिं दद्यान्नरेश्वर॥ ४७॥

ततोऽन्यदन्नमादाय भूमिभागे शुचौ बुधः।

दद्यादशेषभूतेभ्यः स्वेच्छया तत् समाहितः॥ ४८॥

देवा मनुष्याः पशवो वयांसि
सिद्धाः सयक्षोरगदैत्यसङ्घाः।

प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता
ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम्॥ ४९॥

पिपीलिकाः कीटपतङ्गकाद्या
बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धबद्धाः।

प्रयान्तु ते तृप्तिमिदं मयान्नं
तेभ्यो विसृष्टं सुखिनो भवन्तु॥ ५०॥

गृहस्य द्वारे धातुर्विधातुश्च मध्ये ब्रह्मणः॥ ४३॥

प्राच्यादिषु गृहस्येति सर्वत्रान्वयः॥ ४४॥

धन्वन्तरिबलिं निर्वपेत् इत्यन्वयः। तदेवं गृह्यदेवताको बलिरुक्तः। इदानीं तदितरदेवताकं बलिमाह—'वैश्वदेव' मित्यादिना 'भुवि मानवा' इत्यन्तेन। वैश्वदेवादयो देवा उद्देश्या यत्र बलौ तं ततः कुर्यात्॥ ४५॥

तदेवाह—वायव्ये कोणे वायवे बलिं प्रक्षिपेत्। वायवे इति पाठे वीप्सया समस्तासु दिक्ष वायवे वायुमुद्दिश्य प्रक्षिपेदित्यर्थः। ततो दिशां प्राच्यै दिशे दक्षिणस्यै दिशे इत्यादिना बलिं क्षिपेत्॥ ४६॥

मध्ये ब्राह्मणादित्रयाणाम् उत्तरतः विश्वेभ्यो देवेभ्य इत्यादिना बलिं क्षिपेत्, दक्षिणतो भूतपत्यादीनामिति॥ ४८॥

येषां न माता न पिता न बन्धु-
नैवान्नसिद्धिर्न तथान्नमस्ति।
तत्तृप्तयेऽन्नं भुवि दत्तमेतत्
ते यान्तु तृप्तिं मुदिता भवन्तु॥५१॥
भूतानि सर्वाणि तथान्नमेत-
दहञ्च विष्णुर्न यतोऽन्यदस्ति।
तस्मादहं भूतनिकायभूतमन्नं
प्रयच्छामि भवाय तेषाम्॥५२॥
चतुर्दशो भूतगणो य एष
तत्र स्थिता येऽखिलभूतसङ्घाः।
तृप्त्यर्थमन्नं हि मया विसृष्टं
तेषामिदं ते मुदितं भवन्तु॥५३॥
इत्युच्चार्य नरो दद्यादन्नं श्रद्धासमन्वितः।
भुवि सर्वोपकाराय गृही सर्वाश्रयो यतः॥५४॥
श्वचाण्डालविहङ्गानां भुवि दद्यान्नरेश्वर!
ये चान्ये पतिताः केचिदपुत्राः सन्ति मानवाः॥५५॥
ततः गोदोहमात्रं वै कालं तिष्ठेद् गृहाङ्गणे।
अतिथिग्रहणार्थाय तदूर्द्धं वा यथेच्छया॥५६॥
अतिथिं तत्र सम्प्राप्तं पूजयेत् स्वागतादिना।
तथासनप्रदानेन पादप्रक्षालनेन च॥५७॥

येषामन्नं नास्ति येषाञ्च सत्यप्यन्ने नान्नसिद्धिः पाकसाधनं नास्तीत्यर्थः॥५१॥

चतुर्दश इति एष देवा इत्यादि श्लोकोक्तः कीटपतङ्गान्तः चतुर्दशसंयको भूतगणः। स्वर्थे डप्रत्यय आर्षः। यद्वा दैवमष्टविधं तैर्यग्योन्यञ्च, पञ्चविधं मानुषञ्चैकविधमिति चतुर्दशो भूतगणः, तत्र स्थिता अखिला भूतसंघास्तत्तदवान्तरविशेषाः॥५३॥

यद्यप्यवान्तरवाक्यसमाप्त्या पृथक् पृथग् बलिदानं प्रतीयते, तथा इत्युच्चार्य्य नरो दद्यादिति वाचनिकमेवैकबलिदानमिति॥५४॥

अपात्राः श्राद्धायोग्याः। पुंस्त्वमार्षम्। तेषाञ्च भुवि दद्यात्॥५५॥

गोदोहमात्रं घटिकाचतुर्थांशम्॥५६॥ तत्र तस्मिन् काले॥५७॥

श्रद्धया चान्नदानेन प्रियप्रश्नोत्तरेण च।
गच्छतश्चानुयानेन प्रीतिमुत्पादयेद् गृही॥५८॥
अज्ञातकुलनामानमन्यदेशादुपागतम्।
पूजयेदतिथिं सम्यङ् नैकग्रामनिवासिनम्॥५९॥
अकिञ्चनमसम्बन्धमज्ञातकुलशीलिनम्।
असम्पूज्यातिथिं भुञ्जन् भक्तुकामं व्रजत्यधः॥६०॥
पित्रर्थञ्चापरं विप्रमेकमप्याशयेन्नृप!
तद्देश्यं विदिताचारसम्भूतिं पञ्चयज्ञियम्॥६२॥
अन्नाग्रञ्च समुद्धृत्य हन्तकारोपकल्पितम्
निवापभूतं भूपाल! श्रोत्रियायोपकल्पयेत्॥६३॥
दद्याच्च भिक्षात्रितयं परिव्राड्ब्रह्मचारिणाम्।
इच्छया च बुधो दद्याद् विभवे सत्यवारितम्॥६४॥
इत्येतेऽतिथयः प्रोक्ताः प्रागुक्ता भिक्षवश्च ये।
चतुरः पूजयन्नेतान् नृयज्ञर्णात् प्रमुच्यते॥६५॥

अतिथिलक्षणमाह—'**अज्ञाते**'ति। नैकग्रामनिवासिनम् एकग्रामस्थभिन्नम्॥५९॥

नित्यत्वार्थमपूजने निन्दामाह— 'अकिञ्चनादिगुणविशिष्टमतिथिमसम्पूज्य भक्तमन्नं भुञ्जन् भुञ्जानोऽधोगच्छति। भोक्तुकाममिति पाठे अतिथेर्विशेषणम्॥६०॥

स्वाध्यायादिकमपृष्ट्वा चरणं वेदावान्तरशारवाम् आचारं वा अपृष्ट्वा अभ्यागतम् अतिथिम्॥६१॥

पित्रर्थं नित्यश्राद्धार्थम् आशयेत् भोजयेत्। विदित आचारः सम्भूतिः कुलश्च यस्य। पञ्चयज्ञियं। पञ्चयज्ञकारिणम्॥६२॥

अन्नाग्रं भोजनाद्यनवशिष्टम्। अत्र चोक्तम्—"**ग्रासमात्रा भवेद् भिक्षा अग्रं ग्रासचतुष्टयम्। अग्राण्येव तु चत्वारि हन्तकारं प्रचक्षते।**" मनुष्येभ्यो हन्तेति मन्त्रेणोपकल्पितमन्नं हन्तकारोपकल्पितम्। निवापभूतं पृथक्कल्पस्थापितम्॥६३॥

'**इत्येतेऽतिथय**' इति 'अज्ञातकुलनामान'मित्यादिना 'तं मन्ये अभ्यागतं गृही'त्यन्तेनोक्त एकः, पित्रर्थान्नभोक्ता चापरः, हन्तकारसम्प्रदानञ्चान्य इति त्रयः पूर्वमाश्रमाध्यायोक्ताश्च परिव्राड्ब्रह्मचारिणो भिक्षवो भिक्षजीविनश्चेत्येको वर्गः। इत्येतांश्चतुरः पूजयन् मनुष्ययज्ञरूपादृणान्मुच्यते॥६५॥

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्त्तते।
स तस्मै दृष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति॥ ६६॥
धाता प्रजापतिः शक्रो वह्निर्वसूगणोऽर्यमा।
प्रविश्यातिथिमेवैते भुञ्जतेऽन्नं नरेश्वर॥ ६७॥
तस्मादतिथिपूजायां यतेत सततं नरः।
स केवलमघं भुङ्क्ते यो भुङ्क्ते ह्यतिथिं विना॥ ६८॥
ततः सुवासिनीदुःखिगर्भिणीवृद्धबालकान्।
भोजयेत् संस्कृतान्नेन प्रथमं चरमं गृही॥ ६९॥
अभुक्तवत्सु चैतेषु भुञ्जन् भुङ्क्ते हि दुष्कृतम्।
मृतश्च नरकं गत्वा श्लेष्मभुग् जायते नरः॥ ७०॥
अस्नाताशी मलं भुङ्क्ते ह्यजपी पूयशोणितम्।
असंस्कृतान्नभुङ् मूत्रं बालादिप्रथमं शकृत्॥ ७१॥
(अहोमी च कृमीन् भुङ्क्ते अदत्त्वा विषमश्नुते।)
तस्माच्छृणुष्व राजेन्द्र! यथा भुञ्जीत वै गृही।
भुञ्जतश्च तथा पुंसः पापबन्धो न जायते॥ ७२॥
इह चारोग्यमतुलं बलवृद्धिस्तथा नृप!
भवत्यनिष्टशान्तिश्च वैरिपक्षाभिचारिका॥ ७३॥
स्नातो यथावत् कृत्वा च देवर्षिपितृतर्पणम्।
प्रशस्तरत्नपाणिस्तु भुञ्जीत प्रयतो गृही॥ ७४॥
कृतजाप्यो हुते वह्नौ शुद्धवस्त्रधरो नृप।
दत्त्वातिथिभ्यो विप्रेभ्यो गुरुभ्यः संश्रिताय च॥ ७५॥

निन्दार्थवादेनातिथिपूजाया आवश्यकत्वमुपसंहरति— 'अतिथि' रिति त्रिभिः॥६६॥

सुवासिनी कृतविवाहा पितृगृहस्था कन्या। चरमं पश्चात् गृही भुञ्जीत॥६८॥

अस्नाताशी त्रिविधस्नानहीनः सन् भोजनशीलः, अजपी गायत्र्यादिमन्त्रजपहीनः, बालादितः प्रथमं भुञ्जानः। शकृत् पुरीषं भुङ्क्ते॥७१॥

प्रसङ्गाद् भोजनप्रकारमाह—'तस्मादि'त्यादिना प्राणाद्याप्यायनाय चेत्यन्तेन॥७२॥

अरिष्टमशुभादृष्टं तस्य शान्तिः, वैरिपक्षाणामुत्पन्नयोगानामभिचारिका विनाशशीला॥७३॥

पुण्यगन्धधरः शस्तमाल्यधारी नरेश्वर।
नैकवस्त्रीधरोऽथार्द्रपाणिपादो महीपते॥७६॥
विशुद्धवदनः प्रीतो भुञ्जीत न विदिङ्मुखः।
प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि न चैवान्यमना नृप॥७७॥
अन्नं प्रशस्तं पथ्यं च प्रोक्षितं प्रोक्षणोदकैः।
न कुत्सिताहृतं नैव जुगुप्सावदसंस्कृतम्॥७८॥
दत्त्वा तु भुक्तं शिष्येभ्यः क्षुधितेभ्यस्तथा गृही।
प्रशस्तशुद्धपात्रेषु भुञ्जीताकुपितो नृप॥७९॥
नासन्दीसंस्थिते पात्रे नादेशे च नरेश्वर!
नाकाले नातिसङ्कीर्णे दत्त्वाग्रञ्च नरोऽग्नये॥८०॥
मन्त्राभिमन्त्रितं शस्तं न च पर्युषितं नृप!
अन्यत्र फलमांसेभ्यः शुष्कशाकादिकात्तथा॥८१॥
तद्वद्धरीतकेभ्यश्च गुडपक्वेभ्य एव च।
भुञ्जीतोद्धृतसाराणि न कदापि नरेश्वर॥८२॥
नाशेषं पुरुषोऽश्नीयादन्यत्र जगतीपते!
मध्वम्बुदधिसर्पिभ्यः सक्तुभ्यश्च विवेकवान्॥८३॥
अश्नीयात्तन्मना भूत्वा पूर्वन्तु मधुरं रसम्।
लवणाम्लौ तथा मध्ये कटुतिक्तादिकं ततः॥८४॥

प्राङ्मुख उदङ्मुख वा भुञ्जीत॥७७॥

आसन्दो दारुमयं त्रिपदादि, अदेशे कुत्सिते स्थाने, अकाले सन्ध्यादिसमये। आकाश इति पाठे अनावृते। अग्रमग्नये दत्त्वा परिशिष्टस्यान्नस्याग्रं किञ्चिदग्नौ क्षिप्त्वा च न भुञ्जीत, 'परिशिष्टस्यान्नस्याग्रं नाग्नौ क्षिपे'दिति विधिः॥८०॥

मन्त्राभिमन्त्रितं शस्तं भुञ्जीतेत्यनुषङ्गः। शुष्कं जलोपसेकं विना पक्वं शाकादिकं सक्त्वादिकं विनेति शेषः॥८१॥

हरीतकेभ्यः अपक्वलेह्यादिभ्यः। वादरिकेभ्य इति पाठे तु वदरविकारेभ्य इत्यर्थः। गुडपक्वेभ्यः लड्डुकादिभ्यः। गुडभक्षेभ्य इति पाठे स एवार्थः। उद्धृतसाराणि पिण्याकादीनि॥८२॥

नाशेषं निःशेषं न भुञ्जीत॥८३॥ तन्मनाः अन्ने दत्तचित्तः सन्॥८४॥

प्रागद्रवं पुरुषोऽश्नीयान्मध्ये कठिनभोजनः।
अन्ते पुनर्द्रवाशी तु बलारोग्ये न मुञ्चति॥ ८५॥
अनिन्द्यं भक्षयेदित्थं वाग्यतोऽन्नमकुत्सयन्।
पञ्च ग्रासान् महामौनं प्राणाद्याप्यायनाय च॥ ८६॥
भुक्त्वा सम्यगथाचम्य प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा।
यथावत् पुनराचामेत् पाणी प्रक्षाल्य मूलतः॥ ८७॥
स्वस्थः प्रशान्तचित्तस्तु कृतासनपरिग्रहः।
अभीष्टदेवतानान्तु कुर्वीत स्मरणं नरः॥ ८८॥
अग्निराप्याययत्वन्नं पार्थिवं पवनेरितः।
दत्तावकाशं नभसा जरयत्वस्तु मे सुखम्॥ ८९॥
अन्नं बलाय मे भूमेरपामग्न्यनिलस्य च।
भवत्वेतत्परिणतौ ममास्त्वव्याहतं सुखम्॥ ९०॥
प्राणापानसमानानामुदानव्यानयोस्तथा।
अन्नं पुष्टिकरञ्चास्तु ममाप्यव्याहतं सुखम्॥ ९१॥
अगस्तिरग्निर्बडवानलश्च
भुक्तं मयान्नं जरयत्वशेषम्।
सुखञ्च मे तत्परिणामसम्भवं
यच्छत्वरोगो मम चास्तु देहे॥ ९२॥
विष्णुः समस्तेन्द्रियदेहदेही
प्रधानभूतो भगवान् यथैकः।

बलारोग्ये न मुञ्चति न त्यजति सर्वदा तद्युक्तो भवतीत्यर्थः॥ ८५॥

अनिन्द्यम् अनिषिद्धम्, महामौनं सङ्केतादिरहितम्॥ ८६॥

मूलतः कफोणिपर्यन्तम्॥ ८७॥

पवनेरितो वह्निर्नभसा दत्तावकाशं मया भुक्तमन्नं जरयतु। ततश्चान्नरसेन पार्थिवं देहधातुम् आप्याययत्विति॥ ८९॥

पञ्च भूतान्नग्रहप्रार्थनम्,—मे मत्सम्बन्धिनां भूम्यादीनां बलायान्नमस्तु॥ ९०॥

अरोगो रोगाभावः॥ ९२॥

सत्येन तेनान्नमशेषमेत-
दारोग्यदं मे परिणाममेतु॥९३॥
विष्णुरत्ता तथैवान्नं परिणामश्च वै तथा।
सत्येन तेन वै भुक्तं जीर्यत्वन्नमिदं तथा॥९४॥
इत्युच्चार्य्य स्वहस्तेन परिमृष्य तथोदरम्।
अनायासप्रदायीनि कुर्यात् कर्माण्यतन्द्रितः॥९५॥
सच्छस्त्रादिविनोदेन सन्मार्गाद्यविरोधिना।
दिनं नयेत्ततः सन्ध्यामुपतिष्ठेत् समाहितः॥९६॥
दिनान्तसन्ध्यां सूर्येण पूर्वामृक्षैर्युतां बुधः।
उपतिष्ठेद् यथान्यायं सम्यगाचम्य पार्थिव॥९७॥
सर्वकालमुपस्थानं सन्ध्ययोः पार्थिवेष्यते।
अन्यत्र सूतकाशौचविभ्रमातुरभीतितः॥९८॥
सूर्येणाभ्युदितो यश्च त्यक्तः सूर्येण वा स्वपन्।
अन्यत्रातुरभावस्तु प्रायश्चित्ती भवेन्नरः॥९९॥
तस्मादनुदिते सूर्ये समुत्थाय महीपते।
उपतिष्ठेन्नरः सन्ध्यामस्वपंश्च दिनान्तजाम्॥१००॥

विष्णुर्यथा समस्तदेहादिषु प्रधानभूतो मयोपास्यते, तेनोपासनेन सत्येन परमार्थतोऽपि सत्यमूतेनान्नम् आरोग्यदं सत् परिणाममेत्वित्यन्वयः॥९३॥

एवं विष्णुरत्तेत्यादावपि योज्यम्॥९४॥

'सच्छास्त्रादी' ति आदिशब्देन क्रीडादेरपि परिग्रहः। अत एव विशिनष्टि—'सन्मार्गाद्यविरोधिने' ति॥९६॥

सन्ध्योपास्तौ विशेषमाह—'दिने' ति। तथा च स्मृतिः। ''प्रातःसन्ध्यां सनक्षत्रामुपासीत यथाविधि। सादित्यां पश्चिमां सन्ध्यामर्द्धास्तमितभास्कराम्'' इति॥९७॥

सूतकं जन्मनिमित्तशौचम्, अशौच शावम्, विभ्रमो वैचित्त्यम्, आतुरमातुरत्वं रोगकृतम् भीतिरपायद्याशङ्का, तेभ्योऽन्यत्र॥९८॥

सूर्येणाभ्युदितः—यस्मिन् सुप्ते सूर्य्य उदेति, सूर्य्येण त्यक्तः— यस्मिन् सुप्ते सूर्योऽस्तमेति। आतुरभावादिति सूतकादेरुपलक्षणम्। प्रायश्चित्तीयते पातकी भवति॥९९॥

उपतिष्ठन्ति वै सन्ध्यां ये न पूर्वां न पश्चिमाम्।
व्रजन्ति ते दुरात्मानस्तामिस्त्रं नरकं नृप॥ १०१॥
पुनः पाकमुपादाय सायप्यवनीपते!
वैश्वदेवनिमित्तं वै पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत्॥ १०२॥
तत्रापि श्वपचादिभ्यस्तथैवान्नविसर्जनम्।
अतिथिं चागतं तत्र स्वशक्त्या पूजयेद् बुधः॥ १०३॥
पादशौचासनप्रह्वस्वागतोक्त्या च पूजनम्।
ततश्चान्नप्रदानेन शयनेन च पार्थिव॥ १०४॥
दिवातिथौ तु विमुखे गते यत् पातकं नृप।
तदेवाष्टगुणं पुंसां सूर्योढे विमुखे गते॥ १०५॥
तस्मात् स्वशक्त्या राजेन्द्र सूर्योढमतिथिं नरः।
पूजयेत्पूजिते तस्मिन्पूजिताः सर्वदेवताः॥ १०६॥
अन्नशाकाम्बुदानेन स्वशक्त्या प्रीणयेत्पुमान्।
शयनप्रस्तरमहीप्रदानैरथवापि तम्॥ १०७॥
कृतपादादिशोचस्तु भुक्त्वा सायं ततो गृही।
गच्छेच्छय्यामस्फुटितामपि दारुमयीं नृप॥ १०८॥
नाविशालां न वै भग्नां नासमां मलिनां न च।
न च जन्तुमयीं शय्यामधितिष्ठेदनास्तृताम्॥ १०९॥
प्राच्या दिशि शिरः शस्तं याम्यायामथ वा नृप!
सदैव स्वपतः पुंसो विपरीतान्तु रोगदम्॥ ११०॥

वैश्वदेवनिमित्तं वैश्वदेवकर्मफलसिद्ध्यर्थम्। पत्नी मन्त्रं बलिं हरेत्, 'पत्न्या सार्द्धं बलिं हरे'दित्यपि पाठः कुत्रापि॥ १०२॥

तत्रापि सायमपि॥ १०३॥ प्रह्वः प्रह्वत्वं प्रणाम इत्यर्थः॥ १०४॥

सूर्येणास्तं गच्छता ऊढः प्रापित इव सूर्यास्तमनन्तरमागत इत्यर्थः॥ १०६॥

शयनं कमलादि। प्रस्तर कटतृणादि। मही स्थलमात्रमपि॥ १०७॥

अस्फुटितामविदीर्णां गजदन्तमयीं तदभावे दारुमयीमपि॥ १०८॥

स्वपतः प्राच्यां याम्यायाञ्चैव शिरः सदा शस्तमित्यन्वयः॥ ११०॥

ऋतावुपगमः शस्तः स्वपत्न्यामवनीपते!
पुन्नामर्क्षे शुभे काले ज्येष्ठायुग्मासु रात्रिषु॥ १११॥
नास्नातान्तु स्त्रियं गच्छेन्नातुरां न रजस्वलाम्।
नानिष्टां न प्रकुपितां नाप्रशस्तां न च गर्भिणीम्॥ ११२॥
नादक्षिणां नान्यकामां नाकामां नान्ययोषितम्।
क्षुत्क्षामां नातिभुक्तां वा स्वयञ्चैभिर्गुणैर्युतः॥ ११३॥
स्नातः स्रग् गन्धधृक् प्रीतो न ध्यातः क्षुधितोऽपि वा।
सकामः सानुरागश्च व्यवायं पुरुषो व्रजेत्॥ ११४॥
चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावस्याथ पूर्णिमा।
पर्वाण्येतानि राजेन्द्र! रविसंक्रान्तिरेव च॥ ११५॥
तैलस्त्रीमांससम्भोगी पर्वेष्वेतेषु वै पुमान्।
विष्मूत्रभोजनं नाम प्रयाति नरकं नृप॥ ११६॥
अशेषपर्वस्वेतेषु तस्मात् संयमिभिर्बुधैः।
भाव्यं सच्छास्त्रदेवेज्याध्यानजप्यपरैर्नरैः॥ ११७॥
नान्ययोनावयोनौ वा नोपयुक्तौषधस्तथा।
देवद्विजगुरूणाञ्च व्यवायी नाश्रमे भवेत्॥ ११८॥
चैत्यचत्वरतीर्थेषु नैव गोष्ठे चतुष्पथे।

इदानीं विशिष्टयोषिद्गमनमाह यावदध्यायसमाप्तिः। 'ऋता'विति–पन्नामर्क्षाणि दश अम्बिनी, कृत्तिका, रोहिणीपुनर्वसु, पुष्या, हस्ता अनुराधा, श्रवणा पूर्वभाद्रपदा उत्तरभाद्रपदा च। ज्येष्ठयुग्मासु रात्रिषु। ऋतुकालमारभ्य षष्ठायाष्टम्यादिषु रात्रिषु। तत्रापि ज्येष्ठासु वृद्धासु उत्तरोत्तरं शुभास्वित्यर्थः॥ १११॥

अस्नाताम् अकृतर्तुस्नानाम्, रजस्वलां चतुर्थरात्रिप्रभृति अनुपरतरजस्काम् अनिष्टामनुपजातेच्छाम्, अप्रशस्तां परिवादादिदूषिताम्॥ ११२॥

अदक्षिणाम् अननुकूलाम् अन्यकामाम् अन्यपुरुषाभिलाषिणीम्। एभिर्वक्ष्यमाणैर्गुणैर्युतः पुरुषो व्यवायं व्रजेदित्युत्तरेणान्वयः॥ ११३॥

अन्ययोनौ अश्वादियोनौ, अयोनौ मुखादौ, औषधं वृष्यावाजीकरणरसायनादि देवादीनामाश्रमे गेहे स्थितः। आश्रयीति पाठे स एवार्थः॥ ११८॥

नव श्मशानोपवने सलिलेषु महीपते॥ ११९॥
प्रोक्तपर्वस्वशेषेषु नैव भूपाल! सन्ध्ययोः।
गच्छेद् व्यवायं मतिमान् न मूत्रोच्चारपीडितः॥ १२०॥'
पर्वस्वभिगमोऽधन्यो दिवा पापप्रदो नृप!
भुवि रोगावहो नृणामप्रशस्तो जलाशये॥ १२१॥
परदारान् न गच्छेच्च मनसापि कदाचन।
किमु वाचास्थिबन्धोऽपि नास्ति तेषुव्यवायिनाम्॥ १२२॥
मृतो नरकमभ्येति हीयतेऽत्रापि चायुषः।
परदारगतिः पुंसामुभयत्रापि भीतिदा॥ १२३॥
इति मत्वा स्वदारेषु ऋतुमत्सु बुधो व्रजेत्।
यथोक्तदोषहीनेषु सकामेष्वनृतावपि॥ १२४॥

इति श्रीविष्णुपुराणे तृतीयांशे एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

अधन्यो धनहानिकृत्॥ १२१॥

इति श्रीविष्णुपुराणे तृतीयांऽशे एकादशोऽध्यायः ।११/

यदा मनसा न गच्छेत्, तदा वाचा तदभिलाषः किं वक्तव्य इत्यर्थः। परस्त्रीव्यवायिनामस्थिबन्धोऽपि नास्ति, कृमिकीटादियोनिषु परिवर्त्तन्ते इत्यर्थः॥ १२२॥

परदारेषुः गतिः गमनं यस्य स पुंसां मध्ये सीदति। उभयत्र इह परत्र च। तदेवाह—मृत इति। भीतिरेति पाठः सुगमः॥ १२३॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायां स्वप्रकाशाख्यायामात्मप्रकाशाख्यायां वा श्रीविष्णुपुराणटीकायां तृतीयांऽशे एकादशोऽध्यायः॥

द्वादशोऽध्यायः

(गृहस्थाचाराकथनम्)

और्व उवाच

देवगोब्राह्मणान् सिद्ध-वृद्धाचार्यास्तथार्चयेत्।
द्विकालञ्च नमेत् सन्ध्यामग्नीतुपचरेत्तथा॥ १॥
सदानुपहते वस्त्रे प्रशस्ताश्च तथौषधीः।
गारुडानि च रत्नानि बिभृयात् प्रयतो नरः॥ २॥
प्रस्निग्धामलकेशश्च सुगन्धिश्चारुवेषधृक्।
सिताः सुमनसो हृद्या बिभृयाच्च नरः सदा॥ ३॥
किञ्चित् परस्वं न हरेन्नाल्पमप्यप्रियं वदेत्।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयान्नान्यदोषानुदीरयेत्॥ ४॥
नान्यश्रियं तथा वैरं रोचयेत् पुरुषर्षभ!
न दुष्टं यानमारोहेत् कूलच्छायां न संश्रयेत्॥ ५॥
विद्विष्टपतितोन्मत्तबहुवैरातिकीटकैः।
बन्धकी-बन्धकीभर्त्तृ-क्षुद्रानृतकथैः सह॥ ६॥
तथातिव्ययशीलैश्च परिवादरतैः शठैः।
बुधो मैत्रीं न कुर्वीत नैकः पन्थानमाश्रयेत्॥ ७॥

ब्राह्मं मुहूर्त्तमारभ्य निशीथान्तं निरूपिताः। सदाचारा द्वादशे तु त एवानियमेरिताः। प्रायेण तु गृहस्थानां त्रिवर्गपरचेतसाम्। दृष्टवादृष्टप्रधानानां सद्धर्माणामिहोक्तयः॥ १॥

अनुपहते अभग्ने, प्रशस्ता विष्णुक्रान्ता दूर्वादयः॥ २॥

प्रस्निग्धाः अरूक्षाः, प्रसिद्धा इति पाठे अलङ्कृताः केशा यस्य॥ ३॥

अन्यश्रियं वैरञ्च नाभिलषेत्। नद्यादीनां कूलच्छायाम्॥ ५॥

विद्विष्टादिभिः सह मैत्रीं न कुर्वीत। बहभिर्वैरं यस्य। अतिकीटकैरत्यन्तं कीटवत् पीडकैः। कीककैरिति पाठे कुदेशस्थैरित्यर्थः। बन्धकी वेश्या। क्षुद्रः अल्पलाभोत्सिक्तः। अनृतकथः मिथ्यावादी॥ ६॥

शठः कुटिलः॥ ७॥

नावगाहेज्जलौघस्य वेगमग्ने नरेश्वर!
प्रदीप्तं वेश्म न विशेन्नारोहेच्छिखरं तरोः॥ ८॥
न कुर्याद्दन्तसङ्घर्षं कुष्णीयाच्च न नासिकाम्।
नासंवृतमुखो जृम्भेच्छ्वासकासौ वर्जयेत्॥ ९॥
नोच्चैर्हसेत् सशब्दञ्च न मुञ्चेत् पवनं बुधः।
नखान्न वादयेच्छिन्द्यान्न तृणं न महीं लिखेत्॥ १०॥
न श्मश्रु भक्षयेल्लोष्टं न मृद्नीयाद् विचक्षणः।
ज्यौतींष्यमेध्यशस्तानि नाभिवीक्षेत च प्रभो॥ ११॥
नग्नां परस्त्रियञ्चैव सूर्यं चास्तमयोदये।
न हुङ्कुर्याच्छवञ्चैव शवगन्धो हि सोमजः॥ १२॥
चतुष्पथांश्चैत्यतरून् श्मशानोपवनानि च।
दुष्टस्त्रीसन्निकर्षञ्च वर्जयेन्निशि सर्वदा॥ १३॥
पूज्यदेवध्वजज्योतिश्छायां नातिक्रमेद् बुधः।
नैकः शून्याटवीं गच्छेन्न च शून्यगृहे वसेत्॥ १४॥
केशास्थिकण्टकामेध्यवह्निभस्मतुषांस्तथा।
स्नानार्द्रधरणीञ्चैव दूरतः परिवर्जयेत्॥ १५॥
नानार्यानाश्रयेत् कांश्चिन्न जिह्मं रोचयेद् बुधः।
उपसर्पेत न व्यालं चिरं तिष्ठेन्न चोत्थितः॥ १६॥

जलौघस्य वेगमग्ने। अन्यस्मिन् अनवतीर्णे नाव गाहेत् न प्रविशेत्। प्रदीप्तम् अग्निनाक्रान्तम्॥ ८॥

न कुष्णीयान्नोत्किरेत्, असंवृतमुखो जृम्भादि न कुर्यात्॥ ९॥

न मृद्नीयान्न मर्दयेत्, अमेध्योऽशुचिः सन् ज्योतींषि सूर्यादीनि शस्तानि ब्राह्मणादीनि नाभिवीक्षेत। ज्योतींष्यमेध्याशस्तानीति पाठे ज्योतींषि चक्षुःप्रतिकूलानि, अमेध्यानि पुरीषादीनि अशस्तानि अमङ्गलानि॥ ११॥

शवं चकारात् तद्गन्धञ्च न हुङ्कुर्यात् न जुगुप्सेत्। तत्र हेतुः शवगन्धो हीति। विश्वस्याग्नीषोमात्मकत्वेनाग्न्यंशे उष्मणि प्राणेन सह गतेऽवशिष्टस्य देहस्य शवस्य गन्धः सोमज इति, ''अग्निरुष्मा रसः सोमः शरीरं तन्मयं यतः।'' इति वचनात्॥ १२॥

पूज्या गुरुप्रभृतयः॥ १४॥

अतीव जागरस्वप्ने तद्वत्स्नानासने बुधः।
न सेवेत तथा शय्यां व्यायामञ्च नरेश्वर॥ १७॥
दंष्ट्रिणं शृङ्गिणश्चैव प्राज्ञो दूरेण वर्जयेत्।
अवश्यायञ्च राजेन्द्र! पुरोवातातपौ तथा॥ १८॥
न स्नायान्न स्वपेन्नग्नो न चैवोपस्पृशेद् बुधः।
मुक्तकच्छश्च नाचामेद् देवाभ्यर्चाञ्च वर्जयेत्॥ १९॥
होमदेवार्चनाद्यासु क्रियास्वाचमने तथा।
नैकवस्त्रः प्रवर्तेत द्विजवाचनिके जपे॥ २०॥
नासमञ्जसशीलैस्तु सहासीत कदाचन।
सद्वृत्तसन्निकर्षो हि क्षणार्द्धमपि शस्यते॥ २१॥
विरोधं नोत्तमैर्गच्छेन्नाधमैश्च सदा बुधः।
विवाहश्च विवादश्च तुल्यशीलैर्नृपेष्यते॥ २२॥
नारभेत कलिं प्राज्ञः शुष्कवैरञ्च वर्जयेत्।
अप्यल्पहानिः सोढव्या वैरेणार्थागमं त्यजेत्॥ २३॥
स्नातो नाङ्गानि निर्म्मार्जेत् स्नानशाट्या न पाणिना।
न च निर्धूनयेत् केशान् नाचामेन्नैव चोत्थितः॥ २४॥
पादेन नाक्रमेत् पादं न पूज्याभिमुखं नयेत्।
वीरासनं गुरोरग्रे त्यजेत विनयान्वितः॥ २५॥

जिह्मान् कुटिलान् न रोचयेत् नेच्छेत्। व्यालान् दुष्टमृगान् सर्पान् वा नोपसर्पेत तत्सम्मुखं न गच्छेत्॥ १६॥

अतीव जागरादोन् न च सेवेत नाभ्यस्येत्। स्थानगतिनिवृत्तिम्, आसनमुपवेशनं, शय्याम् इति शयनव्यवाययोरुपलक्षणम् व्यायामं श्रमम्॥ १७॥

अवश्यायं हिमम्॥ १८॥

उपस्पृशेत् आचामेत। मुक्तकच्छः मुक्तपश्चादञ्चलः॥ १९॥

द्विजवाचनिके पुण्याहवाचने॥ २०॥

इष्यते यथाकथञ्चिदनुमन्यते, न विधीयते॥ २२॥

तदेवाह—'ने ति'। न कलिं कलहम्॥ २३॥

पूज्यानामभिमुखं पादं न नयेत् प्रसारयेत्॥ २५॥

अपसव्यं न गच्छेच्च देवागारचतुष्पथान्।
मङ्गल्यपूज्यांश्च तथा विपरीतान्न दक्षिणान्॥ २६॥
सोमाग्न्यर्काम्बुवायुनां पूज्यानाञ्च न सम्मुखम्।
कुर्यात् ष्ठीवनविण्मूत्रसमुत्सर्गञ्च पण्डितः॥ २७॥
तिष्ठन्न मूत्रयेत् तद्वत् पन्थानं नावमूत्रयेत्।
श्लेष्मविण्मूत्ररक्तानि सर्वदैव न लङ्घयेत्॥ २८॥
श्लेष्मसिंहानकोत्सर्गो नान्नकाले प्रशस्यते।
बलिमङ्गलजप्यादौ न होमे न महाजने॥ २९॥
योषितो नावमन्येत न चासां विश्वसेद बुधः।
न चवेर्षुर्भवेत्ताश्च नाधिकुर्यात् कदाचन॥ ३०॥
माङ्गल्यपुष्परत्राज्यपूज्याननभिवाद्य च।
न निष्क्रामेद् गृहात् प्राज्ञ सदाचारपरो नरः॥ ३१॥
चतुष्पथान् नमस्कुर्यात् काले होमपरो भवेत्।
दीनानभ्युद्धरेत् साधूनुपासीत बहुश्रुतान्॥ ३२॥
देवर्षिपूजकः सम्यक् पितृपिण्डोदकप्रदः।
सत्कर्ता चातिथीनां यः स लोकानुत्तमान् व्रजेत्॥ ३३॥
हितं मितं प्रियं काले वश्यात्मा योऽभिभाषते।
स याति लोकानाह्लादहेतुभूतान् नृपाक्षयान्॥ ३४॥
धीमान् ह्रीमान् क्षमायुक्त आस्तिको विनयान्वित।
विद्याभिजरवृद्धानां याति लोकाननुत्तमान्॥ ३५॥

अपसव्यम् प्रदक्षिणम्। विपरीतान् अमङ्गल्यान् प्रदक्षिणं न कुर्यात्॥ २६॥

सिंहानकं कठिनः श्लेष्मा, क्षुतमिति केचित्। महाजने महाजनसमीपे॥ २९॥

ईर्षुरसहिष्णुः, ताश्च योषितो नाधिकुर्यात् कुत्राप्यधिकारिणीर्न कुर्यात्॥ तास्विति पाठे अन्तःपुराधिकारं न कुर्य्यादित्यर्थः॥ ३०॥

साधूनेव बहुश्रुतान् उपासीत नेतरान्। काले समयोचितम्॥ ३२॥

विद्यादिवृद्धानां विनयः तत्कर्त्तृकशिक्षा तदन्वित इत्यर्थः॥ ३५॥

अकालगर्जितादौ च पर्वस्वाशौचकादिषु।
अनध्यायं बुधः कुर्यादुपरागादिके तथा॥ ३६॥
शमं नयति यः क्रूद्धान् सर्वबन्धुरमत्सरी।
भीताश्वासनकृत् साधुः स्वर्गस्तस्याल्पकं फलम्॥ ३७॥
वर्षातपादिके च्छत्री दण्ठी रत्र्यटवीषु च।
शरीरत्राणकामो वै सोपानत्कः सदा व्रजेत्॥ ३८॥
नोर्ध्वं न तिर्यग् दूरं वा निरीक्षन् पर्यटेद् बुधः।
युगमात्रं महीपृष्ठं नरो गच्छेद्विलोकयन्॥ ३९॥
दोषहेतूनशेषांस्तु वश्यात्मा यो निरस्यति।
तस्य धर्मार्थकामानां हानिर्नाल्पापि जायते॥ ४०॥
(सदाचाररतः प्राज्ञो विद्याविनयशिक्षितः।)
पापेऽप्यपापः परुषेऽप्यभिधत्ते प्रियाणि यः।
मैत्रीद्रवान्तःकरणस्तस्य मुक्तिः करे स्थिता॥ ४१॥
ये कामक्रोधलोभानां वीतरागा न गोचरे।
सदाचारस्थितास्तेषामनुभावैर्धृता मही॥ ४२॥
तस्मात्सत्यं वदेत् प्राज्ञो यत् परप्रीतिकारणम्।
सत्यं यत् परदुःखाय तत्र मौनपरो भवेत्॥ ४३॥
प्रियं युक्तं हितं नैतदिति मत्वा न तद्वदेत्।

युगमात्रं हस्तचतुष्टयम्॥ ३९॥

दोषहेतून् उक्तान् अनुक्तांश्च॥ ४०॥

पापेऽपमाधिनि अपापः, अद्रोग्धा परुषभाषिणि प्रियभाषी॥ ४१॥

ये कामादीनां न गोचरे नास्पदं भवन्तीत्यर्थः। अनुभावैः सत्यादिस्वभावैर्धृता ''सत्येनोत्तम्भिता भूमिः'' इति श्रुतेः॥ ४२॥

उपदेशसारमाह—'**प्राणिना**'मिति॥ ४५॥

इति श्रीविष्णुपुराणटीकायां श्रीधरस्वामीकृतायां
स्वप्रकाशाख्यायामात्मप्रकाशाख्यायां वा तृतीयांऽशे द्वादशोऽध्यायः समाप्तः॥

श्रेयस्तत्र हितं वाक्यं यद्यप्यत्यन्तमप्रियम्॥ ४४॥
प्राणिनामुपकाराय यथैवेह परत्र च।
कर्मणा मनसा वाचा तदेव मतिमान् भजेत्॥ ४५॥

इति श्रीविष्णुपुराणे तृतीयांशे द्वादशोध्याय:॥ १२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

(शवदाहस्य, अशौचस्य, एकोद्दिष्टस्य, सपिण्डीकरणस्य च व्यवस्था।)

और्व उवाच

सचेलस्य पितुः स्नानं जाते पुत्रे विधीयते।
जातकर्म तदा कुर्याच्छ्राद्धमभ्युदये च यत्॥ १॥
युग्मान् दैवांश्च पित्र्यांश्च सम्यक् सव्यक्रमाद् द्विजान्।
पूजयेद् भोजयेच्चैव तमन्ना नान्यमानसः॥ २॥
दध्यक्षतैः सबदरैः प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा।
देवतीर्थेन वै पिण्डान् दद्यात् कायेन वा नृप॥ ३॥
नान्दीमुखः पितृगणस्तेन श्राद्धेन पार्थिव!
प्रीयते तत्तु कर्त्तव्यं पुरुषैः सर्ववृद्धिषु॥ ४॥
कन्यापुत्रविवाहेषु प्रवेशे नववेश्मनः।
नामकर्मणि बालानां चूडाकर्मादिके तथा॥ ५॥
सीमन्तोन्नयने चैव पुत्रादिमुखदर्शने।
नान्दीमुखं पितृगणं पूजयेत् प्रयतो गृही॥ ६॥
पितृपूजाविधिः प्रोक्तो वृद्धावेष समासतः।
श्रूयतामवनीपाल! प्रेतकर्मक्रियाविधिः॥ ७॥

त्रयोदशेऽथ श्राद्धानि सनिमित्तान्यवर्णयत्। प्रेतक्रियास्तथा तासु यथार्हमधिकारिणः। पितुः पुत्रजन्मकाले सन्निहितस्य॥ १॥

सव्यक्रमात् प्रदक्षिणक्रमेण। नान्यमानसः अन्यस्मिन् उत्पन्नपुत्रादौ मानसं यस्य सः श्राद्धसमये तादृशो भवेदित्यर्थः॥ २॥

कायेन प्रजापतितीर्थेन॥ ३॥

सर्ववृद्धीर्दर्शयति—'**कन्यापुत्रे**' ति॥ ५॥

पुत्रस्यादिमुखदर्शने प्रथमतो दर्शने। तच्च जन्मकाले सन्निहितस्यैव पितुस्तथैवोक्तत्वात्॥ ६॥

प्रेतदेहं शुभैः स्नानैः स्नापितं स्त्रग्विभूषितम्।
दग्ध्वा ग्रामाद् बहिः स्नात्वा सचेलाः सलिलाशये॥८॥
यत्र यत्र स्थितायैतदमुकायेतिवादिनः।
दक्षिणाभिमुखा दद्युर्बान्धबाः सलिलाञ्जलिम्॥९॥
प्रविष्टाश्च समं गोभिर्ग्रामं नक्षत्रदर्शने।
कटधर्मांस्ततः कुर्युर्भूमौ प्रस्तरशायिनः॥१०॥
दातव्योऽनुदिनं पिण्डः प्रेताय भुवि पार्थिव।
दिवा च भक्तं भोक्तव्यममांसं मनुजर्षभ॥११॥
दिनादि तावदिच्छातः कर्त्तव्यं विप्रभोजनम्!
प्रेतस्तृप्तिं तथा याति बन्धुवर्गेण भुञ्जता॥१२॥
प्रथमेऽह्नि तृतीये च सप्तमे नवमे तथा।
वस्त्रत्यागं बहिः स्नानं कृत्वा दद्यात् तिलोदकम्॥१३॥
ततोऽनु बन्धुवर्गस्तु भुविदद्यात् तिलोदकम्।
चतुर्थेऽह्नि च कर्त्तव्यं भस्मास्थिचयनं नृप।
तदूर्ध्वमङ्गसंस्पर्शश्च सपिण्डानामपीष्यते॥१४॥
योग्याः सर्वक्रियाणान्तु समानसलिलास्तथा।
अनुलेपनपुष्पादिभोगादन्यत्र पार्थिव॥१५॥
शय्यासनोपभोगश्च सपिण्डानामपीष्यते।

स्नानैः स्नानसाधनैः, सचेलाः पूर्वधृतवस्त्रसहिता एव स्नाताः॥८॥

अमुकायेति नामगोत्रोपलक्षणम्॥९॥

गोभिः समं गवां प्रवेशसमये। एतच्च दिवादाहविषयम्। कटधर्मान् प्रेतकृत्यानि स्रस्तरः तृणशय्या॥१०॥

अनुदिनं यावदशौचं, भक्तम् ओदनम्, अतः पिष्टादिवर्जनमायाति। अमांसमित्युक्तेर्मांसव्यतिरिक्तानुज्ञा॥११॥

विप्रभोजनम्। एतच्च सपिण्डसमानोदकविषयम् सपिण्डादिभेदश्च **कूर्मोक्तः—''सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते। समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने''**। इति॥१२॥

सर्वक्रियाणामुपासनं पञ्चयज्ञादीनाम्॥१५॥

भस्मास्थिचयनादूर्द्ध्वं संयोगो न तु योषिता॥ १६॥
बाले देशान्तरस्थे च पतिते च मुनौ मृते।
सद्यःशौचं तथेच्छातो जलाग्न्युद्बन्धनादिषु॥ १७॥
मृतबन्धोर्दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते।
दानं प्रतिग्रहो यज्ञः स्वाध्यायश्च निवर्तते॥ १८॥
विप्रस्यैतद् द्वादशाहं राजन्यस्याप्यशौचकम्।
अर्द्धमासश्च वैश्यस्य मासं शूद्रस्य शुद्धये॥ १९॥
आयुजो भोजयेत् कामं द्विजानाद्ये ततो दिने।
दद्याद् दर्भेषु पिण्डञ्च प्रेतायोच्छिष्टसन्निधौ॥ २०॥
वार्याधप्रतोदास्तु दण्डश्च द्विजभोजनात्।
स्प्रष्टव्योऽनन्तरं वर्णैः शुध्येरंस्ते ततः क्रमात्॥ २१॥
ततः स्ववर्णधर्मा ये विप्रादीनामुदाहताः।

बाले अजातदन्ते देशान्तरस्थ इति सवत्सरादूर्द्ध्वं सद्यःशौचं, संवत्सराभ्यन्तरे तु अशौचान्ते श्रुते त्रिरात्रम्। देशान्तरन्तु ''महानद्यन्तरं यत्र गिरिर्वा व्यवधायकः। वाचो यत्र विभिद्यन्ते तद्देशान्तरमिष्यते।'' इति। एतच्च मातापितृव्यतिरिक्तविषयम्। तदुक्तम्—**'पितरौ चेन्मृतौ स्यातां दूरतस्तद्दिनमारभ्य दशाहं सूतकी भवेत्'** इति। मुनौ यतौ। इच्छात इति विशेषणादनिच्छयामृते यथोक्तमशौचादि कार्यम्। ''यदि कश्चित् प्रमादेन म्रियेताप्युदकादिना। तस्याशौचं विधातव्यं कर्त्तव्या चोदकक्रिया॥'' इति स्मृतेः॥ १७॥

मृतो बन्धुः सपिण्डो यस्य तत्कुलस्यान्नं दशाह न भोक्तव्यम्। तत्कुलस्य तदन्नभोक्तुश्च यावदशौचं दानादि निवर्तते॥ १८॥

एतत् पूर्वोक्तदशाहः॥ १९॥

आद्यमेकोद्दिष्टश्राद्धमाह—**'अयुज'** इति, एकं त्रीणीत्येवं विषमसंख्यान्। आद्ये अशौचानन्तरं प्रथमेऽहनि। 'अन्त' इति पाठे अशौचान्त इत्यर्थः, ''आद्यमेकादशेऽहनि'' इति स्मृतेः॥ २०॥

द्विजभोजनादनन्तरं वर्णैर्विप्रादिभिर्वार्य्याद्याः क्रमात् स्प्रष्टव्याः, ततस्ते शुध्येरन् इत्यन्वयः। ब्राह्मणादिभिश्चतुर्भिर्वर्णैश्चत्वारिः क्रमात् स्प्रष्टव्यानीत्यर्थः॥ २१॥

शुद्ध्यनन्तरमेव निजधर्मार्जनैर्जीवेत् जीविकार्थं निजधर्मेणोपार्ज्जनं कुर्यादित्यर्थः॥ २२॥

तान् कुर्वीत पुमान् जीवेन्निजधर्मार्जनैस्तथा॥ २२॥

मृताहनि च कर्तव्यमेकोद्दिष्टमतः परम्!

आह्वानादिक्रियादैव नियोगरहितं हि तत्॥ २३॥

एकोऽर्घस्तत्र दातव्यस्तथैवैकपवित्रकम्।

प्रेताय पिण्डो दातव्यो भुक्तवत्सु द्विजातिषु॥ २४॥

प्रश्नश्च तत्राभिरतिर्यजमानैर्द्विजन्मनाम्।

अक्षय्यममुकस्येति वक्तव्यं विरतौ तथा॥ २५॥

एकोद्दिष्टमयो धर्म इत्थमा वत्सरात् स्मृतः।

सपिण्डीकरणं तस्मिन् काले राजेन्द्र! तच्छृणु॥ २६॥

एकोद्दिष्टविधानेन कार्यं तदपि पार्थिव!

(संवत्सरेऽथ षष्ठे वा मासे वा द्वादशेऽह्नि तत्)

तिलगन्धोदकैर्युक्तं तत्र पात्रचतुष्टयम्॥ २७॥

पात्रं प्रेतस्य तत्रैकं पैत्रं पात्रत्रयं तथा।

सेचयेत् पितृपात्रेषु प्रेतपात्रं ततस्त्रिषु॥ २८॥

ततः पितृत्वमापन्ने तस्मिन् प्रेते महीपते!

श्राद्धधर्मेरशेषैस्तु तत् पूर्वानर्चयेत् पितॄन्॥ २९॥

अतः प्रथममासात् परं प्रतिमासं मृततिथौ यावदब्दम् आह्वानमावाहनम् आदिशब्देनाग्नौ करणादिक्रिया दैवनियोगो वैश्वदेवविप्रामन्त्रणञ्च तद्रहितम्॥ २३॥

भुक्तवत्सु बहुषु अयुंजो भोजयेदित्युक्तत्वात् प्रेतायैक एव पिण्डो देयः॥ २४॥

प्रश्नश्चाभिरतिरिति अभिरम्यतामिति यजमानोक्तेर्द्विजैः **'अभिरताः स्म'** इति वक्तव्यमित्यर्थः। अक्षय्यममुकस्येति एकोद्दिष्टविशेषविषयमेतत्। उपतिष्ठतामित्यक्षय्यस्थाने विप्रविसर्जनेऽभिरम्यतामिति वदेत्। भूयस्ते अभिरताः स्म इति स्मृतेः॥ २५॥

तस्मिन् काले पूर्णे संवत्सरे, तत् सपिण्डीकरणम्॥ २६॥

पात्रचतुष्टयस्य विनियोगमाह—**'पात्रं प्रेतस्ये'** ति॥ २८॥

श्राद्धधर्मैः स्वधाकारादिभिस्तत् पूर्वान् सपिण्डीकृतः पूर्वो येषां तांस्त्रीन् पूजयेत्। चतुर्थस्तु निवर्त्तते तस्मात् तृतीयात् पुरुषाणां नाम गृह्णन्तीति श्रुतेः॥ २९॥

पुत्रः पौत्रः प्रपौत्रो वा भ्राता वा भ्रातृसन्ततिः।
सपिण्डसन्ततिर्वापि क्रियार्हो नृप! जायते॥ ३०॥
तेषामभावे सर्वेषां समानोदकसन्ततिः।
मातृपक्षसपिण्डेन सम्बद्धा ये जलेन वा॥ ३१॥
कुलद्वयेऽपि चोच्छिन्ने स्त्रीभिः कार्या क्रिया नृप!
सङ्घातान्तर्गतैर्वापि कार्याः प्रेतस्य च क्रियाः।
उत्सन्नबन्धुरिक्थानां कारयेदवनीपतिः॥ ३२॥
पूर्वाः क्रिया मध्यमाश्च तथा चैवोत्तराः क्रियाः।
त्रिप्रकाराः क्रियाः सर्वास्तासां भेदं शृणुष्व मे॥ ३३॥
आदाह-वार्यायुधादिस्पर्शाद्यन्तास्तु याः क्रियाः।
ताः पूर्वा मध्यमा मासि मास्येकोद्दिष्टसंज्ञिताः॥ ३४॥
प्रेते पितृत्वमापन्ने सपिण्डीकरणादनु।
क्रियन्ते याः क्रियाः पित्र्याः प्रोच्यन्ते ता नृपोत्तराः॥ ३५॥
पितृमातृपिण्डैस्तु समानसलिलैस्तथा।
तत् सङ्घान्तर्गतैर्वापि राज्ञा तद्धनहारिणा॥ ३६॥
पूर्वाः क्रियाश्च कर्तव्याः पुत्राद्यैरेव चोत्तराः।
दौहित्रैर्वा नृपश्रेष्ठ! कार्यास्तत्तनयैस्तथा॥ ३७॥

मुख्यानुकल्पाभावेन क्रियाकर्त्तॄन् आह—'**पुत्र**' इति सार्द्धैस्त्रिभिः॥ ३०

पूर्वोक्तानामेव स्त्रीभिः मुख्यानुकल्पाभावेन क्रिया कार्या इत्यर्थः। संघातः सार्थः पात्रिकसमुदायः। तत्र मृतस्य तदन्तर्गतैः प्रेतक्रिया कार्येत्यर्थः। समानप्रवरसमानशास्त्रादिरूपः संघात इति केचित्॥ ३२॥

उत्सन्ना बन्धव ऋक्थानि च येषां तेषाम्। उत्सन्नबन्धुरिक्थादिति पाठे उत्सन्नबन्धोः प्रेतस्य रिक्थादित्यर्थः। कर्तृव्यवस्थां वक्तुं क्रियात्रैविध्यमाह—'**पूर्वा**' इति त्रिभिः॥ ३३॥

आ दाहाद् दाहपूर्वावधिकाश्च ता वार्यायुधादिस्पर्शादिरन्तो यासां ताश्च तथा। यद्वा आ समन्ताद् दह्यन्तेऽस्मिन्नित्यादाहं श्मशानं तेन प्रेतदाहो लक्ष्यते आदाहश्च वार्य्यायुधादिस्पर्शश्च आद्यन्तौ यासां ताः। दाहाद्याशौचान्तभवाः पूर्वाः क्रिया इत्यर्थः॥ ३४॥

तत्र पूर्वाः क्रियाः पित्रादिभिरपि यथार्हं कर्त्तव्याः॥ ३५॥

पुत्रा द्यैरेवोत्तराः मध्यमास्तूभयैर्यथासम्भवं कर्त्तव्या इति गम्यते॥ ३७॥

मृताहनि च कर्तव्याः स्त्रीणामप्युत्तराः क्रियाः।
प्रतिसंवत्सरं राजन्नेकोद्दिष्टविधानतः॥३८॥
तस्मादुत्तरसंज्ञा याः क्रियास्ताः शृणु पार्थिव!
यदा यदा च कर्तव्या विधिना येन वानघ॥३९॥

इति श्रीविष्णुपुराणे तृतीयांशे त्रयोदशोऽध्यायः॥१३॥

मृताहनि चेति चकारादष्टकादिषु पार्वणविधिना चेत्यर्थः॥३८॥

तस्मादूत्तरक्रियाबाहुल्यादुत्तरक्रिया याः ताः तत्कालविधीन् शृण्वित्यर्थः॥३९॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायांस्वप्रकाशाख्यायामात्मप्रकाशाख्यायां वा श्रीविष्णुराणटीकायां तृतीयांऽशे त्रयोदशोऽध्यायः॥

चतुर्दशोऽध्यायः

(श्राद्धफलश्रुति-विशेषश्राद्धफल-पितृगीतावर्णनम्)

और्व उवाच

ब्रह्मेन्द्र-रुद्र-नासत्य-सूर्याग्नि-वसु-मारुतान्।
विश्वेदेवान् पितृगणान् वयांसि मनुजान् पशून्॥ १॥
सरीसृपानृषिगणान् यच्चान्यद्भूतसंज्ञितम्।
श्राद्धं श्रद्धान्वितः कुर्वन् प्रीणयत्यखिलं जगत्॥ २॥
मासि मास्यसिते पक्षे पञ्चदश्यां नरेश्वर।
तथाष्टकासु कुर्वीत काम्यान् कालाञ्छृणुष्व मे॥ ३॥
श्राद्धार्हमागतं द्रव्यं विशिष्टमथवा द्विजम्।
श्राद्धं कुर्वीत विज्ञाय व्यतीपातेऽयने तथा॥ ४॥
विषुवे चापि सम्प्राप्ते ग्रहणे शशि-सूर्ययोः।
समस्तेष्वेव भूपाल! राशिष्वर्के च गच्छति॥ ५॥
नक्षत्रग्रहपीडासु दुष्टस्वप्नावलोकने।
इच्छाश्राद्धानि कुर्वीत नवशस्यागमे तथा॥ ६॥
आमावास्या यदा मैत्रविशाखास्वातियोगिनी।

श्राद्धं तत्फलकालांश्च नित्यकाम्यादिभेदतः। चतुर्दशे तु कल्पांश्च तत्फलान्यन्ववर्णयत्। तत्र तावदुत्तरक्रियाणां कालान् वर्णयिष्यन् श्राद्धप्रशंसामाह—'**ब्रह्मे**' ति॥ १॥

प्रतिमासं कृष्णपक्षे पञ्चदश्यां दर्शश्राद्धं कुर्वीतेत्यर्थः। अष्टका आग्रहायण्यादूर्ध्वं तिस्रः कृष्णाष्टम्यस्तासु॥ ३॥

श्राद्धार्हं द्रव्यं विशिष्टञ्च द्विजमागतं विज्ञायेत्यन्वयः॥ ४॥

समस्तेषु राशिषु अर्के गच्छति सति इति सर्वसङ्क्रान्तीनां श्राद्धकालत्वस्योक्तत्वात् अयने विषुवे चेति पृथगुक्तिः फलातिरेकार्था॥ ५॥

इच्छाश्राद्धानि काम्यानि। नवशस्यागम इति—एतच्च व्रीहियवव्यतिरिक्तविषयम्, तयोर्नित्यश्राद्धानिमित्तत्वात्॥ ६॥

श्राद्धैः पितृगणस्तृप्तिं तथाप्नोत्यष्टवार्षिकीम्॥७॥
अमावास्या यदा पुष्ये रौद्रे चर्क्षे पुनर्वसौ।
द्वादशाब्दं तदा तृप्तिं प्रयान्ति पितरोऽर्चिताः॥८॥
वासवाजैकपादर्क्षे पितृणां तृप्तिमिच्छताम्।
वारुणे चाप्यमावास्या देवानामपि दुर्लभा॥९॥
नवस्वृक्षेष्वमावास्या यदैतेष्ववनीपते!
तदा तृप्तिप्रदं श्राद्धं पितृणां शृणु चापरम्॥१०॥
गीतं सनत्कुमारेण यथैलाय महात्मने।
पृच्छते पितृभक्ताय प्रश्रयावनताय च॥११॥

सनत्कुमार उवाच

वैशाखमासस्य च या तृतीया
नवम्यसौ कार्त्तिकशुक्लपक्षे।
नभस्यमासस्य च कृष्णपक्षे
त्रयोदशी पञ्चदशी च माघे॥१२॥
एता युगाद्याः कथिताः पुराणै-
रनन्तपुण्यास्तिथयश्चतस्रः।
उपप्लवे चन्द्रमसो रवेश्च
त्रिष्वष्टकास्वप्ययनद्वये च॥१३॥

मैत्रमनुराधा॥७॥

रोद्रमार्द्रा॥८॥

वासवं ज्येष्ठा, अजैकपात् पूर्वभाद्रपदा, वारुणं शतभिषा, एतेषु नक्षत्रेष्वमावास्या पितृणां देवतानाञ्च तृप्तिं कर्त्तुमिच्छतां पुंसा दुर्लभा। इच्छतेति पाठे स एवार्थः॥९॥

नन्वमावस्याश्राद्धत्वान्नित्यतैव, तत् कथमेतेषु फलश्रुतिरित्यत आह—'**नवस्वि**' ति। 'गोदोहेनापः प्रणयेत पशुकामस्ये'तिवत् नक्षत्रगुणयोगाद् गुणफलविधिरित्यर्थः। नित्यात् पृथगेतानि श्रद्धानीति वा॥१०॥

ऐलाय पुरूरवसे॥११॥

'पञ्चदशी च माघ' इत्यत्र कृष्णपक्ष इत्यनुषङ्गः॥१२॥

एता युगाद्याः॥१३॥

पानीयमप्यत्र तिलैर्विमिश्रं
दद्यात् पितृभ्यः प्रयतो मनुष्यः।
श्राद्ध कृतं तेन समाः सहस्रं
रहस्यमेतत् पितरो वदन्ति॥ १४॥

माघासिते पञ्चदशी कदाचि-
दुपैति योगं यदि वारुणेन।
ऋक्षेण कालः स परः पितृणां
न ह्यल्पपुण्यैर्नृप! लभ्यतेऽसौ॥ १५॥

काले धनिष्ठा यदि नाम तस्मिन्
भवन्ति भूपाल! तदा पितृभ्यः।
दत्त जलान्नं प्रददाति तृप्तिं
वर्षायुतं तत् कुलजैर्मनुष्यैः॥ १६॥

तत्रैव चेद् भाद्रपदास्तु पूर्वाः
काले यथावत्क्रियते पितृभ्यः।
श्राद्धं परा तृप्तिमुपेत्य तेन
युगं समग्रं पितरः स्वपन्ति॥ १७॥

गङ्गां शतद्रूं यमुनां विपाशां
सरस्वतीं नैमिषगोमतीं वा।
तत्रावगाह्यार्चनमादरेण
कृत्वा पितृणां दुरितानि हन्ति॥ १८॥

गायन्ति चैतत् पितरः कदा नु
वर्षामघातृप्तिमवाप्य भूयः।
माघासितान्ते शुभतीर्थतोयै
र्यास्यामि तृप्तिं तनयादिदत्तैः॥ १९॥

पूर्वोक्तैरेव वारुणादिनक्षत्रैर्युक्ता माघामावस्या अतिश्रेष्ठेत्याह—'**माघासिते**' इति त्रिभिः। पूर्वन्तु एतैर्नक्षत्रैर्युता सामान्या अमावास्येति विशेषः॥ १५॥

पितृणामर्चनं कृत्वा आत्मनो दुरितं निहन्ति नाशयति॥ १८॥

वर्षामघातृप्तिमिति अपरपक्षघात्रयोदशीश्राद्धे तृप्तिं प्राप्येत्यर्थः॥ १९॥

चित्तञ्च वित्तञ्च नृणां विशुद्धं
शस्तश्च कालः कथितो विधिश्च।
पात्रं यथोक्तं परमा च भक्ति-
र्नृणां प्रयच्छन्त्यभिवाञ्छितानि॥ २०॥
पितृगीतास्तथैवात्र श्लोकास्तांश्च शृणुष्व मे।
श्रुत्वा तथैव भवता भाव्यं तत्र दृतात्मना॥ २१॥
अपि धन्यः कुले जायादस्माकं मतिमान्नरः।
अकुर्वन् वित्तशाठ्यं यः पिण्डान्नो निर्वपिष्यति॥ २२॥
रत्नं वस्त्रं मही यानं सर्वभोगादिकं वसु।
विभवे सति विप्रेभ्यो योऽस्मानुद्दिश्य दास्यति॥ २३॥
अन्नेन वा यथाशक्त्या कालेऽस्मिन् भक्तिनम्रधीः।
भोजयिष्यति विप्राग्र्यांस्तन्मात्रविभवो नरः॥ २४॥
असमर्थोऽन्नदानस्य धान्यामं स्वशक्तितः।
प्रदास्यति द्विजाग्रेभ्यः स्वल्पाल्यां वापि दक्षिणाम्॥ २५॥
तत्राप्यसामर्थ्ययुतः कराग्राग्रस्थितांस्तिलान्।
प्रणम्य द्विजमुख्याय कस्मैचिद् भूप! दास्यति॥ २६॥
तिलैः सप्ताष्टभिर्वापि समवेतं जलाञ्जलिम्।
भक्तिनम्रः समुद्दिश्य भुव्यस्माकं प्रदास्यति॥ २७॥
सर्वाभावे वनं गत्वा कक्षामूलप्रदर्शकः।
सूर्यादिलोकपालानामिदमुच्चैर्वदिष्यति॥ २९॥

चित्तं विशुद्धं, शस्तं द्रव्यं, वित्तञ्च विशुद्धं वित्तशाठ्यहीनम्॥ २०॥

एतदेव पितृगीतैः स्पष्टयतिः 'पितृगीता' इति यावदध्यायसमाप्तिः। अन्नचित्तवित्तादिपञ्चकप्राशस्त्ये पितृगीतान् श्लोकान् शृणु॥ २१॥

आमपक्वं धान्यमाममिति वा पाठः। तत्र पुरुषाहारमात्रम्॥ २५॥

गवाह्निकम् एकस्या गोरेकाहतृप्तिजनकं तृणादि॥ २८॥

कक्षामूलप्रदर्शकः निर्धनत्वख्यापनार्थमूर्ध्वबाहुः॥ २९॥

न मेऽस्ति वित्तं न धनं न चान्य-
च्छ्राद्धोपयोग्यं स्वपितॄन्नतोऽस्मि।
तृप्यन्तु भक्त्या पितरो मयैतो
कृतो भुजौ वर्त्मनि मारुतस्य॥ ३०॥

और्व उवाच

इत्येतत् पितृभिर्गीतं भावाभावप्रयोजनम्।
यः करोति कृतं तेन श्राद्धं भवति पार्थिव॥ ३१॥

इति श्रीविष्णुपुराणे तृतीयांशे चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

वित्तं स्वर्णरजतादि इतरद् धनञ्च नास्ति। तत्प्रत्ययार्थं मया भुजौ मारुतस्य वर्त्मनि आकाशे क्षिप्तौ॥ ३०॥

भावाभावप्रयोजनं वित्तस्य भावेऽभावे च प्रयोजनं पितृतृप्तिहेतुप्रयोगम्॥ ३१॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायां स्वप्रकाशाख्यायामात्मप्रकाशाख्यायां वा श्रीविष्णुपुराणटीकायां तृतीयांशे चतुर्दशोऽध्यायः

पञ्चदशोऽध्यायः

(श्राद्धभोजि-विप्रलक्षणादिकथनम् योगिप्रशंसा च)

और्व उवाच

ब्राह्मणान् भोजयेच्छ्राद्धे यद्गुणांस्तान्निबोध मे।
त्रिणाचिकेतस्त्रिमधुस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित्॥ १॥
वेदविच्छ्रोत्रियो योगी तथा वै ज्येष्ठसामगः।
ऋत्विक् स्वस्रेय-दौहित्र-जामात्र-स्वसुरास्तथा॥ २॥
मातुलोऽथ तपोनिष्ठः पञ्चाग्न्यभिरतस्तथा।
शिष्याः सम्बन्धिनश्चैव मातापितृरतश्च यः॥ ३॥
एतान् नियोजयेच्छ्राद्धे पूर्वोक्ताद् प्रथमं नृप!
ब्राह्मणान् पितृपुष्ट्यर्थमनुकल्पेष्वनन्तरान्॥ ४॥
मित्रध्रुक् कुनखी क्लीबः श्यावदन्तस्तथा द्विजः।
कन्यादूषयिता वह्निवेदोज्झः सोमविक्रयी॥ ५॥

इति कृत्यान् विधीनत्र श्राद्धीयान् ब्राह्मणानपि। भोक्तुः कर्त्तृश्च वर्ज्यानि प्राह पञ्चदशे मुनिः। अथ पार्वणश्राद्धप्रयोगान् वक्ष्यन् प्रथमं श्राद्धीयान् ब्राह्मणानाह—'**ब्राह्मणानि**' ति त्रिभिः। यद्गुणान् यैर्गुणैर्युक्तान्। द्वितीयकठिकस्थास्त्रयोऽनुवाकास्त्रिणाचिकेताः, तदध्यायी तदनुष्ठाता च त्रिणाचिकेतः। मधुवाता इति त्र्यृचाध्यायी तद्व्रतश्च त्रिमधुः। ब्राह्मणेन्मान् इत्याद्यनुवाकत्रयाध्यायी तद्व्रतश्च त्रिसुपर्णः। षट् अङ्गानि यस्य तं वेदमधीते वेत्ति वा षडङ्गवित्॥ १॥

वेदवित् वेदार्थविचारकः। श्रोत्रियस्तदर्थानुष्ठाता। योगी योगाभ्यासी। मूर्धानं दिव इत्याद्यृग्विशेषगीतं ज्येष्ठसाम तद्गाता ज्येष्ठसामगः। आहवनीयादित्रयः सज्यावसथ्यौ च द्वौ एते पञ्चाग्नयः, तेष्वभिरतस्तदुपासकः। यद्वा वेदान्तोक्तद्यु-पर्जन्य-पृथिवी-पुरुष-योषिद्रूपपञ्चाग्निविधोपासकः॥ २-३॥

एतेषु मुख्यानुकल्पभेदमाह—'**एता**' निति। एतान् प्रथमश्लोकोक्तान् ज्येष्ठसामगान्। प्रथमं मुख्यकल्पे निमन्त्रयेत्। अनन्तरान् ऋगादीन् अनुकल्पेषु॥ ४॥

एतेषामसम्भवे निषिद्धग्रहणार्थं निषिद्धानाह—'**मित्रघ्रुगि**' ति सार्द्धैस्त्रिभिः। कुनखी

अभिशस्तस्तथा स्तेनः पिशुनो ग्रामयाजकः।
भृतकाध्यापकस्तद्वद् भृतकाध्यापितश्च यः॥ ६॥
परमूर्वापतिश्चैव मातापित्रोस्तथोज्झकः।
वृषलीसूतिपोष्टा च वृषलीपतिरेव च॥ ७॥
तथा देवलकश्चैव श्राद्धे नार्हन्ति केतनम्॥ ८॥
प्रथमेऽह्नि बुधः शस्ताञ्छ्रोत्रियादीन् निमन्त्रयेत्।
कथयेच्च तथैवैषां नियोगान् पैत्र्यदैविकान्॥ ९॥
ततः क्रोधव्यवायादीनायासं तैर्द्विजैः सह।
यजमानो न कुर्वीत दोषस्तत्र महानयम्॥ १०॥
श्राद्धे नियुक्तो भुक्त्वा वा भोजयित्वा नियुज्य च।
व्यवायी रेतसो गर्त्ते मज्जयत्यात्मनः पितॄन्॥ ११॥
तस्मात् प्रथममत्रोक्तं द्विजाग्र्याणां निमन्त्रणम्।
अनिमन्त्र्य द्विजान् गेहमागतान् भोजयेद् यतीन्॥ १२॥

निसर्गतः कुत्सितनखः। श्यावदन्तः सभावतः कृष्णदन्तः। अग्निवेदोज्झः अधिकारी शक्तश्च सन् अग्निहोत्रवेदाभ्यासत्यागी। सोमं सोमलतां विक्रीणीते स तथा॥५॥

अभिशस्तः सत्येनासत्येन महापातकित्वेनाभियुक्तः स्तेनश्चौरः। पिशुनः निभृते परदोषवक्ता। ग्रामयाजकः साधारणानां याजयिता, ग्रामार्थपुष्टो वा। भृतकाध्यापकः वेतनेनाध्यापितश्च॥६॥

परपूर्वा परस्मै या दत्ता तस्या अपरः पतिः। मातापित्रोरपातित्यादावपि उज्झकः उपेक्षकः। वृषलीसूतिपोष्टा शूद्रापत्यपोषकः। देवलकः "देवार्चनपरो विप्रो वित्तार्थी वत्सरत्रयम्। असौ देवलकी नाम हव्यकव्येषु गर्हितः।" इत्युक्तः। केतनं निमन्त्रणम्॥७-८॥

इदानीं प्रयोगमाह—पैत्र्यादैविकान् एते पैत्र्या एते दैविका इति कल्पयेत्। यद्वा पितृदेवसम्बन्धिनः। अक्रोधनैः शोचपरैरिति नियोगात्॥९॥

कथयित्वा च तथा कुर्यादित्याह,—'**तत**' इति॥१०॥

महान्तं दोषमाह—'**श्राद्ध**' इति। नियुक्तः पूर्वदिने भुक्त्वा च परदिने व्यवायी एवे कर्त्तापि॥११॥

अनिमन्त्रितानपि यतीन् द्विजान् भोजयेत्। यतित्वेनैव पूर्वोक्तदोषाभावादिति भावः॥१२॥

पादशौचादिना गेहमागतान् पूजयेद् द्विजान्।
पवित्रपाणिराचान्तानासनेषूपवेशयेत्॥ १३॥
पितॄणामयुजो युग्मान् देवानामिच्छया द्विजान्।
देवानामेकमेकं वा पितॄणाञ्च नियोजयेत्॥ १४॥
तथा मातामहश्राद्धं वैश्वदेवसमन्वितम्।
कुर्वीत भक्तिसम्पन्नस्तन्त्रं वा वैश्वदैविकम्॥ १५॥
प्राङ्मुखान् भोजयेद् विप्रान् देवानामुभयात्मकान्।
पितृमातामहानाञ्च भोजयेचाप्युदङ्मुखान्॥ १६॥
पृथक् तयोः केचिदाहुः श्राद्धस्य करणं नृप!
एकत्रैकेन पाकेन वदन्त्यन्ये महर्षयः॥ १७॥
विष्टरार्थं कुशान् दत्त्वा सम्पूज्यार्घ्यविधानतः।
कुर्यादावाहनं प्राज्ञो देवानां तदनुज्ञया॥ १८॥
यवाम्बुना च देवानां दद्यादर्घ्यं विधानवित्।
स्रग-गन्ध-धूप-दीपांश्च तेभ्यो दद्याद् यथाविधि॥ १९॥
पितॄणामपसव्यं तत् सर्वमेवोपकल्पयेत्।
अनुज्ञाञ्च ततः प्राप्य दत्त्वा दर्भान् द्विधाकृतान्॥ २०॥
मन्त्रपूर्वं पितृणान्तु कुर्याचावाहनं बुधः।
तिलाम्बुना चापसव्यं दद्यादर्घ्यादिकं नृप॥ २१॥

तांश्च सर्वान् पादशौचादिना पूजयेत्॥ १३॥

पितॄणामयुजो युग्मान् देवानां युग्मानिच्छया वा यथाशक्ति भोजयेत्। उभयेषाम् एकमेकं वा॥ १४॥

तन्त्रं वेति पितृमातामहश्राद्धयोरेकमेव वैश्वदेवविधानमित्यर्थः। तन्त्रत्वनुद्देश्यानुष्ठानसाम्ये सति सजातीया नेककार्यकरम् अमावास्यायां तीर्थप्रासावेकश्राद्धमिव॥ १५॥

उभयार्थकान् पितृमातामहीयवैश्वदेवार्थकान् पितृमातामहवर्गश्राद्धीयानुदङ्मुखानिति वान्वयः। भोजयेत् भोजनार्थमुपवेशयेत् इत्यर्थः॥ १६॥

तयोः पितृमातामहवर्गयोः॥ १७॥

द्विधाकृतान् द्विगुणीकृतान् विंशस्तस्त्वेति मन्त्रपूर्वम् अत एव विश्वदेवावाहनेऽपि मन्त्र आयाति॥ २०॥

काले तत्रातिथिं प्राप्तमन्नकामं नृपाध्वगम्।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः कामं तमपि भोजयेत्॥ २२॥
योगिनो विविधै रूपैर्नराणामुपकारिणः।
भ्रमन्ति पृथिवीमेतामविज्ञातस्वरूपिणः॥ २३॥
तस्मादभ्यर्चयेत् प्राप्तं श्राद्धकालेऽतिथिं बुधः।
श्राद्धक्रियाफलं हन्ति नरेन्द्रापूजितोऽतिथिः॥ २४॥
जुहुयाद् व्यञ्जनक्षारवर्जमन्नं ततोऽनले।
अनुज्ञातो द्विजैस्तैस्तु त्रिकृत्वः पुरुषर्षभ॥ २५॥
अग्नये कव्यवाहाय स्वाहेत्यादौ नृपाहुतिः।
सोमाय वै पितृमते दातव्या तदनन्तरम्॥ २६॥
वैवस्वताय चैवान्या तृतीया दीयते ततः।
हुतावशिष्टमल्पाल्पं पितृपात्रेषु निर्वपेत्॥ २७॥
ततोऽत्र मिष्टमत्यर्थमभीष्टमतिसंस्कृतम्।
दत्त्वा जुषध्वमिच्छातो वाच्यमेतदनिष्ठुरम्॥ २८॥
भोक्तव्यं तैश्च तच्चित्तैर्मौनिभिः सुमुखैः सुखम्।
अक्रुध्यता चात्वरता देयं तेनापि भक्तितः॥ २९॥
रक्षोघ्नमन्त्रपठनं भूमेरास्तरणं तिलैः।
कृत्वा ध्येयाः स्वपितरस्त एव द्विजसत्तमाः॥ ३०॥
पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः।
मम तृप्तिं प्रयान्त्वग्निहोमाप्यायितमूर्तयः॥ ३१॥
पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः।
तृप्तिं प्रयान्तु पिण्डेन मया दत्तेन भूतले॥ ३२॥

तदा प्राप्तातिथिभोजने हेतुमाह द्वाभ्यां 'योगिन' इति॥ २३॥

व्यञ्जनं शाकादि। क्षारं लवणादि तद्वर्जम्॥ २५॥

वैवस्वताय यमायेति पृथगाहुतिः शाखिभेदव्यवस्थिता॥ २७॥

अक्रुद्ध्यता चात्वरता च भक्तितो देयम्। अक्रुद्ध्यतेति पाठे तत्र कार्येत्यध्याहृत्य पूर्वेणान्वयः॥ २९॥

पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः।
तृप्तिं प्रयान्तु मे भक्त्या मन्मयैतदिहाकृतम्॥ ३३॥
मातामहस्तृप्तिमुपैतु तस्य
तथा पिता तस्य पिता तथान्यः।
विश्वे च देवाः परमां प्रयान्तु
तृप्तिं प्रणश्यन्तु च यातुधानाः॥ ३४॥
यज्ञेश्वरो हव्यसमस्तकव्य-
भोक्ताव्ययात्मा हरिरीश्वरोऽत्र।
तत्सन्निधानादपयान्तु सद्यो
रक्षांस्यशेषाण्यसुराश्च सर्वे॥ ३५॥
तृप्तिष्वेतेषु विकिरेदन्नं विप्रेषु भूतले।
दद्यादाचमनार्थाय तेभ्यो वारि सकृत् सकृत्॥ ३६॥
सुतृप्तैस्तैरनुज्ञातः सर्वेणान्नेन भूतले।
सतिलेन ततः पिण्डान् सम्यग् दद्यात् समाहितः॥ ३७॥
पितृतीर्थेन सतिलान् दद्यादथ जलाञ्जलीन्।
मातामहेभ्यस्तेनैव पिण्डांस्तीर्थेन निर्वपेत्॥ ३८॥
दाक्षिणाप्रवणञ्चैव प्रयत्नेनोपपादयेत्।
अवकाशेषु चोक्षेषु जलतीरेषु चैव हि॥ ३९॥
दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु पुष्पधूपादिपूजितम्।
स्वपित्रे प्रथमं पिण्डं दद्यादुच्छिष्टसन्निधौ॥ ४०॥
पितामहाय चैवान्यत् तत्पित्रे च तथापरम्।
दर्भमूले लेपभुजः प्रीणयेल्लेपघर्षणैः॥ ४१॥
पिण्डैर्मातामहांस्तद्वद् गन्धमाल्यादिसंयुतैः।

मम पित्रादयस्तृप्तिं प्रयान्त्वित्यन्वयः। सर्वेण व्यञ्जनादिसहितेन अन्नेन पिण्डान् दद्यात्॥ ३१-३७॥

चोक्षेषु समीचीनेषु लेपभुजः पितॄणां चतुर्थाद्याः॥ ३८॥

पित्रेभ्यो ब्राह्मणेभ्य सुष्ठु स्वधेत्याशिषा युक्ताम्। एतदाशीः प्रार्थनानन्तरं दक्षिणां दद्यादित्यतो दक्षिणापि पितृपूर्वैवायाति॥ ४२॥

पूजयित्वा द्विजाग्र्याणां दद्याच्चाचमनं ततः॥ ४२॥
पितृभ्यः प्रथमं भक्त्या तन्मनस्को नरेश्वर!
सुस्वधेत्याशिषा युक्तां दद्याच्छक्त्या च दक्षिणाम्॥ ४३॥
दत्त्वा च दक्षिणां तेभ्यो वाचयेद्वैश्वदेविकान्।
प्रीयन्तामिह ये विश्वेदेवास्तेन इतीरयेत्॥ ४४॥
तथेति चोक्ते तैर्विप्रैः प्रार्थनीयास्तथाशिषः।
पश्चाद्विसर्जयेद् देवान् पूर्वं पैत्र्यान्महीपते॥ ४५॥
मातामहानामप्येवं सह देवैः क्रमः स्मृतः।
भोजने च स्वशक्त्या च दाने तद्वद् विसर्जने॥ ४६॥
आपादशौचनात् पूर्वं कुर्याद् देवद्विजन्मसु॥
विसर्जनन्तु प्रथमं पैत्रमातामहेषु वै॥ ४७॥
विसर्जयेत् प्रीतिवचः सम्मानाभ्यर्चितांस्ततः।
निवर्त्तेताभ्यनुज्ञात आद्वारान्तादनुव्रजेत्॥ ४८॥
ततस्तु वैश्वदेवाख्यां कुर्यान्नित्यक्रियां बुधः।
भुञ्जीयाच्च समं पूज्य-भृत्य-बन्धुभिरात्मनः॥ ४९॥
एवं श्राद्धं बुधः कुर्यात् पैत्र्यं मातामहं तथा।
श्राद्धैराप्यायिता दद्युः सर्वान् कामान् पितामहाः॥ ५०॥
त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः।
रजतस्य तथादानं कथासङ्कीर्तनादिकम्॥ ५१॥

किञ्च पश्चाद् विसर्जयेदित्यनेन विसर्जनमपि पितृपूर्वकमित्यतोऽन्यत् सर्वं देवपूर्वमेवेत्यर्थादुक्तम्॥ ४५॥

इममेवार्थं वैश्वदैवतन्त्रपक्षेऽप्याह—'आपादे'ति। पादप्रक्षालनात् प्रभृति देवार्थानां ब्राह्मणानां सर्वं प्रथमं कुर्यात्। ततः पितृवर्गाणां ततो मातामहवर्गाणाम् इति। विसर्जनन्त्विति दक्षिणाया उपलक्षणम् पूर्वमेवोक्तत्वात्॥ ४७॥

पूज्यैर्मान्यैभृत्यैर्बन्धुभिश्च सह भुञ्जीत॥ ४९॥

दौहित्रो दुहितुः सुतः। कुतपोऽष्टमो मुहूर्त्तः। दौहित्रमिति पाठे दौहित्रं घृतविशेषः। ''अमावास्यागते सोमे या च खादति गौरतृणम्। दौहित्री सा मता तस्या घृतं

वर्ज्यानि कुर्वता श्राद्धं कोपोऽध्वगमनं त्वरा।

भोक्तुरप्यत्र राजेन्द्र! त्रयमेतन्न शस्यते॥५२॥

विश्वेदेवाः सपितरस्तथा मातामहा नृप!

कुलञ्चाप्यायते पुंसां सर्वं श्राद्धं प्रकुर्वताम्॥५३॥

सोमाधारः पितृगणो यागाधारस्तु चन्द्रमाः।

श्रेष्ठयोगिनियोगस्तु तस्माद् भूपाल! शस्यते॥५४॥

सहस्रस्यापि विप्राणां योगी चेत् पुरतः स्थितः।

सर्वान् भोक्तृंस्तारयति यजमानं तथा नृप॥५५॥

इति श्रीविष्णुपुराणे तृतीयांशे पञ्चदशोऽध्यायः॥१५॥

दौहित्रमुच्यते।'' इति। दौहित्रं खड्गपात्रमिति केचित्। केचित्तु कुतपमपि छागलोमजं कम्बलमाहुः। रजतस्य कथासन्दर्शनादिकमपि। पवित्रं राजतं रजताक्तं वा पितृणां पात्रमुच्यते। ''रजतस्य तथादानं दर्शनं नाम चेष्यते'' इति मत्स्यवायूक्तेः॥५१॥

विश्वेदेवादय आप्यायन्ते कुलञ्चाप्यायत इति॥५३॥

सोमाधारः पितृगणः अग्निष्वात्तादेराधिकारिको गणः सोमाधारः सोमोपजीवित्वात्। योगाधारश्चन्द्रमास्तेषामेवयोगबलेन पुनश्चन्द्रस्याप्यायनात्। तथा च हरिवंशे—''**एतेऽस्मत्पितरस्तात**! योगिनां योगवर्द्धनाः। आप्याययन्ति ये पूर्वं सोमं योगबलेन वै।'' तथा वायुः ''**श्राद्धे प्रीताः पुनः** सोमं पितरो योगमाश्रिताः। आप्याययन्ति योगेन त्रैलोक्यं येन जीवति।'' तस्मात् श्राद्धे योगिनिमन्त्रणं शस्तमिति॥५४॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाभिधायां स्वप्रकाशाख्यायां वा श्रीविष्णुपुराणटीकायां तृतीयांऽशे पञ्चदशोऽध्यायः

षोडशोऽध्यायः

(श्राद्धे मधुमांसादिदानफलस्य क्लीवादिद्वाराश्राद्धदर्शनदोषस्य च वर्णनम्)

और्व उवाच

हविष्य-मत्स्य-मांसैस्तु शशस्य शकुनस्य च।
शौकरच्छागलैरैणैरौरवैर्गवयेन च॥ १॥
औरभ्रगव्यैश्च तथा मासवृद्ध्या पितामहाः।
प्रयान्ति तृप्तिं मांसैस्तु नित्यं वाध्रीणसामिषैः॥ २॥
खड्गमांसमतीवात्र कालशाकं तथा मधु।
शस्तानि कर्मण्यत्यन्त-तृप्तिदानि नरेश्वर॥ ३॥
गयामुपेत्य यः श्राद्धं करोति पृथिवीपते।
सफलं तस्य तज्जन्म जायते पितृतुष्टिदम्॥ ४॥

सदाचारप्रसङ्गानुप्रसङ्गेनाथ षोडशे। द्रव्याणि श्राद्धयोग्यानि तथायोग्यानि चादिशत्। तत्र श्राद्धे देयद्रव्यप्रशंसा हविष्यैर्व्रीह्यादिभिः मत्स्यादीनां नवानां मांसश्च प्रत्येकमेकैकमासवृद्ध्या पितामहाः पितरस्तृप्तिं प्रयान्ति इति द्वयोरन्वयः। व्रीह्यादिभिरेकमासं मत्स्यमांसैर्द्वौ मासावित्येवं दशमासान्तम् मत्स्यामिषे मांसत्वोपचारः। एणो हरिणविशेषः। रुरुः पृषतः तदीयैः। गवयो गोसदृशः पशुरारण्यकः॥ १॥

उरभ्रो मेषः तदीयैश्च। गव्यन्तु पयः पायसं वा। "संवत्सरन्तु गव्येन पयसा पायसेन च।" इति स्मृतेः। मांसमध्यपाठात् मांसमेवेत्यन्ते, तत्तु युगान्तरीणमित्यवधेयम्। वाध्रीणसमांसैस्तु नित्यं सर्वकालं तृप्यन्ति। वाध्रीणसः स्मृतिप्रसिद्धः। यथा,—**त्रिपिबन्त्विन्द्रियं क्षीणं श्वेतं वृद्धप्रजापतिम्। वाध्रीणसन्तु तं प्राहुर्याज्ञिकाः श्राद्धकर्मणि।**" इति। जलपाने यस्य मुखवत् कर्णौ च जलं स्पृशतः स त्रिपिबः। यद्वा 'कृष्णग्रीवो रक्तशिराः श्वेतपक्षो विहङ्गमः। स वै वाध्रीणसः प्रोक्त इत्येषा नैगमी श्रुतिः इति॥ २॥

तज्जन्म पितृतुष्टिदं सत् तस्मिन् जन्मनि पितॄणामृणादुत्तीर्ण इत्यर्थः॥ ४॥

वनौषधीप्रधानास्तु श्राद्धार्हाः पुरुषर्षभ॥५॥
यवाः प्रियङ्गवो मुद्गा गोधूमा व्रीहयस्तिलाः।
निष्पावाः कोविदाराश्च सर्षपाश्चात्र शोभनाः॥६॥
अकृताग्रयणं यच्च धान्यजातं नरेश्वर!
राजमाषानणूंश्चैव मसूरांश्च विवर्जयेत्॥७॥
अलाबुं गृञ्जनञ्चैव पलाण्डं पिण्डमूलकम्।
गान्धारकं करम्भाणि लवणान्यौषराणि च॥८॥
आरक्ताश्चैव निर्यासाः प्रत्यक्षलवणानि च।
वर्ज्यान्येतानि च श्राद्धे यच्च वाचा न शस्यते॥९॥
नक्ताहृतं न चोत्सृष्टं तृप्यते न च यत्र गौः।
दुर्गन्धि फेनिलञ्चाम्बु श्राद्धयोग्यं न पार्थिव॥१०॥
क्षीरमेकशफानां यदौष्ट्रमाविकमेव च।
मार्गञ्च माहिषञ्चैव वर्जयेच्छ्राद्धकर्मणि॥११॥
षण्ढापविद्धचाण्डालपाषण्डोन्मत्तरोगिभिः।
कृकवाकु-श्व-नग्नैश्च वानर-ग्रामशूकरैः॥१२॥

श्यामाका द्विविधाः श्वेताः कृष्णाश्च वन्यौषधिप्रधाना वक्ष्यमाणाः॥५॥

प्रियङ्गवः कंगवः। व्रीहयः शरत्पक्वानि धान्यानि। निष्पावा शिम्ब्यः। कोविदारा वृक्षास्तैश्च तत्फलानि लक्ष्यन्ते। सर्षपाः श्वेताः॥६॥

वर्ज्यानाह, अकृताग्रयणमित्यादिना पर्युषितमित्यन्तेन। नवशस्यागमे साग्नेर्विहिता इष्टिराग्रयणम्। तत्र कृतं यत्र तत्। राजमाषान् अकृष्टमासान् अणून् सूक्ष्मशालीन्॥७॥

गृञ्जनं हरितमूलकं, पलाण्डं लशुनभेदं, पिण्डमूलकं पिण्डाकारमूलकम्। एतेनान्यमूलकाभ्यनुज्ञा आयाति, गान्धारं शाकभेदः काञ्जिकं वा। करम्भाणि अविकासिता लाजाः शाकभेद इत्येके। औषराणि ऊषरभूमिजातानि॥८॥

निर्यासा वृक्षरसा आरक्ताः स्वभावतः। प्रत्यक्षलवणानि चक्षुर्दृश्यलवणानि। यच्च विहितमपि वाचा न शस्यते निन्द्यतः इत्यर्थः॥९॥

अनुत्सृष्टं अप्रतिष्ठितकूपादिभवम्। गौर्यत्र न तृप्यते स्वल्पमित्यर्थः॥१०॥

एकशफा वडवाद्याः। आविकं मेषसम्बन्धि। मार्गं हरिणीसम्बन्धि॥११॥

श्राद्धे सुरा न पितरो भुञ्जते पुरुषर्षभ:॥ १३॥
तस्मात् परिश्रिते कुर्याच्छ्राद्धं श्रद्धासमन्वित:।
उर्व्याञ्च तिलविक्षेपाद् यातुधानान् निवारयेत्॥ १४॥
न पूति नैवोपपन्नं केशकीटादिभिर्नृप।
न चैवाभिषवैर्मिश्रमन्नं पर्युषितं तथा॥ १५॥
श्रद्धासमन्वितैर्दत्तं पितृभ्यो नामगोत्रत:।
यदाहारास्तु ते जातास्तदाहारत्वमेति तत्॥ १६॥
श्रूयन्ते चापि पितृभिर्गीता गाथा महीपते।
ईक्ष्वाकोर्मनुपुत्रस्य कलापोपवने पुरा॥ १७॥
अपि नस्ते भविष्यति कुले सन्मार्गगामिन:।
गयामुपेत्य ये पिण्डान् दास्यन्त्यस्माकमादरात्॥ १८॥
अपि न: स्वकुले जायाद् यो नो दद्यात् त्रयोदशीम्।

षण्ढादिभिस्त्रयोदशभिर्वीक्षिते श्राद्धे देवा: पितरश्च न भुञ्जते। षण्ढो नपुंसकम्, अपविद्धो महाजनपरित्यक्त:, पाषण्डी वैदिककर्मपरित्यागी, रोगी महारोगी: कृकवाकु: कुक्कुट:, श्वा कक्कुर:, नग्ना अग्रिमाध्याये वक्ष्यमाणा:॥ १२॥

उदक्या रजस्वला, सूतकं जननाशौचम्: अशौचं मरणनिमित्तं तद्युक्त:, मृतहार: शवनिर्हरणवृत्ति:॥ १३॥

परिश्रिते सर्वत: परिवृते॥ १४॥

पूर्ति दुर्गन्धि, केशटीकादिभिरुपपन्नम् युक्तम्। अवपन्नमिति पाठे दूषितमित्यर्थ:। अभिषवै: काञ्जिकै:। पर्युषितं पक्वं रात्र्यन्तरितम्। एतत् सर्वमन्नं पितृनुद्दिश्य न दद्यादित्यर्थ:॥ १५॥

श्रद्धासमन्वितै: पितृनुद्दिश्य यद्दत्तं तदन्नञ्च ते पितरो यदाहारा यादृशाहारयोग्या जातास्तदाहारतामुपैतीत्यर्थ:॥ १६॥

कलापो हिमवत्पार्श्ववर्त्ती ग्रामविशेष:, तस्योपवने इक्ष्वाकोरिक्ष्वाकुं प्रति पितृभिर्गीता॥ १७॥

अपि दुर्घटत्वमाह॥ १८॥

वर्षासु भाद्रपदे मघानक्षत्रे त्रयोदशीं प्राप्य॥ १९॥

गोरीं वाप्युद्वहेत् कन्यां नीलं वा वृषमुत्सृजेत्।
यजेत् वाश्वमेधेन विधिवद्दक्षिणावता॥ २०॥

इति श्रीविष्णुपुराणे तृतीयांऽशे षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

गौरीमष्टवर्षाम्। ''अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा तु रोहिणी। दशवर्षा भवेत् कन्या अत ऊर्द्ध्वं रजस्वला।'' इति स्मृतेः। तामुद्वहेत् स्वीकुर्यात्। उद्वाहयेत् इति वा पाठः। ''गौरीं ददन्नाकपृष्टं वैकुण्ठं याति रोहिणीम्। कन्यां ददद् ब्रह्मलोकं रौरवन्तु रजस्वलाम्।'' इति संवर्त्तोक्तिः। नीलः स्मृत्युक्तः। ''लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डुरः। श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते''॥ २०॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाभिधायां स्वप्रकाशाख्यायां वा श्रीविष्णुपुराणटीकायां तृतीयांऽशे षोडशोऽध्यायः समाप्तः॥

सप्तदशोऽध्यायः

(नग्नलक्षणम्, भीष्म-वशिष्ठसंवादः, विष्णुस्तुतिः मायामोहोत्पत्तिश्च)

पराशर उवाच

इत्याह भगवानौर्व सगराय महात्मने।
सदाचारान् पुरा सम्यङ् मैत्रेय! परिपृच्छते॥ १॥
मयाप्येतदशेषेण कथितं भवते द्विज!
समुल्लङ्घ्य सदाचारं कश्चिन्नाप्नोति शोभनम्॥ २॥

मैत्रेय उवाच

षण्ढापविद्धप्रमुखा विदिता भगवन्! मया।
उदक्याद्याश्च ये सर्वे नग्नमिच्छामि वेदितुम्॥ ३॥
को नग्नः किं समाचारो नग्नसंज्ञां नरो लभेत्।
नग्नस्वरूपमिच्छामि यथावद् गदितं त्वया।
(श्रोतुं धर्मभृतां श्रेष्ठ! न ह्यस्त्यविदितं तव)॥ ४॥

पराशर उवाच

ऋग्यजु-सामसंज्ञेयं त्रयी वर्णावृतिर्द्विज!
एतामुज्झति यो मोहात् स नग्नः पातकी स्मृतः॥ ५॥
त्रयी समस्तवर्णानां द्विज! संवरणं यतः।
नग्नो भवत्युज्झितायामतस्तस्यां न संशयः॥ ६॥
इदञ्च श्रूयतामन्यद् भीष्माय सुमहात्मने।

एवं नवभिरध्यायैस्त्रयीधर्माः प्रपञ्चिताः। व्यतिरेके त्वनर्थासिद्धिर्येनेह निरूप्यते। तत्र सप्तदशे देवैः स्तुतो विष्णरजीजनत्। मायामोहं यतो मग्ना दत्या नग्नाश्च जज्ञिरे॥ १॥

वर्णानाम् आवृतिः परिधानम्॥ ५॥

किञ्च यतः सैव संवरणमपि प्रावरणम् उत्तरीयमिति यावत्, अतस्तत्परित्यागे परिधानोत्तरीयहीन इव नग्नी भवतीत्यर्थः॥ ६॥

कथयामास धर्मज्ञो वसिष्ठोऽस्मत्पितामहः॥७॥
मयापि तस्य गदतः श्रुतमेतन्महात्मनः।
नग्नसम्बन्धि मैत्रेय! यत् पृष्ठोऽहमिह त्वया॥८॥
देवासुरमभूद् युद्धं दिव्यमब्दं पुरा द्विज!
तस्मिन् पराजिता देवा दैत्यैर्ह्लादपुरोगमैः॥९॥
क्षीरोदस्योत्तरं कूलं गत्वातप्यन्त वै तपः।
विष्णोराराधनार्थाय जुगुश्चेमं स्तवं तदा॥१०॥
आराधनाय लोकानां विष्णोरीशस्य यां गिरम्।
वक्ष्यामो भगवानाद्यस्तया विष्णुः प्रसीदतु॥११॥
यतो भूतान्यशेषाणि प्रसूतानि महात्मनः।
यस्मिंश्च लयमेष्यन्ति कस्तं स्तोतुमिहेश्वरः॥१२॥
तथाप्यरातिविध्वंसध्वस्तवीर्या भवार्थिनः।
त्वां स्तोष्यामस्तवोक्तीनां याथार्थ्यं नैव गोचरे॥१३॥
त्वमुर्वी सलिलं वह्निर्वायुराकाशमेव च।
समस्तमन्तःकरणं प्रधानं तत्परः पुमान्॥१४॥
एकं तवैतद् भूतात्मन्! मूर्त्तामूर्त्तमयं वपुः।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं स्थानकालविभेदवत्॥१५॥

एतदेव स्पष्टीकर्त्तुमितिहासं प्रस्तौर्ति—'इदञ्चे'ति॥७॥

देवा सुराश्च योद्धारो यस्मिन् तत्॥९॥

लोकानामीशस्य विष्णोः॥११॥

प्रसूतानि जातानि। प्रभूतानीति पाठे वृद्धिं गतानि॥१२॥

यद्यपि तव याथार्थ्यं तत्त्वमुक्तीनां वचसां गोचरे विषये नैव वर्त्तते, तथापि अरातिकृतेन ध्वंसेन पराभवेन विध्वस्तं नाशितं वीर्य्यं प्रभावो येषां ते वयं यस्मात् भवार्थिनः कल्याणार्थिनः स्वमत्यनुरूपं स्तोष्यामः॥१३॥

तत्र प्रथमं विश्वरूपेण सगुणं स्तुवन्ति— **'त्वमुर्वी'** त्यादिना 'तस्मै सर्वात्मने नमः' इत्यन्तेन। समस्तमनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्यमन्तःकरणम्। तस्याः प्रकृतेः परः॥१४॥

स्थानं देशः, देशे काले च तस्मिंस्तस्मिन्नानाभेदयुक्तं विश्वं तवैकमेव वपुरित्यर्थः॥१५॥

तत्रेश! तव यत्पूर्वं त्वन्नाभिकमलोद्भवम्।
रूपं विश्वोपकाराय तस्मै ब्रह्मात्मने नमः॥ १६॥
शक्रार्क-रुद्र-वस्वश्वि-मरुत्सोमादिभेदवत्।
वयमेतत् स्वरूपं यत् तस्मै देवात्मने नमः॥ १७॥
दम्भप्रायमसम्बोधि तितिक्षा-दमवर्जितम्।
यद्रूपं तव गोविन्द! तस्मै दैत्यात्मने नमः॥ १८॥
नातिज्ञानवहा यस्मिन् नाड्यः स्तिमिततेजसि।
शब्दादिलोभि यत्तस्मै तुभ्यं यक्षात्मने नमः॥ १९॥
क्रौर्यमायामयं घोरं यच्च रूपं तवासितम्।
निशाचरात्मने तस्मै नमस्ते पुरुषोत्तम॥ २०॥
स्वर्गस्थधर्मिसद्धर्म-फलोपकरणं तव।
धर्माख्यञ्च तथा रूपं नमस्तस्मै जनार्दन॥ २१॥
हर्षप्रायमसंसर्गि गतिमद् गमनादिषु।
सिद्धाख्यं तव यद्रूपं तस्मै सिद्धात्मने नमः॥ २२॥
अतितिक्षाधनं क्रूरमुपभोगमयं हरे!
द्विजिह्वं तव यद्रूपं तस्मै नागात्मने नमः॥ २३॥

तत्र तव रूपमध्ये प्रथमं सर्गेण विश्वोपकाराय यत् रूपं तस्मै नमः॥ १६॥

असम्बोधि विवेकशून्यम्॥ १८॥

यस्मिन् यक्षरूपे नाड्य इन्द्रियनाड्यो हृदयनाड्यो वा नातिज्ञानवहा नातिज्ञानक्षमाः। नाट्यस्तिमितेति पाठे नाट्येन नृत्यादिना। तत्र हेतु स्तिमिततेजसि अल्पसत्त्वे॥ १९॥

असितं तमोमयम्॥ २०॥

स्वर्गस्थाः स्वर्गार्हा ये धर्मिणः यजमानास्तेषां यः सद्धर्मो यागादिस्तस्य यत् फलं स्वर्गादि तस्योपकरणं प्रापकं धर्माख्यमदृष्टसंज्ञं यद्रूपं तस्मै नमः॥ २१॥

गमनादिषु गमनीयादिषु असंसर्गिणी या संसर्गशून्या गतिर्गत्यादि तद्युक्तम्। सिद्धा हि जलाग्न्यादिषु गच्छन्तस्तिष्ठन्तो वा न सङ्गच्छन्ते॥ २२॥

अतितिक्षा अक्षमा धनं सर्वस्वं यस्य। उपभोगवशमिति पाठे उपभोगेऽपि तृप्तिरहितम्॥ २३॥

अवबोधि च यच्छान्तमदोषमपकल्मषम्।
ऋषिरूपात्मने तस्मै विष्णो रूपाय ते नमः॥२४॥
भक्षयत्यथ कल्पान्ते भूतानि यदवारितम्।
त्वद्रूपं पुण्डरीकाक्ष! तस्मै कालात्मने नमः॥२५॥
सम्भक्ष्य सर्वभूतानि देवादीन्यविशेषतः।
नृत्यत्यन्ते च यद्रूपं तस्मै रुद्रात्मने नमः॥२६॥
प्रवृत्त्या रजसो यच्च कर्मणां कारकात्मकम्।
जनार्दन! नमस्तस्मै त्वद्रूपाय नरात्मने॥२७॥
अष्टाविंशद्वधोपेतं यद्रूपं तामसं तव।
उन्मार्गगामि सर्वात्मन् तस्मै! पश्वात्मने नमः॥२८॥
यज्ञाङ्गभूतं यद्रूपं जगतः सिद्धिसाधनम्।
वृक्षादिभेदैर्यद्भेदि तस्मै मुख्यात्मने नमः॥२९॥
तिर्यङ्मनुषदेवादि व्योमशब्दादिकञ्च यत्।
रूपं तवादेः सर्वस्य तस्मै सर्वात्मने नमः॥३०॥
प्रधानबुद्ध्यादिमयादशेषाद्

अदोषं रागादिहीनम् ऋषिरूपम्। ऋष्याकृतिरात्मा देहो यस्य तस्मै तव रूपाय नमः॥२४॥

यत् कालात्मकं ते रूपं भूतानि भक्षयति तस्मै नमः॥२५॥

रुद्रात्मकन्तु रूपं भक्षयित्वा नृत्यतीति शेषः॥२६॥

रजसो वृत्त्या यत् कर्मणां कारकात्मकं कर्त्तृस्वभावं तस्मै नरात्मने मनुष्यात्मने नमः॥२७॥

अष्टाविंशद्वधोपेतमिति पाठे एकादश इन्द्रियवधाः। नव तुष्टिवधाः, अष्टौ सिद्धिवधा इति प्रथमंऽशे विवृताः॥२८॥

जगतः सिद्धि वर्त्तनं वृक्षादिर्भदैर्यद्भेदि भिन्नम्। षड्भेदीति पाठे वृक्षगुल्म-लता-वीरुत्-तृण-त्वक्सारात्मना षड्भेदि, मुख्यात्मने वृक्षात्मने॥२९॥

तव सर्वस्यादेः कारणस्य यद्रूपं तिर्यङ्मनुष्यदेवादीत्यन्वयः॥३०॥

इदानीं निर्गुणं ब्रह्म प्रणमन्ति—प्रधानादिमयादस्माद् विश्वरूपादन्यत् परमं रूपम् अतएव यदन्यतुल्यं न भवति निरुपमं तस्मै नमः॥३१॥

यदन्यदस्मात् परमं परात्मन्!
रूपं तवाद्यं न यदन्यतुल्यं
तस्मै नमः कारणकारणाय॥३१॥
शुक्लादिदीर्घादिघनादिहीन-
मगोचरे यच्च विशेषणानाम्।
शुद्धातिशुद्धं परमर्षिदृश्यं
रूपाय तस्मै भगवन्! नताः स्मः॥३२॥
यन्नः शरीरेषु यदन्यदेहे-
ष्वशेषजन्तुवजमव्ययं यत्।
यस्माच्च नान्यद्व्यतिरिक्तमस्ति
ब्रह्मस्वरूपाय नताः स्म तस्मै॥३३॥
सकलमिदमजस्य यस्य रूपं
परमपदात्मवतः सनातनस्य।
तमनिधनशेषबीजभूतं
प्रभुममलं प्रणताः स्म वासुदेवम्॥३४॥

पराशर उवाच

स्तोत्रस्यास्यावसाने ते ददृशुः परमेश्वरम्।
शङ्खचक्रगदापाणिं गरुडस्थं सुरा हरिम्॥३५॥
तमूचुः सकला देवाः प्रणिपातपुरःसरम्।
प्रसीद देवः! दैत्येभ्यस्त्राहीति शरणार्थिनः॥३६॥
त्रैलोक्यं यज्ञभागाश्च दैत्यैर्ह्लादपुरोगमैः।
हृतं नो ब्रह्मणोऽप्याज्ञामुल्लङ्घ्य परमेश्वर॥३७॥

पूर्वोक्तमेव दर्शयन्तः प्रणमति— 'शुक्लादी'ति त्रिभिः। शुक्लत्वादीनां कियतां निषेधमुक्त्वा सर्वविशेषणनिषेधमाह— 'अगोचर' इति॥३२॥

परमपदात्मवतः परमं पदं ब्रह्मैवात्मा स्वरूपं यस्यास्ति तस्य॥३४॥

तव शरणार्थिनोऽस्मान् दैत्येभ्यस्त्राहीति तं हरिमूचुरित्यन्वयः॥३६॥

यद्यप्यशेषभूतस्य वयं ते च तवांशकाः।
तथाप्यविद्याभेदेन भिन्नं पश्यामहे जगत्॥ ३८॥
स्ववर्णधर्माभिरता वेदमार्गानुसारिणः।
न शक्यास्तेऽरयो हन्तुमस्माभिस्तपसान्विताः॥ ३९॥
तमुपायममेयात्मन्नस्माकं दातुमर्हसि।
येन तानसुरान् हन्तुं भवेम भगवन् क्षमा॥ ४०॥

पराशर उवाच

इत्युक्तो भगवांस्तेभ्यो मायामोहं शरीरतः।
तमुत्पाद्य ददौ विष्णुः प्राह चेदं सुरोत्तमान्॥ ४१॥

श्रीभगवानुवाच

मायामोहोऽयमखिलान् दैत्यांस्तान्मोहयिष्यति।
ततो वध्या भविष्यन्ति वेदमार्गबहिष्कृताः॥ ४२॥
स्थितौ स्थितस्य मे वध्या यावन्तः परिपन्थिनः।
ब्रह्मणो येऽधिकारस्य देवदैत्यादिकाः सुराः॥ ४३॥
तद् गच्छतः न भीः कार्या मायामोहोऽयमग्रतः।
गच्छत्वद्योपकाराय भवता भवतां सुराः॥ ४४॥

पराशर उवाच

इत्युक्ताः प्रणिपत्यैनं ययुर्देवा यथागतम्।
मायामोहोऽपि तैः सार्द्धं ययौ यत्र महासुराः॥ ४५॥

इति श्रीविष्णुपुराणे तृतीयांशे सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

स्थितौ स्थितिनिमित्तं स्थितस्य ब्रह्मणोऽधिकारस्य ये यावन्तः परिपन्थिनस्ते सर्वे मम वध्या इत्यर्थः॥ ४३॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायामात्मप्रकाशाभिधायां स्वप्रकाशाख्यायां वा
श्रीविष्णुपुराणटीकायां तृतीयांऽशे सप्तदशोऽध्यायः

अष्टादशोऽध्यायः

(असुरेभ्यो मायामोहस्योपदेशदानम् बौद्धधर्मोत्पत्तिः, नग्नसम्पर्कदोषः, नृपस्य शतधनुष उपाख्यानञ्च)

पराशर उवाच

तपस्यभिरतान् सोऽथ मायामोहो महासुरान्।
मैत्रेय! ददृशे गत्वा नर्मदातीरसंश्रितान्॥ १॥
ततो दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपत्रधरो द्विज!
मायामोहोऽसुरान् श्लक्ष्णमिदं वचनमब्रवीत्॥ २॥

मायामोह उवाच

हे दैत्यपतयो! ब्रूत यदर्थं तप्यते तपः।
ऐहिकं वाथ पारत्र्यं तपसः फलमिच्छथ॥ ३॥

असुरा ऊचुः

पारत्र्यफललाभाय तपश्चर्या महामते!
अस्माभिरियमारब्धा किं वा तेऽत्र विवक्षितम्॥ ४॥

मायामोह उवाच

कुरुध्वं मम वाक्यानि यदि मुक्तिमभीप्सथ।
अर्हध्वमेनं धर्मञ्च मुक्तिद्वारमसंवृतम्॥ ५॥
धर्मो विमुक्तेरर्होऽयं नैतदस्मात् परः परः।
अत्रैव संस्थिताः स्वर्गं विमुक्तिं वा गमिष्यथ।
अर्हध्वं धर्ममेतञ्च सर्वे यूयं महाबलाः॥ ६॥

इहोच्यन्ते हता दैत्या मायामोहविमोहिताः। नग्नसंसर्गदोषोक्त्यै शैव्याशतधनुःकथाः॥ १॥

श्लक्ष्णं मनोहरम्॥ २॥ ऐहिकम् इहलोकभोग्यं, पारत्र्यं परलोकभोग्यम्॥ ३॥

एवं धर्ममग्रे वक्ष्यमाणम्। असंवृतमुद्घाटितम्॥ ५॥

अर्हः योग्यः। एतस्मादपरो धर्मः न परो न श्रेष्ठः॥ ६॥

पराशर उवाच

एवं प्रकारैर्बहुभिर्युक्तिदर्शनवर्द्धितैः।
मायामोहेन ते दैत्या वेदमार्गादपाकृताः॥ ७॥
धर्मायैतदधर्माय सदेतन्न सदित्यपि।
विमुक्तये त्विदं नैतद् विमुक्तिं सम्प्रयच्छति॥ ८॥
परमार्थोऽयमत्यर्थं परमार्थो न चाप्ययम्।
कार्यमेतदकार्यञ्च नैतदेवं स्फुटं त्विदम्।
दिग्वाससामयं धर्मो धर्मोऽयं बहुवाससाम्॥ ९॥
इत्यनैकान्तवादञ्च मायामोहेन नैकधा।
तेन दर्शयता दैत्याः स्वधर्मांस्त्याजिता द्विज॥ १०॥
अर्हतेमं महाधर्मं मायामोहेन ते यतः।
प्रोक्तास्तमाश्रिता धर्ममार्हतास्तेन तेऽभवन्॥ ११॥
त्रयीधर्मसमुत्सर्गं मायामोहेन तेऽसुराः।
कारितास्तन्मया ह्यासंस्ततोऽन्ये तत्प्रबोधिताः॥ १२॥
तैरप्यन्ये परे तैश्च तैरप्यन्ये परे च तैः।
अल्पैरहोभिः सन्त्यक्ता तैर्दैत्यैः प्रायशस्त्रयी॥ १३॥
पुनश्च रक्ताम्बरधृङ् मायामोहोऽजितेक्षिणः।
अन्यानाहासुरान् गत्वा मृद्वल्पमधुराक्षरम्॥ १४॥

एवम्प्रकारैर्वाक्यैः युक्तिदर्शनं शुष्कतर्कवादः तेन वर्द्धितैः। चर्चितैरिति वा पाठः। अपाकृता दूरीभूताः॥७॥

वेदमार्गापाकरणमेव सप्तधा दर्शयति—**सार्द्धद्वाभ्यां** 'धर्मायेति॥८॥

अनैकान्तवादं फलव्यभिचारिकारणवादं भेदाभेदवादं वा दर्शयता इत्येवं स्वधर्मान् त्याजिता इत्युपसंहारः॥१०॥

आर्हतानां नामनिरुक्तिमाह—'**अर्हते**'ति॥११॥

सम्प्रदायप्रवृत्तिमाह—'**त्रयी**'ति॥१२॥

आर्हतमतमुक्त्वा बौद्धमतमाह '**पुनश्चे**' ति सप्तभिः। रक्तेत्येतदाचारप्रदर्शनम्॥१४॥

मायामोह उवाच

स्वर्गार्थं यदि वो वाञ्छा निर्वाणार्थमथासुराः।
तदलं पशुघातादिदुष्टधर्मैर्निबोधत॥ १५॥
विज्ञानमयमेवैतदशेषमवगच्छत।
बुध्यध्वं मे वचः सम्यग् बुधैरेवमुदीरितम्॥ १६॥
जगदेतदनाधारं भ्रान्तिज्ञानार्थतत्परम्।
रागादिदुष्टमत्यर्थं भ्राम्यते भवसङ्कटे॥ १७॥

पराशर उवाच

एवं बुध्यत बुध्यत्वं बुध्यतैवमितीरयन्।
मायामोहः स दैतेयान् धर्ममत्याजयन्निजम्॥ १८॥
नानाप्रकारवचनं स तेषां युक्तियोजितम्।
तथा तथा च तद्धर्मं तत्यजुस्ते यथा यथा॥ १९॥
तेऽप्यन्येषां तथैवोचुरन्यैरन्ये तथोदिताः।
मैत्रेय! तत्यजुर्धर्मं वेदस्मृत्युदितं परम्॥ २०॥
अन्यानप्यन्यपाषण्डप्रकारैर्बहुभिर्द्विज।
दैतेयान् मोहयामास मायामोहोऽतिमोहकृत्॥ २१॥
स्वल्पेनैव हि कालेन मायामोहेन तेऽसुराः।
मोहितास्तत्यजुः सर्वां त्रयीमार्गाश्रितां कथाम्॥ २२॥
केचिद्विनिन्दां वेदानां देवानामपरे द्विज!
यज्ञकर्मकलापस्य तथान्ये च द्विजन्मनाम्॥ २३॥

अत्र हि विज्ञानमयं बुद्धिमयमित्यादिना योगाचाराणामात्मख्यातिवाद उक्तः॥ १६॥

अनाधारमिति माध्यमिकमतशून्यख्यातिपक्षोक्तिः। भ्रान्तिज्ञानञ्च तदर्थञ्च तत्परं तन्निष्ठम्॥ १७॥

एवं बुध्यतेत्यत्र पुनरुक्तिर्बौद्धपदनिरुक्त्यर्था॥ १८॥

अन्यपाषण्डप्रकारैर्लौकायतिकमतभेदैः॥ २१॥

त्रयीमार्गाश्रितां कथामपि तत्यजुः॥ २२॥

न केवलमेतावत् किन्तु केचित् विनिन्दां वेदानामिति। चक्रुरिति शेषः॥ २३॥

नैतद्युक्तिसहं वाक्यं हिंसा धर्माय नेष्यते।
हवींष्यनलदग्धानि फलायेत्यर्भकोदितम्॥ २४॥
यज्ञैरनेकैर्देवत्वमवाप्येन्द्रेण भुज्यते।
शम्यादि यदि चेत्काष्ठं तद्वरं पत्रभुक् पशुः॥ २५॥
निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते।
स्वपिता यजमानेन किन्नु तस्मान्न हन्यते॥ २६॥
तृप्तये जायते पुंसो भुक्तमन्येन चेत्ततः।
कुर्याच्छ्राद्धं श्रद्धयान्नं न वहेयुः प्रवासिनः॥ २७॥
जनश्रद्धेयमित्येतदवगम्य ततो वचः।
उपेक्ष्य श्रेयसे वाक्यं रोचतां यन्मयेरितम्॥ २८॥
न ह्याप्तवादा नभसो निपतन्ति महासुराः।
युक्तिमद् वचनं ग्राह्यं मयान्यैश्च भवद्विधैः॥ २९॥
मायामोहेन ते दैत्या प्रकारैर्बहुभिस्तथा।
व्युत्थापिता यथा नैषां त्रयीं कश्चिदरोचयत्॥ ३०॥

निन्दामेव कुतर्कसहितामाह—**नैतदि**'ति। हिंसा परपीडा धर्मायेति यद्वचनम् **''अग्निषोमीयं पशुमालभेत''** इत्यादिरूपं तत्र युक्तिसहं, यतः **''मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि''** इति श्रुत्यैव तन्नेष्यते। चेष्यत इति तु पाठः सुगमः॥ २४॥

शम्यादि समिद्रूपं काष्ठं वह्नौ हुतञ्चेत् इन्द्रेण भुज्यते, तत् तर्हि वरं श्रेष्ठः पशुः यतोऽसौ काष्ठात् कोमलपत्रभुक्॥ २५॥

यज्ञे हतस्य पशोः सद्गतिश्चेत्, तर्हि यजमानेन सद्गत्यर्थं स्वपिता किं न हन्यते॥ २६॥

अन्येन श्राद्धे अन्नं भुक्तम् अन्यस्य तृप्तये चेज्जायते, तर्हि प्रवासिनोऽन्नं न वहेयुः, किन्तु स्वग्रामस्थितः पुत्रादिस्तमुद्दिश्य श्राद्धं दद्यात्॥ २७॥

ततो निर्युक्तिकं केवलं पृथग्जनश्रद्धेयमेतद्यज्ञादिविषयं वचः, अतो युष्माकमत्रोपेक्षैव युक्ता॥ २८॥

नन्वाप्तवादे वेदे कथम् उपेक्षा तत्राह—'**नही**'ति। नहि आप्तवादाः स्वभावतः केचन वर्त्तन्ते। किन्तु यदेव युक्तिमद् वचनं तन्मया अन्यैश्च भवद्विधैश्च ग्राह्यम्। युक्तिश्च पूर्वोक्तरीत्या वेदवादेषु नास्तीति भावः॥ २९॥ तेषां मध्ये॥ ३०॥

इत्थमुन्मार्गयातेषु दैत्येषु तेषु तेऽमराः।
उद्योग परमं कृत्वा युद्धाय समुपस्थिताः॥ ३१॥
ततो देवासुरं युद्धं पुनरेवाभवद द्विज!
हताश्च तेऽसुरा देवैः सन्मार्गपरिपन्थिनः॥ ३२॥
स्वधर्मकवचस्तेषामभूद् यः प्रथमं द्विज!
तेन रक्षाभवत् पूर्वं नेशुर्नष्टे च तत्र ते॥ ३३॥
ततो मैत्रेय! तन्मार्गवर्त्तिनो येऽभवञ्जनाः।
नग्नास्ते तैर्यतस्त्यक्तं त्रयीसंवरणं वृथा॥ ३४॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थस्तथाश्रमाः।
परिव्राड् वा चतुर्थोऽत्र पञ्चमो नोपपद्यते॥ ३५॥
यस्तु सन्त्यज्य गार्हस्थ्यं वानप्रस्थो न जायते।
परिव्राड् वापि मैत्रेय! स नग्नः पापकृन्नरः॥ ३६॥
नित्यानां कर्मणां विप्र! तस्य हानिरहर्निशम्।
अकुर्वन् विहितं कर्म शक्तः पतति तद्दिने॥ ३७॥
प्रायश्चित्तेन महता शुद्धिमाप्नोत्यनापदि।
पक्षं नित्यक्रियाहानेः कर्त्ता मैत्रेय! मानवः॥ ३८॥
संवत्सरं क्रियाहानिर्यस्य पुंसोऽभिजायते।
तस्यावलोकनात् सूर्यो निरीक्ष्यः साधुभिः सदा॥ ३९॥
स्पृष्टे स्नानं सचेलस्य शुद्धेर्हेतुर्महामते!
पुंसो भवति तस्योक्ता न शुद्धिः पापकर्मणः॥ ४०॥
देवर्षिपितृभूतानि यस्य निःश्वस्य वेश्मनि।
प्रयान्त्यनर्चितान्यत्र लोके तस्मान्न पापकृत्॥ ४१॥

गार्हस्थ्यं परित्यज्य वानप्रस्थः परिव्राड् वा यो न जायते, स च नग्नः॥ ३६॥

नग्नस्य तत्संसर्गिणश्च दोषमाह—**'नित्याना'** मित्यादिना **'यदभिरवलोकित'** मित्यन्तेन। विहितं नित्यं पतति पापवान् भवति॥ ३७॥

एवं पक्षक्रियाहानेर्हेतोः प्रायश्चित्तेन महता शुद्धिं प्राप्नोतीत्यर्थः। एवं मासादिक्रियाहानावधिकं प्रायश्चित्तं ज्ञेयम्॥ ३८॥

तस्य संवत्सरक्रियालोपकर्त्तुः॥ ३९॥ अत्र पृथिव्याम्॥ ४१॥

देवादिनिःश्वासहतं शरीरं यस्य वेश्म च।
न तेन सङ्करं कुर्याद् गृहासनपरिच्छदैः॥४२॥
सम्भाषणानुप्रश्नादि सहास्यां चैव कुर्वतः।
जायते तुल्यता तस्य तेनैव द्विज! वत्सरम्॥४३॥
अथ भुङ्क्ते गृहे तस्य करोत्यास्यां तथासने।
शेते चाप्येकशयने स सद्यस्तत्समो भवेत्॥४४॥
देवतापितृभूतानि तथानभ्यर्च्य योऽतिथीन्।
भुङ्क्ते स पातकं भुङ्क्ते निष्कृतिस्तस्य कीदृशी॥४५॥
ब्राह्मणाद्यास्तु ये वर्णाः स्वधर्मादन्यतोमुखम्।
यान्ति ते नग्नसंज्ञां तु हीनकर्मस्ववस्थिताः॥४६॥
चतुर्णां यत्र वर्णानां मैत्रेयात्यन्तसङ्करः।
तत्रास्या साधु वृत्तीनामुपघाताय जायते॥४७॥
अनभ्यर्च्य ऋषीन् देवान् पितॄन् भूतातिथींस्तथा।
यो भुङ्क्ते तस्य सम्भाषात् पतन्ति नरके नराः॥४८॥
तस्मादेतान्नरो नग्नांस्त्रयीसन्त्यागदूषितान्।
सर्वदा वर्जयेत् प्राज्ञ आलापस्पर्शनादिषु॥४९॥
श्रद्धावद्भिः कृतं यत्नाद्देवान् पितृपितामहान्।
न प्रीणयति तच्छ्राद्धं यदेभिरवलोकितम्॥५०॥
श्रूयते च पुरा ख्यातो राजा शतधनुर्भुवि।

गृहादिभिः सङ्करं संसर्गम्॥४२॥

सहास्यामेकत्र स्थितिम्। साहाय्यमिति पाठे परस्परं सम्भाषादिसमानक्रियात्वं संवत्सरं कुर्वतः तेन नग्नेन तुल्यत्वं जायते॥४३॥

इदानीं भोजनादीनि युगपत् क्रियमाणानि सद्यः पातहेतव इत्याह—'**अथे**' ति॥४४॥

ब्राह्मणाद्याः स्वधर्मादन्यतोमुखं विमुखं यान्ति ते, ते नग्नसंज्ञां यान्तीत्यन्वयः॥४६॥

सङ्करो गृहादिषु आस्या स्थितिः॥४७॥

कृतं श्राद्धमित्यन्वयः॥५०॥

पत्नी च शैव्या तस्याभूदतिधर्मपरायणा॥ ५१॥
पतिव्रता महाभागा सत्यशौचदयान्विता।
सर्वलक्षणसम्पन्ना विनयेन नयेन च॥ ५२॥
स तु राजा तया सार्द्धं देवदेवं जनार्दनम्।
आराधयामास विभुं परमेण समाधिना॥ ५३॥
होमैर्जपैस्तथा दानैरुपवासैश्च भक्तितः।
पूजाभिश्चानुदिवसं तन्मना नान्यमानसः॥ ५५॥
एकदा तु समं स्नातौ तौ तु भार्यापती जले।
भागीरथ्याः समुत्तीर्णौ कार्तिक्यां समुपोषितौ।
पाषण्डिनमपश्येतामायान्तं सम्मुखं द्विज॥ ५६॥
चापाचार्यस्य तस्यासौ सखा राज्ञो महात्मनः।
अतस्तद्गौरवात्तेन सहालापमथाकरोत्॥ ५७॥
न तु सा वागयता देवी तस्य पत्नी पतिव्रता।
उपोषितास्मीति रविं तस्मिन् दृष्टे ददर्श च॥ ५८॥
समागम्य यथान्यायं दम्पती तौ यथाविधि।
विष्णोः पूजादिकं सर्वं कृतवन्तौ द्विजोत्तम॥ ५९॥
कालेन गच्छता राजा ममारासौ सपत्नजित्।
अन्वारुरोह तं देवी चितास्थं भूपतिं पतिम्॥ ६०॥
स तु तेनापचारेण श्वा जज्ञे वसुधाधिपः।
उपोषितेन पाषण्डसंलापी यः कृतोऽभवत्॥ ६१॥
सा तु जातिस्मरा जज्ञे काशीराजसुता शुभा।

तत्र पाषण्डालापदोषं दर्शयितुम् इतिहासमाह—'श्रूयते चे'त्यादिना यावत्समाप्तिः॥५१॥

तस्य राज्ञश्चापाचार्य्यस्य धनुर्विद्यागुरोरसौ पाषण्डी सखेत्यन्वयः॥५५॥

तेनापचारेण नग्नसंसर्गेण पापेन। तदेवाह उपोषितेन राज्ञा पाषण्डसम्भाष आलापः॥६१॥

सर्वस्मिन्नर्थे विज्ञानमबाधितज्ञानं तेन सम्पूर्णा स्वभावतः पूर्णा सर्वज्ञेत्यर्थः॥६२॥

सर्वविज्ञानसम्पूर्णा पूर्वलक्षणपूजिता॥६२॥
तां पिता दातुकामोऽभूत् वराय विनिवारितः।
तयैव तन्व्या विरतो विवाहारम्भतो नृपः॥६३॥
ततः सा दिव्यया दृष्ट्या दृष्ट्वा श्वानं निजं पतिम्।
विदिशाख्यं पुरं गत्वा तदवस्थं ददर्श तम्॥६४॥
तं दृष्ट्वैव महाभागं श्वभूतन्तु पतिं तथा।
ददौ तस्मै वराहारं सत्कारप्रवणं शुभम्॥६५॥
भुञ्जन् दत्तं तया सोऽन्नमतिमृष्टमभीप्सितम्।
श्वजातिललितं कुर्वन् बहु चाटु चकार वै॥६६॥
अतीव व्रीडिता बाला कुर्वता चाटु तेन सा।
प्रणामपूर्वमाहेदं दयितं तं कुयोनिजम्॥६७॥

पत्न्युवाच

स्मर्यतां तन्महाराज! दाक्षिण्यललितं त्वया।
येन श्वयोनिमापन्नो मम चाटुकरो भवान्॥६८॥
पाषण्डिनं समाभाष्य तीर्थस्नानादनन्तरम्।
प्राप्तोऽसि कुत्सितां योनिं किं न स्मरसि तत्प्रभो!॥६९॥

श्रीपराशर उवाच

तयैवं स्मारिते तस्मिन् पूर्वजातिकृते तदा।
दध्यौ चिरमथावाप निर्वेदमतिदुर्लभम्॥७०॥
निर्विण्णचित्तः स ततो निर्गम्य नगराद् बहिः।
मरुप्रपतनं कृत्वा शार्गालीं योनिमागतः॥७१॥
सापि द्वितीये सम्प्राप्ते वर्षे दिव्येन चक्षुषा।
ज्ञात्वा शृगालं तं द्रष्टुं ययौ कोलाहलं गिरिम्॥७२॥
तत्रापि दृष्ट्वा तं प्राह शार्गालीं योनिमागतम्।
भर्त्तारमतिचार्वङ्गी तनया पृथिवीपते॥७३॥

पत्न्युवाच

अपि स्मरसि राजेन्द्र! श्वयोनिस्थस्य यन्मया।

प्रोक्तं ते पूर्वचरितं पाषण्डालापसंश्रयम्॥७४॥

पुनस्तयोक्तस्तज्ज्ञात्वा सत्यं सत्यवतां वरः।

कालेन स निराहारस्तत्याज स्वं कलेवरम्॥७५॥

भूयस्ततो वृकं जातं गत्वा तं निर्जने वने।

स्मारयामास भर्त्तारं पूर्ववृत्तमनिन्दिता॥७६॥

न त्वं वृको महाभाग! राजा शतधनुर्भवान्।

श्वा भूत्वा त्वं श्रृगालोऽभूर्वृकत्वं साम्प्रतं गतः॥७७॥

पराशर उवाच

स्मारितेन यदा त्यक्तस्तेनात्मा गृध्रतां गतः।

अवाप सा पुनश्चैनं बोधयामास भाविनी॥७८॥

नरेन्द्र! स्मर्यतामात्मा ह्यलं ते गृध्रचेष्टया।

पाषण्डालापजातोऽयं दोषो यद्गृध्रतां गतः॥७९॥

ततः काकत्वमापन्नं समनन्तरजन्मनि।

उवाच तन्वी भर्त्तारमुपलभ्यात्मयोगतः॥८०॥

अशेषा भूभृतः पूर्वं वश्या यस्मै बलिं ददुः।

स त्वं काकत्वमापन्नो जातोऽद्य बलिभुक् प्रभो॥८१॥

तया काशीराजसुतया तथा विनिवारितः सन्॥६३॥

दाक्षिण्याद् गुरोः सखेति सद्भावात् ललितं प्रतिसम्भाषणं स्मर्य्यतां, येन भवान् मम चाटुकारो ज्ञात इत्यर्थः। चाटः प्रीतिचेष्टा॥६८॥

मरुप्रपतनं गिरिशृङ्गात् पातं निरुदकदेशे महापथगमनं वा। शार्गालीं श्रृगालसम्बन्धिनीं योनिम्॥७१॥

वृकं वनश्वानं क्षुद्रव्याघ्रं वा॥७६॥

यदा आत्मा देहस्त्यक्तस्तदा गृध्रतां गतः। एनं गृध्रम् अवाप बोधयामास च॥७८॥

आत्मा राज-देहः स्मर्यताम्। त्यज्यतामिति पाठे आत्मा गृध्रदेहः। अयं येन दोषेण॥७९॥

उपलभ्य ज्ञात्वा प्राप्य च॥८०॥

बलिं करम्। बलिभुक् उपहारपिण्डभुक्॥८१॥

पराशर उवाच

एवमेव च काकत्वे स्मारितः स पुरातनम्।
तत्याज भूपतिः प्राणान् मयूरत्वमवाप च॥॥८२॥
मयूरत्वं ततः सा वै चकारानुगतिं शुभा।
दत्तैः प्रतिक्षणं हृद्यैस्तृप्तं तज्जातिभोजनैः॥८३॥
ततस्तु जनको राजा वाजिमेधं महाक्रतुम्!
चकार तस्यावभृथे स्नापयामास तं तदा॥८४॥
सस्नौ स्वयं च तन्वङ्गी स्मारयामास चापि तम्।
यथासौ श्वशृगालाद्या योनीर्जग्राह पार्थिवः॥८५॥
स्मृतजन्मक्रमः सोऽथ तत्याज स्वं कलेवरम्।
जज्ञे स जनकस्यैव पुत्रोऽसौ सुमहात्मनः॥८६॥
ततः सा पितरं तन्वी विवाहार्थमचोदयत्।
स चापि कारयामास तस्या राजा स्वयंवरम्॥८७॥
स्वयंवरे कृते सा तं सम्प्राप्तं पतिमात्मनः।
वरयामास भूयोऽपि भर्तृभावेन भामिनी॥८८॥
बुभुजे च तया सार्द्धं सम्भोगान्नृपनन्दनः।
पितर्युपरते राज्यं विदेहेषु चकार सः॥८९॥
इयाज यज्ञान् सुबहून् ददौ दानानि चार्थिनाम्।
पुत्रानुत्पादयामास युयुधे च सहारिभिः॥९०॥
राज्यं भुक्त्वा यथान्यायं पालयित्वा वसुन्धराम्।
तत्याज स प्रियान् प्राणान् सङ्ग्रामे धर्मतो नृपः॥९१॥
ततश्चितास्थं तं भूयो भर्त्तारं सा शुभेक्षणा।
अन्वारुरोह विधिवद् यथापूर्वं मुदा सती॥९२॥
ततोऽवाप तया सार्द्धं राजपुत्र्या स पार्थिवः

तज्जातिभोजनैर्मभूरजातिभोजनैर्भक्ष्यैः॥८३॥

आत्मनः पतिं स्वयंवरे वरयामासेत्युक्त्वा परिव्रतया स्वस्य पत्युः ज्ञातस्य तत्रापि स्वयंवरविषये वरणे स्त्री-पुरुषयो-र्ज्येष्ठ-कनिष्ठभावेऽपि दोषाभावः सूचितः॥८८॥

ऐन्द्रानतीत्य वै लोकान् लोकान् कामदुहोऽक्षयान्॥ ९३॥
स्वर्गाक्षयत्वमतुलं दाम्पत्यमतिदुर्लभम्।
प्राप्तं पुण्यफलं प्राप्य संशुद्धिं तां द्विजोत्तम॥ ९४॥
एष पाषण्डसम्भाषाद्दोषः प्रोक्तो मया द्विज!
तथाश्वमेधावभृथस्नानमाहात्म्यमेव च॥ ९५॥
तस्मात् पाषण्डिभिः पापैरालापस्पर्शनं त्यजेत्।
विशेषतः क्रियाकाले यज्ञादौ चापि दीक्षितः॥ ९६॥
क्रियाहानिर्गृहे यस्य मासमेकं प्रजायते।
तस्यावलोकनात् सूर्यं पश्येत मतिमान् नरः॥ ९७॥
किं पुनर्यैस्तु सत्यक्ता त्रयी सर्वात्मना द्विज!
परान्नभोजिभिः पापैर्वेदवादविरोधिभिः॥ ९८॥
सहालापस्तु संसर्गः सहास्या चातिपापिनी।
पाषण्डिभिर्दुराचारैस्तस्मात्ताः परिवर्जयेत्॥ ९९॥
पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकाञ्छठान्।
हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥ १००॥

ऐन्द्रान् लोकान् अतीत्य कामदुहः कामदुधान् लोकान् प्राप॥९३॥

ताम् अश्वमेधावभृथस्नानजां सिद्धिं पाषण्डिसंसर्गजपापक्षय-पुण्यवृद्धिरूपाम्॥९४॥

इदानीं कैमुतिकन्यायेन पूर्वोक्तमेव प्रायश्चित्तमाह—'**क्रियाहानि**' रिति॥९७॥

पुंसां जटाधरणमौण्ड्यवतां वृथैव।
मोघाशिनामखिलशौचनिराकृतानाम्।

यैः त्रयी त्यक्ता तेषां दर्शनात् सूर्यं पश्येदिति किं पुनर्वाच्यम् परान्नभोजिभिः पाषण्डान्नभोजिभिः॥९८॥

पाषण्डादयः सर्वे वेदविरुद्धा एव यदाहुः। ''भ्रष्टः स्वधर्मात् पाषण्डो विकर्मस्थो निषिद्धकृत्। यस्य धर्मध्वजो नित्यं सुराध्वज इवोच्छ्रितः। प्रच्छन्नानि च पापानि वैडालं नाम तद्व्रतम्। प्रियं वक्ति पुरोऽन्यत्र विप्रियं कुरुते भृशम्। त्यक्तोपरोधचेष्टश्च शठोऽयं कथितो बुधैः। सन्देहकृद्हेतुभिश्च सत्कर्मसु सहेतुक,। अर्वाग्दृष्टिर्नैकृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः। शठो मिथ्याविनीतश्च वकवृत्तिरुदाहृतः।'' इति। वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्। तैः सम्भाषणमपि न कुर्यात्॥१००॥

दूरादपास्तः सम्पर्कः सहस्यापि च पापिभिः।
पाषण्डिभिर्दुराचारैस्तस्मात्ताः परिवर्जयेत्॥ १०१॥
एते नग्नास्तवाख्याता दृष्ट्या श्राद्धोपघातकाः।
येषां सम्भाषणात् पुंसां दिनपुण्यं प्रणश्यति॥ १०२॥
एते पाषण्डिनः पापा न ह्येतानालपेद् बुधः।
पुण्यं नश्यति सम्भाषादेतेषां तद्धिनोद्भवम्॥ १०३॥
पुंसां जटाधरणमौण्ड्यवतां वृथैव।
मोघाशिनामखिलशौचनिराकृतानाम्।
तोयप्रदानपितृपिण्डबहिष्कृतानां।
सम्भाषणादपि नरा नरकं प्रयान्ति॥ १०४॥

॥इति श्रीविष्णुपुराणे तृतीयांशे अष्टादशोऽध्यायः समाप्तः॥

॥इति श्रीविष्णुमहापुराणे तृतीयांऽशः समाप्तः॥